Prınted by Ramchandra Yesu Shedge, at the 'Nırnaya-sagaı' Press, 23 Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Sha Revashankaı Jagajeevan Javerı Hon Vyavastapak Shıee Paramashruta Pıabhavak Mandal, Javeri Bazar, Kharakuva, Bombay. No 2.

प्रस्तावना.



आज मैं मोक्षके इच्छुक पाठकोंके सन्मुख इस यथार्थ गुणवाले परमात्मप्रकाश ग्रंथको दो टीकाओंसहित उपस्थित करता हूं । यह ग्रंथ साक्षात् मोक्षमार्गका प्रतिपादक है । जिस तरह श्रीकुंदकुंदाचार्यकी प्रसिद्ध नाटकत्रयी है उसी तरह यह भी अध्यात्मविषयकी परम सीमा है क्योंकि ग्रंथकर्ताने स्वयं इस ग्रंथके पढनेका फल लिखा है कि इसके हमेशा अभ्यास करनेवालोंको मोह कर्म दूर होकर केवलज्ञानपूर्वक मोक्ष अवश्य ही होसकती है परंतु इस ग्रंथके पात्र बनकर अभ्यास करना चाहिये अन्यथा बगलाभक्तिसे इच्छित फल नहीं मिल सकता । इसका आनंद वे ही भव्यजीव जान सकेंगे जो इसका शुद्ध मनसे स्वाध्याय और इसके अनुसार आचरण करेंगे । वचनसे इसकी प्रशंसा नहीं होसकती । कविवर बनारसीदासजीने भी अपने नाटकसमयसारमें कहा है कि 'हे जीव यदि तू असली आत्मीकसुखका स्वाद चखने चाहता है तो जैसे विषयभोगादिमें हमेशा चित्त लगाता है वैसे आत्माके स्वरूपके विचारमें छह महीना कमसे कम अभ्यास करके देख ले तो तुझे स्वयं उस परमानंदके रसका अनुभव होजाइगा' इत्यादि । इसलिये इसका पठन मनन करनेसे इसका आनंद व फल उनको अवश्य मिल सकेगा ।

इस आत्माकी अनंत शक्ति है यह बात आजकलके बिजली आदि अचेतन पदार्थोंको देखनेवाले व्यवहारी जीवोंको झूठी मालूम पड़ती होगी परंतु जिसका "आत्मा अनंत शक्तिवाला है" ऐसा वचन है उसीने यह भी कह दिया है "जगज्जेत्रं जयेत् स्मरं अर्थात् जगतको जीतनेवाले कामदेवको जिसने जीतलिया है" इस वचनकी तरफ किसीकी भी दृष्टि नहीं पड़ती । अतएव ब्रह्मचर्यपालनेवाला ही इसका पात्र हो सकता है ।

इस ग्रंथके मूलकर्ता श्री योगींद्रदेव हैं । उन्होने अपने 'प्रभाकरभट्ट'के प्रश्न करनेपर जगतके सब भव्यजीवोंके कल्याण होनेका विचार रख कर उत्तररूप उपदेश प्राकृतभाषामें तीनसौ पैंतालीस दोहा छंदोंमें दिया है । ये आचार्य इनकी कृति देखनेसे तो बहुत प्राचीन मालूम होते हैं परंतु इनका जन्मसंवत् तथा जन्मभूमि हमें निश्चित नहीं हुई है । इन प्राकृतदोहा सूत्रोंपर श्री ब्रह्मदेवजीने संस्कृतटीका रची ।

ब्रह्मदेवके समयनिर्णयके लिये बृहद्द्रव्यसंग्रहमें मुद्रित हो चुका है कि विक्रमकी १६ वी शताब्दिके मध्यमें किसीसमय श्री ब्रह्मदेवजीने अपने अवतारसे भारतवर्षको पवित्र किया था । विशेष बृहद्द्रव्यसंग्रहमेंसे देखलेना ।

इस संस्कृत टीकाके अनुसार ही पंडित दौलतरामजीने व्रजभाषा बनाई। यद्यपि उक्त पंडितजीकृत भाषा प्राचीनपद्धतिसे बहुत ठीक है परंतु आजकलके नवीन प्रचलित हिंदी-भाषाके संस्कारकमहाशयोंकी दृष्टिमें वह भाषा सर्वदेशीय नहीं समझी जाती है। इस कारण मैंने पंडित दौलतरामजीकृत भाषानुवादके अनुसार ही नवीन सरल हिंदीभाषामें अविकल अनुवाद किया है। इतना फेरफार अवश्य हुआ है कि उस भाषाको अन्वय तथा भावार्थरूपमें बांट दिया है। अन्य कुछभी न्यूनाधिकता नहीं की है। कहीं लेखकोंकी भूलसे कुछ छूटगया है उसको भी मैंने संस्कृतटीकाके अनुसार संभाल दिया है।

इस ग्रंथका जो उद्धार स्वर्गीय तत्त्वज्ञानी श्रीमान् रायचंद्रजी द्वारा स्थापित श्रीपरमश्रुत-प्रभावकमंडलकी तरफसे हुआ है इसलिये उक्त मंडलके उत्साही प्रबंधकर्ताओंको कोटिशः धन्यवाद देता हूं कि जिन्होंने अत्यंत उत्साहित होकर ग्रंथ प्रकाशित कराके भव्य जीवोंको महान् उपकार पहुंचाया है। और श्रीजीसे प्रार्थना करता हूं कि वीतरागप्रणीत उच्च श्रेणीके तत्त्वज्ञानका इच्छित प्रसार करनेमें उक्तमंडल कृतकार्य होवे।

द्वितीय धन्यवाद श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको दिया जाता है कि जिन्होंने इस ग्रंथकी संस्कृतटीकाकी प्राचीन प्रति लाकर प्रकाशित करनेकी अत्यंत प्रेरणा की। उन्हींके उत्साह दिलानेसे यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।

अब मेरी अंतमें यह प्रार्थना है कि जो प्रमादवश दृष्टिदोषसे तथा बुद्धिकी न्यूनतासे कहीं अशुद्धियां रह गई हों तो पाठकगण मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढें क्योंकि इस आध्यात्मिक ग्रंथमें अशुद्धियोंका रहजाना संभव है। इस तरह धन्यवादपूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावनाको समाप्त करता हूं। अलं विज्ञेषु।

खत्तरगली हौदावाड़ी
पो० गिरगाव—बंबई
वैशाख वदि ३ वी० सं० २४४२

जैनसमाजका सेवक
मनोहरलाल
पाढम (मैंनपुरी) निवासी।

श्री वीतरागाय नमः ।

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित ग्रन्थोंका

सूचीपत्र ।



१ पुरुपार्थसिद्धयुपाय भापाटीका यह श्री अमृतचन्द्रस्वामी विरचित प्रसिद्ध शास्त्र है । इसमें आचारसबन्धी बडे २ गूढ रहस्य हैं विशेष कर हिंसाका स्वरूप बहुत खूबीके-साथ दरसाया गया है, यह एक वार छपकर विकगयाथा इसकारण फिरसे संशोधन क-राके दूसरीवार छपाया गया है । न्यों. १ रु.

२ पञ्चास्तिकाय संस्कृ. भा. टी. यह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल और श्रीअमृतच-न्द्रसूरीकृत सस्कृतटीकासहित पहले छपा था । अबकी वार इसकी दूसरी आवृत्तिमें एक संस्कृतटीका तात्पर्यवृत्ति नामकी जो कि श्रीजयसेनाचार्यने बनाई है अर्थकी सरलताके-लिये लगादी गई है तथा पहली सस्कृतटीकाके सूक्ष्म अक्षरोंको मोटा करादिया है और गाथासूची व विपयसूची भी देखनेकी सुगमताके लिये लगादी हैं । इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाच द्रव्योंका तो उत्तम रीतिसे वर्णन है तथा कालद्रव्यका भी सक्षेपसे वर्णन किया गया है । इसकी भापा टीका स्वर्गीय पाडे हेमराजजीकी भाषा-टीकाके अनुसार नवीन सरल भापाटीकामें परिवर्तन कीगई है । इसपर भी न्यों. २ रु.

३ ज्ञानार्णव भा. टी. इसके कर्ता श्रीशुभचन्द्रस्वामीने ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है । प्रकरणवश ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी बहुत दिखलाया है यह एक-वार छपकर विकगया था अब द्वितीयवार सशोधनकराके छपाया गया है । न्यों. ४ रु.

४ सप्तभंगीतरंगिणी भा. टी. यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है इसमें ग्रंथकर्ता श्रीविमल-दासजीने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्तभंगी नयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है । स्याद्वादमत क्या है यह जाननेकेलिये यह ग्रंथ अवश्य पढना चाहिये ।इसकी पहली आवृत्तिमेंकी एक भी प्रति नही रही, अब दूसरी आवृत्ति छपकर प्रकाशित हुई है । न्यों. १ रु.

५ वृहद्द्रव्यसंग्रह संस्कृत भा. टी. श्रीनेमिचन्द्रस्वामीकृत मूल और श्रीब्रह्मदेवजीकृत सस्कृतटीका तथा उसपर उत्तम बनाई गई भाषाटीका सहित है । इसमें छह द्रव्योंका स्व-रूप अतिस्पष्टरीतिसे दिखाया गया है । न्यों. २ रु.

६ द्रव्यानुयोगतर्कणा इस ग्रंथमें शास्त्रकार श्रीमद्भोजसागरजीने सुगमतासे मन्दबुद्धि-जीवोंको द्रव्यज्ञान होनेकेलिये 'अथ, "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इस महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल द्रव्य—गुण तथा अन्य पदार्थोंका भी विशेष वर्णन किया है और प्रसंगवश 'स्यादस्ति' आदि सप्तभंगोंका और दिगंबराचार्यवर्य श्रीदेवसेनस्वामीविरचित नयचक्रके आधारसे नय, उपनय तथा मूलनयोंका भी विस्तारसे वर्णन किया है। न्यों. २ रु.

७ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र इसका दूसरा नाम तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र भी है। जैनियोंका यह परममान्य और मुख्य ग्रन्थ है। इसमें जैनधर्मके संपूर्णसिद्धान्त आचार्यवर्य श्रीउमास्वाति (मी) जीने बडे लाघवसे संग्रह किये हैं। ऐसा कोई भी जैनसिद्धान्त नहीं है जो इसके सूत्रोंमें गर्भित न हो। सिद्धान्तसागरको एक अत्यन्त छोटेसे तत्त्वार्थरूपी घटमें भरदेना यह कार्य अनुपमसामर्थ्यवाले इसके रचयिताका ही था। तत्त्वार्थके छोटे २ सूत्रोंके अर्थगाम्भीर्यको देखकर विद्वानोंको विस्मित होना पडता है। न्यों. २ रु.

८ स्याद्वादमंजरी संस्कृत भा. टी. इसमें छहों मतोंका विवेचनकरके टीका कर्ता विद्वद्वर्य श्रीमल्लिषेणसूरीजीने स्याद्वादको पूर्णरूपसे सिद्ध किया है। न्यों. ४ रु.

९ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) संस्कृतछाया और संक्षिप्त भाषाटीका सहित। यह महान् ग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है। इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतना विस्तारसे है कि वचनद्वारा प्रशंसा नहीं होसकती देखनेसेही मालूम होसकता है, और जो कुछ संसारका झगडा है वह इन्हीं दोनों (जीव-कर्म) के संबन्धसे है सो इनदोनोंका स्वरूप दिखानेकेलिये अपूर्व सूर्य है। न्यों. २ रु.

१० गोम्मटसार (जीवकांड)—यह पहले मूलमात्र तो दूसरी जगह छप चुका था और इसका कर्मकांड भी छाया तथा संक्षिप्तभाषाटीका सहित पहले इसी मंडलसे प्रकाशित हो चुका है। अब इसका 'जीवकाड' भी छाया भाषाटीका सहित छप गया है। केवल गाथा सूची विषयसूची आदि परिशिष्टके दो तीन फारम छपना बाकी हैं सो शीघ्र ही तयार कराकर पाठकोंकी सेवामें पहुंचाया जाइगा। न्योंछावर लगभग पौने तीन २॥।) रु० के होगी।

११ प्रवचनसार श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिका सं. टी., "जो कि यूनिवर्सिटीके कोर्समे दाखिल है" तथा श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति सं. टी. और बालावबोधिनी भाषाटीका इन तीन टीकाओं सहित छपाया गया है। इसके मूलकर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य है। यह अध्यात्मिक ग्रन्थ है। न्यों. ३ रु.

१२ परमात्मप्रकाश यह ग्रंथ श्रीयोगींद्रदेव रचित प्राकृतदोहाओंमें है। इसकी संस्कृत-टीका श्रीब्रह्मदेवकृत है तथा भाषाटीका पं० दौलतरामजीने की है उसके आधारसे नवीन

प्रचलित हिंदीभाषा अन्वयार्थ भावार्थ पृथक करके बनाई गई है। इसतरह दो टीकाओं सहित छपकर तयार है। ये अध्यात्मग्रन्थ निश्चयमोक्षमार्गका साधक होनेसे बहुत उपयोगी है। न्योंछावर तीन ३) रु० है।

१३ **मोक्षमाळा**—कर्ता मरहुमसत्तावधानी कवी श्रीमद्राजचंद्र छे. आ एक स्याद्‌वाद तत्वावबोधवृक्षनुं बीज छे. आ ग्रंथ तत्व पामवानी जिज्ञासा उत्पन्न करीशके एवुं एमां कंइ अंशे पण दैवत रह्युं छे. आ पुस्तक प्रसिद्ध करवानो मुख्य हेतु उछरता बाळ युवानी अविवेकी विधापामी जे आत्मसिद्धीथी भ्रष्ट थाय छे ते भ्रष्टता अटकाववानो छे. आ मोक्षमाळा मोक्षमेळववानां कारण रूप छे. आ पुस्तकनी बे बे आवृतिओ खलास थइ गइछे अने ग्राहकोनी वहोळी मागणी थी आ त्रीजी आवृति छपावी छे. कींमत बार ।।।) आना.

१४ **भावनाबोध**—आ ग्रंथना कर्ता पण उक्त महापुरुषज छे. वैराग्य ए आ ग्रंथनो मुख्यविषय छे. पात्रता पामवानुं अने कषायमल दूर करवानुं आ ग्रंथ उत्तम साधन छे. आत्मगवेषिओने आ ग्रंथ आनंदोल्लास आपनार छे. आ ग्रंथनी पण बे आवृतिओ खपी जवाथी अने ग्राहकोनी वहोळी मागणी थी आ त्रीजी आवृति छपावी छे. कीमत चार आना. आबंने ग्रंथो खास करीने प्रभावना करवासारु अने पाठशाळा, ज्ञानशाळा ते मज स्कूलोमां विद्यार्थीओने विद्याभ्यास करवामाटे अति उत्तम छे. अने तेथी सर्व कोई लाभ लइ शके तेमाटे गुजराती भाषामां अने बालबोध टाइपमा छपावेल छे.

आवश्यक सूचना।

इस समय अपूर्व और अति उपयोगी दो महान् ग्रंथोंका प्रकाशन होरहा है।

१ **षोडशक प्रकरण**—यह ग्रंथ श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरिका बनाया हुआ संस्कृत आर्याछंदोंमें है इसमें सोलह धर्मोपदेशके प्रकरण है। इसका सस्कृत टीका तथा हिंदीभाषाटीका सहित प्रकाशन होरहा है। एक वर्षके लगभग तयार होजाइगा।

२ **लब्धिसार** (क्षपणासार गर्भित)—यह ग्रंथ भी श्री नेमिचंद्राचार्यसिद्धातचक्रवर्तीका बनाया हुआ है और गोम्मटसारका परिशिष्ट भाग है। इसोसे गोंमटसारके स्वाध्याय करनेकी सफलता होती है । इसमें मोक्षका मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेकी पांच लब्धियोंका वर्णन है फिर सम्यक्त्वहोनेके बाद कर्मोंके नाश होनेका बहुत अच्छा क्रम बतलाया गया है कि भव्यजीव शीघ्र ही कर्मोंसे छूट अनंतसुखको प्राप्त होकर अविनाशी पदको पासकते हैं। यह भी मूल गाथा छाया तथा संक्षिप्त भाषा टीका सहित छपाया जारहा है। छह महीनेके लग भग तयार होजाइगा।

सादर निवेदन ।

आत्मकल्याणके इच्छुक भव्यजीवोंसे प्रार्थना है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके ग्राहक बनकर अपनी चललक्ष्मीको अचल करें और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्तोंका पठन पाठन द्वारा प्रचार कर हमारी इस परमार्थयोजनाके परिश्रमको सफल करें। तथा प्रत्येक सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालाओंमें इनका संग्रह अवश्य करना चाहिये ॥

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनिमहाराजोंने तथा विद्वानोंने बहुत की है उसको हम स्थानाभावसे लिख नहीं सकते। और यह संस्था किसी स्वार्थकेलिये नहीं है केवल परोपकारकेवास्ते है। जो द्रव्य आता है वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमग्रन्थोंके उद्धारकेवास्ते लगाया जाता है ॥ इति शम् ॥ ता० २०।४।१६ ई०

ग्रंथोंके मिलनेका पता—

शा. रेवाशंकर जगजीवन जौंहरी,
ऑनरेरी व्यवस्थापक श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल,
जौंहरीबाजार-खाराकुवा. पो० नं. २ बंबई.।



श्रीपरमात्मने नमः ।

श्रीमद्योगीन्द्रदेवविरचितः

परमात्मप्रकाशः ।

(टीकाद्वयोपेतः)

श्रीमद्ब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीका ।

चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।
परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण व्याख्याने क्रियमाणे ग्रन्थकारो ग्रन्थस्यादौ मंगलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणः सन् दोहकसूत्रमेकं प्रतिपादयति,—

जे जाया झाणग्गियए, कम्मकलंक डहेवि ।
णिच्चणिरंजणणाणमय, ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

श्रीपंडित दौलतरामजीकृत भाषाटीका ।

दोहा—चिदानंद चिद्रूप जो, जिनपरमातमदेव ।
सिद्धरूप सुविशुद्ध जो, नमों ताहि करि सेव ॥ १ ॥
परमातम निजवस्तु जो, गुण अनंतमय शुद्ध ।
ताहि प्रकासनके निमित, वंदूं देव प्रबुद्ध ॥ २ ॥

'चिदानंद' इत्यादि श्लोकका अर्थ—श्रीजिनेश्वर देव शुद्ध परमात्मा आनंदरूप चिदानंद चिद्रूप जो हैं उनकेलिये मेरा सदाकाल नमस्कार होवै । किसलिये । परमात्माके स्वरूपके प्रकाशनेके लिये । कैसे हैं वो भगवान् । शुद्ध परमात्मस्वरूपके प्रकाशक हैं अर्थात् निज और पर सबके स्वरूपको प्रकाशते हैं । फिर कैसे हैं । 'सिद्धात्मने' जिनका आत्मा कृतकृत्य है । सारांश यह है कि नमस्कार करनेयोग्य परमात्मा ही है इसलिये परमात्माको नमस्कारकर परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथका व्याख्यान करता हूं ॥

---

१. अस्य पातनिका अग्रे द्रष्टव्या ।

ये जाता ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कानि दग्ध्वा ।
नित्यनिरञ्जनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा ॥ १ ॥

जे जाया ये केचन कर्तारो महात्मानो जाता उत्पन्नाः । केन कारणभूतेन । झाण-ग्गियए ध्यानाग्निना । किंकृत्वा पूर्वं । कम्मकलंक डहेवि कर्मकलंकमलान् दग्ध्वा भस्मीकृत्वा । कथंभूताः जाताः । णिच्चणिरंजणणाणमय नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः ते परमप्प णवेवि तान्परमात्मनः कर्मतापन्नान्नत्वा प्रणम्येति तात्पर्यार्थव्याख्यानं समुदायकथनं संपिण्डितार्थनिरूपणमुपोद्घातः संग्रहवाक्यं वार्तिकमिति यावत् । इतो विशेषः । तद्यथा—ये जाता उत्पन्ना मेघपटलविनिर्गतदिनकरकिरणप्रभाववत्कर्मपटलविघटनसमये सकलविमल-केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपेण लोकालोकप्रकाशनसमर्थेन सर्वप्रकारोपादेयभूतेन कार्य-समयसाररूपपरिणताः । कया नयविवक्षया जाताः । सिद्धपर्यायपरिणतिव्यक्तरूपतया धातुपाषाणे सुवर्णपर्यायपरिणतिव्यक्तिवत् । तथाचोक्तं पंचास्तिकाये । पर्यायार्थिकनयेन "अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो" द्रव्यार्थिकनयेन पुनः शक्त्यपेक्षया पूर्वमेव शुद्धबुद्धैकस्वभाव-

---

अब प्रथमपातनिकाके अभिप्रायसे व्याख्यान किया जाता है उसमें ग्रंथकर्ता श्री-योगीन्द्राचार्य ग्रंथके आदिमें मंगलकेलिये इष्टदेवता श्रीभगवानको नमस्कार करते हुए एक दोहाछंद कहते हैं;—[ये] जो भगवान [ध्यानाग्निना] ध्यानरूपी अग्निसे [कर्मकलङ्कानि] पहले कर्मरूपी मैलोंको [दग्ध्वा] भस्मकरके [नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः जाताः] नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं [तान्] उन [परमात्मनः] सिद्धोंको [नत्वा] नमस्कारकरके मै परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूं । यह संक्षेप व्याख्यान किया । इसके बाद विशेष व्याख्यान करते हैं—जैसे मेघप-टलसे बाहर निकली हुई सूर्यकी किरणोंकी प्रभा प्रबल होती है उसीतरह कर्मरूप मेघसमूहके विलय होनेपर अत्यंत निर्मल केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयकी प्रगटतास्वरूप परमात्मा परिणत हुए है। अनंतचतुष्टय अर्थात् अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्य ये अनंतचतुष्टय सबप्रकार अंगीकार करने योग्य हैं तथा लोकालोकके प्रकाशनेको समर्थ है । जब सिद्धपरमेष्ठी अनंतचतुष्टयरूप परिणमे तब कार्यसमयसार हुए । अंतरात्मअव-स्थामें कारणसमयसार थे । जब कार्यसमयसार हुए तब सिद्ध पर्याय परिणतिकी प्रगटतारूपकर शुद्ध परमात्मा हुए । जैसे सोना अन्यधातुके मिलापसे रहित हुआ अपने सोलहवानरूप प्रगट होता है उसीतरह कर्म कलंकरहित सिद्धपर्यायरूप परिणमे । तथा पंचास्तिकायग्रंथमें भी कहा है—जो पर्यायार्थिकनयकर "अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो" अर्थात् जो पहले सिद्धपर्याय कभी नही पाई थी वह कर्मकलंकके विनाशसे पाई । यह पर्यायार्थिकनयकी मुख्यतासे कथन है, और द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिकी अपेक्षा यह जीव सदा ही शुद्ध बुद्ध

स्तिष्ठति धातुपाषाणे सुवर्णशक्तिवत् । तथाचोक्तं द्रव्यसंग्रहे । शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावाः । केन जाताः । ध्यानाग्निना करणभूतेन ध्यानशब्देन आगमापेक्षया वीतरागनिर्विकल्पशुक्लध्यानं, अध्यात्मापेक्षया वीतरागनिर्विकल्परूपातीतध्यानं । तथाचोक्तं । "पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं । रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम् ॥" तच्च ध्यानं वस्तुवृत्त्या शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावसुखरसास्वादरूपमिति ज्ञातव्यम् । किं कृत्वा जाताः । कर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कर्ममलशब्देन द्रव्यकर्मभावकर्माणि गृह्यन्ते । पुद्गलपिण्डरूपाणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ द्रव्यकर्माणि, रागादिसंकल्पविकल्परूपाणि पुनर्भावकर्माणि । द्रव्यकर्मदहनमुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन, शुद्धनिश्चयेन बन्धमोक्षौ न स्तः । इत्थंभूतकर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कथंभूता जाताः । नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः । क्षणिकैकान्तवादिसौगतमतानुसारि-

---

(ज्ञान) स्वभाव तिष्ठता है । जैसे धातुपाषाणके मेलमें भी शक्तिरूप सुवर्ण मौजूद ही है क्योंकि सुवर्णशक्ति सुवर्णमें सदाही रहती है जब पर वस्तुका संयोगदूर होजाता है तब वह व्यक्तिरूप होता है । सारांश यह है कि शक्तिरूप तो पहले ही था लेकिन व्यक्तिरूप सिद्धपर्याय पानेसे हुआ ॥ शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर सभी जीव सदा शुद्ध ही है । ऐसा ही द्रव्यसंग्रह में कहा है "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" अर्थात् शुद्ध नयकर सभी जीव शक्तिरूप शुद्ध हैं और पर्यायार्थिकनयसे व्यक्तिकर शुद्ध हुए । किस कारणसे? ध्यानाग्निना अर्थात् ध्यानरूपी अग्निकर कर्मरूपी कलंकोंको भस्म किया तब सिद्धपरमात्मा हुए । वह ध्यान कौनसा है? आगमकी अपेक्षा तो वीतराग निर्विकल्प शुक्लध्यान है और अध्यात्मकी अपेक्षा वीतराग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है । तथा दूसरी जगह भी कहा है— "पदस्थं" इत्यादि, उसका अर्थ यह है कि णमोकार मंत्र आदिका जो ध्यान है वह **पदस्थ** कहलाता है, पिंड (शरीर) में ठहरा हुआ जो निज आत्मा है उसका चिंतवन वह **पिंडस्थ** है, सर्व चिद्रूप (सकल परमात्मा) जो अरहंतदेव उनका ध्यान वह **रूपस्थ** है और निरंजन (सिद्ध भगवान) का ध्यान **रूपातीत** कहा जाता है । वस्तुके स्वभावसे विचारा जावे तो शुद्ध आत्माका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चरित्ररूप अभेद रत्नत्रयमई जो निर्विकल्प समाधि है उससे उत्पन्न हुआ वीतराग परमानंद समरसी भाव सुखरसका आस्वाद वही जिसका स्वरूप है ऐसा ध्यानका लक्षण जानना चाहिये । इसी ध्यानके प्रभावसे कर्मरूपी मैल सोई हुए कलंक उनको भस्मकर सिद्ध हुए । कर्मकलंक अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म इनमेंसे जो पुद्गलपिंडरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्म वे द्रव्यकर्म हैं और रागादिक संकल्प विकल्परूप परिणाम भावकर्म कहेजाते है । यहां भावकर्म का दहन

शिष्यं प्रति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यव्यवस्थापनार्थं नित्यविशेषणं कृतं, अथ कल्पशते गते जगत् शून्यं भवति पश्चात्सदाशिवे जगत्करणविषये चिन्ता भवन्ति तदनन्तरं मुक्तिगतानां जीवानां कर्माञ्जनसंयोगं कृत्वा संसारे पतनं करोतीति नैयायिका वदन्ति तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माञ्जननिषेधार्थं मुक्तजीवानां निरञ्जनविशेषणं कृतं । मुक्तात्मनां सुप्तावस्थाद्बहिर्ज्ञेयविषये परिज्ञानं नास्तीति सांख्या वदन्ति तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति जगत्रयकालत्रयवर्तिसर्वपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानस्थापनार्थं ज्ञानमय-विशेषणं कृतमिति । तानित्थंभूतान् परमात्मनो नत्वा प्रणम्य नमस्कृत्येति क्रियाकारकसंबन्धः । अत्र नत्वेति शब्दरूपो वाचनिको द्रव्यनमस्कारो ग्राह्यसद्भूतव्यवहारनयेन ज्ञातव्यः, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति, शुद्धनिश्चयनयेन वन्द्यवन्दकभावो नास्तीति । एवं पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, नयविभागकथनरूपेण

अशुद्ध निश्चयनयकर हुआ, तथा द्रव्यकर्मका दहन असद्भूत अनुपचरितव्यवहार नयकर हुआ । और शुद्धनिश्चयकर तो जीवके बंधमोक्ष दोनो ही नही है । इसप्रकार कर्मरूपमलोंको भस्मकर जो भगवान हुए वे कैसे है ? वे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी नित्य निरंजन ज्ञानमई है । यहां पर नित्य जो विशेषण किया है वह एकांतवादी बौद्ध जो कि आत्माको नित्य नही मानता क्षणिक मानता है उसके समझानेके लिये है । द्रव्यार्थिकनयकर आत्माको नित्य कहा है टंकोत्कीर्ण अर्थात् टांकीकासा घड्या सुघट ज्ञायक एकस्वभाव परम द्रव्य है ऐसा निश्चय करनेके लिये नित्यपनेका निरूपण किया है। इसके बाद निरंजनपनेका कथन करते है । जो नैयायिकमती है वे ऐसा कहते है "सौ कल्प काल चले जानेपर जगत् शून्य हो जाता है। सब जीव उससमय मुक्त होजाते है। तब सदाशिवको जगतके करनेकी चिंता होती है । उसके बाद जो मुक्त हुए थे उन सबके कर्मरूप अंजनका संयोगकरके ससारमें पुनः डाल देता है" ऐसी नैयायिकोंके श्रद्धा है । उनके सबोधनेके लिये निरंजनपनेका वर्णन किया कि भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप अंजनका संसर्ग सिद्धोंके कभी नही होता । इसीलिये सिद्धोंको निरंजन ऐसा विशेषण कहा है । अब सांख्यमती कहते है— "जैसे सोनेकी अवस्थामें सोते हुए पुरुषको बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता वैसे ही मुक्तजीवोंको बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नही होता है" ऐसे सिद्धदशामें ज्ञानका अभाव मानते हैं उनके प्रतिबोध करनेके लिये तीन जगत तीनकालवर्ती सब पदार्थोंका एक समयमें ही जानना है अर्थात् जिसमें समस्त लोकालोकके जाननेकी शक्ति है ऐसे ज्ञायकतारूप केवल ज्ञानके स्थापन करनेके लिये सिद्धोंका ज्ञानमय विशेषण किया । वे भगवान नित्य है निरंजन है और ज्ञानमय है ऐसे सिद्ध परमात्माओंको नमस्कारकरके ग्रंथका व्याख्यान करता हूं । यह

नयार्थो भणितः, बौद्धादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोपि निरूपितः, एवंगुणविशिष्टाः सिद्धा मुक्ताः सन्तीत्यागमार्थः प्रसिद्धः, अत्र नित्यनिरञ्जनज्ञानमयरूपं परमात्मद्रव्यमुपादेयमिति भावार्थः । अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्य इति ॥ १ ॥

अथ संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपोतं समारुह्य ये शिवमयनिरुपमज्ञानमया भविष्यन्त्यग्रे तानहं नमस्करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा ग्रन्थकारः सूत्रमाह, इत्यनेन क्रमेण पातनिकास्वरूपं सर्वत्र ज्ञातव्यम्,—

ते वंदउं सिरिसिद्धगण, होसहिं जेवि अणंत ।
सिवमयणिरुवमणाणमय, परमसमाहि भजंत ॥ २ ॥

तान् वन्दे श्रीसिद्धगणान् भविष्यन्ति येपि अनन्ताः ।
शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः परमसमाधि भजन्तः ॥ २ ॥

ते वंदउं तान् वन्दे । तान् कान् । **सिरिसिद्धगण** श्रीसिद्धगणान् । ये किं करिष्यन्ति । **होसहिं जेवि अणंत** भविष्यन्त्यग्रे येप्यनन्ताः । कथंभूता भविष्यन्ति । **सिवमयणिरुवमणाणमय** शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । किं भजन्तः सन्तः इत्थंभूता भविष्यन्ति । **परमसमाहि भजंत** रागादिविकल्परहितसमाधि भजन्तः सेवमानाः । इतो विशेषः ।

नमस्कारशब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार है और केवलज्ञानादि अनंतगुणस्मरणरूप भावनमस्कार कहाजाता है । यह द्रव्य भावरूप नमस्कार व्यवहारनयकर साधकदशामें कहा है शुद्ध निश्चयनयकर वंद्यवंदक भाव नहीं है । ऐसे पदखंडनारूप शब्दार्थ कहा और नयविभागरूप कथनकर नयार्थ भी कहा तथा बौद्ध नैयायिक सांख्यादिमतके कथनकरनेसे मतार्थ कहा, इसप्रकार अनंत गुणात्मक सिद्धपरमेष्ठी संसारसे मुक्त हुए हैं यह सिद्धांतका अर्थ प्रसिद्ध ही है और निरंजन ज्ञानमई परमात्माद्रव्य आदरने योग्य है उपादेय है यह भावार्थ है । इसीतरह शब्दनयमतआगमभावार्थ व्याख्यानके अवसरपर सबजगह जानलेना । यह पहले दोहाका अर्थ कहा ॥ १ ॥ अब ससार समुद्रके तरनेका उपाय जो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप जिहाज है उसपर चढके जो आगामी कालमें कल्याणमय अनुपमज्ञानमई होंगे उनको मैं नमस्कार करता हूं,—["अहं"] मैं [तान्] उन [सिद्धगणान्] सिद्धसमूहोंको [वन्दे] नमस्कार करता हूं [येपि] जो [अनन्ताः] आगामीकालमें अनंत [भविष्यन्ति] होंगे । कैसे होंगे ? [शिवमयनिरूपमज्ञानमयाः] परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे । क्या करते हुए ? [परमसमाधिं] रागादिविकल्परहित जो परमसमाधि उसको [भजन्तः] सेवते हुए ॥ अब विशेष कहते है—जो सिद्ध होवेंगे उनको मैं वंदता हूं । कैसे होंगे आगामी कालमें सिद्ध ! केवल-

तथाहि—तान् सिद्धगणान् कर्मतापन्नान् अहं वन्दे । कथंभूतान् । केवलज्ञानादिमोक्षलक्ष्मीसहितान् सम्यक्त्वाद्यष्टगुणविभूतिसहितान् अनन्तान् । किं करिष्यन्ति । ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण दुर्लभबोधिं लब्ध्वा भविष्यन्त्यग्रे श्रेणिकादयः । किंविशिष्टा भविष्यन्ति । शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । अत्र शिवशब्देन स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखं ग्राह्यं, निरुपमशब्देन समस्तोपमानरहितं ग्राह्यं, ज्ञानशब्देन केवलज्ञानं ग्राह्यं । किं कुर्वाणाः सन्त इत्थंभूता भविष्यन्ति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपामूल्यरत्नत्रयभारपूर्णं मिथ्यात्वविषयकषायादिरूपसमस्तविभावजलप्रवेशरहितं शुद्धात्मभावनोत्थसहजानन्दैकरूपसुखामृतविपरीतनरकादिदुःखरूपेण क्षारजलेन पूर्णस्य संसारसमुद्रस्य तरणोपायभूतं समाधिपोतं भजन्तः सेवमानास्तदाधारेण गच्छन्त इत्यर्थः । अत्र शिवमयनिरुपमज्ञानमयशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ २ ॥

अथानन्तरं परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनहोमं कुर्वाणान् वर्तमानान् सिद्धानहं नमस्करोमि,—

तेहउ वंदउं सिद्धगण, अत्थहिं जेवि हवंत ।
परमसमाहिमहग्गियए, कम्मिंधणइं हुणंत ॥ ३ ॥

तान् वन्दे सिद्धगणान्, तिष्ठन्ति येपि भवन्तः ।
परमसमाधिमहाग्निना, कर्मेन्धनानि होमयन्तः ॥ ३ ॥

तेहउ वंदउं सिद्धगण तानहं सिद्धगणान् वन्दे । ये कथंभूताः । **अत्थहिं जेवि हवंत**

ज्ञानादि मोक्षलक्ष्मी सहित और सम्यक्त्वादि आठगुणों सहित अनंते होंगे । कहा करके सिद्ध होंगे ? वीतराग सर्वज्ञदेवकर प्ररूपित मार्गकर दुर्लभ ज्ञानको पाके राजा श्रेणिक आदिकके जीव सिद्ध होंगे । पुनः कैसे होंगे ? शिव अर्थात् निज शुद्धात्माकी भावना उसकर उपजा जो वीतराग परमानंद सुख उस स्वरूप होंगे, समस्त उपमारहित अनुपम होंगे और केवलज्ञानमई होंगे । क्याकरते हुए ऐसे होंगे ? निर्मलज्ञानदर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मा है उसके यथार्थ श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अमोलिक रत्नत्रयकर पूर्ण और मिथ्यात्व विषयकषायादिरूप समस्त विभावरूप जलके प्रवेशसे रहित शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो सहजानंदैकरूप सुखामृत उससे विपरीत जो नारकादि दुःख वे ही हुए क्षारजल उनकर पूर्ण इस ससाररूपी समुद्रके तरनेका उपाय जो परम समाधिरूप जिहाज उसको सेवते हुए उसके आधारसे चलते हुए अनंत सिद्ध होंगे । इस व्याख्यानका यह भावार्थ हुआ कि जो शिवमय अनुपम ज्ञानमय शुद्धात्मस्वरूप है वही उपादेय है ॥ २ ॥ यह दूसरे दोहेका अर्थ हुआ । आगे परमसमाधिरूप अग्निसे कर्मरूप ईंधनका होम करते हुए वर्तमानकालमें महाविदेह क्षेत्रमें सीमंधरस्वामी आदि तिष्ठते हैं उनको नमस्कार

इदानीं तिष्ठन्ति ये भवन्तः संतः । किं कुर्वाणास्तिष्ठन्ति । **परमसमाहिमहग्गियए कम्मिंधणाहिं हुणंत** परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनानि होमयन्तः । अतो विशेषः । तद्यथा-तान् सिद्धसमूहानहं वन्दे वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानलक्षणपारमार्थिकसिद्धभक्त्या नमस्करोमि । ये किंविशिष्टाः । इदानीं पञ्चमहाविदेहेषु भवन्तस्तिष्ठन्ति श्रीसीमन्धरस्वामिप्रभृतयः । किं कुर्वन्तस्तिष्ठन्ति । वीतरागपरमसामायिकभावनाविनाभूतनिर्दोषपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिवैश्वानरे कर्मेन्धनाहुतिभिः कृत्वा होमं कुर्वन्त इति । अत्र शुद्धात्मद्रव्यस्योपादेयभूतस्य प्राप्त्युपायभूतत्वान्निर्विकल्पसमाधिरेवोपादेय इति भावार्थः ॥ ३ ॥

अथ स्वरूपं प्राप्यापि तेन संबंधादनुज्ञानबलेन ये सिद्धा भूत्वा निर्वाणे वसन्ति तानहं वन्दे,—

ते पुणु वंदउं सिद्धगण, जे णिव्वाणि वसंति ।
णाणिं तिहुयणिगरुयावि, भवसायरि ण पडंति ॥ ४ ॥

तान् पुनः वन्दे सिद्धगणान्, ये निर्वाणे वसन्ति ।
ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि, भवसागरे न पतन्ति ॥ ४ ॥

ते पुणु वंदउं सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान । किं विशिष्टान् । **जे णिव्वाणि वसंति** ये निर्वाणे मोक्षपदे वसन्ति तिष्ठन्ति । पुनरपि कथंभूता ये । **णाणिं तिहुयणि-**

करता हू;—['अहं'] मै [तान्] उन [**सिद्धगणान्**] सिद्ध समूहोंको [**वन्दे**] नमस्कार करता हू [**येपि**] जो [**भवन्तः तिष्ठन्ति**] वर्तमान समयमें विराज रहे हैं । क्या करते हुए ? [**परमसमााधिमहाग्निना**] परम समाधिरूप महा अग्निकर [**कर्मेन्धनानि**] कर्मरूप ईंधनको [**होमयन्तः**] भस्मकरते हुए । अब विशेष व्याख्यान है— उन सिद्धोंको मै वीतरागनिर्विकल्पस्वसवेदन ज्ञानरूप परमार्थ सिद्धभक्तिकर नमस्कार करता हूं । कैसे है वे ? अब वर्तमान समयमें पंच महाविदेह क्षेत्रोंमें श्रीमंधरस्वामी आदि विराजमान हैं । क्या करते हुए ? वीतराग परमसामायिक चारित्रकी भावनाकर सयुक्त जो निर्दोष परमात्माका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेद रत्नत्रय उसमई निर्विकल्पसमाधिरूपी अग्निमें कर्मरूप ईंधनको होम करते हुए तिष्ठ रहे हैं । इस कथनमें शुद्धात्मद्रव्यकी प्राप्तिका उपाय भूत निर्विकल्प समाधि उपादेय (आदरने योग्य) है यह भावार्थ हुआ ॥ ३ ॥ यह तीसरे दोहेका अर्थ कहा । आगे जो महामुनि होकर शुद्धात्मस्वरूपको पाके सम्यग्ज्ञानके बलसे कर्मोंका क्षयकर सिद्ध हुए निर्वाणमें वसरहे है उनको मै वन्दता हूं;—[**पुनः**] फिर ["अहं"] मै [**तान्**] उन [**सिद्धगणान्**] सिद्धोंको [**वन्दे**] वंदता हूं [**ये**] जो [**निर्वाणे**] मोक्षमें [**वसन्ति**] तिष्ठरहे हैं । कैसे हैं वे [**ज्ञानेन**]

गरुयावि भवसायरि ण पडंति ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति । अत ऊर्ध्वं विशेषः । तथाहि—तान् पुनर्वन्देऽहं सिद्धगणान् ये तीर्थकरपरमदेवभरतराघवपाण्डवादयः पूर्वकाले वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मस्वरूपं प्राप्य कर्मक्षयं कृत्वेदानीं निर्वाणे तिष्ठन्ति सदापि न संशयः तानपि लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानस्वसंवेदनत्रिभुवनगुरून् । त्रैलोक्यालोकनपरमात्मस्वरूपनिश्चयव्यवहारपदपदार्थव्यवहारनयकेवलज्ञानप्रकाशेन समाहितस्वस्वरूपभूते निर्वाणपदोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥

अत ऊर्ध्वं व्यवहारनिश्चयशुद्धात्मनो हि सिद्धास्तथापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपे तिष्ठंतीति कथयति,—

ते पुणु वंदउं सिद्धगण, जे अप्पाणि वसंत ।
लोयालोउवि सयलुइहु, अत्थहि विमलु णियंत ॥ ५ ॥

तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्तः ।
लोकालोकमपि सकलं तिष्ठन्ति विमलं निश्चयन्तः ॥ ५ ॥

ते पुणु वंदउं सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् **जे अप्पाणि वसंत लोयालोउवि सयलुइहु अत्थहिं विमलु णियंत** ये आत्मनि वसन्तो लोकालोकं सततस्वरूपपदार्थं निश्चयन्त इति । इदानीं विशेषः । तद्यथा—तान् पुनरहं वन्दे सिद्धगणान् सिद्धसमूहं

ज्ञानसे [**त्रिभुवनगुरुका अपि**] तीनलोकमें गुरु है तौभी [**भवसागरे**] संसारसमुद्रमें [**न पतन्ति**] नहीं पडते है । भावार्थ—जो भारी होता है गुरुतर होता है वह जलमें डूबजाता है वे भगवान् त्रैलोक्यमें गुरु है परंतु भवसागरमें नही पड़ते हैं उन सिद्धोंको मै वंदता हूं जो तीर्थंकर परमदेव तथा भरत सगर राघव पांडवादिक पूर्वकालमें वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानके बलसे निजशुद्धात्मस्वरूप पाके कर्मोंका क्षयकर परमसमाधानरूप निर्वाणपदमें विराज रहे है उनको मेरा नमस्कार होवे यह सारांश हुआ ॥ ४ ॥

आगे यद्यपि वे सिद्ध परमात्मा व्यवहारनयकर लोकालोकको देखते हुए मोक्षमें तिष्ठरहे है लोकके शिखर ऊपर विराजते है तौभी शुद्ध निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं उनको मै नमस्कार करता हूं;—["**अहं**"] मै [**पुनः**] फिर [**तान्**] उन [**सिद्धगणान्**] सिद्धोंके समूहको [**वन्दे**] वंदता हूं [**ये**] जो [**आत्मनि वसन्तः**] निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें तिष्ठते हुए व्यवहारनयकर [**सकलं**] समस्त [**लोकालोकं**] लोक अलोकको [**विमलं**] संशय रहित [**निश्चयन्तः**] प्रत्यक्ष देखते हुए [**तिष्ठन्ति**] ठहर रहे है । विशेष—मै कर्मोंके क्षयके निमित्त फिर उन सिद्धों को नमस्कार करता हूं जो निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें स्थित है और व्यवहारनयकर सब लोकालोकको निःसंदेहपनेसे प्रत्यक्ष देखते है परंतु पदार्थोंमें तन्मयी नही है अपने स्वरूपमें तन्मयी हैं। जो पर

वंदे । कर्मक्षयनिमित्तं । पुनरपि कथंभूतं सिद्धस्वरूपं । चैतन्यानंदस्वभावं लोकालोकव्यापिसूक्ष्मपर्यायशुद्धस्वरूपं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं निश्चय एकीभूतव्यवहाराभावे स्वात्मनि अपि च सुखदुःखभावाभावयोरेकीकृत्य स्वसंवेद्यस्वरूपे स्वयत्ने तिष्ठन्ति । उपचरितासद्भूतव्यवहारे लोकालोकावलोकनं स्वसंवेद्यं प्रतिभाति आत्मस्वरूपकैवल्यज्ञानोपशमं यथा पुरुपार्थपदार्थदृष्टो भवति तेषां बाह्यवृत्तिनिमित्तमुत्पत्तिस्थूलसूक्ष्मपरपदार्थव्यवहारात्मानमेव जानन्ति । यदि निश्चयेन तिष्ठन्ति तर्हि परकीयसुखदुःखपरिज्ञाने सुखदुःखानुभवः प्राप्नोति, परकीयरागहेतुपरिज्ञाने च रागद्वेषमयत्वं च प्राप्नोतीति महद्दूषणं । अत्र यत्र निश्चयेन स्वस्वरूपेऽवस्थानं भणितं तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ५ ॥

अथ निष्कलात्मानं सिद्धपरमेष्ठिनं नत्वा तस्येदानीं सिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य च प्रतिपादकसकलात्मानं नमस्करोमि;—

केवलदंसणणाणमय, केवलसुक्खसहाव ।
जिणवर वंदउं भत्तियए, जेहिं पयासिय भाव ॥ ६ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखस्वभावाः ।
जिनवरान् वंदे भक्त्या यैः प्रकाशिता भावाः ॥ ६ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखस्वभावा ये तान् जिनवरानहं वंदे । कया । भक्त्या । यैः किं कृतं । प्रकाशिता भावा जीवाजीवादिपदार्था इति । इतो विशेषः । केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयस्वरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभशत्रुमित्रसमानभावनाविनाभूतवीतरागनिर्विकल्पसमाधिपूर्वं जिनो-

---

पदार्थोंमें तन्मयी हो तो परके सुखदुःख से आप सुखी दुःखी होवे ऐसा उनमें कदाचित् नही है । व्यवहारनयकर स्थूलसूक्ष्म सबको केवलज्ञानकर प्रत्यक्ष निःसंदेह जानते है किसी पदार्थसे रागद्वेष नहीं है । यदि रागके हेतुसे किसीको जाने तो वे रागद्वेषमयी होवें यह बडा दूपण है इसलिये यह निश्चय हुआ कि निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें निवास करते है परमें नही और अपनी ज्ञायकशक्तिकर सबको प्रत्यक्ष देखते है जानते है । जो निश्चयकर अपने स्वरूपमें निवास कहा इसलिये वह अपना स्वरूपही आराधने योग्य है यह भावार्थ हुआ ॥ ५ ॥ आगे निरंजन निराकार निःशरीर सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करता हूं;—[**केवलदर्शनज्ञानमयाः**] जो केवलदर्शन और केवलज्ञानमयी है [**केवलसुखस्वभावाः**] तथा जिनका केवल सुख ही स्वभाव है और [**यैः**] जिन्होंने [**भावाः**] जीवादिक सकल पदार्थ [**प्रकाशिताः**] प्रकाशित किये उनको मैं [**भक्त्या**] भक्तिसे [**वंदे**] नमस्कार करता हूं । विशेष—केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयस्वरूप जो परमात्मतत्त्व है उसके यथार्थश्रद्धान ज्ञान और अनुभव इन स्वरूप अभेदरत्नत्रय वह जिन-

पदेशं लब्ध्वा पश्चादनंतचतुष्टयस्वरूपा जाता ये । पुनश्च किं कृतं । यैः अनुवादरूपेण जीवादिपदार्थाः प्रकाशिताः । विशेषेण तु कर्माभावे सति केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूप-लाभात्मको मोक्षः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गश्च, तानहं वंदे । अत्रार्हद्गुणस्वरूपस्वशुद्धात्मस्वरूपमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ६ ॥

अथानंतरं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानाचार्योपाध्यायसाधून्नमस्करोमि;—

जे परमप्पु णियंति मुणि, परमसमाहि धरेवि ।
परमाणंदहकारणिण, तिण्णिवि तेवि णवेवि ॥ ७ ॥

ये परमात्मानं निर्यान्ति मुनयः परमसमाधिं धृत्वा ।
परमानंदकारणेन त्रीनपि तानपि नत्वा ॥ ७ ॥

जे परमप्पु णियंति मुणि ये केचन परमात्मानं निर्गच्छन्ति स्वसंवेदनज्ञानेन जानन्ति मुनयस्तपोधनाः । किं कृत्वा पूर्वं । **परमसमाहि धरेवि** रागादिविकल्परहितं परमसमाधिं धृत्वा । केन कारणेन । **परमाणंदहकारणिण** निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसदानन्दपरमसमर-सीभावसुखरसास्वादनिमित्तेन **तिण्णिवि तेवि णवेवि** त्रीनप्याचार्योपाध्यायसाधून् नत्वा नमस्कृत्येत्यर्थः । अतो विशेषः । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसंबंधं द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं तथैवाशुद्धनिश्चयसंबंधं मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायरहितं च यच्चिदा-

---

का स्वभाव है और सुखदुःख जीवित मरण लाभ अलाभ शत्रु मित्र सबमें समान भाव होनेसे उत्पन्न हुई वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधि उसके कहनेवाले जिनराजके उपदेशको पाकर अनंतचतुष्टयरूप हुए तथा जिन्होंने यथार्थ जीवादिपदार्थोंका स्वरूप प्रकाशित किया तथा जो कर्मका अभाव है वही केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्ष और जो शुद्धा-त्माका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रय वही हुआ मोक्षमार्ग ऐसे मोक्ष और मोक्षमार्गको भी प्रगट किया उनको मैं नमस्कार करता हूं । इस व्याख्यानमें अरहंतदेवके केवलज्ञानादिगुणस्वरूप जो शुद्धात्मस्वरूप है वही आराधने योग्य है यह भावार्थ जानना ॥ ६ ॥

आगे भेदाभेदरत्नत्रयके आराधक जो आचार्य उपाध्याय और साधु हैं उनको मैं नमस्कार करता हूं;—[ये मुनयः] जो मुनि [परमसमाधिं] परमसमाधिको [धृत्वा] धारण करके सम्यग्ज्ञानकर [परमात्मानं] परमात्माको [निर्यांति] जानते है । किस वास्ते ? [परमानंदकारणेन] रागादि विकल्प रहित परमसमाधिसे उत्पन्न हुए परम सुखके रसका अनुभवकरनेके लिये [तान् अपि] उन [त्रीन् अपि] तीनों आचार्य उपाध्याय साधुओंको भी [नत्वा] मै नमस्कार करके परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूं । विशेष— अनुपचरित अर्थात् जो उपचरित नही है इसीसे अनादि संबंध है परंतु असद्भूत (मिथ्या)

नंदैकस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वं तदेव भूतार्थं परमार्थरूपसमयसारशब्दवाच्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतं तस्माच्च यदन्यत्तद्धेयमिति । चलमलिनावगाढरहितत्वेन निश्चयश्रद्धानबुद्धिः सम्यक्त्वं तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारस्तत्रैव संशयविपर्यासानध्यवसायरहितत्वेन स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः, तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानंदमयसुखरसास्वादस्थिरानुभवनं च सम्यक्चारित्रं तत्राचरणं परिणमनं चारित्राचारः, तत्रैव परद्रव्येच्छानिरोधेन सहजानंदैकरूपेण प्रतपनं तपश्चरणं तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः, तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचार इति निश्चयपञ्चाचाराः । निःशङ्काद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः, कालविनयाद्यष्टभेदो बाह्यज्ञानाचारः, पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिनिर्ग्रन्थरूपो बाह्यचारित्राचारः, अनशनादिद्वादशभेदरूपो बाह्यतपश्चरणाचारः, बाह्यस्वशक्त्यनवगूहनरूपो बाह्यवीर्याचार इति । अयं तु व्यवहारपञ्चाचारः पारपर्येण साधक इति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्-

---

है ऐसी व्यवहारनयकर द्रव्यकर्मनोकर्मका संबंध होता है उससे रहित और अशुद्धनिश्चयनयकर रागादिकका संबंध है उससे तथा मतिज्ञानादि विभावगुणके संबंधसे रहित और नरनारकादि चतुर्गतिरूप विभावपर्यायोंसे रहित ऐसा जो चिदानंदचिद्रूप एक अखंडस्वभाव शुद्धात्मतत्त्व है वही सत्य है। उसीको परमार्थरूप समयसार कहना चाहिये। वही सब प्रकार आराधने योग्य है उससे जुदी जो पर वस्तु वह सब त्याज्य है। ऐसी दृढ प्रतीति चंचलतारहित निर्मल अवगाढ परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं उसका जो आचरण अर्थात् उसस्वरूप परिणमन वह **दर्शनाचार** कहाजाता है। और उसी निजस्वरूपमें संशय विमोह विभ्रम रहित जो स्वसवेदनज्ञानरूप ग्राहक बुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ उसका जो आचरण अर्थात् उसरूप परिणमन वह **ज्ञानाचार** है, उसी शुद्धस्वरूपमें शुभ अशुभ समस्त संकल्प विकल्प रहित जो नित्यानंदमय निजरसका आस्वाद निश्चल अनुभव वह सम्यक्चारित्र उसका जो आचरण उसरूप परिणमन वह **चारित्राचार** है, उसी परमानंदस्वरूपमें परद्रव्यकी इच्छाका निरोध कर सहज आनंदरूप तपश्चरण स्वरूप परिणमन वह **तपश्चरणाचार** है और उसी शुद्धात्मस्वरूपमें अपनी शक्तिको प्रगटकर आचरण परिणमन वह **वीर्याचार** है। यह निश्चयपंचाचारका लक्षण कहा । अब व्यवहारका लक्षण कहते हैं—नि.शंकितको आदि लेकर अष्ट अंगरूप बाह्यदर्शनाचार, शब्द शुद्ध अर्थशुद्ध आदि अष्टप्रकार बाह्य ज्ञानाचार, पंच महाव्रत पंच समिति तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्राचार, अनशनादि बारहतपरूप तपाचार और अपनी शक्ति प्रगटकर मुनिव्रतका आचरण यह व्यवहार वीर्याचार है। यह व्यवहार पंचाचार परंपराय मोक्षका कारण है। और निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मतत्त्व उसका यथार्थश्रद्धान ज्ञान आचरण तथा परद्रव्यकी इच्छाका निरोध और निजशक्तिका प्रगट करना ऐसा यह निश्चय पंचाचार

श्रद्धानज्ञानानुष्ठानबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिरूपं तपश्चरणं स्वशक्त्यनवगूहनवीर्यरूपाभेदपञ्चाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावनांतर्भूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं स्वयमाचरंत्यन्यानाचारयंतीति भवंत्याचार्यास्तानहं वंदे । पञ्चास्तिकायषट्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये शुद्धजीवास्तिकायशुद्धजीवद्रव्यशुद्धजीवतत्त्वशुद्धजीवपदार्थसंज्ञं स्वशुद्धात्मभावमुपादेयं तस्माद्यान्यद्धेयं कथयन्ति । शुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षमार्गं च ये कथयन्ति । ते भवंत्युपाध्यायास्तानहं वंदे । शुद्धबुद्धैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणतपश्चरणरूपाभेदचतुर्विधनिश्चयाराधनात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधिं ये साधयन्ति ते भवन्ति साधवस्तानहं वंदे । अत्रायमेव ते समाचरन्ति कथयन्ति साधयन्ति च वीतरागनिर्विकल्पसमाधि तमेवोपादेयभूतस्य स्वशुद्धात्मतत्त्वस्य साधकत्वादुपादेयं जानीहीति भावार्थः ॥ ७ ॥ इति प्रभाकरभट्टस्य पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारकरणमुख्यत्वेन प्रथममहाधिकारमध्ये दोहकसूत्रसप्तकं गतं ।

(अथ पातनिका)—श्रीयोगींद्रदेवकृतपरमात्मप्रकाशाभिधाने दोहकछंदोग्रंथे प्रक्षेपकान् विहाय व्याख्यानार्थमधिकारशुद्धिः कथ्यते । तद्यथा—प्रथमतस्तावत्पञ्च-

---

साक्षात् मुक्तिका कारण है। ऐसे निश्चय व्यवहाररूप पंचाचारोंको आप आचरैं और दूसरोंको आचरवावें ऐसे आचार्योंको मैं वंदता हूं। पंचास्तिकाय षट्द्रव्य सप्त तत्व नवपदार्थ जे हैं उनमें निज शुद्ध जीवास्तिकाय निजशुद्ध जीवद्रव्य निज शुद्ध जीवतत्त्व निज शुद्ध जीवपदार्थ जो आप शुद्धात्मा है वही उपादेय (ग्रहणकरने योग्य) है अन्य सब त्यागने योग्य है ऐसा उपदेश कहते है, तथा शुद्धात्मस्वभावका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेद रत्नत्रय है वही निश्चयमोक्षमार्ग है ऐसा उपदेश शिष्योंको देते हैं ऐसे उपाध्यायोंको मै नमस्कार करता हूं। और शुद्धज्ञान स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वकी आराधनारूप वीतराग निर्विकल्प समाधिको जो साधते हैं उन साधुओंको मै वंदता हूं। वीतराग निर्विकल्प समाधिको जो आचरते हैं कहते हैं साधते हैं वेही साधु ऐसें अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु ये ही पंचपरमेष्ठी वंदने योग्य हैं। ऐसा भावार्थ है ॥ ७ ॥ ऐसे पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करनेकी मुख्यतासे श्रीयोगींद्राचार्यने परमात्मप्रकाशके प्रथम महाधिकारमें प्रथमस्थलमें सात दोहाओंसे प्रभाकरभट्ट नामक अपने शिष्यको पंचपरमेष्ठीकी भक्तिका उपदेश दिया। यह पीठिका वर्णन की ॥

(अब पातनिका)—श्रीयोगीन्द्रदेवकृत परमात्मप्रकाश नामा दोहकछंद ग्रंथमें प्रक्षेपक (उक्तं च) विना व्याख्यानकेलिये अधिकारोंकी परिपाटी कहते हैं—प्रथम ही

---

१. वे पाचो परमेष्ठी भी जिस वीतराग निर्विकल्प समाधिको आचरते हैं कहते हैं और साधते हैं तथा जो उपादेयरूप निजशुद्धात्मतत्त्वकी साधनेवाली है ऐसी निर्विकल्प समाधिको ही उपादेय जानो। (यह अर्थ संस्कृतके अनुसार किया गया है)।

परमेष्ठिनमस्कारमुख्यत्वेन "जे जाया झाणग्गियए" इत्यादि सप्त दोहकसूत्राणि भवन्ति, तदनंतरं विज्ञापनमुख्यतया "भाविं पणविवि" इत्यादिसूत्रत्रयं, अत ऊर्ध्वं बहिरंतः-परमभेदेन त्रिधात्मप्रतिपादनमुख्यत्वेन "पुणु पुणु पणविवि" इत्यादिसूत्रपञ्चकं, अथानंतरं मुक्तिगतव्यक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन "तिहुयणवंदिउ" इत्यादि सूत्रदशकं, अत ऊर्ध्वं देहस्थितशक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन "जेहउ णिम्मलु" इत्यादि अंतर्भूतप्रक्षेपपञ्चकसहितचतुर्विंशतिसूत्राणि भवन्ति, अथ जीवस्य स्वदेहप्रमितिविषये स्वपरमतविचारमुख्यतया "अप्पा जोइय" इत्यादिसूत्रषट्कं, तदनंतरं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपकथनमुख्यतया "अप्पा जणियउ" इत्यादि सूत्रत्रयं, अथानंतरं कर्मविचारमुख्यत्वेन "जीवहं कम्मु अणाइ" इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनंतरं सामान्यभेदभावनाकथनेन "अप्पा अप्पुजि" इत्यादि सूत्रनवकं, अत ऊर्ध्वं निश्चयसम्यग्दृष्टिकथनरूपेण "अप्पे अप्पु" इत्यादि सूत्रमेकं, तदनंतरं मिथ्याभावकथनमुख्यत्वेन "पज्जयरत्तउ" इत्यादि सूत्राष्टकं, अत ऊर्ध्वं सम्यग्दृष्टिभावनामुख्यत्वेन "कालु लहेविणु" इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनंतरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन "अप्पा संजमु" इत्याद्येकाधिकत्रिंशत्प्रमितानि दोहकसूत्राणि भवन्ति ॥ इति श्रीयोगीन्द्रदेवविरचितपरमात्मप्रकाशशास्त्रे त्रयोविंशत्यधिकशतदोहकसूत्रैर्बहिरंतःपरमात्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रथमप्रकरणपातनिका समाप्ता। अथानंतरं द्वितीयमहाधिकारप्रारंभे मोक्षमोक्ष-

---

पंचपरमेष्ठीके नमस्कारकी मुख्यताकर "जे जाया झाणग्गियए" इत्यादि सात दोहा जानना, विज्ञापना की मुख्यताकर "भावें पणविवि" इत्यादि तीन दोहा, बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा इन भेदोंसे तीन प्रकार आत्माके कथनकी मुख्यताकर "पुणु पुणु पणविवि" इत्यादि पांच दोहा, मुक्तिको प्राप्त हुए जो प्रगटस्वरूप परमात्मा उनके कथनकी मुख्यताकर "तिहुयण वंदिउ" इत्यादि दस दोहा, देहमें तिष्ठे हुए शक्तिरूप परमात्माके कथनकी मुख्यतासे "जेहउ णिम्मलु" इत्यादि पांच क्षेपकोंसहित चौवीस दोहा, जीवके निजदेह प्रमाण कथनमें स्वमत परमतके विचारकी मुख्यताकर "किवि भणंति जिउ सव्वगउ" इत्यादि छह दोहा, द्रव्यगुणपर्यायके स्वरूप कहनेकी मुख्यताकर "अप्पा जणियउ" इत्यादि तीन दोहा, कर्मविचारकी मुख्यताकर "जीवहं कम्मु अणाइ जिय" इत्यादि आठ दोहा, सामान्य भेद भावनाके कथन कर "अप्पा अप्पुजि" इत्यादि नौ दोहा, निश्चयसम्यग्दृष्टिके कथनरूप अप्पे अप्पुजि" इत्यादि एक दोहा, मिथ्याभावके कथनकी मुख्यताकर "पज्जइ रत्तउ" इत्यादि आठ दोहा, सम्यग्दृष्टीकी मुख्यताकर "काललहेविणु" इत्यादि आठ दोहा और सामान्यभेदभावकी मुख्यताकर "अप्पा संजमु" इत्यादि इकतीस दोहा कहे हैं। इसतरह श्रीयोगींद्रदेव विरचित परमात्मप्रकाश ग्रंथमें एकसौ तेईस १२३ दोहाओंकर पहला प्रकरण कहा है, इस प्रकरणमें बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्माके स्वरूपके कथनकी मुख्यता है तथा इसमें तेरह अंतर अधिकार हैं। अब दूसरे अधिकारमें मोक्ष मोक्ष-

फलमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते—तत्र प्रथमतस्तावत् "सिरिगुरु" इत्यादिमोक्षस्वरूपकथनमुख्यत्वेन दोहकसूत्राणि दशकं, अत ऊर्ध्वं "दंसणणाणु" इत्याद्येकसूत्रेण मोक्षफलं, तदनंतरं "जीवहं मोक्खह हेउवरु" इत्याद्येकोनविंशतिसूत्रपर्यंतं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यतया व्याख्यानं, अथानंतरमभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन "जो भत्तउ" इत्यादि सूत्राष्टकं, अत ऊर्ध्वं समभावमुख्यत्वेन "कम्मु पुरक्किउ" इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अथानंतरं पुण्यपापसमानमुख्यत्वेन "बंधहं मोक्खहं हेउणिरु" इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अत ऊर्ध्वं एकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं प्रक्षेपकान् विहाय शुद्धोपयोगस्वरूपमुख्यत्वमिति समुदायपातनिका। तत्र प्रथमतः एकचत्वारिंशन्मध्ये "सुद्धह संजमु" इत्यादि सूत्रपञ्चकपर्यंतं शुद्धोपयोगमुख्यतया व्याख्यानं, अथानंतरं "दाणिं लब्भइ" इत्यादि पंचदशसूत्रपर्यंतं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनंतरं "लेणह इच्छइ मूढु" इत्यादि सूत्राष्टकपर्यंतं परिग्रहत्यागमुख्यतया व्याख्यानं, अत ऊर्ध्वं "जो भत्तउ रयणत्तयहं" इत्यादि त्रयोदशसूत्रपर्यंतं शुद्धनयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत् सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिस्वभावलक्षणेन समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं। इत्येकचत्वारिंशत्सूत्राणि गतानि। अत ऊर्ध्वं "परु जाणंतुवि" इत्यादि समाप्तिपर्यंतं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतसूत्रैश्चूलिका व्याख्यानं। तत्र सप्तोत्तरशतमध्ये अवसाने "परमसमाहि" इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रेषु सप्तस्थलानि भवन्ति। तस्मिन्

फल मोक्षमार्ग इनका स्वरूप कहा है, उसमें प्रथम ही "सिरि गुरु" इत्यादि मोक्षस्वरूपके कथनकी मुख्यताकर दस दोहा, "दंसण णाणु" इत्यादि एक दोहाकर मोक्षका फल, निश्चयव्यवहार मोक्षमार्गकी मुख्यताकर "जीवहं मोक्खह हेउ वरु" इत्यादि उगनीस दोहा अभेदरत्नत्रयकी मुख्यताकर "जो भत्तउ" इत्यादि आठ दोहा, समभावकी मुख्यताकर "कम्म पुरक्किउ" इत्यादि चौदह दोहा, पुण्य पापकी समानताकी मुख्यताकर "बंधहं मोक्खहं हेउ णिरु" इत्यादि चौदह दोहा है। और शुद्धोपयोगके स्वरूपकी मुख्यताकर प्रक्षेपकोंके विना इकतालीस दोहा पर्यंत व्याख्यान है। उन इकतालीस दोहाओंमेंसे प्रथम ही "सुद्धह संजमु" इत्यादि पांच दोहा तक शुद्धोपयोगके व्याख्यानकी मुख्यता है, "दाणें लब्भइ" इत्यादि पंद्रह दोहा पर्यंत वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यताकर व्याख्यान है, परिग्रह त्यागकी मुख्यताकर "लेणह इच्छइ" इत्यादि आठ दोहा पर्यंत व्याख्यान है, "जो भत्तउ रयणत्तइहं" इत्यादि तेरह दोहा पर्यंत शुद्धनयकर सोलहवानके सुवर्णकी तरह सब जीव केवलज्ञानादि स्वभावलक्षणकर समान हैं यह व्याख्यान है। इसतरह इकतालीस दोहाओंके व्याख्यानकी विधि कही उनके चार अधिकार हैं। यहांपर एकसौ ग्यारह दोहाओंका दूसरा महा अधिकार कहा है उसमें दस अंतर अधिकार हैं। इसके बाद "पर जाणंतुवि" इत्यादि एकसौ सात दोहाओंमें ग्रंथकी समाप्ति पर्यंत चूलिका व्याख्यान है इनके सिवाय प्रक्षेपक हैं। उन एकसौ सात दोहाओंमेंसे अंतके "परम समाहि" इत्यादि

प्रथमस्थले निर्विकल्पसमाधिमुख्यत्वेन "परमसमाहिमहासरहिं" इत्यादि सूत्रषट्कं, तदनंतर-मर्हत्पदमुख्यत्वेन "सयलवियप्पह" इत्यादि सूत्रत्रयं, अथानंतरं परमात्मप्रकाशनाममुख्यत्वेन "सयलहं दोसहं" इत्यादि सूत्रत्रयं, अथ सिद्धपदमुख्यत्वेन "झाणे कम्मक्खउ करिवि" इत्यादि सूत्रत्रयं, तदनंतरं परमात्मप्रकाशाराधकपुरुषाणां फलकथनमुख्यत्वेन "जे परम-प्पपयास मुणि" इत्यादिसूत्रत्रयं, अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशाराधनायोग्यपुरुषकथनमुख्यत्वेन "जे भवदुक्खहं" इत्यादि सूत्रत्रयं, अथानंतरं परमात्मप्रकाशशास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन तथैवौद्धत्यपरिहारमुख्यत्वेन च लच्छणछंद" इत्यादि सूत्रत्रयं । इति चतुर्विंशतिदोहकसूत्रै-कचूलिकावसाने सप्तस्थलानि गतानि । एवं **प्रथमपातनिका** समाप्ता । अथवा प्रकारांतरेण द्वितीया पातनिका कथ्यते । तद्यथा—प्रथमतस्तावद्बहिरात्मांतरात्मपरमात्मकथनरूपेण प्रक्षेपकान् विहाय त्रयोविंशत्यधिकशतसूत्रपर्यंतं व्याख्यानं क्रियत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ "जे जाया" इत्यादि पञ्चविंशतिसूत्रपर्यंतं त्रिधात्मपीठिकाव्याख्यानं, अथानंतरं "जेहउ णिम्मलु" इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यंतं सामान्यविवरणं, अत ऊर्ध्वं "अप्पा जोइय सव्वगउ" इत्यादित्रिचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं विशेषविवरणं, अत ऊर्ध्वं "अप्पा संजमु" इत्याद्येकत्रिंशत्सूत्रपर्यंतं चूलिकाव्याख्यानमिति "प्रथममहाधिकारः" समाप्तः । अथानंतर मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयसूत्रपर्यंतं

चौवीस दोहा पर्यंत परमसमाधिका कथन है उनमें सातस्थल हैं। उनमेंसे प्रथमस्थलमें निर्वि-कल्प समाधिकी मुख्यताकर "परमसमाहि महासरहि" इत्यादि छह दोहा, अरहंतपदकी मुख्यताकर "सयल वियप्पहं" इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशनामकी मुख्यताकर "सयलहं दोसहं" इत्यादि तीन दोहा, सिद्धपदकी मुख्यताकर "झाणे कम्मक्खउ करिवि" इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशके आराधक पुरुषोंको फलके कथनकी मुख्यताकर "जो परमप्पपयास मुणि" इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशकी आराधनाके योग्य पुरुषोंके कथनकी मुख्यताकर "जो भवदुक्खहं" इत्यादि तीन दोहा और परमात्मप्रकाश-शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर तथा गर्वके त्यागकी मुख्यताकर "लक्खण छंद" इत्यादि तीन दोहा हैं। इसप्रकार चूलिकाके अंतमें चौवीस दोहाओंसे सात स्थल कहे गये हैं। इसतरह तीन महा अधिकारोंमें अंतर स्थल अनेक हैं एक तो इसप्रकार पातनिका कही ॥ अथवा अन्य तरह कथनकर दूसरी पातनिका कहते हैं—पहले अधिकारमें बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके कथनकी मुख्यताकर क्षेपकोंको छोडकर एकसौ तेईस दोहा कहे हैं। उनमेंसे "जे जाया" इत्यादि पच्चीस दोहा पर्यंत तीनप्रकार आत्माके कथनका पीठिकाव्याख्यान, "जेहउ णिम्मलु" इत्यादि चौवीस दोहा पर्यंत सामान्यवर्णन, "अप्पा जोइय सव्वगउ" इत्यादि तेतालीस दोहा पर्यंत विशेषवर्णन और "अप्पा सजमु" इत्यादि इकतीस दोहा पर्यंत चूलिका व्याख्यान है। इसतरह अंतर अधिकारों सहित "पहला

द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ "सिरि गुरु" इत्यादित्रिंशत्सूत्रपर्यंतं पीठिकाव्याख्यानं, तदनंतरं "जो भत्तउ" इत्यादिषट्त्रिंशत्सूत्रपर्यंतं सामान्यविवरणं, अथानंतरं "सुद्धहं संजमु" इत्याद्येकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं विशेषविवरणं, तदनंतरं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतपर्यंतमभेदरत्नत्रयमुख्यतया चूलिकाव्याख्यानं, इति **द्वितीयपातनिका** ज्ञातव्या ॥

अथ प्रभाकरभट्टः पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिनो नत्वा पुनरिदानीं श्रीयोगींद्रदेवान् विज्ञापयति,—

भाविं पणविवि पंचगुरु, सिरिजोइंदुजिणाउ ।
भट्टपहायरि विण्णयउ, विमलु करेविणु भाउ ॥ ८ ॥

भावेन प्रणम्य पञ्चगुरून् श्रीयोगींद्रजिनः ।
भट्टप्रभाकरेण विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावम् ॥ ८ ॥

भाविं पणविवि पंचगुरु भावेन भावशुद्ध्या प्रणम्य । कान् । पञ्चगुरून् । पश्चात्किं कृतं । **सिरिजोइंदुजिणाउ भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ** श्रीयोगींद्रदेवनामा भगवान् प्रभाकरभट्टेन कर्तृभूतेन विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावं परिणाममिति । अत्र प्रभाकरभट्टः शुद्धात्मतत्त्वपरिज्ञानार्थं श्रीयोगींद्रदेवं भक्तिप्रकर्षेण विज्ञापितवानित्यर्थः ॥ ८॥

तद्यथा,—

गउ संसारि वसंताहं, सामिय कालु अणंतु ।
पर मइं किंपि ण पत्तु सुहु, दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥ ९ ॥

महाधिकार" कहा। इसके बाद मोक्ष मोक्षफल और मोक्षमार्गके स्वरूपके कथनकी मुख्यताकर क्षेपकोंके सिवाय दोसौ चौदह दोहा पर्यंत दूसरा महाधिकार है। उसमें "सिरि गुरु" इत्यादि तीस दोहा पर्यंत पीठिकाव्याख्यान, "जो भत्तउ" इत्यादि छत्तीस दोहा पर्यंत सामान्यवर्णन और "सुद्धह संजमु" इत्यादि इकतालीस दोहा पर्यंत विशेषवर्णन है उसके बाद उक्तंच को छोड़कर एकसौ सात दोहा पर्यंत अभेदरत्नत्रयकी मुख्यताकर चूलिका व्याख्यान है। इसतरह **दूसरी पातनिका** जाननी चाहिये ॥

अब प्रभाकरभट्ट पूर्वरीतिसे पंचपरमेष्ठीको नमस्कारकर और श्री योगीन्द्रदेवगुरूको नमस्कार कर श्रीगुरूसे विनती करता है;—[**भावेन**] भावोंकी शुद्धताकर [**पञ्चगुरून्**] पंच परमेष्ठियोंको [**प्रणम्य**] नमस्कारकर [**भट्टप्रभाकरेण**] प्रभाकरभट्ट [**भावं विमलं कृत्वा**] अपने परिणामोंको निर्मलकरके [**श्रीयोगींद्रजिनः**] श्रीयोगींद्रदेवसे [**विज्ञापितः**] शुद्धात्मतत्त्वके जाननेके लिये महाभक्तिकर विनती करता हुआ ॥ ८ ॥

गतः संसारे वसतां स्वामिन् कालः अनंतः ।
परं मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महत् ॥ ९ ॥

गउ संसारि वसंताहं सामिय कालु अणंतु गतः संसारे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन् । कोसौ । कालः । कियान् । अनंतः **पर मइं किंपि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु** परं किंतु मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महदिति । इतो विस्तरः । तथाहि—स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानंदसमरसीभावरूपसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखरूपेण क्षारनीरेण पूर्णे अजरामरपदविपरीतजातिजरामरणरूपेण मकरादिजलचरसमूहेन संकीर्णे अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतनानामानसादिदुःखरूपवडवानलशिखासंदीपिताभ्यंतरे वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविपरीतसंकल्पविकल्पजालरूपेण कल्लोलमालासमूहेन विराजिते संसारसागरे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन्ननंतकालो गतः । कस्मात् । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपंचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यत्वदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनेषु परंपरदुर्लभेषु । कथंभूतेषु । लब्धेष्वपि तपोभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनालक्षणस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदुर्लभत्वात् । तदपि कथं । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबोधिप्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रा-

---

वह विनती इसतरह है;—[हेस्वामिन्] हे स्वामी [संसारे वसतां] इस संसारमें रहते हुए हमारा [अनंतः कालः गतः] अनंतकाल वीत गया [परं] लेकिन [मया] मैंने [किमपि सुखं] कुछ भी सुख [न प्राप्तं] नहीं पाया उल्टा [महत् दुःखं एव] महान् दुःख ही पाया है । यहांसे विशेष ।—निज शुद्धात्माकी भावनाकर उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंद समरसीभाव है उसरूप जो आनंदामृत उससे विपरीत नरकादिदुःखरूप क्षार (खारी) जलसे पूर्ण (भरा हुआ), अजर अमर पदसे उलटा जन्म जरा (वुढापा) मरणरूपी जलचरोंके समूहकर भरा हुआ, अनाकुलता स्वरूप निश्चय सुखसे विपरीत अनेक प्रकार आधि व्याधि दुःखरूपी वडवानलकी शिखाकर प्रज्वलित, वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर रहित महान संकल्प विकल्पोंके जालरूपी कल्लोलोंकी मालाओंकर विराजमान, ऐसे संसाररूपी समुद्रमें रहते हुए मुझे हे स्वामी अनंतकाल वीत गया । इस ससारमें एकेंद्रीसे दोइंद्री, ते इंद्री, चौइंद्री स्वरूप विकलत्रय पर्याय पाना दुर्लभ (कठिन) है; विकलत्रयसे पंचेंद्री, सैनी, छह पर्याप्तियोंकी संपूर्णता होना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य होना अत्यंत दुर्लभ, उसमें आर्यक्षेत्र दुर्लभ, उसमेंसे उत्तमकुल ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यवर्णरूप पाना कठिन है, उसमें भी सुंदर रूप, समस्त पांचों इन्द्रियोंकी प्रवीणता, दीर्घ आयु, बल, शरीर नीरोग, जैनधर्म इनका उत्तरोत्तर मिलना कठिन है ।

णामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवांतरप्रापणं समाधिरिति बोधिसमाधिलक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यं । तथाचोक्तं । "इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं ॥" परं किंतु बोधिसमाध्यभावे पूर्वोक्तसंसारे भ्रमतापि मया शुद्धात्मसमाधिसमुत्पन्नवीतरागपरमानंदसुखामृतं किमपि न प्राप्तं किंतु तद्विपरीतमाकुलत्वोत्पादकं विविधशारीरमानसरूपं चतुर्गतिभ्रमणसंभवं दुःखमेव प्राप्तमिति । अत्र यस्य वीतरागपरमानंदसुखस्यालाभे भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ९ ॥

अथ यस्यैव परमात्मस्वभावस्यालाभेऽनादिकाले भ्रमितो जीवस्तमेव पृच्छति.—

चउगइदुक्खहं तत्ताहं, जो परमप्पउ कोइ ।
चउगइदुक्खविणासयरु, कहहु पसाएं सोवि ॥ १० ॥

चतुर्गतिदुःखैः तप्तानां, यः परमात्मा कश्चित् ।
चतुर्गतिदुःखविनाशकः, कथय प्रसादेन सोपि ॥ १० ॥

कभी इतनी वस्तुओंकी भी प्राप्ति होजावे तौ भी श्रेष्ठबुद्धि, श्रेष्ठ धर्मश्रवण, धर्मका ग्रहण, धारण, श्रद्धान, संयम, विषयसुखोंसे निवृत्ति, क्रोधादिकषायका अभाव—इनका होना अत्यंत दुर्लभ है और इन सबोंसे उत्कृष्ट शुद्धात्मभावनारूप वीतरागनिर्विकल्पसमाधिका होना बहुत मुश्किल है क्योंकि उस समाधिके शत्रु जो मिथ्यात विषय कषाय आदिक विभाव परिणाम हैं उनकी प्रबलता है। इसीलिये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती । और इनका पाना ही बोधि है, उस बोधिका जो निर्विषयपनेसे धारण वही समाधि है। इसतरह बोधि समाधिका लक्षण सबजगह जानना चाहिये । इस बोधि समाधिका मुझमें अभाव है इसीलिये संसारसमुद्रमें भटकते हुए मैंने वीतराग परमानंद सुख नहीं पाया किंतु उस सुखसे विपरीत (उल्टा) आकुलताके उत्पन्न करनेवाला नानाप्रकारका शरीरका तथा मनका दुःख ही चारों गतिओंमें भ्रमणकरते हुए पाया । इस संसारसागरमें भ्रमणकरते मनुष्यदेह आदिका पाना बहुत दुर्लभ है परंतु उसको पाकर कभी प्रमादी (आलसी) नहीं होना चाहिये । जो प्रमादी हो जाते हैं वे संसाररूपी वनमें अनंतकाल भटकते हैं । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें भी कहा है—"इत्यतिदुर्लभरूपां" इत्यादि । उसका अभिप्राय ऐसा है कि यह महान दुर्लभ जो जैनशास्त्रका ज्ञान है उसको पाके जो जीव प्रमादी होजाता है वह रंक पुरुष बहुतकालतक संसाररूपी भयानक वनमें भटकता है । सारांश यह हुआ कि वीतराग परमानंद सुखके न मिलनेसे यह जीव संसाररूपी वनमें भटक रहा है इसलिये वीतराग परमानंदसुख ही आदर करने योग्य है ॥ ९ ॥

आगे जिस परमात्मस्वभावके अलाभमें यह जीव अनादिकालसे भटक रहा था उसी

चउगइदुक्खहं तत्ताहं जो परमप्पउ कोइ चतुर्गतिदुःखतप्तानां जीवानां यः कश्चिच्चिदानंदैकस्वभावः परमात्मा । पुनरपि कथंभूतः । **चउगइदुक्खविणासयरु** आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञारूपादिसमस्तविभावरहितानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन परमात्मोत्थसहजानंदैकसुखामृतसंतुष्टानां चतुर्गतिदुःखविनाशकः **कहहु पसाएं सोवि** हे भगवन् तमेव परमात्मानं महाप्रसादेन कथयेति । अत्र योसौ परमसमाधिरतानां चतुर्गतिदुःखविनाशकः स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ १० ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये प्रभाकरभट्टविज्ञप्तिकथनमुख्यत्वेन दोहकसूत्रत्रयं गतं ।

अथ प्रभाकरभट्टविज्ञापनानंतरं श्रीयोगींद्रदेवास्त्रिविधात्मानं कथयन्ति;—

पुण पुण पणविवि पंचगुरु, भाविं चित्ति धरेवि ।
भट्टपहायर णिसुणि तुहुं, अप्पा तिविहु कहेवि ॥ ११ ॥

पुनः पुनः प्रणम्य पंचगुरून् भावेन चित्ते धृत्वा ।
भट्टप्रभाकर निशृणु त्वं आत्मानं त्रिविधं कथयामि ॥ ११ ॥

पुण पुण पणविवि पंचगुरु भाविं चित्ति धरेवि पुनः पुनः प्रणम्य पंचगुरूनहं । किं कृत्वा । भावेन भक्तिपरिणामेन मनसि धृत्वा पश्चात् **भट्टपहायर णिसुणि तुहु अप्पा तिविहु कहेवि** हे प्रभाकरभट्ट ! निश्चयेन शृणु त्वं त्रिविधमात्मानं कथयाम्यहमिति ।

परमात्मस्वभावका व्याख्यान प्रभाकरभट्ट सुनना चाहता है;—[**चतुर्गतिदुःखैः**] देवगति मनुष्यगति नरकगति तिर्यंचगतियोंके दुःखोंसे [**तप्तानां**] तप्तायमान (दुःखी) संसारी जीवोंके [**चतुर्गतिदुःखविनाशकः**] चारगतियोंके दुःखोंका विनाशकरनेवाला [**यः कश्चित्**] जो कोई [**परमात्मा**] चिदानंद परमात्मा है [**तमपि**] उसको [**प्रसादेन**] कृपाकरके [**कथय**] हे श्रीगुरू तुम कहौ ॥ **भावार्थ**—वह चिदानंद शुद्धस्वभाव परमात्मा, आहार भय मैथुन परिग्रहके भेदरूप संज्ञाओंको आदि लेके समस्त विभावोंसे रहित. तथा वीतराग निर्विकल्पसमाधिके बलसे निजस्वभावकर उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृतकर संतुष्ट हुआ है हृदय जिनका ऐसे निकट संसारी जीवोंके चतुर्गतिका भ्रमण दूर करने वाला है, जन्मजरामरणरूप दुःखका नाशक है तथा वह परमात्मा निज स्वरूप परमसमाधिमें लीन महामुनियोंको निर्वाणका देनेवाला है वही सबतरह ध्यान करने योग्य है सो ऐसे परमात्माका स्वरूप तुमारे प्रसादसे मै सुनना चाहता हूं। इसलिये कृपाकर आप कहौ । इसप्रकार प्रभाकरभट्टने श्रीयोगीन्द्रदेवसे विनती की ॥ १० ॥ इस कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा हुए । आगे प्रभाकर भट्टकी विनती सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेव तीनप्रकार आत्माका स्वरूप कहते हैं;—[**पुनःपुनः**] वार वार [**पंचगुरून्**] पंच परमेष्ठियोंको [**प्रणम्य**] नमस्कारकर और [**भावेन**] निर्मल भावोंकर [**चित्ते**] मनमें [**धृत्वा**] धारणकरके [**‘अहं’**] मै [**त्रिविधं**] तीनप्रकारके [**आत्मानं**] आत्माको [**कथयामि**]

वहिरात्मांतरात्मपरमात्मभेदेन त्रिविधात्मा भवति । अयं त्रिविधात्मा यथा त्वया पृष्टो हे प्रभाकरभट्ट तथा भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियाः परमात्मभावनोत्थवीतरागपरमानंदसुधारस-पिपासिता वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखभयभीता भव्य-वरपुण्डरीका भरतसगररामपांडवश्रेणिकादयोपि वीतरागसर्वज्ञतीर्थंकरपरमदेवानां समवस-रणे सपरिवारा भक्तिभरनमितोत्तमांगाः संतः सर्वागमप्रश्नानंतरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धा-त्मानं पृच्छंतीति । अत्र त्रिविधात्मस्वरूपमध्ये शुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ११ ॥

अथ त्रिविधात्मानं ज्ञात्वा वहिरात्मानं विहाय स्वसंवेदनज्ञानेन परं परमात्मानं भावय त्वमिति प्रतिपादयति,—

अप्पा तिविहु मुणेवि लहु, मूढउ मिल्लहि भाउ ।
मुणि सण्णाणें णाणमउ, जो परमप्पसहाउ ॥ १२ ॥

कहता हूं सो [हे प्रभाकर भट्ट] हे प्रभाकर भट्ट [त्वं] तू [निशृणु] निश्चयकर सुन ॥ भावार्थ—वहिरात्मा अंतरात्मा परमात्माके भेदकर आत्मा तीनतरहका है सो हे प्रभाकर भट्ट जैसे तूने मुझे पूछा है उसीतरहसे भव्योंमें महाश्रेष्ठ भरतचक्रवर्ती सगर-चक्रवर्ती रामचंद्र बलभद्र, पांडव तथा श्रेणिक वगैरः वडे२ राजा जिनके भक्तिभारकर नम्रीभूत मस्तक होगये हैं महाविनयवाले परिवारसहित समोसरणमें आके वीतराग सर्वज्ञ परमदेवसे सर्व आगमका प्रश्नकर उसके वाद सवतरहसे ध्यानकरने योग्य शुद्धात्माका ही स्वरूप पूछते हुए । उसके उत्तरमें भगवान्ने यही कहा कि आत्मज्ञानके समान दूसरा कोई सार नही है । भरतादि वड़े२ श्रोताओंमेंसे भरतचक्रवर्तीने श्रीऋषभदेव भगवानको पूछा, सगरचक्रवर्तीने श्रीअजितनाथको, रामचंद्र वलभद्रने देशभूषण कुलभूषण केवलीको तथा सकलभूषण केवलीको, पांडवोंने श्रीनेमिनाथभगवानको और राजा श्रेणिकने श्रीम-हावीरस्वामीको पूछा । कैसे हैं ये श्रोता कि जिनको निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रयकी भावना प्रिय है, परमात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अमृतरसके प्यासे हैं और वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर उत्पन्न हुआ जो सुखरूपी अमृत उससे विपरीत जो नारकादि चार गतियोंके दुःख उनसे भयभीत हैं । सो जिसतरह इन भव्यजीवोंने भगवंतसे पूछा और भगवंतने तीनप्रकार आत्माका स्वरूप कहा वैसा ही मै जिनवाणीके अनुसार तुझे कहता हूं । सारांश यह हुआ कि तीनप्रकार आत्माके स्वरूपमेंसे शुद्धात्मस्वरूप जो निज परमात्मा वही ग्रहण करने योग्य है । जो मोक्षका मूलकारण रत्नत्रय कहा है वह मैने निश्चय व्यवहार दोनों तरह से कहा है उसमें अपने स्वरूपका श्रद्धान, स्वरूपका ज्ञान और स्वरूपका ही आचरण यह तो निश्चयरत्नत्रय है इसीका दूसरा नाम अभेद भी है । और देवगुरू धर्मकी श्रद्धा, नवतत्त्वोंकी श्रद्धा, आगमका ज्ञान तथा संयमभाव ये व्यवहार-

आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु मूढं मुंच भावम् ।
मन्यस्व स्वज्ञानेन ज्ञानमयं यं परमात्मस्वभावम् ॥ १२ ॥

अप्पा तिविहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ हे प्रभाकरभट्ट आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु शीघ्रं मूढं बहिरात्मस्वरूपं भावं परिणामं मुंच **मुणि सण्णाणें णाणमउ जो परमप्प सहाउ** पश्चात् त्रिविधात्मपरिज्ञानानंतरं मन्यस्व जानीहि । केन करणभूतेन । अंतरात्मलक्षणवीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन । कं जानीहि । यं परमात्मस्वभावं ।

रत्नत्रय हैं इसीका नाम भेदरत्नत्रय है । इनमेंसे भेदरत्नत्रय तो साधन है और अभेदरत्नत्रय साध्य है ॥ ११ ॥ आगे तीनप्रकार आत्माको जानकर बहिरात्मपना छोड़ स्वसवेदन ज्ञानकर तू परमात्माका ध्यान कर यह कहते हैं—[**आत्मानं त्रिविधं ज्ञात्वा**] हे प्रभाकर भट्ट तू आत्माको तीनप्रकारका जानकर [**मूढं भावं**] बहिरात्मस्वरूप भावको [**लघु**] शीघ्र ही [**मुंच**] छोड़ और [**यः**] जो [**परमात्मस्वभावः**] परमात्माका स्वभाव है उसे [**संज्ञानेन**] स्वसंवेदनज्ञानसे अंतरात्मा होता हुआ [**मन्यस्व**] जान । वह स्वभाव [**ज्ञानमयः**] केवलज्ञानकर परिपूर्ण है ॥ **भावार्थ**—जो वीतराग सवेदनकर परमात्मा जाना था वही ध्यानकरने योग्य है। यहां शिष्यने प्रश्न किया था जो स्वसंवेदन अर्थात् अपनेकर अपनेको अनुभवना इसमें वीतराग विशेषण क्यों कहा क्योंकि जो स्वसंवेदन ज्ञान होवेगा वह तो रागरहित होवैगा ही। इसका समाधान श्रीगुरूने दिया—कि विषयोंके आस्वादनसेभी उन वस्तुओंके स्वरूपका जानपना होता है परंतु रागभावकर दूषित है इसलिये निजरसका आस्वाद नही है और वीतरागदशामें स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है आकुलतारहित होता है । तथा स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्थामें चौथे पांचवें गुणस्थान वाले गृहस्थके भी होता है वहांपर सराग देखनेमें आता है इसलिये रागसहित अवस्थाके निषेधकेलिये वीतराग स्वसवेदनज्ञान ऐसा कहा है । राग भाव है वह कषायरूप है इसकारण जबतक मिथ्यादृष्टिके अनंतानुबंधीकषाय है तबतक तो बहिरात्मा है उसके तो स्वसवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान सर्वथा ही नही है और चतुर्थगुणस्थानमें अव्रत सम्यग्दृष्टीके मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधीके अभाव होनेसे सम्यक् ज्ञान तो होगया परंतु कषायकी तीन चौकड़ी बाकी रहनेसे द्वितीयाके चंद्रमाके समान विशेष प्रकाश नहीं होता । और श्रावकके पांचवें गुणस्थानमें दो चौकड़ीका अभाव है इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ वीतरागभाव बढ गया इसकारण स्वसवेदन ज्ञान भी प्रबल हुआ परंतु दो चौकड़ीके रहनेसे मुनिके समान प्रकाश नही हुआ । मुनिके तीन चौकडीका अभाव है इसलिये रागभाव तो निर्बल होगया तथा वीतरागभाव प्रबल हुआ वहापर स्वसवेदनज्ञानका अधिक प्रकाश हुआ परंतु चौथी चौकड़ी बाकी है इसलिये छठे गुणस्थानवाले

किंविशिष्टं । ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तमिति । अत्र योसौ स्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मा ज्ञातः स एवोपादेय इति भावार्थः । स्वसंवेदनज्ञाने वीतरागं विशेषणं किमर्थमिति पूर्वपक्षः, परिहारमाह—विषयानुभवरूपस्वसंवेदनज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थमित्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

अथ त्रिविधात्मसंज्ञां बहिरात्मलक्षणं च कथयति;—

मूढु वियक्खणु बंभु परु, अप्पा तिविहु हवेइ ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ, सो जणु मूढु हवेइ ॥ १३ ॥

मूढो विचक्षणो ब्रह्म परः आत्मा त्रिविधो भवति ।
देहमेव आत्मानं यो मनुते स जनो मूढो भवति ॥ १३ ॥

मुनि सरागसंयमी हैं वीतरागसंयमीकासा प्रकाश नहीं है । सातवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी मंद हो जाती है वहांपर आहारविहार क्रिया नहीं होती ध्यानमें आरूढ रहते हैं, सांतवेंसे छठे गुणस्थानमें आवे वहापर आहारादि क्रिया है इसीप्रकार छठा सातवां करते रहते हैं वहांपर अंतर्मुहूर्तकाल है । आठवे गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी अत्यंतमंद होजाती है वहां रागभावकी अत्यंत क्षीणता होती है, वीतराग भाव पुष्ट होता है, स्वसंवेदनज्ञानका विशेष प्रकाश होता है श्रेणी मांडनेसे शुक्लध्यान उत्पन्न होता है । श्रेणीके दो भेद हैं एक क्षपक दूसरी उपशम, क्षपकश्रेणीवाले तो उसी भवमें केवलज्ञान पाकर मुक्त होजाते हैं और उपशमवाले आठवें नवमें दशवेसे ग्यारवां स्पर्शकर पीछे पड़ जाते हैं सो कुछ एक भव भी धारण करते हैं तथा क्षपकवाले आठवेंसे नवमे गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं वहां कषायोंका सर्वथा नाश होता है एक संज्वलन लोभ रह जाताहै अन्य सबका अभाव होनेसे वीतराग भाव अति प्रबल होजाता है इसलिये स्वसंवेदनज्ञानका बहुत ज्यादा प्रकाश होता है परंतु एक सज्वलनलोभ वाकी रहनेसे वहां सरागचारित्र ही कहा जाता है । दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभभी नहीं रहता तब मोहकी अट्ठाईस प्रकृतियोंके जानेसे वीतरागचारित्र की सिद्धि हो जाती है । दशवेंसे बारवेंमें जाते हैं ग्यारवें गुणस्थानका स्पर्श नहीं करते वहां निर्मोह वीतरागीके शुक्लध्यानका दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है यथाख्यात चारित्र होजाता है । बारवेंके अंतमें ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय इन तीनोंका भी विनाश कर डाला मोहका नाश पहले हो ही चुका था तब चारों घातियाकर्मोंके जानेसे तेरवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट होता है वहां पर ही शुद्ध परमात्मा होता है अर्थात् उसके ज्ञानका पूर्ण प्रकाश होजाता है निःकषाय है । चौथे गुणस्थानसे लेकर बारवें गुणस्थानतक तो अंतरात्मा है उसके गुणस्थान प्रति चढती हुई शुद्धता है और पूर्णशुद्धता परमात्माके है यह सारांश समझना ॥ १२ ॥

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ मूढो मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा, विचक्षणो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतोऽन्तरात्मा, ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा । शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं कथ्यते—शुद्धो रागादिरहितो बुद्धोऽनंतज्ञानादिचतुष्टयसहित इति शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यं । स च कथंभूतः ब्रह्मा । परमो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः । एवमात्मा त्रिविधो भवति । **देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ** वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसंजातसदानंदैकसुखामृतस्वभावमलभमानः सन् देहमेवात्मानं यो मनुते जानाति स जनो लोको मूढात्मा भवति इति । अत्र बहिरात्मा हेयस्तदपेक्षया यद्यप्यंतरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ १३ ॥

अथ परमसमाधिस्थितः सन् देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं योसौ जानाति सोंतरात्मा भवतीति निरूपयति,—

देहविभण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ ।
परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥ १४ ॥

देहविभिन्नं ज्ञानमयं यः परमात्मानं जानाति ।
परमसमाधिपरिस्थितः पण्डितः स एव भवति ॥ १४ ॥

देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहा-

---

आगे तीनप्रकार आत्माके भेद तथा उनमेंसे प्रथम बहिरात्माका लक्षण कहते हैं— [**मूढः**] मिथ्यात्वरागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा, [**विचक्षणः**] वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमन करता हुआ अंतरात्मा [**ब्रह्मपरः**] और शुद्धबुद्ध स्वभाव परमात्मा अर्थात् रागादिरहित अनंतज्ञानादिसहित, भावद्रव्य कर्म, नोकर्म रहित आत्मा इसप्रकार [**आत्मा**] आत्मा [**त्रिविधो भवति**] तीन तरह का है अर्थात् बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा ये तीन भेद हैं । इनमेंसे [**यः**] जो [**देहमेव**] देहको ही [**आत्मानं**] आत्मा [**मनुते**] मानता है [**स जनः**] वह प्राणी [**मूढः**] बहिरात्मा [**हवेइ**] है अर्थात् बहिर्मुख मिथ्यादृष्टी है ॥ **भावार्थ**—जो देहको आत्मा समझता है वह वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृतको नही पाता हुआ मूर्ख है अज्ञानी है । इन तीनप्रकारके आत्माओंमेंसे बहिरात्मा तो त्याज्य ही है आदर योग्य नहीं है, इसकी अपेक्षा यद्यपि अंतरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टी वह उपादेय है तो भी सबतरहसे उपादेय (ग्रहण करने योग्य) जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह अंतरात्मा हेय ही है, शुद्ध परमात्मा ही ध्यानकरने योग्य है । ऐसा जानना ॥ १३ ॥

आगे परमसमाधिमें स्थित, देहसे भिन्न ज्ञानमयी (उपयोगमयी) आत्माको जानता है

दभिन्नं निश्चयनयेन भिन्नं ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तं परमात्मानं योसौ जानाति **परम-समाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ** वीतरागनिर्विकल्पसहजानंदैकशुद्धात्मानुभूतिलक्षणपरमसमाधिस्थितः सन् पंडितोंतरात्मा विवेकी स एव भवति । "कः पंडितो विवेकी"ति वचनात् इति अंतरात्मा हेयरूपो, योसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १४ ॥

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्ध स परमात्मा भवतीति कथयति,—

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्कें जेण ।
मिल्लिवि सयलुवि दव्वुपरु, सो परु मुणहि मणेण ॥ १५ ॥

आत्मा लब्धो ज्ञानमयः कर्मविमुक्तेन येन ।
मुक्त्वा सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ॥ १५ ॥

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्कें जेण आत्मा लब्धः प्राप्तः । किंविशिष्टः । ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः । कथंभूतेन सता । ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावकर्मरहितेन येन । किं कृत्वात्मा लब्धः । **मिल्लिवि सयलुवि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण** मुक्त्वा परित्यज्य । किं । परद्रव्यं देहरागादिकं । कतिसंख्योपेतमपि । समस्तमपि तमित्थंभूतमा-

---

वह अंतरात्मा है ऐसा कहते हैं;—[यः] जो पुरुष [परमात्मानं] परमात्माको [देहविभिन्नः] शरीरसे जुदा [ज्ञानमय] केवलज्ञानकर पूर्ण [जानाति] जानता है [स एव] वो ही [परमसमाधिपरिस्थितः] परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ [पंडितः] अंतरात्मा अर्थात् विवेकी [भवेत्] है ॥ भावार्थ—यद्यपि अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नयसे अर्थात् इस जीवके परवस्तुका संबंध अनादिकालका मिथ्यारूप होनेसे व्यवहार नयकर देहमयी है तौ भी निश्चयनयकर सर्वथा देहादिकसे भिन्न है और केवल ज्ञानमयी है ऐसा निज शुद्धात्माको वीतरागनिर्विकल्प सहजानंद शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप परम-समाधिमें स्थित होता हुआ जानता है वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है । वह परमात्मा ही सर्वथा आराधने योग्य है ऐसा जानना ॥ १४ ॥

आगे सब परद्रव्योंको छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवल ज्ञानमय पा लिया है वही परमात्मा है ऐसा कहते हैं;—[येन] जिसने [कर्मविमुक्तेन] ज्ञानावरणादिकर्मोंको नाशकरके [सकलमपि परं द्रव्यं] और सब देहादिक परद्रव्योंको [मुक्त्वा] छोड़करके [ज्ञानमयः] केवलज्ञान मई [आत्मा] आत्मा [लब्धः] पाया है [तं] उसको [मनसा] शुद्धमनसे [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] जान ॥ भावार्थ—जिसने देहादिक समस्त परद्रव्यको छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म

त्मानं परं परमात्मानमिति मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । केन कृत्वा । मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयस्वरूपादिसमस्तविभावपरिणामरहितेन मनसेति । अत्रोक्तलक्षणपरमात्मा उपादेयो ज्ञानावरणादिसमस्तविभावरूपं परद्रव्यं तु हेयमिति भावार्थः ॥ १५ ॥ एवं त्रिधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये संक्षेपेण त्रिविधात्मसूचनमुख्यतया सूत्रपंचकं गतं । तदनंतरं मुक्तिगतकेवलज्ञानादिव्यक्तिरूप सिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं प्रारभ्यते । तद्यथा ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा हरिहरादिविशिष्टपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानीहीति प्रतिपादयति;—

तिहुयणवंदिउ सिद्धिगउ, हरिहर झायहि जो जि ।
लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ १६ ॥

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव ।
लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्थिरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ १६ ॥

तिहुयण वंदिउ सिद्धिगउ हरिहर झायहि जो जि त्रिभुवनवंदितं सिद्धिगतं यं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं परमात्मानं हरिहरहिरण्यगर्भादयो ध्यायंति । किंकृत्वा पूर्वं । **लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु** लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तं अलक्ष्येण वीतरागनिर्विकल्पनित्यानंदैकस्वभावपरमात्मरूपेण धृत्वा । कथंभूतं । स्थिरं परीषहोपसर्गैरक्षुभितं **मुणि परम**-

---

रागादिक भावकर्म शरीरादि नोकर्म इन तीनोंसे रहित केवलज्ञानमई अपने आत्माका लाभ करलिया है ऐसे आत्माको हे प्रभाकर भट्ट तू माया मिथ्या निदानरूप शल्य वगैरः समस्त विभाव (विकार) परिणामोंसे रहित निर्मल चित्तसे परमात्मा जान तथा केवलज्ञानादि गुणोंवाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादिरूप सब परवस्तु त्यागने योग्य है ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥ इसप्रकार जिसमें तीनतरहके आत्माका कथन है ऐसे प्रथम महाधिकारमें त्रिविध आत्माके कथनकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें पांच दोहासूत्र कहे । अब मुक्तिको प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर दश दोहासूत्र कहते हैं ।

उनमें पांच दोहामें जो हरि हरादिक बड़े पुरुष अपना मन स्थिरकर जिस परमात्माका ध्यान करते हैं उसीका तू भी ध्यान कर यह कहते हैं,—[हरिहराः] इन्द्र नारायण और रुद्र वगैरः बड़े २ पुरुष [त्रिभुवनवंदितं] तीन लोककर वंदनीक (त्रैलोक्यनाथ) [सिद्धिगतं] और केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपनेको प्राप्त [यं एव] जिस परमात्माको ही [ध्यायंति] ध्यावते हैं [लक्ष्यं] अपने मनको [अलक्ष्ये] वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द स्वभाव परमात्मामें [स्थिरं धृत्वा] स्थिर करके [तमेव] उसीको

प्पउ सो जि तमित्थंभूतं परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि भावयेत्यर्थः । अत्र केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपमुक्तिगतपरमात्मसदृशो रागादिरहितः स्वशुद्धात्मा साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १६ ॥ संकल्पविकल्पस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा—वहिर्द्रव्यविपये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिचित्तगतो हर्षविषादादिपरिणामो विकल्प इति । एवं संकल्पविकल्पलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यं ।

अथ नित्यनिरंजनज्ञानमयपरमानंदस्वभावशांतशिवस्वरूपं दर्शयन्नाह;—

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।
जो एहउ सो संत सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १७ ॥

नित्यो निरंजनो ज्ञानमयः परमानंदस्वभावः ।
य इत्थंभूतः स शांतः शिवः तस्य मन्यस्व भावम् ॥ १७ ॥

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ द्रव्यार्थिकनयेन नित्योऽविनश्वरः, रागादिकर्ममलरूपांजनरहितत्वान्निरंजनः, केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः, शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागानंदपरिणतत्वात्परमानंदस्वभावः **जो एहउ सो संत सिउ** य इत्थंभूतः स शांतः शिवो भवति हे प्रभाकरभट्ट **तासु मुणिज्जहि भाउ** तस्य वीतरागत्वात् शांतस्य परमानंदसुखमयत्वात् शिवस्वरूपस्य त्वं जानीहि भावय । कं भावय । शुद्धबुद्धैकस्वभावमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

हे प्रभाकर भट्ट तू [**परमात्मानं**] परमात्मा [**मन्यस्व**] जान चिंतवनकर । सारांश यह है कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्माके समान रागादिरहित अपने शुद्धात्माको पहचान, वही साक्षात् उपादेय है अन्य सब संकल्प विकल्प त्यागने योग्य हैं ॥ अब संकल्प विकल्पका स्वरूप कहते हैं कि जो वाह्यवस्तु पुत्र स्त्री कुटुंब बांधव वगैरः जीवपदार्थ तथा चांदी सोना रत्न मणिके आभूषण वगैरः अचेतनपदार्थ हैं इन सबको अपने समझै कि मेरे हैं ऐसे ममत्वपरिणामको **संकल्प** जानना । तथा मै सुखी मैं दुःखी इत्यादि हर्षविषाद परिणाम होना वह **विकल्प** है । इसप्रकार संकल्प विकल्पका स्वरूप जानना चाहिये ॥ १६ ॥

आगे नित्य निरंजन ज्ञानमयी परमानंदस्वभाव शांत और शिवस्वरूपपणा वर्णन करते हैं;—[**नित्यः**] द्रव्यार्थिकनयकर अविनाशी [**निरंजनः**] रागादिक उपाधिसे रहित अथवा कर्ममलरूपी अंजनसे रहित [**ज्ञानमयः**] केवलज्ञानसे परिपूर्ण और [**परमानंदस्वभावः**] शुद्धात्मभावनाकर उत्पन्न हुए वीतराग परमानंदकर परिणत है [**यः इत्थंभूतः**] जो ऐसा है [**सः**] वही [**शांतः शिवः**] शांतरूप और शिवस्वरूप है [**तस्य**] उसी परमात्माका [**भावः**] शुद्ध बुद्धस्वभाव [**जानीहि**] हे प्रभाकर भट्ट तू जान अर्थात् ध्यान कर ॥ १७ ॥

पुनश्च किं विशिष्टो भवति;—

जो णियभाउ ण परिहरइ, जो परभाउ ण लेइ ।
जाणइ सयलुवि णिच्चु पर, सो सिउ संतु हवेइ ॥ १८ ॥

यो निजभावं न परिहरति यः परभावं न लाति ।
जानाति सकलमपि नित्यं परं स शिवः शांतो भवति ॥ १८ ॥

यः कर्ता निजभावमनंतज्ञानादिस्वभावं न परिहरति यश्च परभावं कामक्रोधादिरूपमात्मरूपतया न गृह्णाति । पुनरपि कथंभूतः । जानाति सर्वमपि जगत्रयकालत्रयवर्तिवस्तुस्वभावं न केवलं जानाति द्रव्यार्थिकनयेन नित्य एव अथवा नित्यं सर्वकालमेव जानाति परं नियमेन । स इत्थंभूतः शिवो भवति शान्तश्च भवतीति । किं च अयमेव जीवः मुक्तावस्थायां व्यक्तिरूपेण शांतः शिवसंज्ञां लभते संसारावस्थायां तु शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्तिरूपेणेति । तथा चोक्तं । परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोस्तु । पुनश्चोक्तं "शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शांतमक्षयं । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तित," अन्यः कोप्येको जगत्कर्ता व्यापी सदामुक्तः शांतः शिवोस्तीत्येवं न । अत्रायमेव शांतशिवसंज्ञः शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ १८ ॥

अथ पूर्वोक्तं निरंजनस्वरूपं सूत्रत्रयेण व्यक्तीकरोति,—

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु, जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि, णाउ णिरंजणु तासु ॥ १९ ॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ, जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सो जि णिरंजणु जाणि ॥ २० ॥

आगे फिर उसी परमात्माका कथन करते हैं;—[यः] जो [निजभावं] अनंतज्ञानादिरूप अपने भावोंको [न परिहरति] कभी नही छोड़ता [यः] और जो [परभावं] कामक्रोधादिरूप परभावोंको [न लाति] कभी ग्रहण नही करता है [सकलमपि] तीनलोक तीनकालकी सब चीजोंको [परं] केवल [नित्यं] हमेशा [जानाति] जानता है [सः] वही [शिवः] शिवस्वरूप तथा [शांतः] शांतस्वरूप [भवति] है । भावार्थ—ससार अवस्थामें शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर सभी जीव शक्तिरूपसे परमात्मा हैं व्यक्तिरूपसे नही है । ऐसा कथन अन्यग्रंथोंमें भी कहा है—शिवमित्यादि अर्थात् परमकल्याणरूप निर्वाणरूप महाशांत अविनश्वर ऐसे मुक्तिपदको जिसने पा लिया है वही शिव है अन्य कोई, एक जगत्कर्ता सर्वव्यापी सदामुक्त शांत शिवरूप नैयायिकोंका तथा वैशेपिकवगैरःका माना हुआ नही है । यह शुद्धात्मा ही शांत है शिव है उपादेय है ॥

**अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु, अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कुवि दोसु जसु, सो जि णिरंजणु भाउ ॥ २१ ॥ तियलं ।**

यस्य न वर्णो न गंधो रसः यस्य न शब्दो न स्पर्शः ।
यस्य न जन्म मरणं नापि नाम निरंजनस्तस्य ॥ १९ ॥

यस्य न क्रोधो न मोहो मदः यस्य न माया न मानः ।
यस्य न स्थानं न ध्यानं जीव तमेव निरंजनं जानीहि ॥ २० ॥

अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य अस्ति न हर्षो विषादः ।
अस्ति न एकोपि दोषो यस्य स एव निरंजनो भावः ॥ २१ ॥ त्रिकलं ।

यस्य मुक्तात्मनः शुक्लकृष्णरक्तपीतनीलरूपपंचप्रकारवर्णो नास्ति सुरभिदुरभिरूपो द्विप्रकारो गंधो नास्ति कटुकतीक्ष्णमधुराम्लकषायरूपः पंचप्रकारो रसो नास्ति भाषात्मकाभाषात्मकादिभेदभिन्नः शब्दो नास्ति शीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुमृदुकठिनरूपोष्टप्रकारः स्पर्शो नास्ति पुनश्च यस्य जन्म मरणमपि नैवास्ति तस्य चिदानंदैकस्वभावपरमात्मनो निरंजनसंज्ञा लभते ॥ पुनश्च किंरूपः स निरंजनः । यस्य न विद्यते । किं किं न विद्यते । क्रोधो मोहो विज्ञानाद्यष्टविधमदभेदो यस्यैव मायामानकषायो यस्यैव नाभिहृदयललाटादिध्यानस्थानानि चित्तनिरोधलक्षणध्यानमपि यस्य न तमित्थंभूतं स्वशुद्धात्मानं हे जीव निरंजनं जानीहि । ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः ॥ पुनरपि किंस्वभावः स निरं-

---

आगे पहले कहे हुए निरंजनस्वरूपको तीन दोहासूत्रोंसे प्रगट करते हैं;—[यस्य] जिस भगवानके [वर्णः] सफेद काला लाल पीला नीलस्वरूप पाचप्रकार वर्ण [न] नही है [गंधः रसः] सुगंधदुर्गंधरूप दो प्रकारकी गंध [न] नही है मधुर आम्ल (खट्टा) तिक्त कटु कषाय 'क्षार'रूप पांच रस नही हैं [यस्य] जिसके [शब्दः न] भाषा अभाषारूप शब्द नही है अर्थात् सचित्त अचित्तमिश्ररूप कोई शब्द नही है सातस्वर नही है [स्पर्शः न] शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष गुरु लघु मृदु कठिनरूप आठतरहका स्पर्श नही है [यस्य] और जिसके [जन्म न] जन्म जरा नही है [मरणं नापि] तथा मरण भी नही है [तस्य] उसी चिदानंद शुद्धस्वभावपरमात्माकी [निरंजनं नाम] निरंजनसंज्ञा है अर्थात् ऐसे परमात्मा को ही निरंजनदेव कहते हैं ॥ फिर वह निरंजनदेव कैसा है—[यस्य] जिस सिद्ध परमेष्ठीके [क्रोधः न] गुस्सा नही है [मोहः मदः न] मोह तथा कुल जाति वगैरः आठ तरहका अभिमान नही है [यस्य माया न मानः न] जिसके माया व मान कषाय नहीं है और [यस्य] जिसके [स्थानं न] ध्यानके स्थान नाभि हृदय मस्तक वगैरः नही है [ध्यानं न] चित्तके रोकनेरूप ध्यान

जनः । यस्यास्ति न । किं किं नास्ति । द्रव्यभावरूपं पुण्यपापं च । पुनरपि किं नास्ति । रागरूपो हर्षो द्वेषरूपो विषादश्च । पुनश्च । नास्ति क्षुधाद्यष्टादशदोषेषु मध्ये चैकोपि दोषः स एव शुद्धात्मा निरंजन इति हे प्रभाकरभट्ट त्वं जानीहि । स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः । किंच । एवंभूतसूत्रत्रयव्याख्यातलक्षणो निरंजनो ज्ञातव्यो न चान्यः कोपि निरंजनोस्ति परकल्पितः । अत्र सूत्रत्रयेपि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योसौ निरंजनो व्याख्यातः स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ १९।२०।२१ ॥

अथ धारणाध्येययंत्रमंत्रमंडलमुद्रादिकं व्यवहारध्यानविषयं मंत्रवादशास्त्रकथितं यत्तन्निर्दोषपरमात्माराधनाध्याने निषेधयंति,—

जासु ण धारणु धेउ णवि, जासु ण जंतु ण मंतु ।
जासु ण मंडलु मुद्द णवि, सो मुणि देउ अणंतु ॥ २२ ॥

यस्य न धारणा ध्येयं नापि यस्य न यंत्रो न मन्त्रः ।
यस्य न मण्डलं मुद्रा नापि तं मन्यस्व देवमनंतम् ॥ २२ ॥

यस्य परमात्मनो नास्ति न विद्यते । किं कि । कुंभकरेचकपूरकसंज्ञा वायुधारणादिकं प्रतिमादिकं ध्येयमिति । पुनरपि किं तस्य । अक्षररचनाविन्यासरूपस्तंभनमोहनादिविषयं

नहीं है अर्थात् जब चित्त ही नहीं है तो रोकना किसका हो [स एव] ऐसे निजशुद्धात्माको हे जीव तू जान ॥ सारांश यह हुआ कि अपनी प्रसिद्धता (बडाई) महिमा अपूर्व वस्तुका मिलना और देखे सुने भोग इनकी इच्छारूप सब विभावपरिणामोंको छोड़कर अपने शुद्धात्माकी अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर उस शुद्धात्माका अनुभवकर ॥ पुनः वह निरंजन कैसा है—[**यस्य**] जिसके [**पुण्यं न पापं न अस्ति**] द्रव्यभावरूप पुन्य नहीं तथा पाप नहीं है [**हर्षः विषादः न**] राग द्वेषरूप खुशी व रंज नहीं हैं [**यस्य**] और जिसके [**एकः अपि दोषः**] क्षुधा (भूख) वगैरः दोषोंमेंसे एक भी दोष नहीं है [**स एव**] वही शुद्धात्मा [**निरंजनः**] निरंजन है ऐसा तू [**भावय**] जान ॥ **भावार्थ**—ऐसे निज शुद्धात्माके परिज्ञानरूप वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर तू अनुभव कर । इसप्रकार तीनदोहाओंमें जिसका स्वरूप कहा गया है उसे ही निरंजन जानो अन्य कोई भी परकल्पित निरंजन नहीं है । इन तीनों दोहाओंमें जो निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाववाला **निरंजन** कहा गया है वही उपादेय है ॥ १९।२०।२१ ॥

आगे धारणा ध्येय यंत्र मंत्र मंडल मुद्रा आदिक व्यवहारध्यानके विषय मंत्रवाद शास्त्रमें कहे गये हैं उन सबका निर्दोषपरमात्माकी आराधनारूप ध्यानमें निषेध किया है;—[**यस्य**] जिस परमात्माके [**धारणा न**] कुंभक पूरक रेचक नामवाली वायु-

यंत्रस्वरूपं विविधाक्षरोच्चारणरूपं मंत्रस्वरूपं च अप्मंडलवायुमंडलपृथ्वीमंडलादिकं गारुडमुद्राज्ञानमुद्रादिकं च यस्य नास्ति तं परमात्मानं देवमाराध्यं द्रव्यार्थिकनयेनानंतमविनश्वरमनंतज्ञानादिगुणस्वभावं च मन्यस्व जानीहि । अतीन्द्रियसुखास्वादविपरीतस्य जिह्वेन्द्रियविषयस्य निर्मोहशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलस्य मोहस्य वीतरागसहजानंदपरमसमरसीभावसुखरसानुभवप्रतिपक्षस्य नवप्रकाराब्रह्मव्रतस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपातस्य मनोगतसंकल्पविकल्पजालस्य च विजयं कृत्वा हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मानमनुभवेत्यर्थः । तथा चोक्तं । "अक्खाणरसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभं च । गुत्तीसु य मणगुत्ती चउरो दुक्खेहिं सिज्झंति" ॥ २२ ॥

अथ वेदशास्त्रेन्द्रियादिपरद्रव्यालंबनाविषयं च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविषयं च परमात्मानं प्रतिपादयंति,—

वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं, जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मलझाणहं जो विसउ, सो परमप्पु अणाइ ॥ २३ ॥

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मंतुं न याति ।
निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादिः ॥ २३ ॥

वेदशास्त्रेन्द्रियैः कृत्वा योसौ मंतुं ज्ञातुं न याति । पुनश्च कथंभूतो यः । मिथ्यात्वा-

---

धारणादिक नहीं है [ध्येयं नापि] प्रतिमा वगैरः ध्यानकरने योग्य पदार्थ भी नहीं हैं [यस्य] जिसके [यंत्रं न] अक्षरोंकी रचनारूप स्तंभन मोहनादि विषयक यंत्र नहीं है [मंत्रः न] अनेकतरहके अक्षरोंके बोलनेरूप मंत्र नहीं है [यस्य] और जिसके [मंडलं न] जलमंडल वायुमंडल अग्निमंडल पृथ्वीमंडलादिक पवनके भेद नहीं हैं [मुद्रा न] गारुडमुद्रा ज्ञानमुद्रा वगैरः मुद्रा नहीं हैं [तं] उसे [अनंतं] द्रव्यार्थिकनयसे अविनाशी तथा अनंतज्ञानादिगुणरूप [देवं मन्यस्व] परमात्मादेव जानो । **भावार्थ**—अतींद्रिय आत्मीकसुखके आस्वादसे विपरीत जिह्वाइंद्रीके विषय (रस) को जीतके निर्मोह शुद्धस्वभावसे विपरीत मोहभावको छोड़कर और वीतराग सहज आनंद परम समरसीभाव सुखरूपी रसके अनुभव का शत्रु जो नौ तरहका कुशील उसको तथा निर्विकल्पसमाधिके घातक मनके संकल्प विकल्पोंको त्यागकर हे प्रभाकर भट्ट तू शुद्धात्माका अनुभव कर । ऐसा ही दूसरी जगह भी कहा है—"अक्खाणेति" इसका आशय इसतरह है कि इंद्रियोंमें जीभ प्रबल होती है ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंमें मोह कर्म बलवान् होता है पांच महाव्रतोंमें ब्रह्मचर्य व्रत प्रबल है और तीन गुप्तियोंमेंसे मनोगुप्ति पालना कठिन है । ये चार बातें मुश्किलसे सिद्ध होती हैं ॥ २२ ॥

आगे वेद शास्त्र इंद्रियादि परद्रव्योंके अगोचर और वीतरागनिर्विकल्प समाधिके गोचर (प्रत्यक्ष) ऐसे परमात्माका स्वरूप कहते हैं,—[वेदैः] केवली की दिव्य

विरतिप्रमादकपाययोगाभिधानपंचप्रत्ययरहितस्य निर्मलस्य स्वशुद्धात्मसंवित्तिसंजातनित्यानंदैकसुखामृतास्वादपरिणतस्य ध्यानस्य विषयः । पुनरपि कथंभूतो यः । अनादिः स परमात्मा भवतीति हे जीव जानीहि । तथा चोक्तं । "अन्यथा वेदपांडित्यं शास्त्रपांडित्यमन्यथा । अन्यथा परमं तत्त्वं लोकाः क्लिश्यंति चान्यथा" । अत्रार्थभूत एव शुद्धात्मोपादेयो अन्यद्धेयमिति भावार्थः ॥ २३ ॥

अथ योसौ वेदादिविषयो न भवति परमात्मा समाधिविषयो भवति पुनरपि तस्यैव स्वरूपं व्यक्तिं करोति,—

केवलदंसणणाणमउ, केवलसुक्खसहाउ ।
केवलवीरिउ सो मुणहिं, जो जि परावरु भाउ ॥ २४ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयः केवलसुखस्वभावः ।
केवलवीर्यस्तं मन्यस्व य एव परापरो भावः ॥ २४ ॥

केवलोसहायः ज्ञानदर्शनाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः केवलानंदसुखस्वभावः केव-

---

वाणीकरके [शास्त्रैः] महा मुनियोंके वचनोंसे तथा [इंद्रियैः] इंद्रिय और मनसे भी [यः] जो शुद्धात्मा [मंतुं] जाना [न याति] नही जाता है अर्थात् वेद शास्त्र ये दोनों शब्द अर्थ स्वरूप हैं आत्मा शब्दातीत है तथा इंद्रिय मन विकल्परूप हैं और मूर्तीक पदार्थको जानते हैं वह आत्मा निर्विकल्प है अमूर्तीक है इसलिये इन तीनोंसे नही जानसकते । [यः] जो आत्मा [निर्मलध्यानस्य] निर्मलध्यानके [विषयः] गम्य है [सः] वही [अनादिः] आदि अंत रहित [परमात्मा] परमात्मा है अर्थात् मिथ्यात्व अव्रत प्रमाद कपाय योग इन पांचतरह आस्रवोंसे रहित निर्मल निज शुद्धात्माके ज्ञानकर उत्पन्न हुए नित्यानंद सुखामृतका आस्वाद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प अपने स्वरूपके ध्यानकर स्वरूप की प्राप्ति है । आत्मा ध्यानगम्य ही है शास्त्रगम्य नहीं है क्योंकि जिनको शास्त्र सुननेसे ध्यानकी सिद्धि हो जावे वो ही आत्माका अनुभव करसकते हैं जिन्होंने पाया उन्होंने ध्यानसे ही पाया है और शास्त्र सुनना तो ध्यानका उपाय है ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूपमें अपना परिणाम लगाओ । दूसरी जगह भी "अन्यथा" इत्यादि कहा है । उसका यह भावार्थ है कि वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही हैं नयप्रमाणरूप है तथा ज्ञानकी पंडिताई कुछ और ही है वह आत्मा निर्विकल्प है नय प्रमाण निक्षेपसे रहित है वह परमतत्त्व तो केवल आनंद रूप है और ये लोक अन्य ही मार्गमें लगे हुए है सो वृथा क्लेश कर रहे है । इस जगह अर्थरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है अन्य सब त्यागने योग्य है यह सारांश समझना ॥ २३ ॥

आगे कहते हैं कि जो परमात्मा वेद शास्त्र गम्य तथा इन्द्रियगम्य नहीं केवल परमस-

लानंतवीर्यस्वभाव इति यस्तमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पुनश्च कथंभूतो य एवं । यः परापरः परेभ्योऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः पर उत्कृष्टो मुक्तिगतः शुद्धात्मा भावः पदार्थः स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ २४ ॥

अथ त्रिभुवनवंदित इत्यादिलक्षणैर्युक्तो योसौ शुद्धात्मा भणितः स लोकाग्रे तिष्ठतीति कथयति,—

एयहिं जुत्तउ लक्खणिहिं, जो परु णिक्कलु देउ ।
सो तहिं णिवसइ परमपइ, जो तइलोयहं सेउ ॥ २५ ॥

एतैर्युक्तो लक्षणैः यः परो निष्कलो देवः ।
स तत्र निवसति परमपदे यत् त्रैलोक्यस्य सेतुः ॥ २५ ॥

एतैस्त्रिभुवनवंदितादिलक्षणैः पूर्वोक्तैर्युक्तो यः पुनश्च कथंभूतो यः परः । परमात्मस्वभावः । पुनरपि किंविशिष्टः । निष्कलः पंचविधशरीररहितः । पुनरपि किंविशिष्टः । देवस्त्रिभुवनाराध्यः स एव परमपदे मोक्षे निवसति । यत्पदं कथंभूतं । त्रैलोक्यस्यावसान-

---

माधिरूप निर्विकल्पध्यानकर ही गम्य है इसलिये उसीका खरूप फिर कहते हैं;—[यः] जो [केवलदर्शनज्ञानमयः] केवलज्ञान केवलदर्शनमई है अर्थात् जिसके परवस्तुका आश्रय (सहायता) नहीं आप ही सब वातोंमें परिपूर्ण ऐसे ज्ञान दर्शनवाला है [केवलसुखस्वभावः] जिसका केवलसुख स्वभाव है और जो [केवलवीर्यः] अनंतवीर्यवाला है [स एव] वही [परापरभावः] उत्कृष्ट अर्हंतपरमेष्ठीसे भी अधिक स्वभाववाला सिद्धरूप शुद्धात्मा है [मन्यस्व] ऐसा मानो ॥ **भावार्थ**—परमात्माके दो भेद हैं एक सकल परमात्मा एक निकल परमात्मा उनमेंसे कल अर्थात् शरीरसहित तो अरहंत भगवान हैं वे साकार हैं और जिनके शरीर नही ऐसे निकल परमात्मा निराकारस्वरूप सिद्धपरमेष्ठी हैं वे सकल परमात्मासे भी उत्तम हैं वही सिद्धरूप शुद्धात्मा ध्यान करने योग्य है ॥ २४ ॥

आगे तीन लोककर वंदना करने योग्य पूर्व कहे हुए लक्षणों सहित जो शुद्धात्मा कहा गया है वही लोकके अग्रमें रहता है यह कहते हैं:—[एतैः लक्षणैः] 'तीन भुवनकर वंदनीक' इत्यादि जो लक्षण कहे थे उन लक्षणोंकर [युक्तः] सहित [परः] सबसे उत्कृष्ट [निष्कलः] औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्माण ये पांच शरीर जिसके नही हैं अर्थात् निराकार है [देवः] तीन लोककर आराधित जगत का देव है [यः] ऐसा जो परमात्मा सिद्ध है [सः] वही [तत्र परमपदे] उस लोकके शिखरपर [निवसति] विराजमान है [यत्] जो कि [त्रिलोकस्य] तीनलोकका [सेतुः] शिरोमणि है । **भावार्थ**—यहांपर जो सिद्ध परमेष्ठीका व्याख्यान किया है उसीके

मिति । अत्र तदेव मुक्तजीवसदृशं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ २५ ॥ एवं त्रिविधात्मकथनप्रथममहाधिकारमध्ये मुक्तिगतसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्र-दशकं गतं ।

अत ऊर्ध्वं प्रक्षेपपंचकमंतर्भावचतुर्विंशतिसूत्रपर्यंतं यादृशो व्यक्तिरूपः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति तादृशः शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण तिष्ठतीति कथयंति तद्यथा,—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहि णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु, देहहं मं करि भेउ ॥ २६ ॥

यादृशो निर्मलो ज्ञानमयः सिद्धौ निवसति देवः ।
तादृशो निवसति ब्रह्मा परः देहे मा कुरु भेदं ॥ २६ ॥

यादृशः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः निर्मलो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममल-रहितः ज्ञानमय. केवलज्ञानेन निर्वृत्तः केवकज्ञानांतर्भूतानंतगुणपरिणतः सिद्धो मुक्तो मुक्तौ निवसति तिष्ठति देवः परमाराध्यः तादृशः पूर्वोक्तलक्षणसदृशः निवसति तिष्ठति ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा पर उत्कृष्टः । क निवसति । देहे । केन । शुद्धद्रव्यार्थि-कनयेन । कथंभूतेन । शक्तिरूपेण हे प्रभाकरभट्ट भेदं माकार्षीस्त्वमिति । तथाचोक्तं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते । "णमिएहिं जं णमिज्जइ झाइज्जइ झाएएहिं अणवरयं । थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किंपि तं मुणहं ।" अत्र स एव परमात्मोपादेय इति भावार्थः ॥२६॥

समान अपना भी स्वरूप है वही उपादेय (ध्यान करने योग्य) है जो सिद्धालय है वह देहालय है अर्थात् जैसा सिद्धलोकमें विराज रहा है वैसाही हंस (आत्मा) इस घट (देह) में विराजमान है ॥ २५ ॥

इसप्रकार जिसमे तीनतरहके आत्माका कथन है ऐसे प्रथम महाधिकारमें मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धपरमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर चौथे स्थलमें दश दोहा सूत्र कहे ॥ आगे पंचक्षेपक मिले हुए चौवीस दोहाओंमें जैसा प्रगटरूप परमात्मा मुक्तिमें है वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर देहमे भी शक्तिरूप है ऐसा कहते हैं,—[यादृशः] जैसा केवल ज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार [निर्मलः] उपाधिरहित द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरूप मलसे रहित [ज्ञानमयः] केवल ज्ञानादि अनंत गुणरूप सिद्ध परमेष्ठी [देवः] देवा-धिदेव परम आराध्य [सिद्धौ] मुक्तिमें [निवसति] रहता है [तादृशः] वैसा ही सब लक्षणोंसहित [परं ब्रह्म] पर ब्रह्म शुद्ध बुद्धस्वभाव परमात्मा उत्कृष्ट शुद्धद्रव्यार्थिक-नयकर शक्तिरूप परमात्मा [देहे] शरीरमें [निवसति] तिष्ठता है इसलिये हे प्रभा-करभट्ट तू [भेदं] सिद्ध भगवानमे और अपनेमें भेद [मा कार्षीः] मत करै । ऐसा ही मोक्ष पाहुडमें श्रीकुंदकुंदाचार्यने भी कहा है "णमिएहि" इत्यादि—इसका यह

अथ येन शुद्धात्मना स्वसंवेदनज्ञानचक्षुषावलोकितेन पूर्वकृतकर्माणि नश्यंति तं किं न जानासि त्वं हे योगिन्निति कथयंति,—

जें दिट्ठिं तुट्टंति लहु, कम्मइं पुव्वकियाइं ।
सो परु जाणहिं जोइया, देहि वसंतु ण काइं ॥ २७ ॥

येन दृष्टेन त्रुट्यंति लघु कर्माणि पूर्वकृतानि ।
तं परं जानासि योगिन् देहे वसंतं न किम् ॥ २७ ॥

जें दिट्ठिं तुट्टंति लहु कम्मइं पुव्वकियाइं येन परमात्मना दृष्टेन सदानंदैकरूपवीन-रागनिर्विकल्पसमाधिलक्षणनिर्मललोचनेनावलोकितेन त्रुट्यंति शतचूर्णानि भवंति लघु शीघ्रं अंतर्मुहूर्तेन । कानि । परमात्मनः प्रतिबंधकानि स्वसंवेद्यभावोपार्जितानि पूर्वकृतकर्माणि **सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइं** तं नित्यानंदैकस्वभावं स्वात्मानं परमोत्कृष्टं किं न जानासि हे योगिन् । कथंभूतमपि । स्वदेहे वसंतमपीति । अत्र स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ २७ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रक्षेपपंचकं कथयंति । तद्यथा;—

जित्थुण इंदियसुहदुहइ, जित्थु ण मणवावारु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, अण्णु परिं अवहारु ॥ २८ ॥ (क्षे०)

अभिप्राय है कि जो नमस्कारयोग्य महापुरुषोंसे भी नमस्कार करने योग्य है, स्तुतिकरने योग्य सत्पुरुषोंसे स्तुति किया गया है और ध्यानकरने योग्य आचार्यपरमेष्ठीवगैरहसे भी ध्यान करने योग्य ऐसा जीव नामा पदार्थ इस देहमें वसता है उसको तू परमात्मा जान । **भावार्थ**—वही परमात्मा उपादेय है ॥ २६ ॥

आगे जिस शुद्धात्माको सम्यग्ज्ञान नेत्रसे देखनेकर पहले उपार्जन किये हुए कर्म नाश होजाते हैं उसे हे योगिन् तू क्यों नहीं पहचानता ऐसा कहते हैं;—[**येन**] जिस परमात्माको [**दृष्टेन**] सदा आनंदरूप वीतराग निर्विकल्प समाधि स्वरूप निर्मल नेत्रोंकर देखनेसे [**लघु**] शीघ्र ही [**पूर्वकृतानि**] निर्वाणके रोकनेवाले पूर्व उपार्जित कर्म [**त्रुट्यंति**] चूर्ण हो जाते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञानके अभावसे (अज्ञानसे) जो पहले शुभ अशुभकर्म कमाये थे वे निजस्वरूपके देखनेसे ही नाश हो जाते हैं [**तं**] उस सदानंदरूप परमात्माको [**देहे वसंतं**] देहमें वसते हुए भी [**हे योगिन्**] हे योगी [**किं न जानासि**] तू क्यों नही जानता । **भावार्थ**—जिसके जाननेसे कर्मकलंक दूर हो जाते हैं वह आत्मा शरीरमें निवास करता हुआ भी देहरूप नही होता उसको तू अच्छीतरह पहचान और दूसरे अनेक प्रपंचों (झगड़ों) को तो जानता है अपने स्वरूपकी तरफ क्यों नही देखता वह निज स्वरूप ही उपादेय है अन्य कोई नही है ॥ २७ ॥

यत्र नेन्द्रियसुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।
तं आत्मानं मन्यस्व जीव त्वं अन्यत्परमपहर ॥ २८ ॥

जित्थु ण इंदियसुहदुहइ जित्थु ण मणवावारु यत्र शुद्धात्मस्वरूपे न संति न विद्यंते । कानि । अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यविपरीतान्याकुलत्वोत्पादकानीन्द्रियसुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्पपरमात्मनो विलक्षणः संकल्पविकल्परूपो मनोव्यापारो नास्ति **सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परिं अवहारु** तं पूर्वोक्तलक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्व नित्यानंदैकरूपं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा जानीहि हे जीव त्वं, अन्यत्परमात्मस्वभावाद्विपरीतं पंचेन्द्रियविषयस्वरूपादिविभावसमूहं परस्मिन् दूरे सर्वप्रकारेणापहर त्यज, तात्पर्यार्थः । निर्विकल्पसमाधौ सर्वत्र वीतरागविशेषणं किमर्थं कृतं इति पूर्वपक्षः । परिहारमाह । यत एव हेतोः वीतरागस्तत एव निर्विकल्प इति हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थं, अथवा ये सरागिणोपि संतो वयं निर्विकल्पसमाधिस्था इति वदंति तन्निषेधार्थं, अथवा श्वेतशंखवत्स्वरूपविशेपणमिदं इति परिहारत्रयं निर्दोषिपरमात्मशब्दादिपूर्वपक्षेपि योजनीयं ॥ २८ ॥

अथ यः परमात्मा व्यवहारेण देहे तिष्ठति निश्चयेन स्वस्वरूपे तमाह,—

देहादेहहिं जो वसइ, भेयाभेयणएण ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, किं अण्णें बहुएण ॥ २९ ॥ (क्षे०)

इससे आगे पांच प्रक्षेपकों द्वारा आत्माही का कथन करते हैं;—[यत्र] जिस शुद्ध आत्म स्वभावमें [इन्द्रियसुखदुःखानि] आकुलतारहित अतीन्द्रियसुख से विपरीत जो आकुलताके उत्पन्न करनेवाले इंद्रियजनित सुखदुःख [न] नही हैं [यत्र] जिसमे [मनोव्यापारः] सकलपविकल्परूप मनका व्यापार भी [न] नही है अर्थात् विकल्परहितपरमात्मासे मनके व्यापार जुदे हैं [तं] उस पूर्वोक्त लक्षणवालेको [हे जीव त्वं] हे जीव तू [आत्मानं] आत्माराम [मन्यस्व] मान [अन्यत्परं] अन्य सब विभावोंको [अपहर] छोड़ ॥ भावार्थ—ज्ञानानंदस्वरूप निज शुद्धात्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर जान अन्य परमात्मस्वभावसे विपरीत पांच इन्द्रियोंके विषयवगैरह सब विकार परिणामोंको दूरसे ही त्याग उनका सर्वथा ही त्याग । यहांपर किसी शिष्यने प्रश्न किया कि निर्विकल्पसमाधिमें सब जगह वीतरागविशेषण क्यों कहा है उसका उत्तर कहते हैं—जहांपर वीतरागता है वहीं निर्विकल्पसमाधिपना इस रहस्यको समझानेकेलिये अथवा जो रागी हुए कहते हैं कि हम निर्विकल्पसमाधिमें स्थित है उनके निषेधकेलिये वीतरागता सहित निर्विकल्पसमाधिका कथन किया गया है, अथवा सफेद शंखकी तरह स्वरूप प्रगट करनेकेलिये कहा गया है अर्थात् जो शंख होगा वह श्वेत ही होगा उसीप्रकार जो निर्विकल्पसमाधि होगी वह वीतरागतारूप ही होगी ॥ २८ ॥

देहादेहयोः यो वसति भेदाभेदनयेन ।
तमात्मानं मन्यस्व जीव त्वं किमन्येन बहुना ॥ २९ ॥

देहादेहयोरधिकरणभूतयोर्यो वसति । केन । भेदाभेदनयेन । तथाहि—अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभेदनयेन स्वपरात्मनोऽभिन्ने स्वदेहे वसति शुद्धनिश्चयनयेन तु भेदनयेन स्वदेहाद्भिन्ने स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व जानीहि हे जीव नित्यानंदैकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । किमन्येन शुद्धात्मनो भिन्नेन देहरागादिना बहुना । अत्र योसौ देहे वसन्नपि निश्चयेन देहरूपो न भवति स एव स्वशुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ २९ ॥

अथ जीवाजीवयोरेकत्वं माकार्षीर्लक्षणभेदेन भेदोस्तीति निरूपयति;—

जीवाजीव म एकु करि, लक्खणभेएं भेउ ।
जो परु सो परु भणमि मुणि, अप्पा अप्पु अभेउ ॥ ३० ॥(क्षे०)

जीवाजीवौ मा एकौ कार्षीः लक्षणभेदेन भेदः ।
यत्परं तत्परं भणामि मन्यस्व आत्मन आत्मना अभेदः ॥ ३० ॥

हे प्रभाकरभट्ट जीवाजीवावेकौ मा कार्षीः । कस्मात् । लक्षणभेदेन भेदोस्ति । तद्यथा—रसादिरहितं शुद्धचैतन्यं जीवलक्षणं । तथा चोक्तं प्राभृते "अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं" इत्थंभूतशुद्धात्मनो भिन्नमजीवलक्षणं । तच्च द्विविधं । जीवसंबंधमजीवसंबंधं च । देहरागादिरूपं जीवसंबंधं,

---

आगे यह परमात्मा व्यवहारनयसे तो इस देहमें ठहर रहा है लेकिन निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें ही तिष्ठता है ऐसा आत्माको कहते हैं;—[यः] जो [**भेदाभेदनयेन देहादेहयोः वसति**] अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयकर अपनेसे भिन्न जड़रूप देहमें तिष्ठ रहा है और शुद्धनिश्चयनयकर अपने आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ है अर्थात् व्यवहारनयकर तो देहसे अभेदरूप (तन्मय) है और निश्चयसे सदाकालसे अत्यंत जुदा है अपने स्वभावमें स्थित है [**तं**] उसे [**हे जीव त्वं**] हे जीव तू [**आत्मानं**] परमात्मा [**मन्यस्व**] जान अर्थात् नित्यानंद वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें ठहरके अपने आत्माका ध्यानकर [**अन्येन**] अपनेसे भिन्न [**बहुना**] देह रागादिकोंसे [**किं**] तुझे क्या प्रयोजन है । **भावार्थ**—देहमें रहता हुआ भी निश्चयसे देहस्वरूप जो नहीं होता वही निज शुद्धात्मा उपादेय है ॥ २९ ॥

आगे जीव और अजीवमें लक्षणके भेदसे भेद है तू दोनोंको एक मत जानें ऐसा कहते हैं;—हे प्रभाकरभट्ट तू [**जीवाजीवौ**] जीव और अजीवको [**एकौ**] एक [**मा कार्षीः**] मत करे क्योंकि इन दोनोंमें [**लक्षणभेदेन**] लक्षणके भेदसे [**भेदः**]

पुद्गलादिपंचद्रव्यरूपमजीवसंबंधमजीवलक्षणं । अत एव भिन्नं जीवादजीवलक्षणं ततः कारणात् यत्परं रागादिकं तत्परं जानीहि । कथंभूतं । भेद्यमभेद्यमित्यर्थः । अत्र योसौ शुद्धलक्षणसंयुक्तः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ३० ॥

अथ तस्य शुद्धात्मनो ज्ञानमयादिलक्षणं विशेषेण कथयति,—

अमणु अणिंदिउ णाणमउ, मुत्तिविरहिउ चिमित्तु ।
अप्पा इंदियविसउ णवि, लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥ ३१ ॥ (क्षे०)

अमनस्कः अनिन्द्रियो ज्ञानमयः मूर्तिविरहितश्चिन्मात्रः ।
आत्मा इन्द्रियविषयो नापि लक्षणमिदं निरुक्तम् ॥ ३१ ॥

परमात्मविपरीतमानसविकल्पजालरहितत्वादमनस्कः अतीन्द्रियशुद्धात्मविपरीतेनेन्द्रियग्रा-

---

भेद है [यत्परं] जो परके सबंधसे उत्पन्न हुए रागादि विभाव (विकार) हैं [तत्परं] उनको पर (अन्य) [मन्यस्व] समझ [च] और [आत्मनः] आत्माका [आत्मना अभेदः] अपनेसे अभेद जान [भणामि] ऐसा मैं कहता हूं ॥ **भावार्थ**—जीव अजीवके लक्षणोंमेंसे जीवका लक्षण शुद्ध चैतन्य है वह स्पर्श रस गंधरूप शब्दादिकसे रहित है। ऐसा ही श्रीसमयसारमें कहा है—"अरस"मित्यादि । इसका सारांश यह है कि जो आत्मद्रव्य है वह मिष्ट वगैरः पांच प्रकारके रसरहित है, श्वेतआदिक पांच तरहके वर्ण-रहित है सुगंध दुर्गंध इन दो तरहके गंध जिसमें नही हैं प्रगट (दृष्टिगोचर) नही है, चैतन्यगुणकरसहित है, शब्दसे रहित है, पुरुषलिंग वगैरः करके ग्रहण नहीं होता अर्थात् लिंगरहित है और जिसका आकार नही दीखता अर्थात् निराकार वस्तु है आकार छै प्रकारके हैं—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सातिक, कुब्जक, वामन, हुंडक । इन छह प्रकारके आकारोंसे रहित है ऐसा जो चिद्रूप निजवस्तु है उसे तू पहचान ॥ आत्मासे भिन्न जो अजीव पदार्थ है उसके लक्षण दो तरहसे हैं एक जीवसबंधी दूसरा अजीवसबधी । जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप है वह तो जीवसबंधी है और पुद्गलादि पांचद्रव्यरूप अजीव जीवसबंधी नही हैं अजीवसबंधी ही है इसलिये अजीव हैं जीवसे भिन्न हैं इसकारण जीवसे भिन्न अजीवरूप जो पदार्थ है उनको अपने मत समझो । यद्यपि रागादिक विभाव परिणाम जीवमें ही उपजते हैं इससे जीवके कहे जाते है परंतु वे कर्मजनित है परपदार्थ (कर्म) के सबंधसे है इसलिये पर ही समझो । यहांपर जीव अजीव दो पदार्थ कहे गये है उनमेंसे शुद्ध चेतना लक्षणका धारण करनेवाला शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है यह सारांश हुआ ॥ ३० ॥

आगे शुद्धात्माके ज्ञानादिक लक्षणोंको विशेषपनेसे कहते हैं;—[आत्मा] यह शुद्ध आत्मा [अमनाः] परमात्मासे विपरीत विकल्पजालमयी मनसे रहित है [अतीन्द्रियः]

मेण रहितत्वादतीन्द्रियो लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः अमूर्तात्मवि-परीतलक्षणया स्पर्शरसगंधवर्णवत्या मूर्त्या वर्जितत्वान्मूर्तिविरहितः अन्यद्रव्यासाधारणया शुद्धचेतनया निष्पन्नत्वाच्चिन्मात्रः । कोसौ । आत्मा । पुनश्च किंविशिष्टः । वीतरागस्वसंवेद-नज्ञानेन ग्राह्योपीन्द्रियाणामविषयश्च लक्षणमिदं निरुक्तं निश्चितमिति । अत्रोक्तलक्षणपरमा-त्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३१ ॥

अथ संसारशरीरभोगनिर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसारवल्ली नश्य-तीति कथयति,—

भवतणुभोयविरत्तमणु, जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी, संसारिणि तुट्टेइ ॥ ३२ ॥ (क्षे०)

भवतनुभोगविरक्तमना य आत्मानं ध्यायति ।
तस्य गुर्वी वल्ली सांसारिकी त्रुट्यति ॥ ३२ ॥

भवतनुभोगेषु रंजितं मूर्छितं वासितमासक्तं चित्तं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानंदसु-खरसास्वादेन व्यावृत्य स्वशुद्धात्मसुखे रतत्वात्संसारशरीरभोगविरक्तमनाः सन् यः शुद्धा-त्मानं ध्यायति तस्य गुरुक्की महती संसारवल्ली त्रुट्यति नश्यति शतचूर्णा भवतीति । अत्र येन परमात्मध्यानेन संसारवल्ली विनश्यति स एव परमात्मोपादेयो भावनीयश्चेति तात्प-र्यार्थः ॥ ३२ ॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रमध्ये प्रक्षेपकपंचकं गतं ।

शुद्धात्मासे भिन्न इन्द्रियसमूहसे रहित है [ज्ञानमयः] लोक और अलोकके प्रकाशने-वाले केवलज्ञानस्वरूप है [मूर्तिविरहितः] अमूर्तीक आत्मासे विपरीत स्पर्शरसगंध-वर्णवाली मूर्तिरहित है [चिन्मात्रः] अन्य द्रव्योंमें नहीं पाई जावे ऐसी शुद्धचेतना-स्वरूप ही है और [इन्द्रियविषयः नैव] इन्द्रियोंके गोचर नहीं है वीतरागस्वसंवेदनकर ही ग्रहण किया जाता है [इदं लक्षणं] ये लक्षण जिसके [निरुक्तं] प्रगट कहे गये हैं । उसको ही तू निःसंदेह आत्मा जान । इस जगह जिसके ये लक्षण कहे गये हैं वही आत्मा है वही उपादेय है आराधने योग्य है यह तात्पर्य निकला ॥ ३१ ॥

आगे जो कोई संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होके शुद्धात्माका ध्यान करता है उसीके संसाररूपी वेल नाशको प्राप्त होजाती है यह कहते हैं;—[यः] जो जीव [भवतनु-भोगविरक्तमनाः] संसार शरीर और भोगोंमें विरक्त मन हुआ [आत्मानं] शुद्धा-त्माका [ध्यायति] चिंतवन करता है [तस्य] उसकी [गुर्वी] मोटी [वल्ली संसा-रिणी] संसाररूपी वेल [त्रुट्यति] नाशको प्राप्त होजाती है । **भावार्थ**—संसार शरीर-भोगोंमें अत्यंत आसक्त (लगाहुआ) चित्त है उसको आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुए वीतराग-परमानंद सुखामृतके आस्वादसे रागद्वेषसे हटाकर अपने शुद्धात्मसुखमें अनुरागी कर शरी-

तदनंतरं देहदेवगृहे योसौ वसति स एव शुद्धनिश्चयेन परमात्मा तन्निरूपयंति,—

देहादेवलि जो वसइ, देउ अणाइअणंतु ।
केवलणाणफुरंततणु, सो परमप्पु णिभंतु ॥ ३३ ॥

देहदेवालये यः वसति देवः अनाद्यनंतः ।
केवलज्ञानस्फुरिततनुः स परमात्मा निर्भ्रांतः ॥ ३३ ॥

व्यवहारेण देहदेवकुले वसन्नपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वादेहवन्मूर्तः सर्वाशुचिसयो न भवति । यद्यपि देहो नाराध्यस्तथापि स्वयं परमात्माराध्यो देवः पूज्यः, यद्यपि देह आद्यंतस्तथापि स्वयं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनानाद्यनंतः, यद्यपि देहो जडस्तथापि स्वयं लोकालोकप्रकाशकत्वात्केवलज्ञानस्फुरिततनुः केवलज्ञानप्रकाशरूपशरीर इत्यर्थः । स पूर्वोक्तलक्षणयुक्तः परमात्मा भवतीति । कथंभूतः । निर्भ्रांतः निस्संदेह इति । अत्र योसौ देहे वसन्नपि सर्वाशुच्यादि देहधर्मं न स्पृशति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ३३ ॥

अथ शुद्धात्मविलक्षणे देहे वसन्नपि देहं न स्पृशति देहेन सोपि न स्पृश्यत इति प्रतिपादयतिः—

देहे वसंतुवि णवि छिवइ, णियमें देहु जि जो जि ।
देहिं छिप्पइ जो जि णवि, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३४ ॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति, नियमेन देहं अपि यः अपि ।
देहेन स्पृश्यते योपि नैव मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३४ ॥

रादिकमें वैराग्यरूप हुआ जो शुद्धात्माको विचारता है उसका संसार छूट जाता है इसलिये जिस परमात्माके ध्यानसे संसाररूपी वेलि दूर हो जाती है वही ध्यान करने योग्य (उपादेय) है ॥ ३२ ॥

आगे जो देहरूपी देवालयमें रहता है वही शुद्धनिश्चयनयसे परमात्मा है यह कहते हैं;—[यः] जो व्यवहारनयकर [देहदेवालये] देहरूपी देवालयमें [वसति] वसता है निश्चयनयकर देहसे भिन्न है देहकी तरह मूर्तीक तथा अशुचिमय नहीं है महा पवित्र है [देवः] आराधने योग्य है पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है [अनाद्यनंतः] जो परमात्मा आप शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनंत है तथा यह देह आदि अंतकर सहित है [केवलज्ञानस्फुरिततनुः] जो आत्मा निश्चयनयकर लोकअलोकको प्रकाशनेवाले केवलज्ञानस्वरूप है अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है और देह जड़ है [सः परमात्मा] वही परमात्मा [निर्भ्रांतः] निःसदेह है इसमें कुछ संशय नहीं समझना । साराश यह है कि जो देहमें रहता है तौ भी देहसे जुदा है सर्वाशुचिमयी देहको वह देव छूता नहीं है वही आत्मदेव उपादेय है ॥ ३३ ॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि, देहेन न स्पृश्यते योपि मन्यस्व जानीहि परमात्मा सोपि । इतो विशेषः—य एव शुद्धात्मानुभूतिविपरीतेन क्रोधमानमायालोभस्वरूपादिविभावपरिणामेनोपार्जितेन पूर्वकर्मणा निर्मिते देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण वसन्नपि निश्चयेन य एव देहं न स्पृशति, तथाविधदेहेन न स्पृश्यते योपि तं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवं । किंकृत्वा । वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वेति । अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिरहितदेहे ममत्वपरिणामेन सहितानां हेयः स एव शुद्धात्मा देहममत्वपरिणामरहितानामुपादेय इति भावार्थः ॥ ३४ ॥

अथ यः समभावस्थितानां योगिनां परमानंदं जनयन् कोपि शुद्धात्मा स्फुरति तमाह;—

जो समभावपरिट्ठियहं, जोइहिं कोइ फुरेइ ।
परमाणंदु जणंतु फुडु, सो परमप्पु हवेइ ॥ ३५ ॥

यः समभावपरिस्थितानां योगिनां कश्चित् स्फुरति ।
परमानंदं जनयन् स्फुटं स परमात्मा भवति ॥ ३५ ॥

यः कोपि परमात्मा जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतस्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ प्रतिष्ठितानां पर-

---

आगे शुद्धात्मासे भिन्न इस देहमें रहता हुआ भी देहको नही स्पर्श करता है और देह भी उसको नही छूती है यह कहते हैं;—[य एव] जो [देहे वसन्नपि] देहमें रहता हुआ भी [**नियमेन**] निश्चयनयकर [**देहमपि**] शरीरको [**नैव स्पृशति**] नहीं स्पर्श करता [**देहेन**] देहसे [**स अपि**] वह भी [**नैव स्पृश्यते**] नही छुआ जाता अर्थात् न तो जीव देहको स्पर्श करता और न देह जीवको स्पर्श करती [**तमेव**] उसीको [**परमात्मानं**] परमात्मा [**मन्यस्व**] तू जान अर्थात् अपना स्वरूप ही परमात्मा है । **भावार्थ**—जो शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत क्रोध मान माया लोभरूप विभाव परिणाम हैं उनकर उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंकर बनायी हुई देहमें अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकर वसता हुआ भी निश्चयकर देहको नहीं छूता उसको तुम परमात्मा जानो उसी स्वरूपको वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें तिष्ठकर चिंतवन करो । यह आत्मा जडरूप देहमें व्यवहार नयकर रहता है सो देहात्मबुद्धिवालेको नही मालूम होता है वही शुद्धात्मा देहके ममत्वसे रहित (विवेकी) पुरुषोंके आराधने योग्य है ॥ ३४ ॥

आगे जो योगी समभावमें स्थित हैं उनको परमानंद उत्पन्न करता हुआ कोई शुद्धात्मा स्फुरायमान है उसका स्वरूप कहते हैं;—[**समभावपरिस्थितानां**] समभाव अर्थात् जीवित मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख, शत्रु मित्र इत्यादि इन सबमें समभावको परिणत

मयोगिनां कश्चित् स्फुरति संवित्तिमायाति । किं कुर्वन् । वीतरागपरमानंदं जनयन् स्फुटं निश्चितं । तथाचोक्तं । "आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः । जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥" हे प्रभाकरभट्ट स एवंभूतः परमात्मा भवतीति । अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां स एवोपादेयः तद्विपरीतानां हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३५ ॥

अथ शुद्धात्मप्रतिपक्षभूतकर्मदेहप्रतिबद्धोप्यात्मा निश्चयनयेन सकलो न भवतीति ज्ञापयति;—

कम्मणिबद्धुवि जोइया, देहि वसंतुवि जो जि ।
होइ ण सयलु कयावि फुडु, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३६ ॥

कर्मनिवद्धोपि योगिन् देहे वसन्नपि य एव ।
भवति न सकलः कदापि स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३६ ॥

कर्मनिवद्धोपि हे योगिन् देहे वसन्नपि य एव न भवति सकलः कापि काले स्फुटं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवेति । अतो विशेषः—परमात्मभावनाविपक्षभूतैः रागद्वेषमोहैः समुपार्जितैः कर्मभिरशुद्धनयेन वद्धोपि तथैव देहस्थितोपि निश्चयनयेन सकलः

हुए [**योगिनां**] परम योगीश्वरोंके अर्थात् जिनके शत्रु मित्रादि सब समान हैं और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप अभेदरत्नत्रय जिसका स्वरूप है ऐसी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें तिष्ठे हुए हैं उन योगीश्वरोंके हृदयमें [**परमानंदं जनयन्**] वीतराग परम आनंदको उत्पन्न करता हुआ [**यः कश्चित्**] जो कोई [**स्फुरति**] स्फुरायमान होता है [**सः स्फुटं**] वही प्रकट [**परमात्मा**] परमात्मा [**भवति**] है ऐसा जानो । ऐसाही दूसरी जगह भी "आत्मानुष्ठान" इत्यादिसे कहा है अर्थात् जो योगी आत्माके अनुभवमें तल्लीन हैं और व्यवहारसे रहित शुद्ध निश्चयमें तिष्ठते हैं उन योगियोंके ध्यान करके अपूर्व परमानंद उत्पन्न होता है । इसलिये हे प्रभाकरभट्ट जो आत्मस्वरूप योगीश्वरोंके हृदयमें स्फुरायमान है वही उपादेय है । जो योगी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लगे हुए हैं संसारसे परान्मुख हैं उन्हीके वह आत्मा उपादेय है और जो देहात्मबुद्धि विषयासक्त हैं वे अपने स्वरूपको नही जानते हैं उनके आत्मरुचि नही होसकती यह तात्पर्य हुआ ॥ ३५ ॥

आगे शुद्धात्मासे जुदे कर्म और शरीर इन दोनोंकर अनादिका बंधा हुआ यह आत्मा है तौभी निश्चयनयकर शरीरस्वरूप नही है यह कहते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी [**योपि**] जो यह आत्मा [**कर्मनिबद्धोपि**] यद्यपि कर्मोंसे बंधा है [**देहे वसन्नपि**] और देहमें रहता भी है [**कदापि**] परतु कभी [**सकलः न भवति**] देहरूप नहीं होता [**तमेव**] उसीको तू [**परमात्मानं**] परमात्मा [**मन्यस्व**] जान [**स्फुटं**] निश्च-

सदेहो न भवति क्वापि तमेव परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन भावयेत्यर्थः । अत्र सदैव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानामुपादेयो भवत्यन्येषां हेय इति भावार्थः ॥ ३६ ॥

यः परमार्थेन देहकर्मरहितोपि मूढात्मनां सकल इति प्रतिभातीत्येवं निरूपयति.—

जो परमत्थें णिक्कलुवि, कम्मविभिण्णउ जो जि ।
मूढा सयलु भणंति फुडु, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निःकलोपि कर्मविभिन्नो य एव ।
मूढाः सकलं भणंति स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निःकलोपि देहरहितोपि कर्मविभिन्नोपि य एव भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहिता मूढात्मानस्तमात्मानं सकलमिति भणंति स्फुटं निश्चितं हे प्रभाकरभट्ट तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहीति, वीतरागसदानंदैकसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः । अत्र स एव परमात्मा शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिनिवृत्तिकाले सम्यगुपादेयो भवति तदभावे हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३७ ॥

अथानंताकाशैकनक्षत्रमिव यस्य केवलज्ञाने त्रिभुवनं प्रतिभाति स परमात्मा भवतीति कथयति,—

यसे ॥ भावार्थ—परमात्माकी भावनासे विपरीत जो राग द्वेष मोह हैं उनकर यद्यपि व्यवहारनयसे बंधा है और देहमें तिष्ठ रहा है तौभी निश्चयनयसे शरीररूप नहीं है उससे जुदा ही है किसी कालमें भी यह जीव जड न तो हुआ न होगा उसे हे प्रभाकरभट्ट परमात्मा जान निश्चयकर आत्मा ही परमात्मा है उसे तू वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकर चिंतवन कर । सारांश यह है कि यह आत्मा हमेशह वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लीन साधुओंको तो प्रिय है मूढोंको नहीं ॥ ३६ ॥

आगे निश्चयनयकर आत्मा देह और कर्मोंसे रहित है तौभी मूढों (अज्ञानियों) को शरीरस्वरूप मालूम होता है ऐसा कहते हैं;—[यः] जो आत्मा [परमार्थेन] निश्चयनयकर [निःकलोपि] शरीररहित है [कर्मविभिन्नोपि] और कर्मोंसे भी जुदा है तौभी [मूढाः] निश्चयव्यवहाररत्नत्रयकी भावनासे विमुख मूढ [सकलं] शरीरस्वरूप ही [स्फुटं] प्रगटपनेसे [भणंति] मानते हैं सो हे प्रभाकरभट्ट [तमेव] उसीको [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] जान अर्थात् वीतराग सदानंद निर्विकल्पसमाधिमें रहके अनुभव कर । भावार्थ—वही परमात्मा शुद्धात्माके वैरी मिथ्यात्वरागादिकोंके दूर होनेके समय ज्ञानी जीवोंको उपादेय है और जिनके मिथ्यात्वरागादिक दूर नहीं हुए उनके उपादेय नहीं परवस्तुका ही ग्रहण है ॥ ३७ ॥

गयणि अणंति जि एक्क उडु, जेहउ भुअणु विहाइ।
मुक्कहं जसु पए विंबियउ, सो परमप्पु अणाइ॥ ३८॥

गगने अनंतेपि एकमुडु यथा भुवनं विभाति।
मुक्तस्य यस्य पदे बिंबितं स परमात्मा अस्ति॥ ३८॥

गगने अनंतेप्येकनक्षत्रं यथा तथा भुवनं जगत् प्रतिभाति। क्व प्रतिभाति। मुक्तस्य यस्य पदे केवलज्ञाने बिंबितं प्रतिस्फलितं दर्पणे बिंबमिव। स एवंभूतः परमात्मा भवतीति। अत्र यस्यैव केवलज्ञाने नक्षत्रमेकमिव लोकः प्रतिभाति स एव रागादिसमस्तविकल्परहितानामुपादेयो भवतीति भावार्थः॥ ३८॥

अथ योगींद्रवृंदैर्यो निरवधिज्ञानमयो निर्विकल्पसमाधिकाले ध्येयरूपश्चिंत्यते तं परमात्मानमाह,—

जोइयविंदहं णाणमउ, जो झाइज्जइ झेउ।
मोक्खहं कारणि अणवरउ, सो परमप्पउ देउ॥ ३९॥

योगिवृंदैः ज्ञानमयः यो ध्यायते ध्येयः।
मोक्षस्य कारणे अनवरतं स परमात्मा देवः॥ ३९॥

योगींद्रवृंदैः शुद्धात्मवीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतैः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः यः कर्मतापन्नो ध्यायते चिंत्यते ध्येयो ध्येयरूपोपि। किमर्थं ध्यायते। मोक्षकारणे मोक्षनिमित्ते अनवरतं निरंतरं स एव परमात्मा देवः परमाराध्य इति। अत्र य एव परमात्मा मुनिवृंदानां ध्येयरूपो भणितः स एव शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपक्षभूतार्तरौद्रध्यानरहितानामुपादेय इति भावार्थः॥ ३९॥

आगे अनते आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह जिसके केवलज्ञानमें तीनों लोक भासते हैं वह परमात्मा है ऐसा कहते हैं,—[**यथा**] जैसे [**अनंतेपि**] अनंत [**गगने**] आकाशमें [**एकं उडु**] एक नक्षत्र [**"तथा"**] उसीतरह [**भुवनं**] तीनलोक [**यस्य**] जिसके [**पदे**] केवलज्ञानमें [**बिंबितं**] प्रतिबिंबित हुआ [**विभाति**] दर्पणमें मुखकी तरह भासता है [**स**] वह [**परमात्मा**] परमात्मा [**अस्ति**] है॥ **भावार्थ**—जिसके केवलज्ञानमें एक नक्षत्रकी तरह समस्त लोक अलोक भासते हैं वही परमात्मा रागादि समस्त विकल्पोंसे रहित योगीश्वरोंको उपादेय है॥ ३८॥

आगे अनंतज्ञानमयी परमात्मा योगीश्वरोंकर निर्विकल्पसमाधिकालमें ध्यानकरने योग्य है उसी परमात्माको कहते हैं,—[**यः**] जो [**योगींद्रवृंदैः**] योगीश्वरोंकर [**मोक्षस्य कारणेन**] मोक्षके निमित्त [**अनवरतं**] हमेशा [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमई [**ध्यायते**] चिंतवन किया जाता है [**सः परमात्मा देवः**] वह परमात्मदेव [**ध्येयः**] आराधने

अथ योऽयं शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवो ज्ञानावरणादिकर्महेतुं लब्ध्वा त्रसस्थावररूपं जगज्जनयति स एव परमात्मा भवति नान्यः कोपि जगत्कर्ता ब्रह्मादिरिति प्रतिपादयति;—

जो जिउ हेउ लहेवि विहि, जगु बहुविहउ जणेइ ।
लिंगत्तयपरिमंडियउ, सो परमप्पु हवेइ ॥ ४० ॥

यो जीवः हेतुं लब्ध्वा विधि जगत् बहुविधं जनयति ।
लिंगत्रयपरिमंडितः स परमात्मा भवति ॥ ४० ॥

यो जीवः कर्ता हेतुं लब्ध्वा । किं । विधिसंज्ञं ज्ञानावरणादिकर्म पश्चाज्जंगमस्थावररूपं जगज्जनयति स एव लिंगत्रयमंडितः सन् परमात्मा भण्यते न चान्यः कोपि जगत्कर्ता हरिहरादिरिति । तद्यथा । योसौ पूर्वं बहुधा शुद्धात्मा भणितः स एव शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोपि सन् अनादिसंतानागतज्ञानावरणादिकर्मबंधप्रच्छादितत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पसहजानंदैकसुखास्वादमलभमानो व्यवहारनयेन त्रसो भवति, स्थावरो भवति, स्त्रीपुंनपुंसकोलिंगो भवति तेन कारणेन जगत्कर्ता भण्यते नान्यः कोपि परकल्पितपरमात्मेति । अत्रायमेव शुद्धात्मा परमात्मोपलब्धिप्रतिपक्षवेदत्रयोदयजनितं रागादिविकल्पजालं निर्विकल्पसमाधिना यदा विनाशयति तदोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥४०॥

योग्य है दूसरा कोई नही ॥ भावार्थ–जो परमात्मा मुनियोंको ध्यावने योग्य कहा है वही शुद्धात्मज्ञानके वैरी आर्तरौद्रध्यान कर रहित धर्मध्यानी पुरुषोंको उपादेय है अर्थात् जब आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दोनों छूट जाते हैं तभी उसका ध्यान होसकता है ॥ ३९ ॥

आगे जो शुद्धज्ञानस्वभाव जीव ज्ञानावरणादिकर्मोंके कारणसे त्रस स्थावरजन्मरूप जगतको उत्पन्न करता है वही परमात्मा है दूसरे कोई भी ब्रह्मादिक जगत्कर्ता नहीं हैं ऐसा कहते हैं;–[**यः**] जो [**जीवः**] आत्मा [**विधिं हेतुं**] ज्ञानावरणादिकर्मरूप कारणोंको [**लब्ध्वा**] पाकर [**बहुविधं जगत्**] अनेक प्रकारके जगत्को [**जनयति**] पैदा करता है अर्थात् कर्मके निमित्तसे त्रस स्थावररूप अनेक जन्म धरता है [**लिंगत्रयपरिमंडितः**] स्त्रीलिंग पुरुषलिंग नपुंसकलिंग इन तीन चिन्होंकर सहित हुआ [**सः**] वही [**परमात्मा**] शुद्धनिश्चयकर परमात्मा [**भवति**] है अर्थात् अशुद्धपनेको परिणत हुआ जगतमें भटकता है इसलिये जगतका कर्ता कहा है और शुद्धपनेरूप परिणत हुआ विभाव (विकार) परिणामोंको हरता है इसलिये हर्ता है । यह जीव ही ज्ञान अज्ञान दशाकर कर्ता हर्ता है और दूसरे कोई भी हरिहरादिक कर्ता हर्ता नही है ॥ **भावार्थ**–पूर्व जो शुद्धात्मा कहा था वह यद्यपि शुद्धनयकर शुद्ध है तौभी अनादिसे ससारमें ज्ञानावरणादिकर्मबंधकर ढका हुआ वीतराग निर्विकल्पसहजानंद अद्वितीयसुखके स्वादको न पानेसे व्यवहारनयकर त्रस और स्थावररूप स्त्रीपुरुषनपुंसकलिंगादिसहित होता है इसलिये जगत्कर्ता कहा जाता

अथ यस्य परमात्मनः केवलज्ञानप्रकाशमध्ये जगद्वसति जगन्मध्ये सोपि वसति तथापि तद्रूपो न भवतीति कथयंति,—

जसु अब्भंतरि जगु वसइ, जग अब्भंतरि जो जि ।
जगि जि वसंतुवि जगु जि णवि, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४१ ॥

यस्य अभ्यंतरे जगत् वसति जगतोऽभ्यंतरे य एव ।
जगति वसन्नपि जगत् एव नापि मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ४१ ॥

यस्य केवलज्ञानस्याभ्यंतरे जगत् त्रिभुवनं ज्ञेयभूतं वसति जगतोऽभ्यंतरे योसौ ज्ञायको भगवानपि वसति जगति वसन्नेव रूपविषये चक्षुरिव निश्चयनयेन तन्मयो न भवति मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । तमित्थंभूतं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र योसौ केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य वीतरागस्वसंवेदन-काले मुक्तिकारणं भवति स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ४१ ॥

अथ देहे वसन्नपि हरिहरादयः परमसमाधेरभावादेव न जानंति स परमात्मा भवतीति कथयंति,—

है अन्य कोई भी दूसरोंकर कल्पित परमात्मा नहीं है । यह आत्मा ही परमात्माकी प्राप्तिके शत्रु तीन वेदों (स्त्रीलिंगादि) कर उत्पन्न हुए रागादि विकल्पजालोंको निर्विक-ल्पसमाधिसे जिस समय नाश करता है उसी समय उपादेयरूप मोक्षसुखका कारण होनेसे उपादेय हो जाता है ॥ ४० ॥

आगे जिस परमात्माके केवलज्ञानरूप प्रकाशमें जगत वस रहा है और जगतके मध्यमें वह ठहर रहा है तौभी वह जगतरूप नहीं है ऐसा कहते हैं;—[**यस्य**] जिस आत्मा-रामके [**अभ्यंतरे**] केवलज्ञानमें [**जगत्**] संसार [**वसति**] वस रहा है अर्थात् प्रति-बिंबित हो रहा है प्रत्यक्ष भास रहा है [**जगदभ्यंतरे**] और जगतमें वह वस रहा है अर्थात् सबमें व्याप रहा है । वह ज्ञाता है और जगत ज्ञेय है [**जगति वसन्नपि**] संसारमें निवास करताहुआ भी [**जगदेव नापि**] निश्चयनयकर किसी जगतकी वस्तुसे तन्मय (उस स्वरूप) नही होता अर्थात् जैसे रूपी पदार्थको नेत्र देखते हैं तौभी उनसे जुदे ही रहते हैं इसतरह वह भी सबसे जुदा रहता है [**तमेव**] उसीको [**परमात्मानं**] परमात्मा [**मन्यस्व**] हे प्रभाकरभट्ट तू जान । **भावार्थ**—जो शुद्ध बुद्ध सर्वव्यापक सबसे अलिप्त शुद्धात्मा है उसे वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यान कर । जो केवलज्ञानादिव्यक्तिरूप कार्यसमयसार है उसका कारण वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानरूप निज-भाव ही उपादेय है ॥ ४१ ॥

देहि वसंतुवि हरिहरवि, जं अज्जवि ण मुणंति ।
परमसमाहितवेण विणु, सो परमप्पु भणंति ॥ ४२ ॥

देहे वसन्नपि हरिहरा अपि यं अद्यापि न जानंति ।
परमसमाधितपसा विना तं परमात्मानं भणंति ॥ ४२ ॥

परमात्मस्वभावविलक्षणे देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन वसन्नपि हरिहरा अपि यमद्यापि न जानंति । केन विना । वीतरागनिर्विकल्पनित्यानंदैकसुखामृतरसास्वादरूप-परमसमाधितपसा, तं परमात्मानं भणंति वीतरागसर्वज्ञा इति । किंच । पूर्वभवे कोपि जीवो भेदाभेदरत्नत्रयाराधनां कृत्वा विशिष्टपुण्यबंधं च कृत्वा पश्चादज्ञानभावेन निदानबंधं करोति तदनंतरं स्वर्गं गत्वा पुनर्मनुष्यो भूत्वा त्रिखंडाधिपतिर्वासुदेवो भवति । अन्यः कोपि जिनदीक्षां गृहीत्वाप्यत्रैव भवे विशिष्टसमाधिवलेन पुण्यबंधं कृत्वा पश्चात्पूर्वकृतचारित्रमोहोदयेन विषयासक्तो भूत्वा रुद्रो भवति । कथं ते परमात्मस्वरूपं न जानंति इति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारं ददाति । युक्तमुक्तं भवता, यद्यपि रत्नत्रयाराधनां कृतवंतस्तथापि यादृशेन वीतरागनिर्विकल्परत्नत्रयस्वरूपेण तद्भवे मोक्षो भवति तादृशं न जानंतीति ।

आगे वह शुद्धात्मा यद्यपि देहमें रहता है तौभी परमसमाधिके अभावसे हरिहरादिक सरीखे भी जिसे प्रत्यक्ष नही जान सकते वह परमात्मा है ऐसा कहते हैं;—[देहे] परमात्मस्वभावसे भिन्न शरीरमें [**वसन्नपि**] अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकर वसता है तौभी [**यं**] जिसको [**हरिहरा अपि**] हरि हर सरीखे चतुर पुरुष [**अद्य अपि**] अबतक भी [**न जानंति**] नही जानते हैं । किसके विना [**परमसमाधितपसा विना**] वीतरागनिर्विकल्प नित्यानंद अद्वितीय सुखरूप अमृतके रसके आस्वादरूप परमसमाधिभूत महातपके विना नही जानते [**तं**] उसको [**परमात्मानं**] परमात्मा [**भणंति**] कहते हैं । यहां किसीका प्रश्न है कि पूर्वभवमें कोई जीव जिनदीक्षा धारणकर व्यवहार निश्चयरूप रत्नत्रयकी आराधनाकर महान् पुण्यको उपार्जन करके अज्ञानभावसे निदान बंध करनेके वाद स्वर्गमें उत्पन्न होता है पीछे आकर मनुष्य होता है वही तीन खंडका स्वामी वासुदेव (हरि) कहलाता है। और कोई जीव इसीभवमें जिनदीक्षा लेकर समाधिके वलसे पुण्यबंध करता है, उसके वाद पूर्वकृत चारित्रमोहके उदयसे विषयोंमें लीन हुआ रुद्र (हर) कहलाता है । इसलिये वे हरिहरादिक परमात्माका स्वरूप कैसे नहीं जानते? इसका समाधान यह है कि तुह्मारा कहना ठीक है । यद्यपि इन हरिहरादिक महान् पुरुषोंने रत्नत्रयकी आराधना की तौभी जिसतरहके वीतरागनिर्विकल्परत्नत्रयस्वरूपसे तद्भव मोक्ष होती है वैसा रत्नत्रय इनके नही प्रगट हुआ सरागरत्नत्रय हुआ है इसीका नाम व्यवहाररत्नत्रय है सो यह तो हुआ लेकिन शुद्धोपयोगरूप वीतरागरत्नत्रय नही हुआ इसलिये वीतरागरत्नत्रयके धारक उसी भवसे मोक्ष जानेवाले योगी जैसा जानते हैं वैसा ये हरि-

अत्रायमेव शुद्धात्मानं साक्षादुपादेयभूतं तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थं च ते हरिहरादयो न जानंतीति स एवोपादेयो भवतीति भावार्थः ॥ ४२ ॥

अथोत्पादव्ययपर्यायार्थिकनयेन संयुक्तोपि यः द्रव्यार्थिकनयेन उत्पादव्ययरहितः स एव परमात्मा निर्विकल्पसमाधिबलेन जिनवरैर्देहेपि दृष्ट इति निरूपयति,—

भावाभावहिं संजुवउ, भावाभावहिं जो जि।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिं, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४३ ॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः भावाभावाभ्यां य एव
देहे अपि दृष्टः जिनवरैः मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ४३ ॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययाभ्यां परिणतः द्रव्यार्थिकनयेन भावाभावयोः रहितः य एव वीतरागनिर्विकल्पसदानंदैकसमाधिना तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थेन जिनवरैर्देहेपि दृष्टः तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहि वीतरागपरमसमाधिबलेनानुभवेत्यर्थः । अत्र य एव परमात्मा कृष्णनीलकापोतलेश्यास्वरूपादिसमस्तविभावरहितेन शुद्धात्मोपलब्धेः ध्यानेन जिनवरैर्देहेपि दृष्टः स एव साक्षादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ४३ ॥

हरादिक नही जानते । इसीलिये परम शुद्धोपयोगियोंकी अपेक्षा इनको नहीं जाननेवाले कहा गया है क्योंकि जैसे स्वरूपके जाननेसे साक्षात् मोक्ष होती है वैसा स्वरूप ये नही जानते । यहांपर साराश यह है कि जिस साक्षात् उपादेय शुद्धात्माको तद्भव मोक्षके साधक महामुनि ही आराध सकते हैं और हरिहरादिक नही जान सकते वही चिंतवन करने योग्य है ॥ ४२ ॥

आगे यद्यपि पर्यायार्थिकनयकर उत्पादव्ययकर सहित है तौभी द्रव्यार्थिक नयकर उत्पाद व्यय रहित है सदा ध्रुव (अविनाशी) ही है वही परमात्मा निर्विकल्प समाधिके बलसे तीर्थंकर देवोंने देहमें भी देखलिया है ऐसा कहते हैं;—[य एव] जो [भावाभावाभ्यां] व्यवहार नयकर यद्यपि उत्पाद और व्ययकर सहित है तौभी द्रव्यार्थिकनयसे [भावाभावाभ्यां] उत्पाद और विनाशसे ["रहितः"] रहित है तथा [जिनवरैः] वीतरागनिर्विकल्प आनंदरूपसमाधिकर तद्भवमोक्षके साधक जिनवरदेवने [देहे अपि] देहमें भी [दृष्टः] देखलिया है [तमेव] उसीको तू [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] जान अर्थात् वीतराग परम समाधिके बलसे अनुभव कर । भावार्थ—जो परमात्मा कृष्ण नील कापोतलेश्यारूप विभाव परिणामोसे रहित शुद्धात्मकी प्राप्तिरूप ध्यानकर जिनवर देवने देहमें देखा है वही साक्षात् उपादेय है ॥ ४३ ॥

अथ येन देहे वसता पंचेंद्रियग्रामो वसति गतेनोद्वसो भवति स एव परमात्मा भवतीति कथयति,—

देहि वसंतें जेण पर, इंदियगामु वसेइ ।
उव्वसु होइ गएण फुडु, सो परमप्पु हवेइ ॥ ४४ ॥

देहे वसता येन परं इंद्रियग्रामः वसति ।
उद्वसो भवति गतेन स्फुटं स परमात्मा भवति ॥ ४४ ॥

देहे वसता येन परं नियमेनेन्द्रियग्रामो वसति येनात्मना निश्चयेनातीन्द्रियस्वरूपेणापि व्यवहारनयेन शुद्धात्मविपरीते देहे वसता स्पर्शनादीन्द्रियग्रामो वसति, स्वसंवित्त्यभावे स्वकीयविषये प्रवर्तत इत्यर्थः । उद्वसो भवति गतेन स एवेंद्रियग्रामो यस्मिन् भवांतरगते सत्युद्वसो भवति स्वकीयविषयव्यापाररहितो भवति स्फुटं निश्चितं स एवं लक्षणश्चिदानंदैकस्वभावः परमात्मा भवतीति । अत्र य एवातींद्रियसुखास्वादसमाधिरतानां मुक्तिकारणं भवति स एव सर्वप्रकारोपादेयातीन्द्रियसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ ४४ ॥

अथ यः पंचेन्द्रियैः पंचविषयान् जानाति स च तैर्न ज्ञायते स परमात्मा भवतीति निरूपयति,—

जो णियकरणहिं पंचहिंवि, पंचवि विसय मुणेइ ।
मुणिउ ण पंचहि पंचहिंवि, सो परमप्पु हवेइ ॥ ४५ ॥

यः निजकरणैः पंचभिरपि पंचापि विषयान् मनुते ।
मतो न पंचभिः पंचभिरपि स परमात्मा भवति ॥ ४५ ॥

यो निजकरणैः पंचभिरपि पंचापि विषयान् मनुते जानाति । तद्यथा । यः कर्ता

आगे देहमें जिसके रहनेसे पाचइंद्रीरूप गांव वसता है और जिसके निकलनेसे पंचेंद्रियरूप ग्राम ऊजड़ हो जाता है वह परमात्मा है ऐसा कहते हैं;—[**येन परं देहे वसता**] जिसके केवल देहमें रहनेसे [**इन्द्रियग्रामः**] इंद्रियगाम [**वसति**] रहता है [**गतेन**] और जिसके परभवमें चले जाने पर [**उद्वसः स्फुटं भवति**] ऊजड़ निश्चयसे हो जाता है [**स परमात्मा**] वह परमात्मा [**भवति**] है । भावार्थ—शुद्धात्मासे जुदी ऐसी देहमें वसते आत्मज्ञानके अभावसे ये इंद्रियां अपने २ विषयोंमे (रूपादिमें) प्रवर्तती हैं और जिसके चले जानेपर अपने २ विषयव्यापारसे रुक जातीं है ऐसा चिदानंद निज आत्मा वही परमात्मा है । अतींद्रियसुखके आस्वादी परमसमाधिमें लीन हुए मुनियोंको ऐसे परमात्माका ध्यान ही मुक्तिका कारण है वही अतीन्द्रियसुखका साधक होनेसे सब तरह उपादेय है ॥ ४४ ॥

आगे जो पांच इंद्रियोंसे पांच विषयोंको जानता है और आप इंद्रियोंके गोचर नही

शुद्धनिश्चयनयेनातीन्द्रियज्ञानमयोपि अनादिबंधवशात् असद्भूतव्यवहारेणेद्रियमयशरीरं गृहीत्वा स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थत्वात्पंचेद्रियैः कृत्वा पंचविषयान् जानाति इन्द्रियज्ञानेन परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च कथंभूतः । **मुणिउ ण पंचहि पंचहिं वि सो परमप्पु हवेइ** मतो न ज्ञातो न पंचभिरिद्रियैः पंचभिरपि स्पर्शादिविषयैः । तथाहि—वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानविषयोपि पंचेद्रियैश्च न ज्ञात इत्यर्थः । स एवं लक्षणः परमात्मा भवतीति । अत्र य एव पंचेद्रियविषयसुखास्वादविपरीतेन वीतरागनिर्विकल्पपरमानंदसमरसीभावसुखरसास्वादपरिणतेन समाधिना ज्ञायते स एवात्मोपादानसिद्धमित्यादिविशेषणविशिष्टस्योपादेयभूतस्यातीद्रियसुखस्य साधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ ४५ ॥

अथ यस्य परमार्थेन बंधसंसारौ न भवतस्तमात्मानं व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि इति कथयति,—

जसु परमत्थें बंधु णवि, जोइय णवि संसारु ।
सो परमप्पउ जाणि तुहुं, मणि मिल्लिहिं ववहारु ॥ ४६ ॥

यस्य परमार्थेन बंधो नैव योगिन् नापि ससारः ।
तं परमात्मानं जानीहि त्वं मनसि मुक्त्वा व्यवहारम् ॥ ४६ ॥

जसु परमत्थें बंधु णवि जोइय णवि संसारु यस्य परमार्थेन बंधो नैव हे योगिन्

होता है वही परमात्मा है यह कहते हैं,—[यः] जो आत्माराम शुद्धनिश्चयनयकर अतीन्द्रिय ज्ञानमय है तौभी अनादि बंधके कारण व्यवहार नयसे इद्रियमयी शरीरको ग्रहणकर [**निजकरणैः पंचभिरपि**] अपनी पाचों इंद्रियों द्वारा [**पंचापि विषयान्**] रूपादि पाचों ही विषयोंको जानता है अर्थात् इंद्रियज्ञानरूप परिणमन करके इंद्रियोंसे रूप रस गंध शब्द स्पर्शको जानता है और आप [**पंचभिः**] पाच इंद्रियोंकर तथा [**पंचभिरपि**] पांचों विषयोंकर भी [**मतो न**] नही जाना जाता अगोचर है [**स परमात्मा**] ऐसे लक्षण जिसके हैं वही परमात्मा [**भवति**] है । **भावार्थ**—पांच इद्रियोंके विषये सुखके आस्वादसे विपरीत वीतराग निर्विकल्प परमानंद समरसीभावरूप सुखके रसका आस्वादरूप परमसमाधि उसकरके जो जाना जाता है वही परमात्मा है वह ज्ञानगम्य है इंद्रियोंसे अगम्य है और उपादेयरूप अतींद्रिय सुखका साधन अपना स्वभावरूप वही परमात्मा आराधने योग्य है ॥ ४५ ॥

आगे जिसके निश्चयकर वंध नहीं है और ससार भी नहीं है उस आत्माको सव लौकिकव्यवहार छोड़कर अच्छीतरह पहचानो ऐसा कहते हैं,—[**हे योगिन्**] हे योगी [**यस्य**] जिस चिदानंद शुद्धात्माके [**परमार्थेन**] निश्चयकरके [**संसारः**] निज स्वभावसे भिन्न द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूप पचप्रकार परिवर्तन (भ्रमण) स्वरूप ससार [**नैव**]

नापि संसारः । तद्यथा—यस्य चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मनस्तद्विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालभव-भावरूपः परमागमप्रसिद्धः पंचप्रकारः संसारो नास्ति इत्थंभूतसंसारस्य कारणभूतप्रकृ-तिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नकेवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षपदार्थाद्विलक्षणो बंधोपि नास्ति **सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लहिं ववहारु** तमेवेत्थंभूतलक्षणं परमात्मानं मनसि व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणेन संसारेण बंधनेन च रहितः स एवानाकूलत्वलक्षणसर्वप्रकारोपादे-यभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ४६ ॥

अथ यस्य परमात्मनो ज्ञानं वल्लीवत् ज्ञेयास्तित्वाभावेन निवर्तते न च शक्त्यभावेनेति-कथयति,—

णेयाभावेँ विल्लि जिम, थक्कइ णाणु वलेवि ।
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ, परमसहाउ भणेवि ॥ ४७ ॥

ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तिष्ठति ज्ञानं वलेपि ।
मुक्तानां यस्य पदे बिंबितं परमस्वभावं भणित्वा ॥ ४७ ॥

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तथा ज्ञानं तिष्ठति व्यावृत्त्येति । यथा मंडपाद्यभावे वल्ली व्यावृत्य तिष्ठति तथा ज्ञेयावलंबनाभावे ज्ञानं व्यावृत्य तिष्ठति न च ज्ञातृत्वशक्त्यभावेनेत्यर्थः । कस्य संबंधि ज्ञानं । **मुक्कहं** मुक्तात्मनां ज्ञानं ।

नही है [**बंधो नापि**] और ससारके कारण जो प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशरूप चारप्रकारका बंध भी नहीं है । जो बंध केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टयकी प्रगटतारूप मोक्षपदार्थसे जुदा है [**तं परमात्मानं**] उस परमात्माको [**त्वं**] तू [**मनसि व्यवहारं मुक्त्वा**] मनमेंसे सब लौकिक व्यवहारको छोड़कर तथा वीतरागसमाधिमें ठहरकर [**जानीहि**] जान अर्थात् चिंतवनकर । **भावार्थ**—शुद्धात्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो संसार और संसारका कारण बंध इनदोनोंसे रहित और आकुलतासे रहित लक्षणवाला मोक्षका मूलकारण जो शुद्धात्मा है वही सर्वथा आराधने योग्य है ॥ ४६ ॥

आगे जिस परमात्माका ज्ञान सर्वव्यापक है ऐसा कोई पदार्थ नही है जो ज्ञानसे न जाना जावे सब ही पदार्थ ज्ञानमें भासते हैं ऐसा कहते हैं;—[**यथा**] जैसे मंडपके अभावसे [**वल्ली**] वेलि [**तिष्ठति**] थक जाती है अर्थात् जहांतक मंडप है वहांतक तो चढती रहे और आगे मंडपका सहारा न मिलनेसे चढनेसे ठहर जाती है उसीतरह [**मुक्तानां**] मुक्तजीवोंका [**ज्ञानं**] ज्ञान भी जहांतक ज्ञेय (पदार्थ) हैं वहांतक फैल जाता है [**ज्ञेयाभावे**] और ज्ञेयका अवलंबन न मिलनेसे [**बलेपि**] जाननेकी शक्ति होनेपर भी [**तिष्ठति**] ठहर जाता है अर्थात् कोई पदार्थ जाननेसे बाकी नही रहता

च कथंभूतं । **जसु पय विंबियउ** यस्य भगवतः पदे परमात्मस्वरूपे विंवितं प्रतिफलितं तदाकारेण परिणतं । कस्मात् । **परमसहाउ भणेवि** परमस्वभाव इति भणित्वा मत्वा ज्ञात्वैवेत्यर्थः । अत्र यस्येत्थंभूतं ज्ञानं सिद्धसुखस्योपादेयस्याविनाभूतं स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ४७ ॥

अथ यस्य कर्माणि यद्यपि सुखदुःखादिकं जनयन्ति तथापि स न जनितो न हृत इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयति,—

कम्मइ जासु जणंतहिंवि, णिउ णिउ कज्जु सयावि ।
किंपि ण जणियउ हरिउ णवि, सो परमप्पउ भावि ॥ ४८ ॥

कर्मभिः यस्य जनयद्भिरपि निजनिजकार्यं सदापि ।
किमपि न जनितो हृतः नैव तं परमात्मानं भावय ॥ ४८ ॥

कर्मभिर्यस्य जनयद्भिरपि । किं । निजनिजकार्यं सदापि तथापि किमपि न जनितो हृतश्च नैव तं परमात्मानं भावयत । यद्यपि व्यवहारनयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रतिबंधकानि कर्माणि सुखदुःखादिकं निजनिजकार्यं जनयंति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन अनंतज्ञानादिस्वरूपं न हृतं न विनाशितं न चाभिनवं जनितमुत्पादितं किमपि यस्यात्मनस्तं परमात्मानं

सब द्रव्य क्षेत्र काल और सब भावोंको ज्ञान जानता है ऐसे तीनलोक सरीखे अनंते लोकालोक होवें तौभी एक समयमें ही जान लेवे [**यस्य**] जिस भगवान परमात्माके [**पदे**] केवलज्ञानमें [**परमस्वभावं**] अपना उत्कृष्टस्वभाव सबके जाननेरूप [**विंबितं**] प्रतिभासित होरहा है अर्थात् ज्ञान सबका अंतर्यामी है सर्वाकारज्ञानकी परिणति है ऐसा [**भणित्वा**] जानकर ज्ञानका आराधन करो । **भावार्थ**—जहातक मंडफ वहांतक ही वेलिकी वढवारी और जब मंडफका अभाव हो तब वेलि थिर होके आगे नहीं फैलती लेकिन वेलिमें विस्तारशक्तिका अभाव नहीं कहसकते इसीतरह सर्वव्यापक ज्ञान केवलीका है जिसके ज्ञानमें सब पदार्थ झलकते हैं वही ज्ञान आत्माका परम स्वभाव है ऐसा जिसका ज्ञानहै वही शुद्धात्मा उपादेय है । यह ज्ञानानंदरूप आत्माराम है वही महामुनियोंके चित्तका विश्राम (ठहरनेकी जगह) है ॥ ४७ ॥

आगे जो शुभअशुभ कर्म हैं वे यद्यपि सुख दुःखादिको उपजाते हैं तौभी वह आत्मा किसीसे उत्पन्न नही हुआ किसीने बनाया नहीं ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर गाथासूत्र कहते हैं;—

[**कर्मभिः**] ज्ञानावरणादि कर्म [**सदापि**] हमेशा [**निजनिजकार्यं**] अपने २ सुखःदुखादि कार्यको [**जनयद्भिरपि**] प्रगट करते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर [**यस्य**] जिस आत्माका [**किमपि**] कुछभी अर्थात् अनंतज्ञानादि स्वरूप [**न जनितः**] न तो

वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र यन्नैव कर्मभिर्न हृतं न चोत्पादितं चिदानंदैकस्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४८ ॥

अथ यः कर्मनिबद्धोपि कर्मरूपो न भवति कर्मापि तद्रूपं न संभवति तं परमात्मानं भावयेति कथयति;—

कम्मणिबद्धुवि होइ णवि, जो फुडु कम्मु कयावि ।
कम्मुवि जो ण कयावि फुडु, सो परमप्पउ भावि ॥ ४९ ॥

कर्मनिबद्धोपि भवति नैव यः स्फुटं कर्म कदाचिदपि ।
कर्मापि यो न कदाचिदपि स्फुटं तं परमात्मानं भावय ॥ ४९ ॥

कम्मणिबद्धुवि होइ णवि जो फुडु कम्मु कयावि कर्मनिबद्धोपि भवति नैव यः स्फुटं निश्चितं । किं न भवति । कर्म कदाचिदपि । तथाहि—यः कर्ता शुद्धात्मोपलंभाभावेनोपार्जितेन ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्मणा व्यवहारेण बद्धोपि शुद्धनिश्चयेन कर्मरूपो न भवति । केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूपं त्यक्त्वा कर्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च किंवि-

---

नया पैदा किया और [नैव हृतः] न विनाशकिया दूसरी तरहका किया [तं] उस [परमात्मानं] परमात्माको [भावय] तू चिंतवनकर । भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे शुद्धात्मस्वरूपके रोकनेवाले ज्ञानावरणादिकर्म अपने २ कार्यको करते हैं अर्थात् ज्ञानावरण तो ज्ञानको ढकता है, दर्शनावरणकर्म दर्शनको आच्छादन करता है, वेदनीय साता असाता उत्पन्न करके अतींद्रियसुखको घातता है मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्रको रोकता है, आयुकर्म स्थितिके प्रमाण शरीरमें राखता है अविनाशीभावको प्रगट नहीं होने देता, नामकर्म नानाप्रकार गति जाति शरीरादिकको उपजाता है, गोत्रकर्म ऊंच नीच गोत्रमें डालदेता है और अंतरायकर्म अनंतवीर्य (बल)को प्रगट नही होने देता । इसप्रकार कार्यको करते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर आत्माका अनंतज्ञानादिस्वरूप इन कर्मोंने न तो नाशकिया और न नया उत्पन्न किया आत्मा तो जैसा है वैसाही है। ऐसे अखंड परमात्माका तू वीतरागनिर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यानकर । यहांपर यह तात्पर्य है कि जो जीवपदार्थ कर्मोंसे न हरागया न उपजा किसी दूसरी तरह नही किया गया वही चिदानंद स्वरूप उपादेय है ॥ ४८ ॥

इसके बाद जो आत्मा कर्मोंसे अनादिकालका बंधा हुआ है तौभी कर्मरूप नहीं होता और कर्मभी आत्मस्वरूप नही होते आत्मा चैतन्य है कर्म जड़ हैं ऐसा जानकर उस परमात्माका तू ध्यानकर ऐसा कहते हैं;—[यः] जो चिदानंद आत्मा [कर्मनिबद्धोपि] ज्ञानावरणादिकर्मोंसे बंधा हुआ होनेपर भी [कदाचिदपि] कभीभी [कर्म नैव स्फुटं] कर्मरूप नहीं निश्चयसे [भवति] होता [कर्म अपि] और कर्म भी [यः] जिस

शिष्टः । **कम्मुवि जो ण कयावि फुडु** कर्मापि यो न कदाचिदपि स्फुटं निश्चितं । तद्यथा—ज्ञानावरणादिद्रव्यभावरूपं कर्मापि कर्तृभूतं यः परमात्मा न भवति स्वकीयकर्मपुद्गलस्वरूपं विहाय परमात्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । **सो परमप्पउ भावि** तमेवं लक्षणं परमात्मानं भावय । देहरागादिपरिणतिरूपं वहिरात्मानं मुक्त्वा शुद्धात्मपरिणतिभावनारूपेंतरात्मनि स्थित्वा सर्वप्रकारोपादेयभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मानं भावयेति भावार्थः ॥ ४९ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये यथा निर्मलो ज्ञानमयो व्यक्तिरूपः शुद्धात्मा सिद्धौ तिष्ठति तथाभूतः शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण देहेपि तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्विंशति सूत्राणि गतानि ।

अत ऊर्ध्वं स्वदेहप्रमाणव्याख्यानमुख्यत्वेन षट्सूत्राणि कथयंति,—तद्यथा ।

किवि भणंति जिउ सव्वगउ, जिउ जडु केवि भणंति ।
किवि भणंति जिउ देहसमु, सुण्णुवि केवि भणंति ॥ ५० ॥

केपि भणंति जीवं सर्वगतं जीवं जडं केपि भणंति ।
केपि भणंति जीवं देहसमं शून्यमपि केपि भणंति ॥ ५० ॥

केपि भणंति जीवं सर्वगतं जीवं केपि जडं भणंति केपि भणंति जीवं देहसमं शून्यमपि

परमात्मस्वरूप [**कदाचिदपि स्फुटं**] कभी भी निश्चयकर [**न**] नहीं होते [**तं**] उस पूर्वोक्त लक्षणोवाले [**परमात्मानं**] परमात्माको तू [**भावय**] चिंतवनकर ॥ **भावार्थ**—जो आत्मा अपने शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके अभावसे उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि शुभ अशुभकर्मोंसे व्यवहार नयकर वधा हुआ है तौभी शुद्धनिश्चयनयसे कर्मरूप नही है अर्थात् केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप अपने स्वरूपको छोड़कर कर्मरूप नहीं परिणमता और ये ज्ञानावरणादि द्रव्यभावरूप कर्मभी आत्मस्वरूप नही परिणमते अर्थात् अपने जडरूप पुद्गलपनेको छोडकर चैतन्यरूप नही होते यह निश्चय है । जीव तो अजीव नहीं होता और अजीव है वह जीव नहीं होता ऐसी अनादि कालकी मर्यादा है । इसलिये कर्मोंसे भिन्न ज्ञानदर्शनमयी सवतरह उपादेयरूप (आराधने योग्य) परमात्माको तुम देहरागादि परिणतिरूप वहिरात्मपनेको छोड़कर शुद्धात्मपरिणतिकी भावनारूप अंतरात्मामें स्थिर होकर चिंतवन करो उसीका अनुभव करो ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ४९ ॥

ऐसे तीनप्रकार आत्माके कहनेवाले पहले महाधिकारमें पाचवें स्थलमें जैसा निर्मल ज्ञानमई प्रगटरूप शुद्धात्मा सिद्धलोकमें विराजमान है वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूपसे देहमें तिष्ठ रहा है ऐसे कथनकी मुख्यतासे चौवीस दोहासूत्र वीतगये । इससे आगे छह दोहासूत्रोंमें आत्मा व्यवहार नयकर अपनी देहके प्रमाण है यह कहते हैं;—[**केपि**] कोई नैयायिक वेदांती मीमांसक मतवाले [**जीवं**] जीवको [**सर्वगतं**]

केपि वदंति । तथाहि—केचन सांख्यनैयायिकमीमांसकाः सर्वगतं जीवं वदंति । सांख्याः पुनर्जडमपि कथयंति । जैनाः पुनर्देहप्रमाणं वदंति । बौद्धाश्च शून्यं वदंतीति । एवं प्रश्नचतुष्टयं कृतमिति भावार्थः ॥ ५० ॥

अथ वक्ष्यमाणनयविभागेन प्रश्नचतुष्टयस्याप्यभ्युपगमं स्वीकारं करोति,—

अप्पा जोइय सव्वगउ, अप्पा जडुवि वियाणि ।
अप्पा देहपमाणु मुणि, अप्पा सुण्णु वियाणि ॥ ५१ ॥

आत्मा योगिन् सर्वगतः आत्मा जडोपि विजानीहि ।
आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व आत्मानं शून्यं विजानीहि ॥ ५१ ॥

आत्मा हे योगिन् सर्वगतोपि भवति, आत्मानं जडमपि विजानीहि, आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व, आत्मानं शून्यमपि जानीहि । तद्यथा । हे प्रभाकरभट्ट वक्ष्यमाणविवक्षितनयविभागेन परमात्मा सर्वगतो भवति, जडोपि भवति, देहप्रमाणोपि भवति शून्योपि भवति नापि दोष इति भावार्थः ॥ ५१ ॥

अथ कर्मरहितात्मा केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति तेन कारणेन सर्वगतो भवतीति प्रतिपादयति,—

अप्पा कम्मविवज्जियउ, केवलणाणें जेण ।
लोयालोउवि मुणइ जिय, सव्वगु वुच्चइ तेण ॥ ५२ ॥

आत्मा कर्मविवर्जितः केवलज्ञानेन येन ।
लोकालोकमपि मनुते जीव सर्वगः उच्यते तेन ॥ ५२ ॥

सर्वव्यापक [**भणंति**] कहते हैं [**केपि**] कोई सांख्यमतवाले [**जीवं**] जीवको [**जडं**] जड [**भणंति**] कहते हैं [**केपि**] कोई बौद्धमतवाले जीवको [**शून्यं अपि**] शून्य भी [**भणंति**] कहते हैं [**केपि**] कोई जिनधर्मी [**जीवं**] जीवको [**देहसमं**] व्यवहार नयकर देहप्रमाण [**भणंति**] कहते हैं और निश्चय नयकर लोकप्रमाण है । वह आत्मा कैसा है और कैसा नही है ऐसे चार प्रश्न शिष्यने किये ऐसा तात्पर्य है ॥ ५० ॥

आगे नयविभागकर आत्मा सबरूप है एकांतवादकर अन्यवादी मानते हैं सो ठीक नही है इसप्रकार चारों प्रश्नोंको स्वीकार करके समाधान करते हैं;—[**हे योगिन्**] हे प्रभाकर भट्ट ! [**आत्मा सर्वगतः**] आगे कहेजानेवाले नयके भेदसे आत्मा सर्वगत भी है [**आत्मा**] आत्मा [**जडोपि**] जड़ भी है ऐसा [**विजानीहि**] जानो [**आत्मानं देहप्रमाणं**] आत्माको देहके बराबर भी [**मन्यस्व**] मानो [**आत्मानं शून्यं**] आत्माको शून्य भी [**विजानीहि**] जानो । नयविभागसे माननेमें कोई दोष नही है ऐसा तात्पर्य है ॥ ५१ ॥

आत्मा कर्मविवर्जितःसन् केवलज्ञानेन करणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन । तथाहि—अयमात्मा व्यवहारेण केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोपि निश्चयनयेन स्वात्मानं जानाति तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत्सर्वगतो भवति नच प्रदेशापेक्षयेति । कश्चिदाह । यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं न च निश्चयनयेनेति । परिहारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात् । यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति । अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तदेवोपादेयस्यानंतसुखस्याभिन्नत्वादुपादेयमित्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

आगे कर्मरहित आत्मा केवलज्ञानसे लोक और अलोक दोनोंको जानता है इसलिये सर्वव्यापक भी होसकता है ऐसा कहते हैं;—[आत्मा] यह आत्मा [**कर्मविवर्जितः**] कर्मरहित हुआ [**केवलज्ञानेन**] केवलज्ञानसे [**येन**] जिसकारण [**लोकालोकमपि**] लोक और अलोकको [**मनुते**] जानता है [**तेन**] इसीलिये [**हे जीव**] हे जीव [**सर्वगः**] सर्वगत [**उच्यते**] कहाजाता है । **भावार्थ**—यह आत्मा व्यवहारनयसे केवलज्ञानकर लोकअलोकको जानता है और शरीरमें रहनेपर भी निश्चयनयसे अपने स्वरूपको जानता है इसकारण ज्ञानकी अपेक्षा तो व्यवहारसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं है । जैसे रूपवाले पदार्थोंको नेत्र देखते हैं परंतु उन पदार्थोंसे तन्मय नहीं होते । यहां कोई प्रश्न करता है कि जो व्यवहारनयसे लोकालोकको जानता है और निश्चयनयसे नहीं, तो व्यवहारसे सर्वज्ञपना हुआ निश्चयनयकर न हुआ ? उसका समाधान कहते हैं—जैसे अपने आत्माको तन्मयी होकर जानता है उसतरह परद्रव्यको तन्मयीपनेसे नही जानता भिन्नस्वरूप जानता है इसकारण व्यवहारनयसे कहा, कुछ ज्ञानके अभावसे नहीं कहा । ज्ञानकर जानपना तो निजपरका समान है । जैसे अपनेको संदेहरहित जानता है वैसा ही परको जानता है इसमें सदेह नहीं समझना, लेकिन निजस्वरूपसे तो तन्मयी है और परसे तन्मयी नही । और जिसतरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता है उसीतरह यदि परको भी तन्मय होकर जानें तो परके सुखदुःख रागद्वेषोंके ज्ञान होनेपर सुखी दुःखी रागी द्वेषी होवे यह बड़ा दूपण है । सो इस प्रकार कभी नहीं होसकता । यहां जिस ज्ञानसे सर्वव्यापक कहा वही ज्ञान उपादेय अतीद्रियसुखसे अभिन्न है सुखरूप है ज्ञान और आनंदमें भेद नहीं है वही ज्ञान उपादेय है यह अभिप्राय जानना । इस दोहामें जीवको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत कहा है ॥ ५२ ॥

अथ येन कारणेन निजबोधं लब्ध्वात्मन इन्द्रियज्ञानं नास्ति तेन कारणेन जडो भवतीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति,—

जे णियबोहपरिट्ठियहं, जीवहं तुट्टइ णाणु ।
इंदियजणियउ जोइया, तिं जिउ जडुवि वियाणु ॥ ५३ ॥

येन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवाना त्रुट्यति ज्ञानं ।
इंद्रियजनितं योगिन् तेन जीवं जडमपि विजानीहि ॥ ५३ ॥

येन कारणेन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुट्यति विनश्यति । किं कर्तृ । ज्ञानं । कथंभूतं । इंद्रियजनितं हे योगिन् तेन कारणेन जीवं जडमपि विजानीहि । तद्यथा । छद्मस्थानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञाने सत्यपीन्द्रियजनितं ज्ञानं नास्ति, केवलज्ञानिनां पुनः सर्वदैव नास्ति तेन कारणेन जडत्वमिति । अत्र इन्द्रियज्ञानं हेयमतींद्रियज्ञानमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ५३ ॥

अथ शरीरनामकर्मकारणरहितो जीवो वर्धते न च हीयते तेन कारणेन मुक्तश्चरमशरीरप्रमाणो भवतीति निरूपयति,—

कारणविरहिउ सुद्धजिउ, वड्ढइ खिरइ ण जेण ।
चरमसरीरपमाणु जिउ, जिणवर बोल्लहिं तेण ॥ ५४ ॥

कारणविरहितः शुद्धजीवः वर्धते क्षरति न येन ।
चरमशरीरप्रमाणं जीवं जिनवराः वदंति तेन ॥ ५४ ॥

आगे आत्मज्ञानको पाकर इंद्रियज्ञान नाशको प्राप्त होता है परमसमाधिमें आत्मस्वरूपमें लीन है परवस्तुकी गम्य नहीं है इसलिये नयप्रमाणकर जड़भी है परंतु ज्ञानाभावरूप जड नहीं है चैतन्यरूप ही है अपेक्षासे जड कहा जाता है यह अभिप्राय मनमें रखकर गाथासूत्र कहते हैं;—[**येन**] जिस अपेक्षा [**निजबोधप्रतिष्ठितानां**] आत्मज्ञानमें ठहरे हुए [**जीवानां**] जीवोंके [**इंद्रियजनितं ज्ञानं**] इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान [**त्रुट्यति**] नाशको प्राप्त होता है [**हे योगिन्**] हे योगी [**तेन**] उसी कारणसे [**जीवं**] जीवको [**जडमपि**] जड भी [**विजानीहि**] जानो । **भावार्थ**—महामुनियोंके वीतरागनिर्विकल्पसमाधिके समयमें स्वसंवेदनज्ञान होनेपर भी इंद्रियजनित ज्ञान नहीं है और केवलज्ञानियोंके तो किसी समय भी इंद्रियज्ञान नहीं है केवल अतींद्रियज्ञान ही है इसलिये इंद्रियज्ञानके अभावकी अपेक्षा आत्मा जड भी कहा जासकता है । यहांपर बाह्य इंद्रियज्ञान सबतरह हेय है और अतींद्रियज्ञान उपादेय है यह सारांश हुआ ॥ ५३ ॥

आगे शरीर नामा नामकर्मरूप कारणसे रहित यह जीव न घटता है और न बढता है इसकारण मुक्त अवस्थामें चरमशरीरसे कुछकम पुरुषाकार रहता है इसलिये शरीर

कारणविरहितः शुद्धजीवो वर्द्धते क्षरति हीयते न येन कारणेन चरमशरीरप्रमाणं मुक्तजीवं जिनवरा भणंति तेन कारणेनेति । तथाहि । यद्यपि संसारावस्थायां हानिवृद्धिकारणभूतशरीरनामकर्मसहितत्वाद्धीयते वर्धते च तथापि मुक्तावस्थायां हानिवृद्धिकारणाभावाद्वर्धते हीयते च नैव, शरीरप्रमाण एव तिष्ठतीत्यर्थः । कश्चिदाह—मुक्तावस्थायां प्रदीपवदावरणाभावे सति लोकप्रमाणविस्तारेण भाव्यमिति । तत्र परिहारमाह—प्रदीपस्य योसौ प्रकाशविस्तारः स स्वभावज एव नत्वपरजनितः पश्चाद्भाजनादिना साद्यावरणेन प्रच्छादितस्तेन कारणेन तस्यावरणाभावेपि प्रकाशविस्तारो घटते एव । जीवस्य पुनरनादिकर्मप्रच्छादितत्वात्पूर्वं स्वभावेन विस्तारो नास्ति । किंरूपसंहारविस्तारौ । शरीरनामकर्मजनितौ । तेन कारणेन शुष्कमृत्तिकाभाजनवत् कारणाभावादुपसंहारविस्तारौ न भवतश्चरमशरीरप्रमाणेन तिष्ठतीति । अत्र य एव मुक्तौ शुद्धबुद्धस्वभावः परमात्मा तिष्ठति तत्सदृशो रागादिरहितकाले स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ५४ ॥

प्रमाण भी कहा जाता है ऐसा कहते हैं;—[**येन**] जिस हेतु [**कारणविरहितः**] हानिवृद्धिका कारण शरीर नामकर्मसे रहित हुआ [**शुद्धजीवः**] शुद्धजीव [**न वर्धते क्षरति**] न तो बढता है और न घटता है [**तेन**] इसी कारण [**जिनवराः**] जिनेंद्रदेव [**जीवं**] जीवको [**चरमशरीरप्रमाणं**] चरमशरीर प्रमाण [**वदंति**] कहते हैं। **भावार्थ**—यद्यपि ससार अवस्थामें हानिवृद्धिका कारण शरीर नामा नामकर्म है उसके संबंधसे जीव घटता है और बढता है जब महामच्छका शरीर पाता है तब तो शरीरकी वृद्धि होती है और जब निगोद शरीर धारता है तब घट जाता है । और मुक्त अवस्थामें हानि वृद्धिका कारण जो नामकर्म उसका अभाव होनेसे जीवके प्रदेश न तो सिकुड़ते है न फैलते हैं किंतु चरमशरीरसे कुछ कम पुरुषाकार ही रहते हैं इसलिये शरीर प्रमाण है यह निश्चयहुआ । यहां कोई प्रश्न करै कि जबतक दीपकके आवरण है तबतक तो प्रकाश नहीं होसकता है और जब उसके रोकनेवालेका अभाव हुआ तब प्रकाश विस्तर जाता (फैलजाता) है उसीप्रकार मुक्ति अवस्थामें आवरणके अभाव होनेसे आत्माके प्रदेश लोक प्रमाण फैलने चाहिये शरीर प्रमाण ही क्यों रहगये ? उसका समाधान यह है कि दीपकके प्रकाशका जो विस्तार है वह स्वभावसे होता है परसे नही उत्पन्न हुआ पीछे भाजन वगैरःसे अथवा दूसरे आवरणसे आच्छादन किया गया वह प्रकाश संकोचको प्राप्त होजाता है और जब आवरणका अभाव होता है तब प्रकाश विस्ताररूप हो जाता है इसमें संदेह नहीं और जीवका प्रकाश अनादिकालसे कर्मोंकर ढंका हुआ है पहले कभी विस्ताररूप नही हुआ । शरीर प्रमाण ही संकोचरूप और विस्ताररूप हुआ इसलिये जीवके प्रदेशोंका प्रकाश संकोच विस्ताररूप शरीर नामकर्मसे उत्पन्न हुआ है इसकारण

अथाष्टकर्माष्टादशदोषरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केवलज्ञानादिगुणापेक्षया चेति दर्शयति,—

अट्ठवि कम्मइं बहुविहइं, णवणव दोसवि जेण
सुद्धहं एक्कुवि अत्थि णवि, सुण्णुवि वुच्चइ तेण ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन ।
शुद्धानां एकोपि अस्ति नैव शून्योपि भण्यते तेन ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन कारणेन शुद्धात्मनां तन्मध्ये चैकोप्यस्ति नैव शून्योपि भण्यते तेन कारणेनैवेति । तद्यथा । शुद्धनिश्चयनयेन ज्ञानावरणाद्यष्टद्रव्यकर्माणि क्षुधादिदोषकारणभूतानि क्षुधातृषादिरूपाष्टादशदोषा अपि कार्यभूताः अपि शब्दात्सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणरूपेण शुद्धजीवित्वे सत्यपि दशप्राणरूपमशुद्धजीवत्वं च नास्ति तेन कारणेन संसारिणां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण रागादिविभावशून्यं च भवति । मुक्तात्मनां तु व्यक्तिरूपेणापि न चात्मानंतज्ञानादिगुणशून्यत्वमेकांतेन बौद्धादिमतवदिति ।

सूखी मट्टीके बर्तनकी तरह कारणके अभावसे संकोच विस्ताररूप नहीं होता शरीर प्रमाण ही रहता है अर्थात् जब तक मट्टीका वासन जलसे गीला रहता है तब तक जलके संबंधसे वह घट बढ जाता है और जब जलका अभाव हुआ तब वासन सूख जानेसे घटता बढता नही है जैसेका तैसा रहता है । उसी तरह इस जीवके जबतक नामकर्मका संबंध है तबतक संसार अवस्थामें शरीरकी हानि वृद्धि होती है उसकी हानि वृद्धिसे प्रदेश सिकुडते हैं और फैलते हैं । तथा सिद्ध अवस्थामें नामकर्मका अभाव होजाता है इसकारण शरीरके न होनेसे प्रदेशोंका संकोच विस्तार नहीं होता सदा एकसे ही रहते हैं । जिस शरीरसे मुक्त हुआ उसी प्रमाण कुछ कम रहता है । दीपकका प्रकाश तो स्वभावकर उत्पन्न है आवरणसे आच्छादित होजाता है । जब आवरण दूर होजाता है तब प्रकाश सहज ही विस्तरता है । यहा तात्पर्य यह है कि जो शुद्ध बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव परमात्मा मुक्तिमें तिष्ठ रहा है वैसा ही शरीरमें भी विराज रहा है । जब रागका अभाव होता है उस कालमें यह आत्मा परमात्माके समान है वही उपादेय है ॥ ५४ ॥

आगे आठ कर्म और अठारह दोषोंसे रहित हुआ विभावभावोंकर रहित होनेसे शून्य कहा जाता है लेकिन केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा शून्य नहीं है सदा पूर्ण ही है ऐसा दिखलाते हैं;—[**येन**] जिसकारण [**अष्टौ अपि**] आठों ही [**बहुविधानि कर्माणि**] अनेक भेदोंवाले कर्म [**नवनवदोषाअपि**] अठारह ही दोष इनमेंसे [**एकः अपि**] एक भी [**शुद्धानां**] शुद्धात्माओंके [**नैव अस्ति**] नहीं है [**तेन**] इसलिये [**शून्योपि**] शून्यभी [**भण्यते**] कहा जाता है । **भावार्थ**—इस आत्माके शुद्धनिश्चयनय-

तथाचोक्तं पंचास्तिकाये । "जेसि जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ । ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा" । अत्र य एवमिथ्यात्वरागादिभावेन शून्यश्चिदानंदैकस्वभावेन भरितावस्थः प्रतिपादितः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ५५ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको भणितः स एव परमात्मा निश्चयनयेनासंख्यातप्रदेशोपि स्वदेहमध्ये तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं गतं ।

तदनंतरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं कथयति,—तद्यथा ।

अप्पा जणियउ केण णवि, अप्पें जणिउ ण कोइ ।
दव्वसहावें णिच्चु मुणि, पज्जउ विणसइ होइ ॥ ५६ ॥

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि ।
द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ॥ ५६ ॥

आत्मा न जनितः केनापि आत्मना कर्तृभूतेन जनितं न किमपि, द्रव्यस्वभावेन नित्य-

---

कर ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं, क्षुधादि दोषोंके कारणभूत कर्मोंके जानेसे क्षुधा तृषादि अठारह दोष कार्यरूप नहीं हैं, और अपि शब्दसे सत्ता चैतन्य ज्ञान आनंदादि शुद्ध प्राण होनेपर भी इंद्रियादि दश अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं इसलिये ससारी जीवोंके भी शुद्ध निश्चयनयसे शक्तिरूपसे शुद्धपना है लेकिन रागादि विभावभावों की शून्यता ही है । तथा सिद्धजीवोंके तो सब तरहसे प्रगटरूप रागादिसे रहितपना है इसलिये विभावोंसे रहितपनेकी अपेक्षा शून्यभाव है इसी अपेक्षासे आत्माको शून्य भी कहते हैं । ज्ञानादिक शुद्धभावकी अपेक्षा सदा पूर्ण ही है । और जिसतरह बौद्धमती सर्वथा शून्य मानते हैं वैसा अनंतज्ञानादिगुणोंसे कभी नही होसकता । ऐसा कथन श्रीपंचास्तिकायमें भी किया है—"जेसिं जीवसहावो" इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि जिन सिद्धोंके जीवका स्वभाव निश्चल है जिस स्वभावका सर्वथा अभाव नही है वे सिद्ध भगवान् देहसे रहित हैं और वचनके विषयसे रहित हैं अर्थात् जिनका स्वभाव वचनोंसे नहीं कह सकते । यहां मिथ्यात्वरागादिभावकर शून्य तथा एक चिदानंदस्वभावसे पूर्ण जो परमात्मा कहा गया है अर्थात् विभावसे शून्य, स्वभावसे पूर्ण कहा गया है वही उपादेय है ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ५५ ॥

ऐसे जिसमें तीन प्रकार आत्माका कथन है ऐसे पहले महाअधिकारमें जो ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहारनयसे लोकालोक व्यापक कहागया वही परमात्मा निश्चयनयसे असंख्यातप्रदेश है तौ भी अपनी देहके प्रमाण रहता है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहासूत्र कहेगये ॥ आगे द्रव्यगुणपर्यायके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहते हैं;—[आत्मा]

मात्मानं मन्यस्व जानीहि । पर्यायो विनश्यति भवति चेति । तथाहि । संसारिजीवः शुद्धात्मसंवित्त्यभावेनोपार्जितेन कर्मणा यद्यपि व्यवहारेण जन्यते स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् कर्माणि जनयति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण कर्मकर्तृभूतेन नरनारकादिपर्यायेण न जन्यते स्वयं च कर्मनोकर्मादिकं न जनयतीति । आत्मा पुनर्न केवलं शुद्धनिश्चयनयेन व्यवहारेणापि न च जन्यते न च जनयति तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन नित्यो भवति, पर्यायार्थिकनयेनोत्पद्यते विनश्यति चेति । अत्राह शिष्यः । मुक्तात्मनः कथमुत्पादव्ययाविति । परिहारमाह । आगमप्रसिद्ध्यागुरुलघुकगुणहानिवृद्ध्यपेक्षया, अथवा येनोत्पादादिरूपेण ज्ञेयं वस्तु परिणमति तेन परिच्छित्त्याकारेण ज्ञानपरिणत्यपेक्षया । अथवा मुक्तौ संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः शुद्धजीवद्रव्यं ध्रौव्यापेक्षया च सिद्धानामुत्पादव्ययौ ज्ञातव्याविति । अत्र तदेव सिद्धस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ५६ ॥

अथ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं प्रतिपादयति,—

यह आत्मा [**केन अपि**] किसीसे भी [**न जनितः**] उत्पन्न नहीं हुआ [**आत्मना**] और इस आत्माकर [**किमपि**] कोईद्रव्य [**न जनितं**] उत्पन्न नहीं हुआ [**द्रव्यस्वभावेन**] द्रव्यस्वभावकर [**नित्यं मन्यस्व**] नित्य जानो [**पर्यायः विनश्यति भवति**] पर्यायभावसे विनाशीक है । **भावार्थ**—यह संसारी जीव यद्यपि व्यवहार नयकर शुद्धात्मज्ञानके अभावसे उपार्जनकिये ज्ञानावरणादि शुभाशुभकर्मोंके निमित्तसे नरनारकादि पर्यायोंसे उत्पन्न होता है और विनसता है और आप भी शुद्धात्मज्ञानसे रहित हुआ कर्मोंको उपजाता (बांधता) है तौ भी शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूप शुद्ध ही है कर्मोंकर उत्पन्न हुई नरनारकादिपर्यायरूप नही होता और आपभी कर्म नोकर्मादिकको नहीं उपजाता और व्यवहारसे भी न जन्मता है न किसीसे विनाशको प्राप्त होता है न किसीको उपजाता है कारण कार्यसे रहित है, अर्थात् कारण उपजानेवालेको कहते हैं कार्य उपजनेवालेको कहते हैं सो ये दोनों भाव वस्तुमें नहीं हैं इससे द्रव्यार्थिकनयकर जीव नित्य है और पर्यायार्थिकनयकर उत्पन्न होता है तथा विनाशको प्राप्त होता है । यहां पर शिष्य प्रश्नकरता है कि संसारी जीवोंके तो नरनारकी आदि पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पत्ति और मरण प्रत्यक्ष दीखता है परंतु सिद्धोंके उत्पाद व्यय किस तरह होसकता है क्योंकि उनके विभाव पर्याय नहीं है स्वभावपर्याय ही है और वे सदा अखंड अविनश्वर ही हैं । उसका समाधान यह है कि जैसा उत्पन्न होना मरना चारों गतियोंमें संसारी जीवोंके है वैसा तो उनसिद्धोंके नहीं है वे अविनाशी हैं परंतु शास्त्रोंमें प्रसिद्ध अगुरुलघुगुणकी परिणतिरूप अर्थपर्याय है वह समय समयमें आविर्भाव तिरोभावरूप होती है

तं परियाणहिं दव्वु तुहुं, जं गुणपज्जयजुत्तु ।
सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुय पज्जउ वुत्तु ॥ ५७ ॥

तत् परिजानीहि द्रव्यं त्वं, यत् गुणपर्याययुक्तं ।
सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ॥ ५७ ॥

तं परियाणहिं दव्वु तुहुं जं गुणपज्जयजुत्तु तत्परि समंताज्जानीहि द्रव्यं त्वं । तत्किं । यद्गुणपर्याययुक्तं, गुणपर्यायस्य स्वरूपं कथयति । **सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुय पज्जउ वुत्तु** सहभुवो जानीहि तेषां द्रव्याणां गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः उक्ता भणिता इति । तद्यथा । गुणपर्ययवद्द्रव्यं ज्ञातव्यं इदानीं तस्य तद्द्रव्यस्य गुणपर्यायाः कथ्यंते । सहभुवो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः, इदमेकं तावत्सामान्यलक्षणं । अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः, इति द्वितीयं च । यथा जीवस्य ज्ञानादयः पुद्गलस्य वर्णादयश्चेति । ते च प्रत्येकं

अर्थात् समय २ में पूर्वपरिणतिका व्यय होता है और आगेकी पर्यायका आविर्भाव (उत्पाद) होता है । इस अर्थपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अन्य संसारी जीवोंकी तरह नही है । सिद्धोंके एक तो अर्थपर्यायकी अपेक्षा उत्पादव्यय कहा है । अर्थपर्यायमें षट्गुणी हानि और वृद्धि होती है । अनंतभागवृद्धि १ असंख्यातभागवृद्धि २ संख्यातभागवृद्धि ३ सख्यातगुणवृद्धि ४ असंख्यातगुणवृद्धि ५ अनंतगुणवृद्धि ६ । अनंतभागहानि १ असख्यातभागहानि २ संख्यातभागहानि ३ सख्यातगुणहानि ४ असख्यातगुणहानि ५ अनंतगुणहानि ६ । ये षट्गुणी हानि वृद्धिके नाम कहे हैं । इनका स्वरूप तो केवलीके गम्य है सो इस षट्गुणी हानिवृद्धिकी अपेक्षा सिद्धोंके उत्पादव्यय कहा जाता है । अथवा समस्त ज्ञेय पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमते है सो सब पदार्थ सिद्धोंके ज्ञानगोचर है । ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति है सो जब ज्ञेयपदार्थमें उत्पादव्यय हुआ तब ज्ञानमें सब प्रतिभासित हुआ इसलिये ज्ञानकी परिणतिकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अथवा जब सिद्ध हुए तब ससार पर्यायका विनाश हुआ सिद्ध पर्यायका उत्पाद हुआ तथा द्रव्यस्वभावसे सदा ध्रुव ही हैं । सिद्धोंके जन्म जरा मरण नही हैं सदा अविनाशी हैं । जो सिद्धका स्वरूप सब उपाधियोंसे रहित है वही उपादेय है यह भावार्थ जानना ॥ ५६ ॥

आगे द्रव्यगुणपर्यायका स्वरूप कहते हैं;—[यत्] जो [गुणपर्याययुक्तं] गुण और पर्यायोंकर सहित है [तत्] उसको [त्वं] हे प्रभाकर भट्ट तू [द्रव्यं] द्रव्य [परिजानीहि] जान [सहभुवः] जो सदाकाल पाये जावें नित्यरूप हों वे तो [तेषां गुणाः] उनद्रव्योंके गुण हैं [क्रमभुवः] और जो द्रव्यकी अनेकरूप परिणति क्रमसे हो अर्थात् अनित्यपनेरूप समय समय उपजै विनशै नानास्वरूप हो वो [पर्यायाः]

द्विविधाः स्वभावविभावभेदेनेति । तथाहि । जीवस्य तावत्कथ्यंते । सिद्धत्वादयः स्वभावपर्यायाः केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा असाधारणा इति । अगुरुलघुकाः स्वभावगुणास्तेषामेव गुणानां षड्डानिवृद्धिरूपस्वभावपर्यायाश्च सर्वद्रव्यसाधारणाः । तस्यैव जीवस्य मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायाश्च इति । इदानीं पुद्गलस्य कथ्यंते । केवलपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावपर्यायः वर्णांतरादिरूपेण परिणमनं वा । तस्मिन्नेव परमाणौ वर्णादयः स्वभावगुणा इति, द्व्यणुकादिरूपस्कंधरूपविभावपर्यायास्तेष्वेव द्व्यणुकादिस्कंधेषु वर्णादयो विभावगुणा इति भावार्थः । धर्माधर्माकाशकालानां स्वभावगुणपर्यायास्ते च यथावसरं कथ्यंते । विभावपर्यायास्तूपचारेण यथा घटाकाशमित्यादि । अत्र शुद्धगुणपर्यायसहितः शुद्धजीव एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ५७ ॥

पर्याय [उक्ताः] कही जाती हैं । भावार्थ—जो द्रव्य होता है वह गुणपर्यायकर सहित होता है । यही कथन तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है "गुणपर्ययवद्रव्यं" अब गुणपर्यायका स्वरूप कहते हैं—"सहभुवो गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः" यह नयचक्र ग्रंथका वचन है अथवा "अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः' इसका अर्थ ऐसे है कि गुण तो सदा द्रव्यसे सहभावी है द्रव्यमें हमेशह एकरूप नित्यरूप पाये जाते है और पर्याय नानारूप होती है जो परिणति पहले समयमें थी वह दूसरे समयमें नही होती, समय २ में उत्पाद व्ययरूप होता है इसलिये पर्याय क्रमवर्ती कहा जाता है । अब इसका विस्तार कहते हैं—जीवद्रव्यके ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनंतगुण है और पुद्गलद्रव्यके स्पर्श रस गंध वर्ण इत्यादि अनंतगुण है सो ये गुण तो द्रव्यमें सहभावी है अन्वयी हैं सदा नित्य है कभी द्रव्यसे तन्मयपना नहीं छोड़ते । तथा पर्यायके दो भेद हैं—एक तो स्वभाव दूसरी विभाव । सो जीवके सिद्धत्वादि स्वभाव पर्याय है और केवलज्ञानादि स्वभाव गुण हैं । ये तो जीवमें ही पाये जाते हैं अन्य द्रव्यमें नहीं पाये जाते तथा अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व अगुरुलघुत्व ये स्वभावगुण सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं । अगुरुलघुगुणका परिणमन षट्गुणी हानिवृद्धिरूप है । यह स्वभाव पर्याय सभी द्रव्योंमें है कोई द्रव्य षट्गुणी हानि वृद्धि विना नही है यही अर्थपर्याय कही जाती है वह शुद्धपर्याय है । यह शुद्धपर्याय संसारी जीवोंके सब अजीव पदार्थोंके तथा सिद्धोंके पायी जाती है । और सिद्धपर्याय तथा केवलज्ञानादिगुण सिद्धोंके ही पायाजाता है दूसरोंके नहीं । संसारी जीवोंके मतिज्ञानादि विभावगुण और नर नारकी आदि विभाव पर्याय—ये संसारी जीवोंके पायी जाती है । ये तो जीवद्रव्यके गुणपर्याय कहे और पुद्गलके परमाणुरूप तो द्रव्य तथा वर्ण आदि स्वभावगुण और एक वर्णसे दूसरे वर्णरूप होना ये विभावगुण व्यंजन पर्याय तथा एक परमाणूमें दो तीन इत्यादि अनेक परमाणू मिलकर स्कंधरूप होना ये विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय हैं । द्व्यणुकादि स्कंधमें जो वर्ण आदि हैं वे

अथ जीवस्य विशेषेण द्रव्यगुणपर्यायान् कथयति;—

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहु, गुण पुणु दंसणु णाणु ।
पज्जय चउगइभाव तणु, कम्मविणिम्मिय जाणु ॥ ५८ ॥

आत्मानं बुध्यस्व द्रव्यं त्वं गुणौ पुनः दर्शनं ज्ञानं ।
पर्यायान् चतुर्गतिभावान् तनु कर्मविनिर्मितान् जानीहि ॥ ५८ ॥

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुं आत्मान द्रव्यं बुध्यस्व जानीहि त्वं **गुण पुणु दंसणु णाणु** गुणौ पुनर्दर्शनं ज्ञानं च **पज्जय चउगइ भाव तणु कम्मविणिम्मिय जाणु** तस्यैव जीवस्य पर्यायाश्चतुर्गतिभावान् परिणामान् तनुं शरीरं च । कथंभूतान् तान् । कर्मविनिर्मितान् जानीहीति । इतो विशेषः । शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं द्रव्यं जानीहि । तस्यैवात्मनः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनं गुण इति । तत्र ज्ञानमष्टविधं केवलज्ञानं सकलमखंडं शुद्धमिति शेषं सप्तकं खंडज्ञानमशुद्धमिति । तत्र सप्तकमध्ये मत्यादिचतुष्टयं

विभावगुण कहे जाते हैं और वर्णसे वर्णांतर होना, रससे रसांतर होना, गंधसे अन्यगंध होना वह विभावपर्याय हैं । परमाणू शुद्धद्रव्यमें एक वर्ण एक रस एक गध और शीतउष्णमेंसे एक तथा रूखे चिकनेमेंसे एक ऐसे दो स्पर्श—इस तरह पांच गुण तो मुख्य हैं इनको आदिदे अस्तित्वादि अनंतगुण हैं वे स्वभावगुण कहे जाते हैं और परमाणुका जो आकार वह स्वभावद्रव्यव्यजन पर्याय है तथा वर्णादिगुणरूप परिणमन वह स्वभावगुणव्यंजनपर्याय है । जीव और पुद्गल इन दोनोंमें तो स्वभाव और विभाव दोनों हैं तथा धर्म अधर्म आकाश काल इन चारोमें अस्तित्वादिस्वभावगुण ही हैं और अर्थपर्याय षट्गुणी हानिवृद्धिरूप स्वभावपर्याय सभीके हैं । धर्मादिक चार पदार्थोंके विभावगुणपर्याय नहीं हैं । आकाशके घटाकाश मठाकाश इत्यादि कहावत है वह उपचार मात्र है । ये षट् द्रव्योंके गुणपर्याय कहे गये हैं । इन षट् द्रव्योंमें जो शुद्धगुण शुद्ध पर्याय सहित शुद्ध जीवद्रव्य है वही उपादेय है आराधने योग्य है ॥ ५७ ॥

आगे जीवके विशेषपनेकर द्रव्यगुणपर्याय कहते हैं,—हे शिष्य [त्वं] तू [आत्मानं] आत्माको तो [द्रव्यं] द्रव्य [बुध्यस्व] जान [पुनः] और [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन ज्ञानको [गुणौ] गुण जानो [चतुर्गतिभावान् तनुं] चार गतियोंके भाव तथा शरीरको [कर्मविनिर्मितान्] कर्मजनित [पर्यायान्] विभाव पर्याय [जानीहि] समझ । भावार्थ—इसका विशेष व्याख्यान करते हैं—शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धबुद्ध अखड स्वभाव आत्माको तू द्रव्य जान, चेतनपनेके सामान्यस्वभावको दर्शन जान और विशेषतासे जानपना उसको ज्ञान समझ। ये दर्शन ज्ञान आत्माके निजगुण हैं, उनमेंसे ज्ञानके आठ भेद है, उनमें केवल ज्ञान तो पूर्ण है अखंड है शुद्ध है तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान

सम्यग्ज्ञानं कुमत्यादित्रयं मिथ्याज्ञानं इति । दर्शनचतुष्टयमध्ये केवलदर्शनं सकलमखंडं शुद्धमिति चक्षुरादित्रयं विकलमशुद्धमिति । किं च । गुणास्त्रिविधा भवंति । केचन साधारणाः केचनासाधारणाः केचन साधारणासाधारणा इति । जीवस्य तावदुच्यंते । अस्तित्वं वस्तुत्वं प्रमेयत्वागुरुलघुत्वादयः साधारणाः, ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः । अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिकं प्रति साधारणं । प्रदेशत्वं पुनः कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेषद्रव्यं प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानं । एवं शेषद्रव्याणामपि यथासंभवं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥ ५८ ॥

अथानंतसुखस्योपादेयभूतस्याभिन्नत्वात् शुद्धगुणपर्याय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते । तत्राष्टकमध्ये प्रथमचतुष्टयं कर्मशक्तिस्वरूपमुख्यत्वेन द्वितीयचतुष्टयं कर्मफलमुख्यत्वेनेति । तद्यथा ।

जीवकर्मणोरनादिसंबंधं कथयति,—

जीवहं कम्मु अणाइ जिय, जणियउ कम्मु ण तेण ।
कम्में जीउवि जणिउ णवि, दोहिंवि आइ ण जेण ॥ ५९ ॥

जीवानां कर्माणि अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन ।
कर्मणा जीवोपि जनितः नैव द्वयोरपि आदिः न येन ॥ ५९ ॥

अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान—ये चार ज्ञान तो सम्यक् ज्ञान और कुमति कुश्रुत कुअवधि ये तीन मिथ्याज्ञान, ये केवलकी अपेक्षा सातों ही खंडित है अखंड नहीं है और सर्वथा शुद्ध नही है अशुद्धताकर सहित हैं इसलिये परमात्मामें एक केवलज्ञान ही है । पुद्गलमें अमूर्तगुण नही पाये जाते इस कारण पांचोंकी अपेक्षा साधारण, पुद्गलकी अपेक्षा असाधारण । प्रदेशत्व गुण कालके विना पांचद्रव्योंमें पाया जाता है इसलिये पांचकी अपेक्षा यह प्रदेशगुण साधारण है और कालमें न पानेसे कालकी अपेक्षा असाधारण है । पुद्गल द्रव्यमें मूर्तीकगुण असाधारण है इसीमें पाया जाता है अन्यमें नही और अस्तित्वादि गुण इसमें भी पाये जाते हैं तथा अन्यमें भी इसलिये साधारण गुण हैं । चेतनपना पुद्गलमें सर्वथा नहीं पाया जाता अमूर्तीकपना भी नहीं पाया जाता । पुद्गलपरमाणुको द्रव्य कहते है, स्पर्श रस गंध वर्णस्वरूप जो मूर्ति वह इस पुद्गलका विशेषगुण है । अन्य सब द्रव्योंमें जो उनका स्वरूप वह द्रव्य और अस्तित्वादि गुण तथा स्वभावपरिणति पर्याय है । जीव और पुद्गलके विना अन्य चार द्रव्योंमें विभाव गुण और विभाव पर्याय नहीं है तथा जीव पुद्गलमें स्वभाव विभाव दोनों हैं । उनमेंसे सिद्धोंमें तो स्वभाव ही है और संसारीमें विभावकी मुख्यता है । पुद्गल परमाणूमें स्वभाव ही है और स्कंधमें विभाव ही है । इस तरह छहों द्रव्योंका सक्षेप व्याख्यान जानना ॥ ५८ ॥

जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण जीवानां कर्मणामनादिसंवंधो भवति हे जीव जनितं कर्म न तेन जीवेन कम्मिं जीउवि जणिउ णवि दोहिंवि आइ ण जेण कर्मणा कर्तृभूतेन जीवोपि जनितो न द्वयोरप्यादिर्न येन कारणेनेति । इतो विशेषः । जीवकर्मणामनादिसंवंधः पर्यायसंतानेन बीजवृक्षवद्व्यवहारनये संबंधः कर्मतावत्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावेन जीवेन न तु जनितं तथाविधजीवोपि स्वशुद्धात्मसंवित्त्यभावोपार्जितेन कर्मणा नरनारकादिरूपेण न जनितः कर्मोत्मेति च द्वयोरनादित्वादिति । अत्रानादिजीवकर्मणोस्संवंधव्याख्यानेन सदा मुक्तः सदा शिवः कोप्यस्तीति निराकृतमिति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं । "मुक्तश्चेत्प्राग्भवे बद्धो नो बद्धो मोचनं वृथा । अवद्धो मोचनं नैव मुंचेरर्थो निरर्थकः ॥" अनादितो हि मुक्तश्चेत्पश्चाद्बंधः कथं भवेत् । वंधनं मोचनं नोचेन्मुंचेरर्थो निरर्थकः ॥" ॥ ५९ ॥

ऐसें तीन प्रकार आत्माका है कथन जिसमें ऐसे पहला महाधिकारमें द्रव्यगुणपर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतामें सातवें स्थलमें तीन दोहासूत्र कहे है । आगे आदर करने योग्य अतींद्रिय सुखसे तन्मयी जो निर्विकल्पभाव उसकी प्राप्तिकेलिये शुद्ध गुणपर्यायके व्याख्यानकी मुख्यताकर आठ दोहा कहते हैं । उनमें पहले चार दोहाओंमें अनादिकर्मसंवंधका व्याख्यान और पिछले चार दोहाओंमें कर्मके फलका व्याख्यान इस प्रकार आठ दोहाओंका रहस्य है, उसमें प्रथम ही जीव और कर्मका अनादिकालका संबंध है ऐसा कहते हैं;—[हे जीव] हे आत्मा [जीवानां] जीवोंके [कर्माणि] कर्म [अनादीनि] अनादि कालसे है अर्थात् जीव कर्मका अनादिकालका संबंध है [तेन] उस जीवने [कर्म] कर्म [न जनितं] नही उत्पन्न किये [कर्मणा अपि] ज्ञानावरणादि कर्मोंने भी [जीवः] यह जीव [नैव जनितः] नही उपजाया [येन] क्योंकि [द्वयोः अपि] जीव कर्म इन दोनोंकी ही [आदिः न] आदि नही है दोनों ही अनादिके है ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहार नयकर पर्यायोंके समूहकी अपेक्षा नये नये कर्म समय २ वांधता है नवे नवे उपार्जन करता है जैसें बीजसे वृक्ष और वृक्षसे वीज होता है उसीतरह पहले बीजरूप कर्मोंसे देह धारता है देहमें नवे नवे कर्मोंको विस्तारता है यह तो वीजसे वृक्ष हुआ । इसीप्रकार जन्मसंतान चली जाती है । परंतु शुद्धनिश्चयनयकर विचारा जावे तो जीव निर्मलज्ञानदर्शन स्वभाव ही है । जीवने ये कर्म न तो उत्पन्न किये और यह जीवभी इन कर्मोंने नहीं पैदा किया । जीव भी अनादिका है ये पुद्गलस्कंध भी अनादिके हैं जीव कर्म नवे नही हैं जीव अनादिका कर्मोंसे बंधा है । और कर्मोंके क्षयसे मुक्त होता है । इस व्याख्यानसे जो कोई ऐसा कहते हैं कि आत्मा सदा मुक्त है कर्मोंसे रहित है उनका निराकरण (खंडन) किया । वे वृथा कहते हैं ऐसा

अथ व्यवहारनयेन जीवः पुण्यपापरूपो भवतीति प्रतिपादयति,—

एहु ववहारिं जीवडउ, हेउ लहेविणु कम्मु ।
बहुविहभाविं परिणवइ, तेण जि धम्मु अहम्मु ॥ ६० ॥

एष व्यवहारेण जीवः हेतुं लब्ध्वा कर्म ।
बहुविधभावेन परिणमति तेन एव धर्मः अधर्मः ॥ ६० ॥

एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु एष प्रत्यक्षीभूतो जीवो व्यवहारनयेन हेतुं लब्ध्वा । किं । कर्मेति **बहुविहभाविं परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु** बहुविधभावेन विकल्पज्ञानेन परिणमति तेनैव कारणेन धर्माधर्मश्च भवतीति । तद्यथा । एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानंदैकस्वभावोपि पश्चाद्व्यवहारेण वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनाभावेनोपार्जितं शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति । अत्र यद्यपि व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रबहिर्द्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकाले साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानंदैकरूपो मोक्षसुखादभिन्नत्वात् शुद्धजीव उपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६० ॥

तात्पर्य है । ऐसा दूसरी जगहभी कहा है—"मुक्तश्चेत्" इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि जो यह जीव पहले बंधा हुआ होवे तभी 'मुक्त' ऐसा कथन संभवता है और जो पहले बंधा ही नही तो 'मुक्त' ऐसा कहना किसतरह ठीक हो सकता है । मुक्त तो छूटे हुएका नाम है सो जब बंधा ही नही तो 'छूटा' किसतरह कहा जासकता है । जो अबंध है उसको छूटा कहना ठीक नही । जो विभावबंध मुक्ति मानते हैं उनका कथन निरर्थक है । जो यह अनादिका मुक्त ही होवे तो पीछे बंध कैसे संभव हो सकता है । बंध होवे तभी मोचन होसके । जो बंध न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है ॥ ५९ ॥

आगे व्यवहार नयकर यह जीव पुण्यपापरूप होता है ऐसा कहते हैं;—[**एष जीवः**] यह जीव [**व्यवहारेण**] व्यवहारनयकर [**कर्म हेतुं**] कर्मरूप कारणको [**लब्ध्वा**] पाकरके [**बहुविधभावेन**] अनेक विकल्परूप [**परिणमति**] परिणमता है [**तेन एव**] इसीसे [**धर्मः अधर्मः**] पुन्य और पापरूप होता है ॥ **भावार्थ**—यह जीव शुद्धनिश्चयनयकर वीतरागचिदानंद स्वभाव है तौभी व्यवहारनयकर वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानके अभावसे रागादिरूप परिणमनेसे उपार्जनकिये शुभ अशुभ कर्मोंके कारणको पाकर पुन्यी तथा पापी होता है । यद्यपि यह व्यवहारनयकर पुन्य पापरूप है तौभी परमात्माकी अनुभूतिसे तन्मयी जो वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र और बाह्यपदार्थोंमें इच्छाके रोकने रूप तप ये चार निश्चय आराधना हैं उनकी भावनाके समय साक्षात् उपादेयरूप वीतरागपरमानंद

अथ तानि पुनः कर्माण्यष्टौ भवंतीति कथयति,—

ते पुणु जीवहं जोइया, अट्ठवि कम्म हवंति।
जेहिं जि झंपिय जीव णवि, अप्पसहाउ लहंति ॥ ६१ ॥

तानि पुनः जीवानां योगिन् अष्टौ एव कर्माणि भवंति ।
यैः एव झंपिताः जीवाः नैव आत्मस्वभावं लभंते ॥ ६१ ॥

ते पुणु जीवहं जोइया अट्ठवि कम्म हवंति तानि पुनर्जीवानां हे योगिन्नष्टावेव कर्माणि भवंति । **जेहिं जि झंपिय जीव णवि अप्पसहाउ लहंति** यैरेव कर्म्मभिर्झंपिताः संतो जीवाः सम्यक्त्वाद्यष्टविधस्वकीयस्वभावं न लभंते । तद्यथा हि । "सम्मत्तणाणदंसण-वीरियसुहुमं तहेव अवगहणं । अगुरुगलहुगं अव्वावाहं अट्ठगुणा हुंति सिद्धाणं" । शुद्धात्मादिपदार्थविषये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षायिकसम्यक्त्वमिति भण्यते । जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थयुगपद्विशेषपरिच्छित्तिरूपं केवलज्ञानं भण्यते तत्रैव सामान्यपरि-च्छित्तिरूपं केवलदर्शनं भण्यते । तत्रैव केवलज्ञानविषये अनंतपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनंतवीर्यं भण्यते । अतींद्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकजीवावगाहप्रदेशे अनंतजीवावगाहदान-सामर्थ्यमवगाहनत्वं भण्यते । एकांतेन गुरुलघुत्वस्याभावरूपेण अगुरुलघुत्वं भण्यते ।

जो मोक्षका सुख उससे अभिन्न आनंदमई ऐसा निजशुद्धात्मा ही उपादेय है अन्य सब हेय हैं ॥ ६० ॥

आगे वे कर्म आठ हैं जिनसे ससारी जीव बंध हैं ऐसा कहते हैं;—श्री-गुरु अपने शिष्य मुनिको कहते है कि [**हे योगिन्**] हे योगी [**तानि पुनः कर्माणि**] वे फिर कर्म [**जीवानां अष्टौ एव**] जीवोंके आठ ही [**भवंति**] होते हैं [**यैः एव झंपिताः**] जिन कर्मोंसे ही आच्छादित (ढकेहुए) [**जीवाः**] ये जीव [**आत्मस्वभावं**] अपने सम्यक्त्वादि आठगुणरूप स्वभावको [**नैव लभंते**] नही पाते ॥ अब उन्ही आठ गुणोंका व्याख्यान करते हैं "सम्मत्त" इत्यादि—इसका अर्थ ऐसा है कि शुद्ध आत्मादि पदार्थोंमें विपरीत श्रद्धानरहित जो परिणाम उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं, तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको एक ही समयमें विशेषरूप सबको जानें वह केवलज्ञान है, सब पदार्थोंको केवलदृष्टिसे एक ही समयमें देखै वह केवल दर्शन है । उसी केवलज्ञानमें अनंतज्ञायक (जाननेकी) शक्ति वह अनंतवीर्य है, अतींद्रियज्ञानकर अमूर्तीक सूक्ष्मपदार्थोंको जानना आप चार ज्ञानके धारियोंसे न जाना जावे वह सूक्ष्मत्व है, एक जीवके अवगाह क्षेत्रमें (जगहमें) अनंते जीव समाजाये ऐसी अवकाश देनेकी सामर्थ्य वह अवगाहन गुण है, सर्वथा गुरुता और लघुताका अभाव

वेदनीयकर्मोदयजनितसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधगुणश्चेति । इदं सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं संसारावस्थायां किमपि केनापि कर्मणा प्रच्छादितं तिष्ठति यथा तथा कथ्यते । सम्यक्त्वं मिथ्यात्वकर्मणा प्रच्छादितं, केवलज्ञानं केवलज्ञानावरणेन झंपितं, केवलदर्शनं केवलदर्शनावरणेन झंपितं, अनंतवीर्यं वीर्यांतरायेण प्रच्छादितं. सूक्ष्मत्वमायुष्ककर्मणा प्रच्छादितं । कस्मादितिचेत् । विवक्षितायुःकर्मोदयेन भवांतरे प्राप्ते सत्यतींद्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं त्यक्त्वा पश्चादिंद्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । अवगाहनत्वं शरीरनामकर्मोदयेन प्रच्छादितं, सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितं । अथवा गुरुत्वशब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्वं भण्यते. लघुत्वशब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यत इति । अव्याबाधगुणत्वं वेदनीयकर्मोदयेनेति संक्षेपेणाष्टगुणानां कर्मभिराच्छादनं ज्ञातव्यमिति । तदेव गुणाष्टकं मुक्तावस्थायां स्वकीयस्वकीयकर्मप्रच्छादनाभावे व्यक्तं भवतीति संक्षेपेणाष्टगुणाः कथिताः । विशेषेण पुनरमूर्तत्वनिर्नामगोत्रादयः साधारणासाधारणरूपानंतगुणाः यथासंभवमागमाविरोधेन ज्ञातव्या इति । अत्र सम्यक्त्वादिशुद्धगुणस्वरूपः शुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ६१ ॥

अर्थात् न गुरु न लघु—उसे अगुरुलघु कहते हैं और वेदनीयकर्मके उदयके अभावकर उत्पन्न हुआ समस्त बाधारहित जो निराबाध गुण उसे अव्याबाध कहते हैं । ये सम्यक्त्वादि आठगुण जो सिद्धोंके हैं वे संसारअवस्थामें किस २ कर्मसे ढके हुए हैं वेही कहते हैं— सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वनाम दर्शनमोहनीयकर्मसे आच्छादित है, केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञान ढका हुआ है, केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन ढका है. वीर्यांतरायकर्मसे अनंतवीर्य ढका है. आयुःकर्मसे सूक्ष्मत्वगुण ढका है, क्योंकि आयुकर्मके उदयसे जब परभवको जाता है वहां इंद्रियज्ञानका धारक होता है अतींद्रियज्ञानका अभाव होता है इस कारण कुछ एक स्थूलवस्तुओंको तो जानता है सूक्ष्मको नहीं जानता, शरीर नामकर्मके उदयसे अवगाहन गुण आच्छादित है, सिद्धावस्थाके योग्य विशेषरूप अगुरुलघुगुण नामकर्मके उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे ढका गया है क्योंकि गोत्रकर्मके उदयसे जब नीच गोत्र पाया तब उसमें तुच्छ या लघु कहलाया और उच्चगोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कह लाया और वेदनीय कर्मके उदयसे अव्याबाध गुण ढका गया क्योंकि उसके उदय सातामसातारूप संसारीक सुखदुःखका भोक्ता हुआ । इस प्रकार आठ गुण आठ कर्मोंसे ढके गये इसलिये यह जीव संसारमें भ्रमा । जब कर्मका आवरण मिट जाता है तब सिद्धपदमें ये आठ गुण प्रगट होते हैं। यह संक्षेपसे आठ गुणोंका कथन किया। और विशेषतासे अमूर्तत्व निर्नामगोत्रादिक अनंतगुण यथासंभव शास्त्रप्रमाणकर जानने । तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वादि निज शुद्धगुणस्वरूप जो शुद्धात्मा वही उपादेय है ॥ ६१ ॥

अथ विषयकषायासक्तानां जीवानां ये कर्मपरमाणवः संबद्धा भवंति तत्कर्मेति कथयति;—

विसयकसायहिं रंगियहं, जे अणुया लग्गंति ।
जीवपएसहं मोहियहं, ते जिण कम्म भणंति ॥ ६२ ॥

विषयकषायैः रंगिताना ये अणवः लगंति ।
जीवप्रदेशेषु मोहितानां तान् जिनाः कर्म भणंति ॥ ६२ ॥

विसयकसायहिं रंगियहं जे अणुया लग्गंति विषयकषायै रंगितानां रक्तानां ये परमाणवो लग्ना भवंति **जीवपएसिहिं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति** । केषु लग्ना भवंति । जीवप्रदेशेषु । केषां । मोहितानां जीवानां तान् कर्मस्कंधान् जिनाः कर्मेति कथयंति । तथाहि । शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणैर्विषयकषायै रक्तानां स्वसंवित्त्यभावोपार्जित-मोहकर्मोदयपरिणतानां च जीवानाम् कर्म्मवर्गणायोग्यस्कंधास्तैलम्रक्षितानां मलपर्यायवदष्टविधज्ञानावरणादिकर्मरूपेण परिणमंतीत्यर्थः ॥ अत्र य एव विषयकषायकाले कर्मोपार्जनं करोति स एव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले साक्षादुपादेयो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६२ ॥ इति कर्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं ।

अथापींद्रियचित्तसमस्तविभावचतुर्गतिसंतापाः शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनिता इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयंति,—

आगे विषयकषायोंमें लीन जीवोंके जो कर्मपरमाणुओंके समूह बंधते हैं वे कर्म कहे जाते हैं ऐसा कहते हैं;—[**विषयकषायैः**] विषयकषायोंसे [**रंगितानां**] रागी [**मोहितानां**] मोही जीवोंके [**जीवप्रदेशेषु**] जीवके प्रदेशोंमें [**ये अणवः**] जो परमाणु [**लगंति**] लगते है बंधते है [**तान्**] उन परमाणुओंके स्कधों (समूहों) को [**जिनाः**] जिनेन्द्रदेव [**कर्म**] कर्म [**भणंति**] कहते है ॥ भावार्थ—शुद्ध आत्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो विषयकषाय उनसे रंगे हुए आत्मज्ञानके अभावसे उपार्जन किये हुए मोहकर्मके उदयकर परिणत हुए ऐसे रागी द्वेषी मोही ससारी जीवोंके कर्मवर्गणायोग्य जो पुद्गलस्कंद है वे ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मरूप होकर परिणमते है । जैसे तेलकर चिकने शरीरमें धूलि लगकर मैलरूप होके परिणमती है वैसे ही रागी द्वेषी मोही जीवोंके विषयकषायदशामें पुद्गलवर्गणा कर्मरूप होके परिणमती हैं । जो कर्मोंका उपार्जन करते हैं वही जब वीतराग निर्विकल्पसमाधिके समय कर्मोंका क्षय करते हैं तब आराधने योग्य हैं यह तात्पर्य हुआ ॥ ६२ ॥

इसप्रकार कर्मस्वरूपके कथनकी मुख्यताकर चार दोहा कहे । आगे पांचइंद्रिय, मन, समस्तविभाव और चार गतिके दुःख ये सब शुद्धनिश्चयनयकर कर्मसे उपजे हैं जीवके

पंचवि इंदिय अण्णु मणु, अण्णुवि सयलविभाव ।
जीवहं कम्मइं जणिय जिय, अण्णुवि चउगइताव ॥ ६३ ॥

पंचैव इंद्रियाणि अन्यत् मनः अन्यदपि सकलविभावः ।
जीवानां कर्मणा जनिता जीव अन्यदपि चतुर्गतितापाः ॥ ६३ ॥

पंचवि इंदिय अण्णु मणु अण्णुवि सयलविभाव पंचेंद्रियाणि अन्यन्मनः अन्यदपि पुनरपि समस्तविभावः **जीवहं कम्मइ जणिय जिय अण्णुवि चउगइताव** एते जीवानां कर्मणा जनिता हे जीव, न केवलमेते अन्यदपि पुनरपि चतुर्गतिसंतापास्ते कर्मजनिता इति । तद्यथा । अतींद्रियात् शुद्धात्मनो यानि विपरीतानि पंचेंद्रियाणि शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितात्मनो विपरीतमनेकसंकल्पविकल्पजालरूपं मनः, ये च शुद्धात्मतत्त्वानुभूतेर्विलक्षणाः समस्तविभावपर्यायाः वीतरागपरमानंदसुखामृतप्रतिकूलाः समस्तचतुर्गतिसंतापाः दुःखदाहाश्चेति सर्वेप्येते अशुद्धनिश्चयनयेन स्वसंवेद्याभावोपार्जितेन कर्मणा निर्मिता जीवानामिति । अत्र परमात्मद्रव्यात्प्रतिकूलं यत्पंचेद्रियादिसमस्तविकल्पजालं तद्धेयं तद्विपरीतं स्वशुद्धात्मतत्त्वं पंचेद्रियविषयाभिलापादिसमस्तविकल्परहितं परमसमाधिकाले साक्षादुपादेयमिति भावार्थः ॥ ६३ ॥

नही हैं यह अभिप्राय मनमें रखकर दोहासूत्र कहते हैं;—[पंचैव] पाचोंही [इंद्रियाणि] इंद्रियां [अन्यत्] भिन्न हैं [मनः] मन [अपि] और [सकलविभावः] रागादि सब विभाव परिणाम [अन्यत्] अन्य है [चतुर्गतितापाः अपि] तथा चारों गतियोंके दुःखभी [अन्यत्] अन्य है [जीव] हे जीव ये सब [जीवानां] जीवोंके [कर्मणा] कर्मकर [जनिताः] उपजे हैं जीवसे भिन्न है ऐसा जान । **भावार्थ**—इंद्रियरहित शुद्धात्मासे विपरीत जो स्पर्शन आदि पांच इंद्रियां, शुभ अशुभ संकल्पविकल्पसे रहित आत्मासे विपरीत अनेकसंकल्पविकश्पसमूहरूप जो मन और शुद्धात्मतत्त्वकी अनुभूतिसे भिन्न जो रागद्वेषमोहादिरूप सब विभाव ये सब आत्मासे जुदे हैं तथा वीतरागपरमानंद सुखरूप अमृतसे परान्मुख जो समस्त चतुर्गतिके दुःख महान् दु खदायी वे सब जीवपदार्थसे भिन्न है । ये सभी अशुद्धनिश्चयनयकर आत्मज्ञानके अभावसे उपार्जन किये हुए कर्मोंसे जीवके उत्पन्न हुए हैं । इसलिये ये सब अपने नही है कर्म जनित हैं । यहांपर परमात्मद्रव्यसे विपरीत जो पांच इंद्रियोंको आदि लेकर सब विकल्पजाल है वे तो त्यागने योग्य है, उससे विपरीत पांच इंद्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको आदि लेकर सब विकल्पजालोंसे रहित अपना शुद्धात्मतत्त्व वही परमसमाधिके समय साक्षात् उपादेय है । यह तात्पर्य जानना ॥ ६३ ॥

अथ सांसारिकसमस्तसुखदुःखानि शुद्धनिश्चयनयेन जीवानां कर्म जनयतीति निरूपयति,—

दुक्खुवि सुक्खुवि बहुविहउ, जीवहं कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर, णिच्छउ एउ भणेइ ॥ ६४ ॥

दुःखमपि सुखमपि बहुविधं जीवानां कर्म जनयति ।
आत्मा पश्यति मनुते परं निश्चयः एवं भणति ॥ ६४ ॥

दुक्खुवि सुक्खुवि बहुविहउ जीवहं कम्मु जणेइ दुःखमपि सुखमपि । कथंभूतं । बहुविधं जीवानां कर्म जनयति । **अप्पा देखइ मुणइ पर णिच्छउ एउ भणेइ** आत्मा पुनः पश्यति जानाति परं नियमेन निश्चयनयः एवं ब्रुवते इति । तथाहि—अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकवीतरागसौख्यात् प्रतिकूलं सांसारिकसुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयेन कर्मजनितं भवति । आत्मा पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थः सन् वस्तु वस्तुस्वरूपेण पश्यति जानाति च न च रागादिकं करोति । अत्र पारमार्थिकसुखाद्विपरीतं सांसारिकसुखदुःखविकल्पजालं हेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ६४ ॥

अथ निश्चयेन बंधमोक्षौ कर्म करोतीति प्रतिपादयति,—

बंधुवि मोक्खुवि सयलु जिय, जीवहं कम्मु जणेइ ।
अप्पा किंपिवि कुणइ णवि, णिच्छउ एउ भणेइ ॥ ६५ ॥

आगे संसारके सब सुखदुःख शुद्धनिश्चयनयसे शुभ अशुभ कर्मोंकर उत्पन्न होते हैं और कर्मोंको ही उपजाते है जीवके नही है ऐसा कहते है,—[**जीवानां**] जीवोंके [**बहुविधं**] अनेक तरहके [**दुःखमपि सुखं अपि**] दुःख और सुख दोनों ही [**कर्म**] कर्म ही [**जनयति**] उपजाता है । [**आत्मा**] और आत्मा [**पश्यति**] उपयोगमई होनसे देखता है [**परं मनुते**] और केवल जानता है [**एवं**] इस प्रकार [**निश्चयः**] निश्चयनय [**भणति**] कहता है अर्थात् निश्चयनयसे भगवानने ऐसा कहा है । **भावार्थ**—आकुलतारहित परमार्थिक वीतरागसुखसे परान्मुख (उलटो) जो ससारके सुखदुःख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयकर जीवसबंधी है तौभी शुद्धनिश्चयनयकर जीवने उपजाये नही हैं इसलिये जीवके नही हैं कर्मसयोगकर उत्पन्न हुए है । और आत्मा तो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थिर हुआ वस्तुको वस्तुके स्वरूप देखता है जानता है रागादिकरूप नहीं होता उपयोगरूप है ज्ञाता द्रष्टा है परम आनंदरूप है । यहा पारमार्थिक सुखसे उलटा जो इंद्रीजनित ससारका सुखदुःख आदि विकल्पसमूह है वह त्यागने योग्य है ऐसा भगवानने कहा है यह तात्पर्य है ॥ ६४ ॥

आगे निश्चयनयकर बंध और मोक्ष कर्मजनित ही है कर्मके योगसे बंध और कर्मके

वंधमपि मोक्षमपि सकलं जीव जीवानां कर्म जनयति ।
आत्मा किमपि करोति नैव निश्चय एवं भणति ॥ ६५ ॥

बंधुवि मोक्खुवि सयलु जिय जीवहं कम्मु जणेइ वंधमपि मोक्षमपि समस्तं हे जीव जीवानां कर्म कर्तृ जनयति **अप्पा किंपिवि कुणइ णवि णिच्छउ एउ भणेइ** आत्मा किमपि न करोति वंधमोक्षस्वरूपं निश्चय एवं भणति । तद्यथा । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यवंधं तथैवाशुद्धनिश्चयेन भाववंधं तथा नयद्वयेन द्रव्यभावमोक्षमपि यद्यपि जीवः करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धनिश्चयनयेन न करोत्येव भणति । कोसौ । निश्चय इति । अत्र य एव शुद्धनिश्चयेन वंधमोक्षौ न करोति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ६५ ॥

अथ स्थलसंख्यावाह्यं प्रक्षेपकं कथयति,—

सो णत्थित्ति पएसो चउरासीजोणिलक्खमज्झम्मि ।
जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो ॥ ६६ ॥ क्षे०

स नास्त्यत्र प्रदेशः चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ।
जिनवचनं न लभमानः यत्र न भ्रमितः जीवः ॥ ६६ ॥

सो णत्थित्ति पएसो स प्रदेशो नास्त्यत्र जगति । स किं । **चउरासी जोणिलक्खमज्झम्मि जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो** चतुरशीतियोनिलक्षेपु मध्ये

वियोगसे मोक्ष है ऐसा कहते हैं,—[**हे जीव**] हे जीव [**वंधमपि**] वंधको [**मोक्षमपि**] और मोक्षको [**सकलं**] सबको [**जीवानां**] जीवोंके [**कर्म**] कर्म ही [**जनयति**] करता है [**आत्मा**] आत्मा [**किमपि**] कुछ भी [**नैव करोति**] नहीं करता [**निश्चयः**] निश्चयनय [**एवं**] ऐसा [**भणति**] कहता है अर्थात् निश्चयनयसे भगवानने ऐसा कहा है । **भावार्थ**—अनादिकालकी सबधवाली अयथार्थस्वरूप अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयसे ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मवंध और अशुद्धनिश्चयनयसे रागादि भावकर्मके वंधको तथा दोनों नयोंसे द्रव्यकर्म भावकर्मकी मुक्तिको यद्यपि जीव करता है तौभी शुद्धपारिणामिकपरमभावके ग्रहण करनेवाले शुद्धनिश्चयनयसे नही करताहै वंध और मोक्षसे रहित है ऐसा भगवानने कहा है । यहां जो शुद्धनिश्चयनयकर वंध और मोक्षका कर्ता नहीं वही शुद्धात्मा आराधने योग्य है ॥ ६५ ॥

आगे दोहासूत्रोंकी स्थलसंख्यासे वाहर उक्तंच स्वरूप प्रक्षेपकको कहते हैं;—[**अत्र**] इस जगतमें [**स कः अपि**] ऐसा कोई भी [**प्रदेशः नास्ति**] प्रदेश (स्थान) नही है कि [**यत्र**] जिस जगह [**चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये**] चौरासीलाख योनिमें होकर [जि-

भूत्वा जिनवचनमलभमानो यत्र न भ्रमितो जीव इति । तथाहि । भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानः सन्नयं जीवोऽनादिकाले यत्र चतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये भूत्वा न भ्रमितः सोत्र जगति कोपि प्रदेशो नास्ति इति । अत्र यदेव भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानो भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयात्मसुखप्रतिपादकत्वादुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ६६ ॥

अथात्मा पंगुवत् स्वयं न याति न चैति कर्मैव नयत्यानयति चेति कथयति,—

अप्पा पंगुह अणुहरइ, अप्पु ण जाइ ण एइ ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय, विहि आणइं विहि णेइ ॥ ६७ ॥

आत्मा पंगोः अनुहरति आत्मा न याति न आयाति ।
भुवनत्रयस्य अपि मध्ये जीव विधिः आनयति विधिः नयति ॥ ६७ ॥

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पुण जाइ ण एइ आत्मा पंगोरनुहरति सदृशो भवति अयमात्मा न याति न चागच्छति । क । **भुवणत्तयहंवि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ** भुवनत्रयस्यापि मध्ये हे जीव विधिरानयति विधिर्नयतीति । तद्यथा । अयमात्मा शुद्धनिश्चयेनानंतवीर्यत्वान् शुभाशुभकर्मरूपनिगलद्वयरहितोपि व्यवहारेण अनादिसंसारे स्वशुद्धात्मभावनाप्रतिबंधकेन मनोवचनकायत्रयेणोपार्जितेन कर्मणा निर्मितेन पुण्यपापनिगलद्वयेन दृढतरं बद्धः सन् पंगुवद्भूत्वा स्वयं न याति न चागच्छति स एवात्मा परमात्मोपलंभप्रतिपक्षभूतेन विधिशब्दवाच्येन कर्मणा भुवनत्रये नीयते तथैवानीयते चेति । अत्र

नवचनं अलभमानः] जिनवचनको नही प्राप्त करताहुआ [**जीवः**] यह जीव [**न भ्रमितः**] नही भटका । **भावार्थ**—इस जगतमें कोई ऐसा स्थान नही रहा कि जहांपर यह जीव निश्चय व्यवहार रत्नत्रयको कहनेवाले जिनवचनको नहीं पाता हुआ अनादिकालसे चौरासीलाखयोनिमे होकर न घूमा हो अर्थात् जिनवचनकी प्रतीति न करनेसे सब जगह और सब योनियोंमें भ्रमणकिया जन्म मरण किये । यहां यह तात्पर्य है कि जिनवचनके न पानेसे यह जीव जगतमें भ्रमा इसलिये जिनवचन ही आराधने योग्य है ॥ ६६ ॥

आगे आत्मा पांगलेकी तरह आप न तो कहीं जाता है और न आता है कर्मही इसको ले जाते हैं और ले आते है ऐसा कहते हैं,—[**हे जीव**] हे जीव [**आत्मा**] यह आत्मा [**पंगोः अनुहरति**] पागलेके समान है [**आत्मा**] आप [**न याति**] न कहीं जाता है [**न आयाति**] न आता है [**भुवनत्रयस्य अपि मध्ये**] तीनों लोकमें इस जीवको [**विधिः**] कर्म ही [**नयति**] ले जाता है [**विधिः**] कर्म ही [**आनयति**] ले आता है । **भावार्थ**—यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे अनंतवीर्य (बल)का धारण कर-

१०

वीतरागसदानंदैकरूपात्सर्वप्रकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्भिन्नं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्धेयमिति भावार्थः ॥ ६७ ॥ इति कर्मशक्तिस्वरूपकथनस्थले सूत्राष्टकं गतं ।

अत ऊर्ध्वं भेदाभेदभावनामुख्यतया पृथक् पृथक् स्वतंत्रसूत्रनवकं कथयति;—

अप्पा अप्पुजि परु जि परु, अप्पा परु जि ण होइ ।
परु जि कयाइवि अप्पु णवि, णियमिं पभणहिं जोइ ॥ ६८ ॥

आत्मा आत्मा एव परः एव परः आत्मा परः एव न भवति ।
पर एव कदाचिदपि आत्मा नैव नियमेन प्रभणंति योगिनः ॥ ६८ ॥

अप्पा अप्पु जि परु जि परु, अप्पा परु जि ण होइ आत्मात्मैव पर एव परः आत्मा पर एव न भवति **परु जि कयाइवि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोइ** पर एव कदाचिदप्यात्मा नैव भवति नियमेन निश्चयेन भणंति कथयंति। के कथयंति । परमयोगिन इति । तथाहि । शुद्धात्मा केवलज्ञानादिस्वभावः शुद्धात्मात्मैव परः कामक्रोधादिस्वभावः पर एव पूर्वोक्तः । परमात्माभिधानं तदेकस्वस्वभावं त्यक्त्वा कामक्रोधादिरूपो न भवति। कामक्रोधादिरूपः परः क्वापि काले शुद्धात्मा न भवतीति परमयोगिनः कथयंति । अत्र मोक्षसुखादुपादेयभूतादभिन्नः कामक्रोधादिभ्यो भिन्नो यः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६८॥

नेवाला होनेसे शुभ अशुभकर्मरूपबंधनसे रहित है तौभी व्यवहारनयसे इस अनादि संसारमे निजशुद्धात्माकी भावनासे विमुख जो मन वचन काय इन तीनोंसे उपार्जे कर्मोंकर उत्पन्न हुए पुण्यपापरूप बंधनोंकर अच्छीतरह बंधा हुआ पांगलेके समान आप न कही जाता है न कही आता है । जैसे वंदीवान आपसे न कही जाता है और न कही आता है चौकीदारोकर ले गया जाता है और आता है आप तो पांगलेके समान है । वही आत्मा परमात्माकी प्राप्तिके रोकनेवाले चतुर्गतिरूपसंसारके कारणस्वरूप कर्मोंकर तीन जगतमें गमन आगमन करता है एक गतिसे दूसरी गतिमें जाता है । यहां सारांश यह है कि वीतराग परम आनंदरूप तथा सबतरह उपादेयरूप परमात्मासे (अपने स्वरूपसे) भिन्न जो शुभ अशुभ कर्म है वे त्यागने योग्य हैं ॥ ६७ ॥

इस प्रकार कर्मकी शक्तिके स्वरूपके कहनेकी मुख्यतासे आठवें स्थलमें आठ दोहा कहे । इससे आगे भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाकी मुख्यतासे जुदे २ स्वतंत्र नौ सूत्र कहते हैं;—[आत्मा] निजवस्तु [आत्मा एव] आत्मा ही है [परः] देहादि पदार्थ [पर एव] पर ही हैं [आत्मा] आत्मा तो [परः न एव] परद्रव्य नहीं [भवति] होता [पर एव] और परद्रव्य भी [कदाचिदपि] कभी [आत्मा न एव] आत्मा नही होता ऐसा [नियमेन] निश्चयकर [योगिनः] योगीश्वर [प्रभणंति] कहते है । भावार्थ—शुद्धात्मा तो केवलज्ञानादि स्वभाव है जडरूप नही है उपाधिरूप नहीं है

अथ शुद्धनिश्चयेनोत्पत्तिर्मरणं बंधमोक्षौ न करोत्यात्मेति प्रतिपादयति,—

णवि उप्पज्जइ णवि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थें जोइया, जिणवरु एउ भणेइ ॥ ६९ ॥

नापि उत्पद्यते नापि म्रियते बंधं न मोक्षं करोति ।
जीवः परमार्थेन योगिन् जिनवरः एवं भणति ॥ ६९ ॥

नाप्युत्पद्यते नापि म्रियते बंधमोक्षं च न करोति । कोसौ कर्ता । जीवः । केन । परमार्थेन हे योगिन् जिनवर एवं ब्रूते कथयति । तथाहि । यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य जीवितमरणशुभाशुभबंधान् करोति । शुद्धात्मानुभूति-सद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभाव-ग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन न करोति । अत्राह शिष्यः । यदि शुद्धद्रव्यार्थिकलक्षणेन शुद्धनिश्चयेन मोक्षं च न करोति तर्हि शुद्धनयेन मोक्षो नास्तीति तदर्थमनुष्ठानं वृथा । परिहारमाह । मोक्षो हि बंधपूर्वकः स च बंधः शुद्धनिश्चयेन नास्ति तेन कारणेन बंधप्र-तिपक्षभूतो मोक्षः सोपि शुद्धनिश्चयेन नास्ति यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदा

शुद्धात्मस्वरूपही है । पर जो कामक्रोधादि पर वस्तु भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म हैं वे पर ही हैं अपने नहीं हैं, जो यह आत्मा ससार अवस्थामें यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयकर काम-क्रोधादिरूप हो गया है तौभी परमभावके ग्राहक शुद्धनिश्चयनयकर अपने ज्ञानादि निज-भावको छोड़कर कामक्रोधादिरूप नही होता अर्थात् निजभावरूप ही है । ये रागादिविभा-वपरिणाम उपाधिक हैं परके सबंधसे हैं निजभाव नही है इसलिये आत्मा कभी इन रागादिरूप नही होता ऐसा योगीश्वर कहते हैं । यहां उपादेयरूप मोक्षसुख (अतींद्रिय सुख) से तन्मय और काम क्रोधादिकसे भिन्न जो शुद्धात्मा है वही उपादेय है ऐसा अभिप्राय है ॥ ६८ ॥

आगे शुद्धनिश्चयनयकर आत्मा जन्म मरण बंध और मोक्षको नही करता है जैसा है वैसा ही है ऐसा निरूपण करते है;—[**हे योगिन्**] हे योगीश्वर [**परमार्थेन**] निश्चयनयकर विचारा जावे तो [**जीवः**] यह जीव [**नापि उत्पद्यते**] न तो उत्पन्न होता है [**नापि म्रियते**] न मरता है [**च**] और [**न बंधं मोक्षं**] न बंध मोक्षको [**करोति**] करता है अर्थात् शुद्ध निश्चयसे बंधमोक्षसे रहित है [**एवं**] ऐसा [**जिन-वरः**] जिनेन्द्रदेव [**भणति**] कहते हैं । भावार्थ—यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूतिके अभावके होनेपर शुभअशुभ उपयोगोंसे परिणमनकरके जीवन मरण शुभअशुभकर्मबंधको करता है और शुद्धात्मानुभूतिके प्रगट होनेपर शुद्धोपयोगसे परिणत होकर मोक्षको करता है, तौभी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर न बंधका कर्ता है और

सर्वदैव बंध एव । अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाह । एकः कोपि पुरुषः शृंखलाबद्धस्तिष्ठति द्वितीयस्तु बंधनरहितस्तिष्ठति । यस्य बंधभावो मुक्त इति व्यवहारो घटते, द्वितीयं प्रति मोक्षो जातो भवत इति यदि भण्यते तदा कोपं करोति । कस्माद्बंधाभावे मोक्षवचनं कथं घटत इति । तथा जीवस्यापि शुद्धनिश्चयेन बंधाभावे मुक्तवचनं न घटते इति । अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो मुक्तजीवसदृशः स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ६९ ॥

अथ निश्चयनयेन जीवस्योद्भवजरामरणरोगलिंगवर्णसंज्ञा नास्तीति कथयंति;—

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु, रोयवि लिंगवि वण्ण ।
णियमिं अप्पु वियाणि तुहुं, जीवहं एक्कवि सण्ण ॥ ७० ॥

अस्ति न उद्भवः जरामरणः रोगाः अपि लिंगान्यपि वर्णाः ।
नियमेन आत्मन् विजानीहि त्वं जीवस्य एकापि संज्ञा ॥ ७० ॥

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोयवि लिंगवि वण्ण अस्ति न न विद्यते । किं किं नास्ति । उब्भउ उत्पत्तिः जरामरणरोगा अपि लिंगान्यपि वर्णाः **णियमिं अप्पु वियाणि**

न मोक्षका कर्ता है । ऐसा कथनसुनकर शिष्यने प्रश्न किया कि हे प्रभो शुद्धद्रव्यार्थिकस्वरूप शुद्धनिश्चयनयकर मोक्षकाभी कर्ता नहीं है तो ऐसा समझना चाहिये कि शुद्धनयकर मोक्षही नही है जब मोक्ष नही तब मोक्षके लिये यत्न करना वृथा है । उसका उत्तर कहते हैं—मोक्ष है वह बंधपूर्वक है और बंध है वह शुद्धनिश्चयनयकर होता ही नहीं इसकारण बंधके अभावरूप मोक्ष है वह भी शुद्धनिश्चयनयकर नही है । जो शुद्धनिश्चयनयसे बंध होता तो हमेशा बंधा ही रहता कभी बंधका अभाव न होता । इसके बारेमें दृष्टांत कहते हैं—कोई एक पुरुष सांकलसे बंध रहा है और कोई एक पुरुष बंध रहित है उनमेंसे जो पहले बंधा था उसको तो 'मुक्त' (छूटा) ऐसा कहना ठीक मालूम पडता है और दूसरा जो बंधा ही नहीं उसको जो 'आप छूट गये' ऐसा कहा जाय तो वह क्रोध करै जो मै कब बंधाथा सो यह मुझे 'छूटा' कहता है, बंधा होवै वह छूटै इसलिये बंधेको तो मोक्ष कहना ठीक है और बंधा ही न हो उसे छूटा कैसे कहसकते हैं । उसी प्रकार यह जीव शुद्धनिश्चयनयकर बंधा हुआ नही है इसकारण मुक्त कहना ठीक नही है । बंध भी व्यवहारनयकर और मुक्ति भी व्यवहारनयकर है, शुद्धनिश्चयनयकर न बंध है न मोक्ष है और अशुद्धनयकर बंध है इसलिये बंधके नाशका यत्न भी अवश्य करना चाहिये । यहां यह अभिप्राय है कि सिद्धसमान यह अपना शुद्धात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लीन पुरुषोंको उपादेय है अन्य सब हेय हैं ॥ ६९ ॥

आगे निश्चयनयकर जीवके जन्म जरा मरण रोग लिंग वर्ण और संज्ञा नहीं है आत्मा

तुहुं जीवहं एक्कवि सण्ण नियमेन निश्चयेन हे आत्मन् हे जीव विजानीहि त्वं । कस्य नास्ति । जीवस्य न केवलमेतन्नास्ति संज्ञापि नास्तीति । अत्र संज्ञाशब्देनाहारादिसंज्ञा नामसंज्ञा वा ग्राह्या । तथाहि । वीतरागनिर्विकल्पसमाधेर्विपरीतैः क्रोधमानमायालोभप्रभृतिविभावपरिणामैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान्युद्भवादीनि शुद्धनिश्चयेन न संति जीवस्य । ते कस्मान्न संति । केवलज्ञानाद्यनंतगुणैः कृत्वा निश्चयेनानादिसंतानागतोद्भवादिभ्यो भिन्नत्वादिति । अत्र उपादेयरूपानंतसुखाविनाभूतशुद्धजीवात्तच्छकाशाद्यानि भिन्नान्युद्भवादीनि तानि हेयानीति तात्पर्यार्थः ॥ ७० ॥

यद्युद्भवादीनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न संति तर्हि कस्य संतीति प्रश्ने देहस्य भवंतीति प्रतिपादयति,—

देहहं उब्भउ जरमरणु, देहहं वण्णु विचित्तु ।
देहहं रोय वियाणि तुहुं, देहहं लिंगु विचित्तु ॥ ७१ ॥

देहस्य उद्भवः जरा मरणं देहस्य वर्णः विचित्रः ।
देहस्य रोगान् विजानीहि त्वं देहस्य लिंगं विचित्रं ॥ ७१ ॥

देहस्य भवति । किं किं । उब्भउ उत्पत्तिः जरामरणं च वर्णो विचित्रः । वर्णशब्देनात्र

इन सब विकारोंसे रहित है ऐसा कहते हैं;—[हे आत्मन्] हे जीव आत्माराम [जीवस्य] जीवके [उद्भवः न] जन्म नही [अस्ति] है [जरामरणः] जरा मरण [रोगा अपि] रोगभी [लिंगान्यपि] चिन्ह भी [वर्णाः] वर्ण [एका संज्ञा अपि] आहारादिक एकभी संज्ञा वा नाम नहीं है ऐसा [त्वं] तू [नियमेन] निश्चयकर [विजानीहि] जान । भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसे विपरीत जो क्रोध मान माया लोभ आदि विभाव परिणाम उनकर उपार्जन किये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए जन्ममरण आदि अनेक विकार है वे शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नही है, क्योंकि निश्चयनयकर आत्मा केवलज्ञानादि अनंत गुणोंकर पूर्ण है और अनादिसतानसे प्राप्त जन्म जरा मरण रोग शोक भय, स्त्री पुरुष नपुंसकलिंग, सफेद काला वगैरः वर्ण, आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञा—इन सबोंसे भिन्न है । यहां उपादेयरूप अनंतसुखका धाम जो शुद्धजीव उससे भिन्न जन्मादिक है वे सब त्याज्य हैं एक आत्मा ही उपादेय है यह तात्पर्य जानना ॥ ७० ॥

आगे जो शुद्धनिश्चयनयकर जन्ममरणादि जीवके नही है तो किसके है ऐसा शिष्यके प्रश्न करनेपर समाधान यह है कि ये सब देहके है ऐसा कथन करते है,—श्रीगुरु कहते है कि हे शिष्य [त्वं] तू [देहस्य] देहके [उद्भवः] जन्म [जरा मरणं] जरा मरण होते है अर्थात् नया शरीर धरना विद्यमान शरीर छोडना वृद्ध

पूर्वसूत्रे च श्वेतादि ब्राह्मणादि वा गृह्यते तस्यैव देहस्य रोगान् विजानीहीति लिंगमपि लिंगशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च स्त्रीपुंनपुंसकलिंगं यतिलिंगं वा ग्राह्यं चित्तं मनश्चेति । तद्यथा—शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयभावनाप्रतिकूलै रागद्वेषमोहैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयसंपन्ना जन्ममरणादिधर्मा यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्य संति तथापि निश्चयनयेन देहस्येति ज्ञातव्यं । अत्र देहादिममत्वरूपविकल्पजालं त्यक्त्वा यदा वीतराग-सदानंदैकरूपेण सर्वप्रकारोपादेयभूतेन परिणमति तदा स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः॥७१

अथ देहस्य जरामरणं दृष्ट्वा मा भयं जीव कार्षीरिति निरूपयति,—

देहहं पेक्खिवि जरमरणु, मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बंभु परु, सो अप्पाणु मुणेहि ॥ ७२ ॥

देहस्य दृष्ट्वा जरामरणं मा भयं जीव कार्षीः ।
यः अजरामरः ब्रह्म परः तं आत्मानं मन्यस्व ॥ ७२ ॥

देहहं पेक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि देहसंबंधि दृष्ट्वा । किं । जरामरणं मा भयं कार्षीः हे जीव । अयमर्थो यद्यपि व्यवहारेण जीवस्य जरामरणं तथापि शुद्धनि-श्चयेन देहस्य न च जीवस्येति मत्वा भयं मा कार्षीः । तर्हि किं कुरु । **जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि** यः कश्चिदजरामरो जरामरणरहितब्रह्मशब्दवाच्यः शुद्धात्मा ।

अवस्था होना ये सब देहके जानो [देहस्य] देहके [विचित्रः वर्णः] अनेकतरहके सफेद श्याम हरे पीले लालरूप पांचवर्ण अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार वर्ण [देहस्य] देहके [रोगान्] वात पित्त कफ आदि अनेक रोग [देहस्य] देहके [विचित्रं लिंगं] अनेक प्रकारके स्त्रीलिंग पुरुषलिंग नपुंसकलिंग रूप चिन्हको अथवा यतिके लिंगको और द्रव्यमनको [विजानीहि] जान । **भावार्थ**—शुद्धात्माका सच्चा श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेद रत्नत्रयकी भावनासे विमुख जो रागद्वेषमोह उनकर उ-पार्जे जो कर्म उनसे उपजे जन्ममरणादिविकार है वे सब यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके है तौभी निश्चयनयकर जीवके नही है देहसंबंधी है ऐसा जानना चाहिये । यहांपर देहादि-कमें ममतारूप विकल्पजालको छोड़कर जिससमय यह जीव वीतराग सदा आनंदरूप सबतरह उपादेयरूप निजभावोंकर परिणमता है तब अपना यह शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसा अभिप्राय जानो ॥ ७१ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि हे जीव तू जरा मरण देहके जानकर डर मत करै;—[हे जीव] हे आत्माराम तू [देहस्य] देहके [जरामरणं] बुढापा मरनेको [दृष्ट्वा] देखकर [भयं] डर [मा कार्षीः] मत करै [यः] जो [अजरामरः] अजर अमर

कथंभूतः । परः सर्वोत्कृष्टस्तमित्थंभूतं परं ब्रह्मस्वभावमात्मानं जानीहि पंचेंद्रियविषयप्रभृतिसमस्तविकल्पजालं मुक्त्वा परमसमाधौ स्थित्वा तमेव भावयेति भावार्थः ॥ ७२ ॥

अथ देहे छिद्यमानेपि भिद्यमानेपि शुद्धात्मानं भावयेत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं प्रतिपादयति,—

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ, जोइय एहु सरीरु ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ, जिं पावहि भवतीरु ॥ ७३ ॥

छिद्यतां भिद्यतां यातु क्षयं योगिन् इदं शरीरम् ।
आत्मानं भावय निर्मलं येन प्राप्नोसि भवतीरं ॥ ७३ ॥

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु छिद्यतां वा द्विधा भवतु भिद्यतां वा छिद्री भवतु क्षयं वा यातु हे योगिन् इदं शरीरं तथापि त्वं किं कुरु । **अप्पा भावहि णिम्मलउ** आत्मानं वीतरागचिदानंदैकस्वभावं भावय । किं विशिष्टं । निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं । येन किं भवति । **जिं पावहि भवतीरु** येन परमात्मध्यानेन प्राप्नोसि लभसे त्वं हे जीव । किं । भवतीरं संसारसागरावसानमिति । अत्र योसौ देहस्य छेदनादिव्यापारेपि रागद्वेषादिक्षोभमकुर्वन् सन् शुद्धात्मानं भावयतीति संपादनादर्वाङ्मोक्षं स गच्छतीति भावार्थः ॥ ७३ ॥

[परः ब्रह्म] परम ब्रह्म शुद्धस्वभाव है [तं] उसको तू [आत्मानं] आत्मा [मन्यस्व] जान । भावार्थ—यद्यपि व्यवहार नयसे जीवके जरा मरण हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नहीं हैं देहके हैं ऐसा जानकर भय मत करै तू अपने चित्तमें ऐसा समझ कि जो कोई जरा मरणरहित अखंड पर ब्रह्म है वैसा ही मेरा स्वरूप है शुद्धात्मा सबसे उत्कृष्ट है ऐसा तू अपना स्वभाव जान । पाच इंद्रियोंके विषयोंको आदिदे समस्त विकल्पजालोंको छोड़कर परमसमाधिमें स्थिर होकर निज आत्माको ही ध्याय यह तात्पर्य हुआ ॥ ७२ ॥

आगे जो देह छिद जावे भिद जावे क्षय हो जावे तौभी तू भय मत करै केवल शुद्ध आत्माका ध्यानकर ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर सूत्र कहते है—[हे योगिन्] हे योगी [इदं शरीरं] यह शरीर [छिद्यतां] छिदजावै दो टुकडे हो जावें [भिद्यतां] अथवा भिद जावै छेदसहित हो जावै [क्षयं यातु] नाशको प्राप्त होवै तौभी तू भय मतकरै मनमें खेद मत लावै [निर्मलं आत्मानं] अपने निर्मल आत्माका ही [भावय] ध्यानकर अर्थात् वीतराग चिदानंद शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मसे रहित अपने आत्माका चिंतवन कर [येन] जिस परमात्माके ध्यानसे तू [भवतीरं] भवसागरका पार [प्राप्नोसि] पावै । भावार्थ—जो देहके छेदनादि कार्य होते भी रागद्वेषादि वि-

अथ कर्मकृतभावानचेतनं द्रव्यं च निश्चयनयेन जीवाद्भिन्नं जानीहीति कथयति,—

कम्महं केरा भावडा, अण्णु अचेयणु दव्वु ।
जीवसहावहं भिण्णु जिय, णियमिं बुज्झहि सव्वु ॥ ७४ ॥

कर्मणः कृता भावाः अन्यत् अचेतनं द्रव्यं ।
जीवस्वभावात् भिन्नं जीव नियमेन बुध्यस्व सर्वं ॥ ७४ ॥

कम्महं केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु कर्मसंबंधिनो रागादि भावानन्यं चाचेतनं देहादिद्रव्यं एतत्पूर्वोक्तं **अप्पसहावहं भिण्णु जिय** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपादात्मस्वभावान्निश्चयेन भिन्नं पृथग्भूतं हे जीव **णियमिं बुज्झहि सव्वु** नियमेन निश्चयेन बुध्यस्व जानीहि सर्वं समस्तमिति । अत्र मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिवृत्तिपरिणामकाले शुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ७४ ॥

अथ ज्ञानमयपरमात्मनः सकाशादन्यत्परद्रव्यं मुक्त्वा शुद्धात्मानं भावयेति निरूपयति;-

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ, अण्णु परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुं, भावहि अप्पसहाउ ॥ ७५ ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यः परः भावः ।
तं छंडयित्वा जीव त्वं भावय आत्मस्वभावं ॥ ७५ ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ आत्मानं मुक्त्वा । किं विशिष्टं । ज्ञानमयं केवलज्ञानांतर्भूतानंतगुणराशि निश्चयात् अन्यो भिन्नोऽभ्यंतरे मिथ्यात्वरागादि

कल्प नहीं करता निर्विकल्प भावको प्राप्त हुआ शुद्ध आत्माको ध्यावता है वह थोड़े ही समयमें मोक्षको पाता है ॥ ७३ ॥

आगे ऐसा कहते हैं जो कर्मजनितरागादिभाव और शरीरादि पर वस्तु हैं वे चेतन द्रव्य न होनेसे निश्चयनयकर जीवसे भिन्न हैं ऐसा जानो;—[हे जीव] हे जीव [कर्मणः कृता भावाः] कर्मोंकर जन्य रागादिक भाव और [अन्यत्] दूसरा [अचेतनं द्रव्यं] शरीरादिक अचेतन पदार्थ [सर्वं] इन सबको [नियमेन] निश्चयसे [जीवस्वभावात्] जीवके स्वभावसे [भिन्नं] जुदे [बुध्यस्व] जानो अर्थात् ये सब कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं आत्माका स्वभाव निर्मलज्ञानदर्शनमई है । भावार्थ—यह है कि जो मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय योगोंकी निवृत्तिरूप परिणाम हैं उस समय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ॥ ७४ ॥

आगे ज्ञानमई परमात्मासे भिन्न परद्रव्यको छोड़कर तू शुद्धात्माका ध्यानकर ऐसा कहते हैं;—[हे जीव] हे जीव [त्वं] तू [ज्ञानमयं] ज्ञानमई [आत्मानं] आ-

वहिर्विषये देहादिपरभावः **सो छंडेविणु जीव तुहुं भावहि अप्पसहाउ** तं पूर्वोक्तं शुद्धात्मनो विलक्षणं परभावं छंडयित्वा त्यक्त्वा हे जीव त्वं भावय । कं । स्वशुद्धात्मस्वभावं । किं विशिष्टं । केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकमभेदरत्नत्रयात्मककारणसमयसारपरिणतमिति । अत्र तमेवोपादेयं जानीहीत्यभिप्रायः ॥ ७५ ॥

अथ निश्चयेनाष्टकर्मसर्वदोषरहितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहितमात्मानं जानीहीति कथयति,—

अट्ठहं कम्महं बाहिरउ, सयलहं दोसहं चत्तु ।
दंसणणाणचरित्तमउ, अप्पा भावि णिरुत्तु ॥ ७६ ॥

अष्टाभ्यः कर्मभ्यः बाह्यं सकलैः दोषैः त्यक्तं ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयं आत्मानं भावय निश्चितं ॥ ७६ ॥

अट्ठहं कम्महं बाहिरउ सयलहं दोसहं चत्तु अष्टकर्मभ्यो बाह्यं शुद्धनिश्चयेन ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मभ्यो भिन्नं मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपसर्वदोषैस्त्यक्तं । पुनश्च किं विशिष्टं । **दंसणणाणचरित्तमउ** दर्शनज्ञानचारित्रमयं शुद्धोपयोगाविनाभूतैः स्वशुद्धात्मसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्निर्वृत्तं **अप्पा भावि णिरुत्तु** तमित्थंभूतमात्मानं भावय । दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा भावयेत्यर्थः । णिरुत्तु निश्चितं । अत्र निर्वाणसुखादुपादेयभूतादभिन्नः समस्तभावकर्मद्रव्यकर्मभ्यो भिन्नो योसौ शुद्धात्मा स एवाभेदरत्नत्रयपरिणतानां भव्यानामुपादेय इति भावार्थः ॥ ७६ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये पृथक् पृथक् स्वतंत्रं भेदभावनास्थलसूत्रनवकं गतं ।

त्माको [मुक्त्वा] छोड़कर [अन्यः परः भावः] अन्य जो दूसरे भाव हैं [तं] उनको [छंडयित्वा] छोडकर [आत्मस्वभावं] अपने शुद्धात्मस्वभावको [भावय] चिंतवनकर भावार्थ—केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकी राशि आत्मासे जुदे जो मिथ्यात्वरागादि अंदरके भाव तथा देहादि वाहिरके पर भाव ऐसे जो शुद्धात्मासे विलक्षण परभाव हैं उनको छोड़कर केवल ज्ञानादि अनंतचतुष्टयरूप कार्यसमयसारका साधक जो अभेदरत्नयरूप कारण समयसार है उस रूप परिणत हुए अपने शुद्धात्मस्वभावको चिंतवन कर और उसीको उपादेय समझ, ऐसा हुआ ॥ ७५ ॥

आगे निश्चयनयकर आठ कर्म और सब दोषोंरहित सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रमई आत्माको तू जान ऐसा कहते हैं;—[अष्टाभ्यः कर्मभ्यः] शुद्धनिश्चयनयकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे [बाह्यं] रहित [सकलैः दोषैः] मिथ्यात्वरागादि सब विकारोंसे [त्यक्तं] रहित [दर्शनज्ञानचारित्रमयं] शुद्धोपयोगके साथ रहनेवाले अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप भावस्वरूप [आत्मानं] आत्माको [निश्चितं] निश्चयकर [भावय] चिंत-

तदनंतरं निश्चयसम्यग्दृष्टिमुख्यत्वेन स्वतंत्रसूत्रमेकं कथयति,—

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ, सम्मादिट्ठि हवेइ ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ, लहु कम्मइ मुच्चेइ ॥ ७७ ॥

आत्मना आत्मानं जानन् जीवः सम्यग्दृष्टिः भवति
सम्यग्दृष्टिः जीवः लघु कर्मणा मुच्यते ॥ ७७ ॥

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ आत्मनात्मानं जानन् सन् जीवो वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनांतरात्मना स्वशुद्धात्मानं जानन्ननुभवन् सन् जीवः कर्ता वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भवति । निश्चयसम्यक्त्वभावनायां फलं कथ्यते **सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइ मुच्चेइ** सम्यग्दृष्टिः जीवो लघु शीघ्रं ज्ञानावरणादिकर्मणा मुच्यते इति । अत्र येनैव कारणेन वीतरागसम्यग्दृष्टिः किल कर्मणा शीघ्रं मुच्यते तेनैव कारणेन वीतरागचारित्रानुकूलं शुद्धात्मानुभूत्यविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वमेव भावनीयमित्यभिप्रायः । तथाचोक्तं श्रीकुंदकुंदाचार्यैर्मोक्षप्राभृते निश्चयसम्यक्त्वलक्षणं—"सद्दव्वरवो सवणो सम्मादिट्ठी हवेइ णियमेण । सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठ कम्माइं" ॥ ७७ ॥

वन कर । **भावार्थ**—देखे सुने अनुभवे भोगोंकी अभिलाषारूप सब विभाव परिणामोंको छोड़कर निजस्वरूपका ध्यानकर । यहां उपादेयरूप अतींद्रियसुखसे तन्मई और सब भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मसे जुदा जो शुद्धात्मा है वही अभेद रत्नत्रयको धारण करनेवाले निकटभव्योंको उपादेय है ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ७६ ॥

ऐसें तीन प्रकार आत्माके कहनेवाले प्रथम महाधिकारमें जुदे जुदे स्वतंत्र भेदभावनाके स्थलमें नौ दोहासूत्र कहे । आगे निश्चयकर सम्यग्दृष्टीकी मुख्यतासे स्वतंत्र एक दोहासूत्र कहते हैं;—[**आत्मानं**] अपनेको [**आत्मना**] अपनेसे [**जानन्**] जानता हुआ यह [**जीवः**] जीव [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**भवति**] होता है [**सम्यग्दृष्टिः जीवः**] और सम्यग्दृष्टि हुआसंता [**लघु**] जल्दी [**कर्मणा**] कर्मोंसे [**मुच्यते**] छूट जाता है ॥ **भावार्थ**—यह आत्मा वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमें परिणत हुआ अंतरात्मा होकर अपनेको अनुभवता हुआ वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है तब सम्यग्दृष्टि होनेके कारणसे ज्ञानवरणादि कर्मोंकर शीघ्र ही छूट जाता है रहित हो जाता है । यहां जिस हेतु वीतराग सम्यग्दृष्टि होनेसे यह जीव कर्मोसे छूटकर सिद्ध हो जाता है इसीकारण वीतराग चारित्रके अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग सम्यक्त्व है वही ध्यावने योग्य है ऐसा अभिप्राय हुआ । ऐसा ही कथन श्रीकुंदकुंदाचार्यने मोक्षपाहुडिग्रंथमें निश्चयसम्यक्त्वके लक्षणमें किया है "सद्दव्वरओ" इत्यादि—उसका अर्थ यह है कि आत्मस्वरूपमें मगन

अत ऊर्ध्वं मिथ्यादृष्टिलक्षणकथनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तद्यथा;—

पज्जयरत्तउ जीवडउ, मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहुविहकम्मडा, जे संसारु भमेइ ॥ ७८ ॥

पर्यायरक्तो जीवः मिथ्यादृष्टिः भवति ।
बध्नाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं भ्रमति ॥ ७८ ॥

पज्जयरत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ पर्यायरक्तो जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति परमात्मानुभूतिरुचिप्रतिपक्षभूताभिनिवेशरूपा व्यावहारिकमूढत्रयादिपंचविंशतिमलांतर्भाविनी मिथ्या वितथा व्यलीका च सा दृष्टिरभिप्रायो रुचिः प्रत्ययः श्रद्धानं यस्य स भवति मिथ्यादृष्टिः । स च किं विशिष्टः । नरनारकादिविभावपर्यायरतः । तस्य मिथ्यापरिणामस्य फलं कथ्यते । **बंधइ बहुविहकम्मडा जें संसारु भमेइ** बध्नाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं भ्रमति येन मिथ्यात्वपरिणामेन शुद्धात्मोपलब्धेः प्रतिपक्षभूतानि बहुविधकर्माणि बध्नाति तैश्च कर्मभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पचप्रकारं संसार परिभ्रमतीति। तथा चोक्तं मोक्षप्राभृते निश्चयमिथ्यादृष्टिलक्षणं । "जो पुणु परदव्वुरओ मिच्छाइट्ठी हवेइ सो साहू । मिच्छत्तपरिणदो उण वज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं" ॥ पुनश्चोक्तं तैरेव । "जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइगत्ति णिद्दिट्ठा । आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेयव्वा" ॥ अत्र स्वसंवित्तिरूपाद्वीतरागसम्यक्त्वात् प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं हेयमिति भावार्थः ॥ ७८ ॥

हुआ जो यति वह निश्चयकर सम्यग्दृष्टि होता है फिर वह सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट आठ कर्मोंको क्षय करता है ॥ ७७ ॥

इसके बाद मिथ्यादृष्टिके लक्षणके कथनकी मुख्यतासे आठ दोहा कहते हैं;—[**पर्यायरक्तः जीवः**] शरीर आदि पर्यायमें लीन हुआ जो अज्ञानी जीव है वह [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि [**भवति**] होता है और फिर वह [**बहुविधकर्माणि**] अनेक प्रकारके कर्मोंको [**बध्नाति**] बांधता है [**यैः**] जिनसे कि [**संसारं**] ससारमें [**भ्रमति**] भ्रमण करता है । **भावार्थ**—परमात्माकी अनुभूतिरूप श्रद्धासे विमुख जो आठ मद आठ मल छह अनायतन तीन मूढता इन पचीस दोषोंकर सहित अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व परिणाम जिसके हैं वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है । वह मिथ्यादृष्टि नर नारकादि विभाव पर्यायोंमें लीन रहता है । उस मिथ्यात्व परिणामसे शुद्धात्माके अनुभवसे पराङ्मुख अनेक तरहके कर्मोंको बांधता है जिनसे कि द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूपी पाच प्रकारके ससारमें भटकता है । ऐसा कोई शरीर नही जो इसने न धारण किया हो, ऐसा कोई क्षेत्र नही है कि जहा न उपजा हो और मरण किया हो, ऐसा कोई काल नही है कि जिसमें इसने जन्म मरण न किये हों, ऐसा कोई भव नही जो इसने पाया

अथ मिथ्यात्वोपार्जितकर्मशक्तिं कथयति—

कम्मइं दिढघणचिक्कणइं, गरुवइं वज्जसमाइं ।
णाणवियक्खणु जीवडउ, उप्पहि पाडहि ताइं ॥ ७९ ॥

कर्माणि दृढघनचिक्कणानि गुरुकाणि वज्रसमानि ।
ज्ञानविचक्षणं जीवं उत्पथे पातयंति तानि ॥ ७९ ॥

कम्मइं दिढघणचिक्कणइं गरुवइं वज्जसमाइं कर्माणि भवंति । किं विशिष्टानि । दृढानि बलिष्टानि घनानि निबिडानि चिक्कणान्यपनेतुमशक्यानि विनाशयितुमशक्यानि गुरुकानि महांति वज्रसमान्यभेद्यानि च । इत्थंभूतानि कर्माणि किं कुर्वंति । **णाणवियक्खणु जीवडउ उप्पहिं पाडइं ताइं** ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पथे पातयंति । तानि कर्माणि युगपल्लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानाद्यनंतगुणविचक्षणं दक्षं जीवमभेदरत्नत्रयलक्षणान्निश्चयमोक्षमार्गात्प्रतिपक्षभूत उन्मार्गे पातयंतीति । अत्रायमेवाभेदरत्नत्रयरूपो निश्चयमोक्षमार्ग उपादेय इत्यभिप्रायः ॥ ७९ ॥

न हो और ऐसे अशुद्धभाव नहीं हैं जो इसके न हुए हों । इस तरह अनंत परावर्तन इसने किये हैं । ऐसाही कथन मोक्षपाहुडमें निश्चय मिथ्यादृष्टिके लक्षणमें श्रीकुंदकुंदाचार्यने कहा है—"जो पुण" इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप परद्रव्यमें लीन हो रहे हैं वो साधुके व्रत धारण करनेपर भी मिथ्यादृष्टि ही हैं सम्यग्दृष्टि नहीं और मिथ्यात्वकर परिणमते दुःखदेनेवाले आठ कर्मोंको बांधते हैं । फिर भी उन आचार्योंने ही मोक्षपाहुडमें कहा है—"जे पज्जयेसु" इत्यादि । उसका अर्थ यह है कि जो नर नारकादि पर्यायोंमें मगन होरहे हैं वे जीव परपर्यायमें रत मिथ्यादृष्टि हैं ऐसा भगवानने कहा है और जो उपयोग लक्षणरूप निजभावमें तिष्ठ रहे हैं वे स्वसमयरूप सम्यग्दृष्टि हैं ऐसा जानो । सारांश यह है कि जो परपर्यायमें रत हैं वे तो परसमय (मिथ्यादृष्टि) हैं और जो आत्मस्वभावमें लगे हुए हैं वे स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) हैं मिथ्यादृष्टि नहीं हैं । यहांपर आत्मज्ञानरूपी वीतराग सम्यक्त्वसे पराङ्मुख जो मिथ्यात्व है वह त्यागने योग्य है ॥ ७८ ॥

आगे मिथ्यात्वकर अनेक प्रकार उपार्जन किये कर्मोंसे यह जीव संसार वनमें भ्रमता है उस कर्मशक्तिको कहते हैं;—[**तानि कर्माणि**] वे ज्ञानावरणादि कर्म [**ज्ञानविचक्षणं**] ज्ञानादि गुणसे चतुर [**जीवं**] इस जीवको [**उत्पथे**] खोटे मार्गमें [**पातयंति**] पटकते (डालते) हैं । कैसे हैं वे कर्म! [**दृढघनचिक्कणानि**] बलवान हैं, बहुत हैं विनाशकरनेको अशक्य हैं इसलिये चिकने हैं [**गुरुकाणि**] भारी हैं [**वज्रसमानि**] और वज्रके समान अभेद्य हैं । भावार्थ—यह जीव एकसमयमें लोकालोकके

अथ मिथ्यापरिणत्या जीवो विपरीतं तत्त्वं जानातीति निरूपयति,—

जिउ मिच्छत्तें परिणमिउं, विवरिउ तच्चु मुणेइ ।
कम्मविणिम्मियभावडा, ते अप्पाणु भणेइ ॥ ८० ॥

जीवः मिथ्यात्वेन परिणतः विपरीतं तत्त्वं मनुते ।
कर्मविनिर्मितभावान् तान् आत्मानं भणति ॥ ८० ॥

जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ जीवो मिथ्यात्वेन परिणतः सन् विपरीतं तत्त्वं जानाति शुद्धात्मानुभूतिरुचिविलक्षणेन मिथ्यात्वेन परिणतः सन् जीवः परमात्मादितत्त्वं च यथावत् वस्तुस्वरूपमपि विपरीतं मिथ्यात्वरागादिपरिणतं जानाति । ततश्च किं करोति । **कम्मविणिम्मियभावडा ते अप्पाणु भणेइ** कर्मविनिर्मितान् भावान् तमात्मानं भणति विशिष्टभेदज्ञानाभावाद्गौरस्थूलकृषादिकर्मजनितदेहधर्मात्मानं जानातीत्यर्थः । अत्र तेभ्यः कर्मजनितभावेभ्यो भिन्नो रागादिनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति तात्पर्य ॥ ८० ॥

प्रकाशनेवाले केवलज्ञान आदिक अनंत गुणोंसे बुद्धिमान चतुर है तौभी इस जीवको वे संसारके कारण कर्म ज्ञानादि गुणोंका आच्छादनकरके अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्गसे विपरीत खोटे मार्गमें डालते है अर्थात् मोक्षमार्गसे भुलाकर भववनमें भटकाते हैं । यहा यह अभिप्राय है कि संसारके कारण जो कर्म और उनके कारण मिथ्यात्वरागादि परिणाम है वे सब हेय है तथा अभेदरत्नत्रयरूप निश्चय मोक्षमार्ग है वह उपादेय है ॥ ७९ ॥

आगे मिथ्यात्वपरिणतिसे यह जीव तत्त्वको यथार्थ नही जानता विपरीत जानता है ऐसा कहते है;—[**जीवः**] यह जीव [**मिथ्यात्वेन परिणतः**] अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणया [**तत्त्वं**] आत्माको आदि लेकर तत्त्वोंके स्वरूपको [**विपरीतं**] अन्यका अन्य [**मनुते**] श्रद्धान करता है यथार्थ नहीं जानता । वस्तुका स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है तौभी वह मिथ्याती जीव वस्तुके स्वरूपको विपरीत जानता है अपना जो शुद्धज्ञानादिसहित स्वरूप है उसको मिथ्यात्वरागादिरूप जानता है । उससे क्या करता है! [**कर्मविनिर्मितभावान्**] कर्मोंकर रचे गये जो शरीरादि परभाव है [**तान्**] उनको [**आत्मानं**] अपने [**भणति**] कहता है अर्थात् भेदविज्ञानके अभावसे गोरा श्याम स्थूल कृश इत्यादि कर्मजनित देहके स्वरूपको अपने जानता है इसीसे ससारमें भ्रमण करता है । **भावार्थ**—यहां पर कर्मोंसे उपार्जन किये भावोंसे भिन्न जो शुद्ध आत्मा है वही जिस समय रागादि दूर होते है उससमय उपादेय है क्योंकि तभी शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है ऐसा हुआ ॥ ८० ॥

अथानंतरं तत्पूर्वोक्तकर्मजनितभावान् येन मिथ्यापरिणामेन कृत्वा वहिरात्मात्मनि योजयति तं परिणामं सूत्रपंचकेन विवृणोति;—

हउं गोरो हउं सामलउ, हउं जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउं तणु अंगउं थूलु हउं, एहउं मूढउ मण्णु ॥ ८१ ॥

अहं गौरः अहं श्यामः अहमेव विभिन्नः वर्णः ।
अहं तन्वगः स्थूलः अहं एवं मूढं मन्यस्व ॥ ८१ ॥

अहं गौरो गौरवर्णः अहं श्यामः श्यामवर्णः । अहमेव भिन्नो नानावर्णः मिश्रवर्णः । क । वर्णविषये रूपविषये । पुनश्च कथंभूतोहं । तन्वंगः कृशांग । पुनश्च कथंभूतोहं । स्थूलः स्थूलशरीरः । इत्थंभूतं मूढात्मानं मन्यस्व । एवं पूर्वोक्तमिथ्यापरिणामपरिणतं जीवं मूढात्मानं जानीहीति । अयमत्र भावार्थः । निश्चयनयेनात्मनो भिन्नान् । कर्मजनितान् गौरस्थूलादिभावान् सर्वथा हेयभूतानपि सर्वप्रकारोपादेयभूते वीतरागनित्यानंदैकस्वभावे शुद्धजीवे यो योजयति स विषयकषायाधीनतया स्वशुद्धात्मानुभूतेश्च्युतः सन् मूढात्मा भवतीति ॥ ८१ ॥ अथ ।

हउं वरु बंभणु वइसु हउं, हउं खत्तिउ हउं सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं, मण्णइ मूढु विसेसु ॥ ८२ ॥

अहं वरः ब्राह्मणः वैश्यः अहं अहं क्षत्रियः अहं शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री अहं मन्यते मूढः विशेषं ॥ ८२ ॥

हउं वरु बंभणु वइसु हउं हउं खत्तिउ हउं सेसु अहं वरो विशिष्टो ब्राह्मणः अहं वैश्यो

इसके वाद उन पूर्व कथित कर्मजनित भावोंको जिस मिथ्यात्व परिणामसे वहिरात्मा अपने मानता है और वो अपने है नहीं ऐसे परिणामोंको पांच दोहासूत्रोंमें कहते है;— [अहं] मै [गौरः] गोरा हूं [अहं] मै [श्यामः] काला हूं [अहमेव] मै ही [विभिन्नः वर्णः] अनेकवर्णवाला हूं [अहं] मै [तन्वंगः] कृश (पतले) शरीरवाला हूं [अहं] मै [स्थूलः] मोटा हूं [एवं] इसप्रकार मिथ्यात्वपरिणामकर परिणत मिथ्यादृष्टि जीवको तू [मूढं] मूढ [मन्यस्व] मान । भावार्थ—यह है कि निश्चय नयसे-आत्मासे भिन्न जो कर्मजनित गौर स्थूलादि भाव हैं वे सर्वथा त्याज्य है और सर्व प्रकार आराधने योग्य वीतराग नित्यानंदस्वभाव जो शुद्धजीव है वह इनसे भिन्न है तौ भी जो पुरुष विषय कषायोंके आधीन होकर शरीरके भावोंको अपने जानता है वह अपनी शुद्धात्मानुभूतिसे रहित हुआ मूढात्मा है ॥ ८१ ॥

आगे फिर भी मिथ्यादृष्टिके लक्षण कहते हैं;—[मूढः] मिथ्यादृष्टि अपनेको [विशेषं मनुते] ऐसा विशेष मानता है कि [अहं] मै [वरः ब्राह्मणः] सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण

वणिक् अहं क्षत्रियोहं शेषः शूद्रादिः । पुनश्च कथंभूतः । **पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढु विसेसु** पुरुषो नपुंसकः स्त्रीलिंगोहं मन्यते मूढो विशेषं ब्राह्मणादिविशेषमिति । इदमत्र तात्पर्यं । यन्निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नानपि कर्मजनितान् ब्राह्मणादिभेदान् सर्वप्रकारेण हेयभूतानपि निश्चयनयेनोपादेयभूते वीतरागसदानंदैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि योजयति संबंधान् करोति । कोसौ कथंभूतो । ज्ञानपरिणतः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितो मूढात्मेति ॥ ८२ ॥ अथ ।

तरुणउ वूढउ रूयडउ, सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउं वंदउं सेवडउ, मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८३ ॥

तरुणः वृद्धः रूपस्वी शूरः पंडितः दिव्यः ।
क्षपणकः वंदकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥ ८३ ॥

तरुणउ वूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु तरुणो यौवनस्थोहं वृद्धोहं रूपस्व्यहं शूरः सुभटोहं पंडितोहं दिव्योहं । पुनश्च किंविशिष्टः । **खवणउं वंदउं सेवडउ** क्षपणको दिगंबरोहं वंदको बौद्धोहं श्वेतपटादिलिंगधारकोहमिति मूढात्मा सर्वं मन्यत इति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि व्यवहारेणाभिन्नान् तथापि निश्चयेन वीतरागसहजानंदैकस्वभावात्परमात्मनः भिन्नान् कर्मोदयोत्पन्नान् तरुणवृद्धादिविभावपर्यायान् हेयानपि साक्षादुपादेयभूते स्वशुद्धात्मतत्त्वे योजयति । कोसौ । ख्यातिपूजालाभादिविभावपरिणामाधीनतया परमात्मभावनाच्युतः सन् मूढात्मेति ॥ ८३ ॥ अथ ।

हूं [अहं] मैं [वैश्यः] वणिक् हूं [अहं] मै [क्षत्रियः] क्षत्री हूं [अहं] मै [शेषः] इनके सिवाय शूद्र हूं [अहं] मै [पुरुषः नपुंसकः स्त्री] पुरुष हूं नपुंसक हूं और स्त्री हूं । इसप्रकार शरीरके भावोंको मूर्ख अपने मानता है । सो ये सब शरीरके हैं आत्माके नही हैं । भावार्थ—यहां पर ऐसा है कि निश्चयनयसे ये ब्राह्मणादि भेद कर्मजनित हैं परमात्माके नही है इसलिये सब तरह आत्मज्ञानीके त्याज्यरूप हैं तौ भी जो निश्चयनयकर आराधने योग्य वीतराग सदा आनंदस्वभाव निज शुद्धात्मामें इन भेदोंको लगाता है अर्थात् अपने को ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्र मानता है स्त्री पुरुष नपुंसक मानता है वह कर्मोंका वंध करता है वही अज्ञानसे परिणत हुआ निजशुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित हुआ मूढात्मा है ज्ञानवान् नही है ॥ ८२ ॥

आगे फिर मूढके लक्षण कहते हैं,—[तरुणः] मै जवान हूं [वृद्धः] बुड्ढा हूं [रूपस्वी] रूपवान् हूं [शूरः] शूरवीर हूं [पंडितः] पंडित हूं [दिव्यः] सबमें श्रेष्ठ हूं [क्षपणकः] दिगंबर हूं [वंदकः] बौद्धमतका आचार्य हूं [श्वेतपटः] और मै श्वेतांबर हूं इत्यादि [सर्वं] सब शरीरके भेदोंको [मूढः] मूर्ख [मन्यते] अपने मानता

जणणी जणणुवि कंत घरु, पुत्तुवि मित्तुवि दव्वु ।
मायाजालुवि अप्पणउं, मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८४ ॥

जननी जननः अपि कांता गृहं पुत्रोपि मित्रमपि द्रव्यं ।
मायाजालमपि आत्मनः मूढः मन्यते सर्वं ॥ ८४ ॥

जणणी जणणुवि कंत घरु पुत्तुवि मित्तुवि दव्वु जननी माता जननः पितापि कांता भार्या गृहं पुत्रोपि मित्रमपि द्रव्यं सुवर्णादि यत्तत्सर्वं **मायाजालुवि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु** मायाजालमप्यसत्यमपि कृत्रिममपि आत्मीयं स्वकीयं मन्यते । कोसौ । मूढो मूढात्मा । कतिसंख्योपेतमपि । सर्वमपीति । अयमत्र भावार्थः । जनन्यादिकं परस्वरूपमपि शुद्धात्मनो भिन्नमपि हेयस्याशेपनारकादिदुःखस्य कारणत्वाद्धेयमपि साक्षादुपादेयभूतानाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्याद्भिन्ने वीतरागपरमानंदैकस्वभावे शुद्धात्मतत्त्वे योजयति । स कः । मनोवचनकायव्यापारपरिणतः स्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाशून्यो मूढात्मेति ॥ ८४ ॥ अथ ।

है । ये भेद जीवके नहीं हैं । भावार्थ—यहांपर यह है कि यद्यपि व्यवहार नयकर ये सब तरुण वृद्धादि शरीरके भेद आत्माके कहे जाते हैं तौ भी निश्चयनयकर वीतराग सहजानंद एक स्वभाव जो परमात्मा उससे भिन्न हैं । ये तरुणादि विभावपर्याय कर्मके उदयकर उत्पन्न हुए हैं इसलिये त्यागने योग्य हैं तौ भी उनको साक्षात् उपादेयरूप निज शुद्धात्मतत्त्वमें जो लगाता है अर्थात् आत्माके मानता है वह अज्ञानी जीव बडाई प्रतिष्ठा धनका लाभ इत्यादि विभावपरिणामोंके आधीन होकर परमात्माकी भावनासे रहित हुआ मूढात्मा है वह जीवके ही भाव मानता है ॥ ८३ ॥

आगे फिर भी मूढके लक्षण कहते हैं;—[जननी] माता [जननः] पिता [अपि] और [कांता] स्त्री [गृहं] घर [पुत्रः अपि] और बेटा बेटी [मित्रमपि] मित्र वगैरः सब कुटुम्बजन बहिन भानजी नाना मामा भाई बंध और [द्रव्यं] रत्न माणिक मोती सुवर्ण चांदी धन धान्य द्विपद बांदी धाय नौकर चौपाये गाय बैल घोडा घोडी ऊंट हाथी रथ पालकी बहली ये [सर्वं] सब [मायाजालमपि] असत्य हैं कर्मजनित हैं तौ भी [मूढः] अज्ञानी जीव [आत्मीयं] अपने [मन्यते] मानता है । भावार्थ—ये माता पिता आदि सब कुटुंबजन परस्वरूप भी हैं सब स्वारथके हैं, शुद्धात्मासे भिन्न भी हैं शरीर संबंधी हैं हेयरूप संसारीक नारकादिदुःखोंके कारण होनेसे त्याज्य भी है उनको जो जीव साक्षात् उपादेयरूप अनाकुलतास्वरूप परमार्थिक सुखसे अभिन्न वीतराग परमानंदरूप एकस्वभाववाले शुद्धात्मद्रव्यमें लगाता है अर्थात् अपने मानता है वह मन वचन कायरूप परिणत हुआ शुद्ध अपने आत्मद्रव्यकी भावनासे शून्य (रहित) मूढात्मा है

दुक्खहं कारणि जे विसय, ते सुहहेउ रमेइ ।
मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ, इत्थु ण काइ करेइ ॥ ८५ ॥

दुःखस्य कारणं ये विषयाः तान् सुखहेतून् रमते ।
मिथ्यादृष्टिः जीवः अत्र न किं करोति ॥ ८५ ॥

दुःखहं कारणि जे विसय ते सुहहेउ रमेइ दुःखस्य कारणं ये विषयास्तान् विषयान् सुखहेतून् मत्वा रमते । स कः । **मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ** मिथ्यादृष्टिर्जीवः **इत्थु ण काइं करेइ** अत्र जगति योसौ दुःखरूपविषयान् निश्चयनयेन सुखरूपान् मन्यते स मिथ्यादृष्टिः किमकृत्यं पापं न करोति अपि तु सर्वं करोत्येवेति । अत्र तात्पर्यं । मिथ्यादृष्टिर्जीवो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानंदपरमसमरसीभावरूपसुखरसापेक्षया निश्चयेन दुःखरूपानपि विषयान् सुखहेतून् मत्वा अनुभवतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये "जिउ मिच्छत्ते" इत्यादिसूत्राष्टकेन **मिथ्यादृष्टिपरिणतिव्याख्यानस्थलं** समाप्तं ।

तदनंतरं सम्यग्दृष्टिभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन "कालु लहेविणु" इत्यादि सूत्राष्टकं कथ्यते अथ,—

कालु लहेविणु जोइया, जिमु जिमु मोहु गलेइ ।
तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ, णियमें अप्पु मुणेइ ॥ ८६ ॥

कालं लब्ध्वा योगिन् यथा यथा मोहः गलति ।
तथा तथा दर्शनं लभते जीवः नियमेन आत्मानं मनुते ॥ ८६ ॥

ऐसा जानो, अर्थात् अतींद्रियसुखरूप आत्मामें पर वस्तुका क्या प्रयोजन है । जो पर वस्तुको अपना मानता है वही मूर्ख है ॥ ८४ ॥

अव और भी मूढका लक्षण कहते हैं;—[**दुःखस्य**] दुःखके [**कारणं**] कारण [**ये**] जो [**विषयाः**] पाच इंद्रियोंके विषय है [**तान्**] उनको [**सुखहेतून्**] सुखके कारण जानकर [**रमते**] रमण करता है वह [**मिथ्यादृष्टिः जीवः**] मिथ्यादृष्टि जीव [**अत्र**] इस ससारमें [**किं न करोति**] क्या पाप नही करता सभी पाप करता है अर्थात् जीवोंकी हिसा करता है झूठ बोलता है दूसरेका धन हरता है दूसरेकी स्त्री सेवन करता है अति तृष्णा करता है बहुत आरंभ करता है खेती करता है खोटे २ व्यसन सेवता है जो न करनेके काम है उनको करता है । **भावार्थ**—मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिसे उत्पन्न परमानंद परमसमरसीभावरूप सुखसे परान्मुख हुआ निश्चयकर महा दुःखरूप विषयोंको सुखके कारण समझकर सेवन करता है सो इनमें सुख नही है ॥ ८५ ॥

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ कालं लब्ध्वा हे योगिन् यथा यथा मोहो विगलति **तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ** तथा तथा दर्शनं सम्यक्त्वं लभते जीवः । तदनंतरं किं करोति । **णियमें अप्पु मुणेइ** नियमेनात्मानं मनुते जानातीत्यर्थः । तथाहि— एकेंद्रियविकलेंद्रियपंचेंद्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलशुद्धात्मोपदेशादीनामुत्तरोत्तरदुर्लभक्रमेण दुःप्राप्तान् काललब्धिः कथंचित्काकतालीयन्यायेन तां लब्ध्वा परमागमकथितमार्गेण मिथ्यात्वादिभेदभिन्नपरमात्मोपलंभप्रतिपत्तेर्यथा यथा मोहो विगलति तथा तथा शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं लभते । शुद्धात्मकर्मणोर्भेदज्ञानेन शुद्धात्मतत्त्वं मनुते जानातीति । अत्र यस्यैवोपादेयभूतस्य शुद्धात्मनो रुचिपरिणामेन निश्चयसम्यग्दृष्टिर्जातो जीव स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ८६ ॥

अत ऊर्ध्वं पूर्वोक्तन्यायेन सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिभावनायाः प्रतिपक्षभूतां यादृशीं भेदभावनां करोति तादृशीं क्रमेण सूत्रसप्तकेन विवृणोति;—

अप्पा गोरउ किण्हु णवि, अप्पा रत्तु ण होइ ।
अप्पा सुहुमुवि थूलु णवि, णाणिउ णाणें जोइ ॥ ८७ ॥

आत्मा गौरः कृष्णः नापि आत्मा रक्तः न भवति ।
आत्मा सूक्ष्मोपि स्थूलः नैव ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति ॥ ८७ ॥

इस प्रकार तीनतरहके आत्माके कहनेवाले पहले महा अधिकारमें "जिउ मिच्छत्तें" इत्यादि आठ दोहाओंसे मिथ्यादृष्टिकी परिणतिका व्याख्यान समाप्त किया । इसके आगे सम्यग्दृष्टिकी भावनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे "काल लहेविणु" इत्यादि आठ दोहासूत्र कहते हैं;—[**हे योगिन्**] हे योगी [**कालं लब्ध्वा**] काल पाकर [**यथा यथा**] जैसा जैसा [**मोहः**] मोह [**गलति**] गलता है कम होता जाता है [**तथा तथा**] तैसा तैसा [**जीवः**] यह जीव [**दर्शनं**] सम्यग्दर्शनको [**लभते**] पाता है फिर [**नियमेन**] निश्चयसे [**आत्मानं**] अपने स्वरूपको [**मनुते**] जानता है । **भावार्थ**—एकेंद्रीसे विकलत्रय (दो इंद्री ते इंद्री चौ इंद्री) होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे पंचेंद्री, पंचेद्रीसे सैनी पर्याप्त, उससे मनुष्य होना कठिन है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र उत्तमकुल शुद्धात्माका उपदेश आदि मिलना बहुत कठिन है । और किसीतरह "काकतालीय न्यायसे" काललब्धिको पाकर सब दुर्लभ सामग्री मिलनेपर भी जैन शास्त्रोक्त मार्गकर मिथ्यात्वादिके दूर हो जानेसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होते हुए जैसा जैसा मोह क्षीण होता जाता है वैसे २ शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व होता है । शुद्ध आत्मा और कर्मको जुदे २ जानता है । जिस शुद्धात्माकी रुचिरूप परिणामसे यह जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि होता है वही उपादेय है यह तात्पर्य हुआ ॥ ८६ ॥

आत्मा गौरो न भवति कृष्णो न भवति रक्तो न भवति आत्मा सूक्ष्मोपि न भवति स्थूलोपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः । ज्ञानी ज्ञानस्वरूपः ज्ञानेन करणभूतेन पश्यति । अथवा "णाणिउ जाणइ जोइं" इति पाठांतरं, ज्ञानी योसौ योगी स जानात्यात्मानं । अथवा ज्ञानी ज्ञानस्वरूपेण आत्मा । कोसौ जानाति । योगीति । तथाहि—कृष्णगौरादिकधर्मान् व्यवहारेण जीवसंबंधानपि तथापि शुद्धात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् हेयान् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मतत्त्वे तान् न योजयति संबंधान्न करोतीति भावार्थः ॥ ८७ ॥ अथ ।

अप्पा बंभणु वइसु णवि, णवि खत्तिउ णवि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि णवि, णाणिउ मुणइं असेसु ॥ ८८ ॥

आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि नापि क्षत्रियः नापि शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ज्ञानी मनुते अशेषं ॥ ८८ ॥

अप्पा बंभणु वइसु णवि णवि खत्तिउ णवि सेसु पुरिसु णउंसउ इत्थि णवि आत्मा ब्राह्मणो न भवति वैश्योपि नैव नापि क्षत्रियो नापि शेषः शूद्रादिः पुरुषनपुंसकस्त्रीलिंगरूपोपि नैव । तर्हि किं विशिष्टः । **णाणिउ मुणइ असेसु** ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानी सन् । किं करोति । मनुते जानाति । कं । अशेषं वस्तुजातं वस्तुसमूहमिति । तद्यथा । यानेव ब्राह्मणादिवर्णभेदान् पुल्लिंगादिलिंगभेदान् व्यवहारेण परमात्मपदार्थादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् साक्षाद्धेयभूतान् वीतरागनिर्विकल्पसमाधिच्युतो बहिरात्मा

इसके वाद पूर्वकथित रीतिसे सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यात्वकी भावनासे विपरीत जैसी भेदविज्ञानकी भावनाको करता है वैसी भेदविज्ञानभावनाका स्वरूप क्रमसे सातदोहासूत्रोंमें कहते हैं;—[**आत्मा**] आत्मा [**गौरः कृष्णः नापि**] सफेद नहीं है काला नहीं है [**आत्मा**] आत्मा [**रक्तः**] लाल [**न भवति**] नही है [**आत्मा**] आत्मा [**सूक्ष्मः अपि स्थूलः नैव**] सूक्ष्म भी नही है और स्थूल भी नही है [**ज्ञानी**] ज्ञानस्वरूप है [**ज्ञानेन**] ज्ञानदृष्टिसे [**पश्यति**] देखा जाता है अथवा ज्ञानी पुरुष योगी ही ज्ञानकर आत्माको जानता है । **भावार्थ**—ये स्वेत काले आदि धर्म व्यवहारनयकर शरीरके संबंधसे जीवके कहे जाते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मासे जुदे हैं कर्मजनित हैं त्यागने योग्य हैं । जो वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानी है वह निजशुद्धात्मतत्त्वमें इन धर्मोंको नही लगाता अर्थात् इनको अपने नही समझता है ॥ ८७ ॥

आगे ब्राह्मणादिवर्ण आत्माके नही हैं ऐसा वर्णन करते हैं,-[**आत्मा**] आत्मा [**ब्राह्मणः वैश्यः नापि**] ब्राह्मण नही है वैश्य भी नही है [**क्षत्रियः नापि**] क्षत्री भी नहीं है [**शेषः**] वाकी शूद्र भी [**नापि**] नही है [**पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि**] पुरुष नपुंसक स्त्रीलिंगरूप भी नहीं है [**ज्ञानी**] ज्ञानस्वरूप हुआ [**अशेषं**] समस्त वस्तुओंको ज्ञानसे [**मनुते**]

स्वात्मनि योजयति तानेव तद्विपरीतभावनारतोंतरात्मा स्वशुद्धात्मस्वरूपेण योजयतीति तात्पर्यार्थः ॥ ८८ ॥ अथ ।

अप्पा वंदउ खवणु णवि, अप्पा गुरउ ण होइ ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु णवि, णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ८९ ॥

आत्मा वंदकः क्षपणः नापि आत्मा गुरवः न भवति ।
आत्मा लिंगी एकः नापि ज्ञानी जानाति योगी ॥ ८९ ॥

आत्मा वंदको वौद्धो न भवति आत्मा क्षपणको दिगंबरो न भवति आत्मा गुरवशब्दवाच्यः श्वेतांवरो न भवति । आत्मा एकदंडित्रिदंडिहंसपरमहंससंज्ञाः संन्यासी शिखी मुंडी योगदंडाक्षमालातिलककुलकघोपप्रभृतिवेषधारी नैकोपि कश्चिदपि लिंगी न भवति । तर्हि कथंभूतो भवति । ज्ञानी । तमात्मानं कोसौ जानाति योगी ध्यानीति । तथाहि—यद्यप्यात्मा व्यवहारेण वंदकादिलिंगी भण्यते तथापि शुद्धनिश्चयनयेनैकोपि लिंगी न भवतीति । अयमत्र भावार्थः । देहाश्रितं द्रव्यलिंगमुपचरितासद्भूतव्यवहारेण जीवस्वरूपं भण्यते वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिंगं तु यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वादुपचारेण शुद्धजीवस्वरूपं भण्यते तथापि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन न भण्यत इति ॥ ८९ ॥ अथ ।

जानता है । भावार्थ—जो ब्राह्मणादिवर्णभेद है और पुरुषलिंगादि तीन लिंग हैं वे यद्यपि व्यवहारनयकर देहके संबंधसे जीवके कहे जाते है तौभी शुद्धनिश्चयनयकर आत्मासे भिन्न है और साक्षात् त्यागने योग्य है उनको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है और उन्हींको मिथ्यात्वसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपने नहीं समझता । आपको तो ज्ञानस्वभावरूप जानता है ॥ ८८ ॥

आगे वंदक क्षपणकादि भेद भी जीवके नही हैं ऐसा कहते है;—[**आत्मा**] आत्मा [**वंदकः क्षपणः नापि**] वौद्धका आचार्य नही है दिगंबर भी नहीं है [**आत्मा**] आत्मा [**गुरवः न भवति**] स्वेताम्वर भी नही है [**आत्मा**] आत्मा [**एकः अपि**] कोई भी [**लिंगी**] वेशका धारी [**न**] नही है अर्थात् एक दंडी त्रिदंडी हंस परमहंस संन्यासी जटाधारी मुंडित रुद्राक्षकी माला तिलक कुलक घोप वगैरः भेषोंमें कोई भी भेषधारी नही है एक [**ज्ञानी**] ज्ञानस्वरूप है उस आत्माको [**योगी**] ध्यानी मुनि ध्यानारूढ होकर [**जानाति**] जानता है ध्यान करता है ॥ **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनयकर यह आत्मा वंदकादि अनेक भेषोंको धरता है तौभी शुद्धनिश्चय नयकर कोई भी भेष जीवके नहीं है देहके है । यहां देहके आश्रयसे जो द्रव्यलिग है वह उपचरितासद्भूतव्यवहारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है तौभी निश्चयनयकर जीवका स्वरूप नही

अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि, णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरु होइ णवि, णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥ ९० ॥

आत्मा गुरुः नैव शिष्यः नापि नैव स्वामी नैव भृत्यः ।
शूरः कातरः भवति नैव नैव उत्तमः नैव नीचः ॥ ९० ॥

आत्मा गुरुर्नैव भवति शिष्योपि न भवति नैव स्वामी नैव भृत्यः शूरो न भवति कातरो हीनसत्त्वो नैव भवति नैवोत्तमोत्तमकुलप्रसूतः नैव नीचो नीचकुलप्रसूत इति । तद्यथा । गुरुशिष्यादिसंबंधान् यद्यपि व्यवहारेण जीवस्वरूपस्तथापि शुद्धनिश्चयेन परमात्मद्रव्याद्भिन्नान् हेयभूतान् वीतरागपरमानंदैकस्वशुद्धात्मोपलब्धेश्च्युतो बहिरात्मा स्वात्मसंबंधान् करोति तानेव वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थो अंतरात्मा परस्वरूपान् जानातीति भावार्थः ॥ ९० ॥ अथ ।

अप्पा माणुसु देउ णवि, अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा णारउ कहिंवि णवि, णाणिउ जाणइं जोइ ॥ ९१ ॥

आत्मा मनुष्यः देवः नापि आत्मा तिर्यक् न भवति ।
आत्मा नारकः क्वापि नैव ज्ञानी जानाति योगी ॥ ९१ ॥

अप्पा माणुसु देउ णवि अप्पा तिरिउ ण होइ अप्पा णारउ कहिंवि णवि

है क्योंकि जब देह ही जीवकी नही तो भेष कैसे होसकता है इसलिये द्रव्यलिंगतो सर्वथा ही नही है और वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप भावलिंग यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपका साधक है इसलिये उपचारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है तौभी परमसूक्ष्म शुद्धनिश्चयनयकर भावलिंग भी जीवका नही है । भावलिंग साधनरूप है वह भी परम अवस्थाका साधक नही है ॥ ८९ ॥

आगे यह गुरु शिष्यादिक भी नही है,—[**आत्मा**] आत्मा [**गुरुः नैव**] गुरु नहीं है [**शिष्यः नापि**] शिष्य भी नहीं है [**स्वामी नैव**] स्वामी नहीं है [**भृत्यः नैव**] नोंकर नही हैं [**शूरः कातरः नैव**] सूरवीर नही है बलहीन नहीं है [**उत्तमः नैव**] ऊंचकुली नही है [**नीचः नैव भवति**] और नीचकुली भी नहीं है ॥ **भावार्थ**—ये सब गुरु शिष्य स्वामी सेवकादि सबंध यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके स्वरूप हैं तौ भी शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध आत्मासे जुदे हैं आत्माके नही है त्यागने योग्य है इन भेदोंको वीतरागपरमानंद निज शुद्धात्माकी प्राप्तिसे रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव अपने समझता है और इन्ही भेदोंको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें रहता हुआ अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि-जीव पररूप (दूसरे) जानता है ॥ ९० ॥

आत्मा मनुष्यो न भवति देवो नैव भवति आत्मा तिर्यग्योनिर्न भवति आत्मा नारकः क्वापि काले न भवति । तर्हि किंविशिष्टो भवति । **णाणिउं जाणइ जोइ** ज्ञानी ज्ञानरूपो भवति । तमात्मानं कोसौ जानाति । योगी, योगी कोर्थः । त्रिगुप्तिनिर्विकल्पसमाधिस्थ इति । तथाहि । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतैः रागद्वेषादिविभावपरिणामजालैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान् मनुष्यादिविभावपर्यायान् भेदाभेदरत्नत्रयभावनाच्युतो बहिरात्मा स्वात्मतत्त्वे योजयति । तद्विपरीतोंतरात्मशब्दवाच्यो ज्ञानी पृथक् जानातीत्यभिप्रायः ॥ ९१ ॥ अथ ।

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि, णवि ईसरु णवि णीसु ।
तरुणउ वूढउ वालु णवि, अण्णुवि कम्मविसेसु ॥ ९२ ॥

आत्मा पंडितः मूर्खः नैव नैव ईश्वरः नैव निःस्वः ।
तरुणः वृद्धः बालः नापि अन्य एव कर्मविशेषः ॥ ९२ ॥

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु तरुणउ वूढउ वालु णवि आत्मा पंडितो न भवति मूर्खो नैव ईश्वरः समर्थो नैव निःस्वो दरिद्रः तरुणो वृद्धो बालोपि नैव । पंडितादिस्वरूपं यद्यात्मस्वभावो न भवति । तर्हि किं भवति । **अण्णुवि कम्मविसेसु** अन्य एव कर्मजनितोयं विभावपर्यायविशेष इति । तद्यथा । पंडितादिसंबंधान् यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्वभावान् तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मद्रव्याद्भिन्नान् सर्वप्रकारेण

आगे आत्माका स्वरूप कहते हैं;—[**आत्मा**] जीव पदार्थ [**मनुष्यः देवः नापि**] न तो मनुष्य है न देव है [**आत्मा**] आत्मा [**तिर्यक् न भवति**] तिर्यंच पशु भी नहीं है [**आत्मा**] आत्मा [**नारकः**] नारकी भी [**क्वापि नैव**] कभी नही अर्थात् किसीप्रकार भी पररूप नही है परंतु [**ज्ञानी**] ज्ञानस्वरूप है उसको [**योगी**] मुनिराज तीन गुप्तिका धारक और निर्विकल्पसमाधिमें लीन हुआ [**जानाति**] जानता है ॥ **भावार्थ—** निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव जो परमात्मतत्त्व उसकी भावनासे उलटे रागद्वेषादि विभाव परिणामोंसे उपार्जन किये जो शुभाशुभ कर्म है उनके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्यादि विभावपर्यायोंको भेदाभेदस्वरूप रत्नत्रयकी भावनासे रहित हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है और इस अज्ञानसे रहित सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव उन मनुष्यादि पर्यायोंको अपनेसे जुदा जानता है ॥ ९१ ॥

आगे फिर आत्माका स्वरूप कहते हैं;—[**आत्मा**] चिद्रूप आत्मा [**पंडितः**] विद्यावान व [**मूर्खः**] मूर्ख [**नैव**] नही है [**ईश्वरः**] धनवान् सब वातोंमे समर्थ भी [**नैव**] नही है [**निस्वः**] दरिद्री भी [**नैव**] नही हैं [**तरुणः वृद्धः बालः नापि**] जवान बूढा और बालक भी नहीं है [**अन्य एव कर्मविशेषः**] ये सब पर्यायें आत्मासे

हेयभूतान् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानभावनारहितोपि बहिरात्मा स्वस्मिन्नियोजयति तानेव पंडितादिविभावपर्यायांस्तद्विपरीतो योसौ चांतरात्मा परस्मिन् कर्मणि नियोजयतीति तात्पर्यार्थः ॥ ९२ ॥ अथ ।

पुण्णुवि पाउवि कालु णहु, धम्मा धम्मुवि काउ ।
एक्कुवि अप्पा होइ णवि, मेल्लिवि चेयणभाउ ॥ ९३ ॥

पुण्यमपि पापमपि कालः नभः धर्माधर्मोपि कायः ।
एकमपि आत्मा भवति नैव मुक्त्वा चेतनभावं ॥ ९३ ॥

पुण्णुवि पाउवि कालु णहु धम्माधम्मुवि काउ पुण्यमपि पापमपि कालं नभः आकाशं धर्माधर्ममपि कायः शरीरं **एक्कुवि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण भाउ** इदं पूर्वोक्तमेकमप्यात्मा न भवति । किं कृत्वा । मुक्त्वा । किं चेतनभावमिति । तथाहि । व्यवहारनयेनात्मनः सकाशादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् हेयभूतान् पुण्यपापादिधर्माधर्मान्मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव पुण्यपापादिसमस्तसंकल्पविकल्पपरिहारभावनारूपे स्वशुद्धात्मद्रव्ये सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मके परमसमाधौ स्थितोंतरात्मा शुद्धात्मनः सकाशात् पृथक् जानातीति तात्पर्यार्थः ॥ ९३ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये मिथ्यादृष्टिभावनाविपरीतेन सम्यग्दृष्टिभावनास्थितेन सूत्राष्टकं समाप्तं ।

अथानंतरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन "अप्पा संजमु" इत्यादि प्रक्षेपकान् विहायैकत्रिंशत्सूत्रपर्यंतमुपसंहाररूपा चूलिका कथ्यते । तद्यथा ।

जुदे कर्मके विशेष हैं अर्थात् कर्मसे उत्पन्न हुए विभावपर्याय हैं ॥ **भावार्थ**—यद्यपि शरीरके संबंधसे पंडित वगैरः भेद व्यवहारनयसे जीवके कहे जाते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न हैं और सर्वथा त्यागने योग्य हैं । इन भेदोंको वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है और इन्हीं पंडितादि विभावपर्यायोंको अज्ञानसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपनेसे जुदे कर्मजनित जानता है ॥९२॥

आगे आत्माका चेतनभाव वर्णन करते हैं,—[**पुण्यमपि**] पुण्यरूप शुभकर्म [**पापमपि**] पापरूप अशुभकर्म [**कालः**] अतीत अनागत वर्तमान काल [**नभः**] आकाश [**धर्माधर्मोपि**] धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य [**कायः**] शरीर, इनमेंसे [**एक अपि**] एक भी [**आत्मा**] आत्मा [**नैव भवति**] नही है [**चेतनभावं मुक्त्वा**] चेतनभावको छोड़कर अर्थात् एक चेतनभाव ही अपना है ॥ **भावार्थ**—व्यवहारनयकर यद्यपि पुन्यपापादि आत्मासे अभिन्न हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर भिन्न है और त्यागने योग्य हैं उन परभावोंको मिथ्यात्वरागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा अपने जानता है और उन्हींको

यदि पुण्यपापादिरूपः परमात्मा न भवति तर्हि कीदृशो भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह;—

अप्पा संजमु सीलु तउ, अप्पा दंसणु णाणु ।
अप्पा सासयमोक्खपउ, जाणंतउ अप्पाणु ॥ ९४ ॥

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा दर्शनं ज्ञानं ।
आत्मा शाश्वतमोक्षपदं जानन् आत्मानं ॥ ९४ ॥

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु अप्पा सासय मोक्खपउ आत्मा संयमो भवति शीलं भवति तपश्चरणं भवति आत्मा दर्शनं भवति ज्ञानं भवति शाश्वतमोक्षपदं च भवति। अथवा पाठांतरं "सासयमुक्खपहु" शास्वतमोक्षस्य पंथा मार्गः अथवा "सासयसुक्खपउ" शास्वतसौख्यपदं स्वरूपं च भवति । किं कुर्वन् सन् । **जाणंतउ अप्पाणु** जानन्ननुभवन् । कं । आत्मानमिति । तद्यथा । वहिरंगेंद्रियसंयमप्राणसंयमबलेन साध्यसाधकभावेन निश्चयेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात् स्थितिकरणात् **संयमो** भवति वहिरंगसहकारिकारणभूतेन कामक्रोधविवर्जनलक्षणेन व्रतपरिरक्षणशीलेन निश्चयेनाभ्यंतरे स्वशुद्धात्मद्रव्यनिर्मलानुभवनेन **शीलं** भवति । वहिरंगेन सहकारिकारणभूतानशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन निश्चयनयेनाभ्यंतरे समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन परमात्मस्वभावे प्रतपनाद्विजयनात्तपश्चरणं

पुण्यपापादि समस्त संकल्पविकल्परहित निजशुद्धात्मद्रव्यमें सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप परम समाधिमें तिष्ठता सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मासे जुदे जानता है ॥ ९३ ॥

ऐसें बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीनप्रकारके आत्माका जिसमें कथन है ऐसे पहले अधिकारमें मिथ्यादृष्टिकी भावनासे रहित जो सम्यग्दृष्टिकी भावना उसकी मुख्यतासे आठ दोहासूत्र कहे । आगे भेदविज्ञानकी मुख्यतासे "अप्पा संजमु" इत्यादि इकतीस दोहापर्यंत क्षेपकसूत्रोंको छोड़कर पहला अधिकार पूर्ण करते हुए व्याख्यान करते हैं उसमें भी जो शिष्यने प्रश्न किया कि यदि पुण्यपापादिरूप आत्मा नहीं है तो कैसा है ऐसे प्रश्नका श्रीगुरु समाधान करते हैं;—[**आत्मा**] निजगुणपर्यायका धारक ज्ञानस्वरूप चिदानंद ही [**संयम**] संयम है [**शीलः तपः**] शील है तप है [**आत्मा**] आत्मा [**दर्शनं ज्ञानं**] दर्शन ज्ञान है और [**आत्मानं जानन्**] अपनेको जानता अनुभवता हुआ [**आत्मा**] आत्मा [**शास्वतमोक्षपदं**] अविनाशी सुखका स्थान मोक्षका मार्ग है । इसी कथनको विशेषताकर कहते हैं । **भावार्थ**—पांच इंद्रियां और मनका रोकना व छह कायके जीवोंकी दया स्वरूप ऐसे इंद्रिय संयम तथा प्राणसंयम इन दोनोंके बलसे साध्यसाधक भावकर निश्चयसे अपने शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिर होनेसे आत्माको **संयम** कहा गया है, बहिरंग सहकारी निश्चयशीलका कारणरूप जो कामक्रोधादिके

भवति । स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिकरणान्निश्चयसम्यक्त्वं भवति । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानानुभवनान्निश्चयज्ञानं भवति । मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालत्यागेन परमात्मतत्त्वे परमसमरसीभावपरिणमनाच्च मोक्षमार्गो भवतीति । अत्र वहिरंगद्रव्येंद्रियसंयमादिप्रतिपादनादभ्यंतरे शुद्धात्मानुभूतिरूपभावसंयमादिपरिणमनादुपादेयसुखसाधकत्वादात्मैवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ९४ ॥

अथ स्वशुद्धात्मसंवित्तिं विहाय निश्चयनयेनान्यद्दर्शनज्ञानचारित्रं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रं कथयति,—

अण्णु जि दंसणु अत्थि णवि, अण्णुवि अत्थि ण णाणु ।
अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय, मिल्लिवि अप्पा जाणु ॥ ९५ ॥

अन्यत् एव दर्शनं अस्ति नापि अन्यदपि अस्ति न ज्ञानं ।
अन्यत् एव चरणं न अस्ति जीव मुक्त्वा आत्मानं जानीहि ॥ ९५ ॥

अण्णु जि दंसणु अत्थि णवि अण्णुजि अत्थि ण णाणु अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय अन्यदेव दर्शनं नास्ति अन्यदेव ज्ञानं नास्ति अन्यदेव चरणं नास्ति हे जीव । किं कृत्वा । **मिल्लिवि अप्पा जाणु** मुक्त्वा त्यक्त्वा । कं । आत्मानं जानीहीति । तथाहि । यद्यपि षड्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थाः साध्यसाधकभावेन निश्चयसम्यक्त्वहेतुत्वा-

---

त्यागरूप व्रतकी रक्षा वह व्यवहारशील है और निश्चयकर अंतरंगमें अपने शुद्धात्मद्रव्यका निर्मल अनुभव वह शील कहा जाता है सो शीलरूप आत्मा ही कहा गया है, बाह्य सहकारी कारणभूत जो अनशनादि बारह प्रकारका तप है उससे तथा निश्चयकर अंतरंगमें सब परद्रव्यकी इच्छाके रोकनेसे परमात्मस्वभाव (निजस्वभाव) में प्रतापरूप तिष्ठ रहा है इसकारण और समस्तविभावपरिणामोंके जीतनेसे आत्मा ही 'तपश्चरण' है और आत्मा ही निजस्वरूपकी रुचिरूप सम्यक्त्व है वह सर्वथा उपादेयरूप है इससे सम्यग्दर्शन भी आत्मा ही है अन्य कोई नही है, वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानके अनुभवसे आत्मा ही निश्चयज्ञानरूप है और मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालके त्यागकर परमात्मतत्त्वमें परमसमरसीभावके परिणमनसे आत्मा ही मोक्षमार्ग है । तात्पर्य यह है कि बहिरंग द्रव्येंद्रियसंयमादिके पालनेसे अंतरंगमें शुद्धात्माके अनुभवरूप भावसंयमादिकके परिणमनसे उपादेयसुख जो अतींद्रियसुख उसके साधकपनेसे आत्मा ही उपादेय है ॥ ९४ ॥

आगे निजशुद्धात्मस्वरूपको छोड़कर निश्चयनयसे दूसरा कोई दर्शन ज्ञान चारित्र नहीं है इस अभिप्रायको मनमें रखकर गाथासूत्र कहते हैं;—[हे जीव] हे जीव [आत्मानं] आत्माको [मुक्त्वा] छोड़कर [अन्यदपि] दूसरा कोईभी [दर्शनं] दर्शन [न एव] नही है [अन्यदपि] अन्य कोई [ज्ञानं न अस्ति] ज्ञान नही है

व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति तथापि निश्चयेन वीतरागपरमानंदैकस्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपपरिणामपरिणतशुद्धात्मैव निश्चयसम्यक्त्वं च भवति । यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वात्तु व्यवहारेण शास्त्रज्ञानं भवति तथापि निश्चयनयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मैव निश्चयज्ञानं भवति । यद्यपि निश्चयचारित्रसाधकत्वान्मूलोत्तरगुणा व्यवहारेण चारित्रं भवति तथापि शुद्धात्मानुभूतिरूपवीतरागचारित्रपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयनयेन चारित्रं भवतीति । अत्रोक्तलक्षणेऽभेदरत्नत्रयपरिणतः परमात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ९५ ॥

अथ निश्चयेन वीतरागभावपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयतीर्थः निश्चयगुरुर्निश्चयदेव इति कथयति;—

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय, अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं, अप्पा विमलु मुएवि ॥ ९६ ॥

अन्यत् एव तीर्थं मा गच्छ जीव अन्यत् एव गुरुं मा सेवस्व ।
अन्यत् एव देवं मा चिंतय त्वं आत्मानं विमलं मुक्त्वा ॥ ९६ ॥

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अन्यदेव तीर्थं मा गच्छ हे जीव अन्यदेव गुरुं मा सेवस्व अन्यदेव देवं मा चिंतय त्वं । किं

[अन्यत् एव चरणं नास्ति] अन्य कोई चारित्र नही है ऐसा [जानीहि] तू जान अर्थात् आत्मा ही दर्शन ज्ञान चारित्र है ऐसा संदेहरहित जानो । भावार्थ—यद्यपि छह द्रव्य पांच अस्तिकाय सात तत्त्व नौ पदार्थका श्रद्धान कार्यकारणभावसे निश्चय सम्यक्त्वका कारण होनेसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है, अर्थात् व्यवहार साधक है निश्चय साध्य है तौभी निश्चयनयकर एक वीतराग परमानंदस्वभाववाला शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसा रुचिरूप परिणामसे परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है । यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञानका साधक होनेसे व्यवहारनयकर शास्त्रका ज्ञानभी ज्ञान है तौभी निश्चयनयकर वीतरागस्वसवेदनज्ञानरूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है । यद्यपि निश्चयचारित्रके साधक होनेसे अट्ठाईस मूलगुण चौरासी लाख उत्तरगुण व्यवहारनयकर चारित्र कहे जाते है तौभी शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्रको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयनयकर चारित्र है । तात्पर्य यह है कि अभेदरूप निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परिणत हुआ परमात्मा ही ध्यानकरने योग्य है ॥ ९५ ॥

आगे निश्चयनयकर वीतरागभावरूप परिणया निजशुद्धात्मा ही निश्चयतीर्थ, निश्चय गुरु, निश्चयदेव है ऐसा कहते हैं;—[हे जीव] हे जीव [त्वं] तू [अन्यत् एव]

क्त्वा । अप्पा विमलु मुएवि मुक्त्वा त्यक्त्वा । कं । आत्मानं । कथंभूतं । विमलं रागादिरहितमिति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारनयेन निर्वाणस्थानचैत्यचैत्यालयादिकं तीर्थभूतपुरुषगुणस्मरणार्थं तीर्थं भवति तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपनिश्छिद्रपोतेन संसारसमुद्रतरणसमर्थत्वान्निश्चयनयेन स्वात्मतत्त्वमेव तीर्थं भवति तदुपदेशात्पारंपर्येण परमात्मतत्त्वलाभो भवतीति । व्यवहारेण शिक्षादीक्षादायको यद्यपि गुरुर्भवति तथापि निश्चयनयेन पंचेंद्रियविषयप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामपरित्यागकाले संसारविच्छित्तिकारणत्वात् स्वशुद्धात्मैव गुरुः । यद्यपि प्राथमिकापेक्षया सविकल्पापेक्षया चित्तस्थितिकरणार्थं तीर्थकरपुण्यहेतुभूतं साध्यसाधकभावेन परंपरया निर्वाणकारणं च जिनप्रतिमादिकं व्यवहारेण देवो भण्यते तथापि निश्चयनयेन परमाराध्यत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तपरमसमाधिकाले स्वशुद्धात्मस्वभाव एव देव इति । एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥ ९६ ॥

दूसरे [तीर्थं] तीर्थको [मा गच्छ] मत जावै [अन्यत् एव] दूसरे [गुरुं] गुरुको [मा सेवस्व] मत सेवै [अन्यत् एव] अन्य [देवं] देवको [मा चिंतय] मत ध्यावै [आत्मानं विमलं] रागादिमलरहित आत्माको [मुक्त्वा] छोड़कर अर्थात् अपना आत्मा ही तीर्थ है वहा रमण कर, आत्मा ही गुरु है उसकी सेवा कर, और आत्मा ही देव है उसीकी आराधना कर । अपने सिवाय दूसरेका सेवन मत करै । इसी कथनको विस्तारसे कहते हैं । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहार नयसे मोक्षके स्थानक सम्मेदशिखर आदि व जिनप्रतिमा जिनमंदिर आदि तीर्थ हैं क्योंकि वहां गये महान पुरुषोंके गुणोंकी याद होती है तौभी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप छेदरहित जिहाजकर संसाररूपी समुद्रके तरनेको समर्थ जो निज आत्मतत्त्व है वही निश्चयकर तीर्थ है उसके उपदेश परंपरासे परमात्मतत्त्वका लाभ होता है । यद्यपि व्यवहार नयकर दीक्षाशिक्षाका देनेवाला दिगंवर गुरु होता है तौभी निश्चयनयकर विषय कषाय आदिक समस्त विभावपरिणामोंके त्यागनेके समय निजशुद्धात्मा ही गुरु है उसीसे संसारकी निवृत्ति होती है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें चित्तकी स्थिरताकेलिये व्यवहारनयकर जिनप्रतिमादिक देव कहे जाते हैं और वे परंपरासे निर्वाणके कारण हैं तौभी निश्चयनयकर परम आराधने योग्य वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधिके समय निज शुद्धात्मभाव ही देव है अन्य नहीं । इसप्रकार निश्चय व्यवहारनयकर साध्यसाधक भावसे तीर्थ गुरु देवका स्वरूप जानना चाहिये । निश्चयदेव निश्चयगुरु निश्चयतीर्थ निज आत्मा ही है वही साधने योग्य है और व्यवहार देव जिनेंद्र तथा उनकी प्रतिमा, व्यवहार गुरु महामुनिराज, व्यवहार तीर्थ सिद्ध क्षेत्रादिक ये सब निश्चयके साधक हैं इसलिये प्रथम अवस्थामें आराधने योग्य हैं । तथा निश्चयनयकर

अथ निश्चयेनात्मसंवित्तिरेव दर्शनमिति प्रतिपादयति,—

अप्पा दंसणु केवलुवि, अण्णु सव्वु ववहारु ।
एक्कु जि जोइय झाइयइ, जो तइलोयहं सारु ॥ ९७ ॥

आत्मा दर्शनं केवलोपि अन्यः सर्वः व्यवहारः
एक एव योगिन् ध्यायते यः त्रैलोक्यस्य सारः ॥ ९७ ॥

अप्पा दंसणु केवलुवि आत्मा दर्शनं सम्यक्त्वं भवति । कथंभूतोपि । केवलोपि । **अण्णु सव्वु ववहारु** अन्यः शेषः सर्वोपि व्यवहारः तेन कारणेन **एक्कु जि जोइय झाइयइ** हे योगिन्नेक एव ध्यायेत । यः आत्मा कथंभूतः । **जो तइलोयहं सारु** यः परमात्मा त्रैलोक्यस्य सारभूत इति । तद्यथा । वीतरागचिदानंदैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिपरिणतो निश्चयनयेन स्वात्मैव सम्यक्त्वं अन्यः सर्वोपि व्यवहारस्तेन कारणेन स एव ध्यातव्य इति । अत्र यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखंडादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेदविवक्षया कृत्वैक्यं भण्यते तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैर्निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्बहुभिः परिणतो अनेकोप्यात्मा त्वभेदविवक्षया एकोपि भण्यत इति भावार्थः । तथा चोक्तं अभेदरत्नत्रयलक्षणं "दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः । स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः" ॥ ९७ ॥

ये सब परपदार्थ हैं इनसे साक्षात् सिद्धि नही है परंपरायसे है । यहां श्रीपरमात्मप्रकाश अध्यात्मग्रंथमें निश्चयदेव गुरु तीर्थ अपना आत्मा ही है उसे आराधकर अनंत सिद्ध हुए और होवेंगे ऐसा सारांश हुआ ॥ ९६ ॥

आगे निश्चयनयकर आत्मस्वरूप ही सम्यग्दर्शन है;—[**केवलः आत्मा अपि**] केवल (एक) आत्मा ही [**दर्शनं**] सम्यग्दर्शन है [**अन्यः सर्वः व्यवहारः**] दूसरा सब व्यवहार है इसलिये [**हे योगिन्**] हे योगी [**एक एव ध्यायते**] एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है [**यः त्रैलोक्यस्य सारः**] जोकि तीनलोकमें सार है ॥ **भावार्थ—** वीतराग चिदानंद अखंड स्वभाव आत्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान अनुभवरूप जो अभेदरत्नत्रय वही जिसका लक्षण है तथा मनोगुप्ति आदि तीनगुप्तिरूप समाधिमें लीन निश्चयनयसे निज आत्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है अन्य सब व्यवहार है । इस कारण आत्मा ही ध्यावने योग्य है । जैसे दाख कपूर चंदन वगैरः बहुत द्रव्योंसे बनाया गया जो पीनेका रस वह यद्यपि अनेकरसरूप है तौभी अभेदनयकर एक पानवस्तु कही जाती है उसीतरह शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि अनेक भावोंसे परिणत हुआ आत्मा अनेकरूप है तौभी अभेदनयकी विवक्षासे आत्मा एक वस्तु है । यही अभेदरत्नत्रयका स्वरूप जैनसिद्धांतोंमें हर एक जगह कहा है—"दर्शनमित्यादि" इसका अर्थ

अथ निर्मलमात्मानं ध्याय त्वं येन ध्यातेनांतर्मुहूर्तेनैव मोक्षपदं लभ्यत इति निरूपयति;—

अप्पा झायहि णिम्मलउ, किं बहुए अण्णेण।
जो झायंतह परमपउ, लब्भइ एकखणेण ॥ ९८ ॥

आत्मानं ध्यायस्व निर्मलं किं बहुना अन्येन।
यं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥ ९८ ॥

अप्पा झायहि णिम्मलउ आत्मानं ध्यायस्व। कथंभूतं। निर्मलं **किं बहुए अण्णेण** किं बहुनान्येन शुद्धात्मबहिर्भूतेन रागादिविकल्पजालमालाप्रपंचेन **जो झायंतहं परमपउ लब्भइ** यं परमात्मानं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते। केन करणभूतेन। **एकखणेण** एकक्षणेनांतर्मुहूर्तेनापि। तथाहि। समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन स्वशुद्धात्मतत्त्व-ध्यानेनांतर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन तदेव निरंतरं ध्यातव्यमिति। तथा चोक्तं बृहदाराधनाशास्त्रे। षोडशतीर्थकराणां एकक्षणे तीर्थकरोत्पत्तिवासरे प्रथमे श्रामण्यबोध-सिद्धिः अंतर्मुहूर्तेन निर्वृत्तः। अत्राह शिष्यः। यद्यंतर्मुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीमस्माकं तद्ध्यानं कुर्वाणानां किं न भवति। परिहारमाह। यादृशं तेषां प्रथमसंहन-

---

ऐसा है कि आत्माका निश्चय वह सम्यग्दर्शन है आत्माका जानना वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें निश्चल होना वह सम्यक चारित्र है यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षके कारण हैं इनसे बंध कैसे हो सकता है कभी नहीं हो सकता ॥ ९७ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जो निर्मल आत्माको ही ध्यावौ जिसके ध्यान करनेसे अंत-र्मुहूर्तमें (तत्काल) मोक्षपदकी प्राप्ति हो;—हे योगी तू [**निर्मलं आत्मानं**] निर्मल आत्माका ही [**ध्यायस्व**] ध्यान कर [**अन्येन बहुना किं**] और बहुत पदार्थोंसे क्या। देश काल पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है रागादिविकल्पजालके समूहोंके प्रपंचसे क्या फायदा एक निज स्वरूपको ध्यावो [**यं**] जिस परमात्माके [**ध्यायमानानां**] ध्यानकरनेवालोंको [**एकक्षणेन**] क्षणमात्रमें [**परमपदं**] मोक्षपद [**लभ्यते**] मिलता है। **भावार्थ**—सब शुभाशुभ सकल्प विकल्परहित निजशुद्ध आत्म-स्वरूपके ध्यान करनेसे शीघ्र ही मोक्ष मिलती है इस लिये वही हमेशः ध्यान करने योग्य है। ऐसा ही बृहदाराधना शास्त्रमें कहा है। सोलह तीर्थंकरोंको एक ही समय तीर्थंकरोंके उत्पत्तिके दिन पहले चारित्र ज्ञानकी सिद्धि हुई फिर अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होगई। यहांपर शिष्य प्रश्न करता है कि यदि परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होती है तो इस समय ध्यानकरनेवाले हमलोगोंको क्यों नही होती। उसका समाधान इस तरह है कि जैसा निर्विकल्पशुक्लध्यान वज्रवृषभनाराच संहनना वालोंके चौथेकालमें होता है

नसहितानां शुक्लध्यानं भवति तादृशमिदानीं नास्तीति । तथा चोक्तं । "अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनं" । अत्र येन कारणेन परमात्मध्यानेनांतर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन संसारस्थितिछेदनार्थमिदानीमपि तदेव ध्यातव्यमिति भावार्थः ॥ ९८ ॥

अथ यस्य वीतरागमनसि शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि किं कुर्वंतीति कथयति,—

अप्पा णियमणि णिम्मलउ, णियमें वसइ ण जासु ।
सत्थपुराणइं तवचरणु, मुक्खु जि करहिं कि तासु ॥ ९९ ॥

आत्मा निजमनसि निर्मलः नियमेन वसति न यस्य ।
शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं मोक्षं अपि कुर्वंति किं तस्य ॥ ९९ ॥

अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु आत्मा निजमनसि निर्मलो नियमेन वसति तिष्ठति न यस्य **सत्थपुराणइ तवचरणु मुक्खु जि करहि कि तासु** शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं च मोक्षमपि किं कुर्वंति तस्येति । तद्यथा । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि निरर्थकानि भवंति । तर्हि किं सर्वथा निष्फलानि । नैव । यदि वीतरागसम्यक्त्वरूपस्वशुद्धात्मोपादेयभावना-

---

वैसा अब नही होसकता । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें कहा है—"अत्रेत्यादि" इसका अर्थ यह है कि श्रीसर्वज्ञवीतरागदेव इस भरतक्षेत्रमें इस पंचमकालमें शुक्लध्यानका निषेध करते हैं इस समय धर्मध्यान हो सकता है शुक्लध्यान नहीं हो सकता । उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों ही इस समय नही हैं सातवां गुणस्थानतक गुणस्थान है ऊपरके गुणस्थान नही हैं । इस जगह तात्पर्य यह है कि जिस कारण परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होती है इसलिये संसारकी स्थिति घटानेके वास्ते अब भी धर्मध्यानका आराधन करना चाहिये जिससे परंपराय मोक्ष भी मिलसकती है ॥ ९८ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जिसके रागरहित मनमें शुद्धात्माकी भावना नही है उसके शास्त्र पुराण तपश्चरण क्या करसकते हैं अर्थात् कुछभी नही कर सकते;—[**यस्य**] जिसके [**निजमनसि**] निज मनमें [**निर्मलः आत्मा**] निर्मल आत्मा [**नियमेन**] निश्चयसे [**न वसति**] नहीं रहता [**तस्य**] उस जीवके [**शास्त्रपुराणानि**] शास्त्र पुराण [**तपश्चरणमपि**] तपस्या भी [**किं**] क्या [**मोक्षं**] मोक्षको [**कुर्वंति**] करसकते हैं कभी नहीं करसकते । भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप शुद्धभावना जिसके नहीं है उसके शास्त्र पुराण तपश्चरणादि सब व्यर्थ हैं । यहां शिष्य प्रश्न करता है कि क्या विल्-

सहितानि भवंति तदा मोक्षस्यैव बहिरंगसहकारिकारणानि भवंति तदभावे पुण्यबंधकारणानि भवंति । मिथ्यात्वरागादिसहितानि पापबंधकारणानि च विद्यानुवादसंज्ञितदशमपूर्वश्रुतं पठित्वा भर्गपुरुषादिवदिति भावार्थः ॥ ९९ ॥

अथात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति दर्शयति,—

जोइय अप्पें जाणिएण, जगु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहं केरइ भावडइ, बिंबिउ जेण वसेइ ॥ १०० ॥

योगिन् आत्मना ज्ञातेन जगत् ज्ञातं भवति ।
आत्मनः कृते भावे बिंबितं येन वसति ॥ १०० ॥

जोइय अप्पें जाणिएण हे योगिन् आत्मना ज्ञातेन । किं भवति । **जगु जाणियउ हवेइ** जगत्त्रिभुवनं ज्ञातं भवति । कस्मात् । **अप्पहं केरइं भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ** आत्मनः संबंधिनि भावे केवलज्ञानपर्याये बिंबितं प्रतिबिंबितं येन कारणेन वसति तिष्ठतीति । अयमर्थः । वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति समस्तद्वादशांगागमस्वरूपं ज्ञातं भवति । कस्माद्यस्माद्राघवपांडवादयो महापुरुषा जिनदीक्षां गृहीत्वा द्वादशांगं पठित्वा द्वादशांगाध्ययनफलभूते निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मध्याने तिष्ठंति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा

कुल ही निरर्थक हैं । उसका समाधान ऐसा है कि बिलकुल तो नहीं है लेकिन वीतराग सम्यक्त्वरूप निज शुद्धात्माकी भावना सहित हों तब तो मोक्षके ही बाह्य सहकारी कारण हैं यदि वे वीतरागसम्यक्त्वके अभावरूप हों तो पुन्यबंधके कारण हैं और जो मिथ्यात्वरागादि सहित हों तो पापबंधके कारण हैं जैसेकि रुद्र वगैरः विद्यानुवादनामा दशवें पूर्वतक शास्त्र पढकर भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ९९ ॥

आगे जिन भव्यजीवोंने आत्मा जानलिया उन्होंने सब जाना ऐसा दिखलाते हैं;— **[हे योगिन्]** हे योगी **[आत्मना ज्ञातेन]** एक अपने आत्माके जाननेसे **[जगत् ज्ञातं भवति]** यह तीन लोक जाना जाता है **[येन]** क्योंकि **[आत्मनः कृते भावे]** आत्माके भाव रूप केवलज्ञानमें **[बिंबितं]** यह लोक प्रतिबिंबित हुआ **[वसति]** बस रहा है । **भावार्थ**—वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्मतत्त्वके जाननेपर समस्त द्वादशाग शास्त्र जाना जाता है । क्योंकि जैसे रामचंद्र पाडव भरत सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराजकी दीक्षा लेकर फिर द्वादशागको पढकर द्वादशांग पढनेका फल निश्चयरत्नत्रय स्वरूप जो शुद्धपरमात्मा उसके ध्यानमें लीन हुए तिष्ठे । इसलिये वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानकर अपने आत्माका जानना ही सार है आत्माके जाननेसे सबका जानपना

निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानंदसुखरसास्वादे जाते सति पुरुषो जानाति । किं जानाति । वेत्ति मम स्वरूपमन्यद्देहरागादिकं परमिति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति । अथवा आत्मा कर्ता श्रुतज्ञानरूपेण व्याप्तिज्ञानेन करणभूतेन सर्वं लोकालोकं जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिबलेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन केवलज्ञाने जाते सति दर्पणे बिंबवत् सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अत्रेदं व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञात्वा बाह्याभ्यंतरपरिग्रहत्यागं कृत्वा सर्वतात्पर्येण निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यं । तथा चोक्तं समयसारे "जो पस्सइ अप्पाणं अवद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं । अपदेससुत्तमज्झं पस्सइ जिणसासणं सव्वं" ॥ १०० ॥

अथैतदेव समर्थयति;—

अप्पसहावि परिट्ठियहं, एहउ होइ विसेसु ।
दीसइ अप्पसहावि लहु, लोयालोउ असेसु ॥ १०१ ॥

सफल होता है इस कारण जिन्होंने अपना आत्मा जाना उनने सबको जाना । अथवा निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न हुआ जो परमानंद सुखरस उसके आस्वाद होनेपर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप जुदा है और देहरागादिक मुझसे दूसरे हैं मेरे नही हैं इसलिये आत्माके (अपने)जाननेसे सब भेद जाने जाते हैं जिसने अपनेको जानलिया उसने अपनेसे भिन्न सब पदार्थ जाने । अथवा आत्मा श्रुतज्ञानरूप व्याप्तिज्ञा-नसे सब लोकालोकको जानता है इसलिये आत्माके जाननेसे सब जाना गया । अथवा वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधिके बलसे केवल ज्ञानको उत्पन्न (प्रगट) करके जैसे दर्पणमें घटपटादि पदार्थ झलकते हैं उसीप्रकार ज्ञानरूपी दर्पणमें सब लोक अलोक भासते हैं । इससे यह बात निश्चय हुई कि आत्माके जाननेसे सब जाना जाता है । यहांपर सारांश यह हुआ कि इन चारों व्याख्यानोंका रहस्य जानकर बाह्य अभ्यंतर सब परिग्रह छोडकर सब तरहसे अपने शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये । ऐसा ही कथन समयसारमें श्री-कुंदकुंदाचार्यने किया है । "जो पस्सइ" इत्यादि—इसका अर्थ यह है कि जो निकट संसारी जीव स्वसंवेदन ज्ञानकर अपने आत्माको अनुभवता सम्यग्दृष्टिपनेसे अपनेको देखता है वह सब जैनशासनको देखता है ऐसा जिनसूत्रमे कहा है । कैसा वह आत्मा है ? रागादिक ज्ञानावरणादिकसे रहित है, अन्यभाव जो नरनारकादिपर्याय उनसे रहित है, विशेष अर्थात् गुणस्थान मार्गणा जीवसमास इत्यादि सब भेदोंसे रहित है । ऐसा आत्माके स्वरूपको जो देखता है जानता है अनुभवता है वह सब जिनशास-नका मर्म जाननेवाला है ॥ १०० ॥

आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां एष भवति विशेषः ।
दृश्यते आत्मस्वभावे लघु लोकालोकः अशेषः ॥ १०१ ॥

अप्पसहावि परिट्ठियहं आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां पुरुषाणां **एहउ होइ विसेसु** एष प्रत्यक्षीभूतो विशेषो भवति । एषः कः । **दीसइ अप्पसहावि लहु** दृश्यते परमात्मस्वभावे स्थितानां लघु शीघ्रं । अथवा पाठांतरं 'दीसइ अप्पसहाउ लहु' दृश्यते । स कः । आत्मस्वभावः कर्मतापन्नो लघु शीघ्रं न केवलमात्मस्वभावो दृश्यते **लोयालोउ असेसु** लोकालोकस्वरूपमप्यशेषं दृश्यत इति । अत्र विशेषेण पूर्वसूत्रोक्तमेव व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञातव्यं यस्मात्तस्यैव वृद्धमतसंवादरूपत्वादिति भावार्थः ॥ १०१ ॥

अतो अमुमेवार्थं दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थति,—

अप्पु पयासइ अप्पु परु, जिम अंबरि रविराउ ।
जोइय एत्थु म भंति करि, एहउ वत्थुसहाउ ॥ १०२ ॥

आत्मा प्रकाशयति आत्मानं परं यथा अंबरे रविरागः ।
योगिन् अत्र मा भ्रांतिं कार्षीः एष वस्तुस्वभावः ॥ १०२ ॥

अप्पु पयासइ आत्मा कर्ता प्रकाशयति । कं । **अप्पु परु** आत्मानं परं च । यथा कः किं प्रकाशयति । **जिमु अंबरि रविराउ** यथा येन प्रकारेण अंबरे रविरागः **जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थुसहाउ** हे योगिन्नत्र भ्रांतिं मा कार्षीः एष वस्तुस्वभावः इति । तद्यथा । यथा निर्मेघाकाशे रविरागो रविप्रकाशः स्वं परं च प्रकाशयति तथा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपे कारणसमयसारे स्थित्वा मोहमेघपटले विनष्टे सति परमात्मा छद्मस्थाव-

---

अब यही बात समर्थन (दृढ) करते हैं;—[**आत्मस्वभावे**] आत्माके स्वभावमें [**प्रतिष्ठितानां**] लीन हुए पुरुषोंके [**एष विशेषः भवति**] प्रत्यक्षमें तो यह विशेषता होती है कि [**आत्मस्वभावे**] आत्मस्वभावमें उनको [**अशेषः लोकालोकः**] समस्त लोकालोक [**लघु**] शीघ्र ही [**दृश्यते**] दीख जाता है । अथवा इस जगह ऐसा भी पाठांतर है "अप्पसहाव लहु" इसका अर्थ यह है कि अपना स्वभाव शीघ्र ही दीख जाता है और स्वभावके देखनेसे समस्त लोक भी दीखता है । यहांपर भी विशेषकरके पूर्वसूत्रकथित चारोंतरहका व्याख्यान जानना चाहिये, क्योंकि यही व्याख्यान बड़े २ आचार्योंने माना है ॥ १०१ ॥

आगे इसी अर्थको दृष्टांतदार्ष्टांतकरके दृढ करते हैं,—[**यथा**] जैसे [**अंबरे**] आकाशमें [**रविरागः**] सूर्यका प्रकाश अपनेको और परको प्रकाशित करता है उसीतरह [**आत्मा**] आत्मा [**आत्मानं**] अपनेको [**परं**] पर पदार्थोंको [**प्रकाशयति**] प्रकाशता है सो [**हे योगिन्**] हे योगी [**अत्र**] इसमें [**भ्रांतिं मा कुरु**] भ्रम मत

स्थायां वीतरागभेदभावनाज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येप पश्चादर्हदवस्थारूपकार्यसमयसार-रूपेण परिणम्य केवलज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येप आत्मवस्तुस्वभावः संदेहो नास्तीति । अत्र योसौ केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः स एवोपादेय इत्यभिप्रायः ।। १०२ ।।

अथास्मिन्नेवार्थे पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टांतमाह;—

तारायणु जलि विंबियउ, णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि विंबियउ, लोयालोउवि तेम ।। १०३ ।।

तारागणः जले विंबितः निर्मले दृश्यते यथा ।
आत्मनि निर्मले विंबितं लोकालोकमपि तथा ।। १०३ ।।

तारायणु जलि विंबियउ तारागणो जले विंवितः प्रतिस्फलितः । कथंभूते जले । **णिम्मलि दीसइ जेम** निर्मले दृश्यते यथा । दार्ष्टांतमाह । **अप्पइ णिम्मलि विंबियउ लोयालोउवि तेम** आत्मनि निर्मले मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहिते विंवितं लोकालोक-मपि तथा दृश्यत इति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वदृष्टांतसूत्रे व्याख्यातमत्रापि तदेव ज्ञातव्यं । कस्मात् । अयमपि तस्य दृष्टांतस्य दृढीकरणार्थमिति सूत्रतात्पर्यार्थः ।। १०३ ।।

करै [**एष वस्तुभावः**] ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है । **भावार्थ**—जैसे मेघरहित आका-शमें सूर्यका प्रकाश अपनेको और परको प्रकाशता है उसी प्रकार वीतरागनिर्विकल्पसमा-धिरूप कारणसमयसारमें लीन होकर मोहरूप मेघसमूहका नाश करके यह आत्मा मुनि अवस्थामें वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकर अपनेको और परको कुछ प्रकाशित करता है पीछे अरहंत अवस्थारूप कार्यसमयसारस्वरूप परिणमनकरके केवलज्ञानसे निज और परको सब द्रव्य क्षेत्र काल भावसे प्रकाशता है । यह आत्मवस्तुका स्वभाव है इसमें संदेह नही सम-झना । इस जगह ऐसा सारांश है कि जो केवल ज्ञान केवल दर्शन अनंतसुख अनंतवीर्य-रूप कार्यसमयसार है वही आराधने योग्य है ।। १०२ ।।

आगे इसी अर्थमें फिर भी खुलासा करनेके लिये दृष्टांत कहते हैं;—[**यथा**] जैसे [**तारागणः**] ताराओंका समूह [**निर्मले जले**] निर्मल जलमें [**विंबितः**] प्रतिविंबित हुआ [**दृश्यते**] प्रत्यक्ष दीखता है [**तथा**] उसीतरह [**निर्मले आत्मनि**] मिथ्यात्वरा-गादि विकल्पोंसे रहित स्वच्छ आत्मामें [**लोकालोकं अपि**] समस्त लोक अलोक भासते है । **भावार्थ**—इसका विशेष व्याख्यान जो पहले कहा था वही यहां पर जानना अर्थात् जो सबका ज्ञाता दृष्टा आत्मा है वही उपादेय है । यह सूत्र भी पहले कथनका दृढ करनेवाला है ।। १०३ ।।

अथात्मा परश्च येनात्मना ज्ञानेन ज्ञायते तमात्मानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन जानीहीति कथयति;—

अप्पुवि परुवि वियाणियइ, जें अप्पें मुणिएण ।
सो णियअप्पा जाणि तुहुं, जोइय णाणबलेण ॥ १०४ ॥

आत्मापि परः अपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन ।
तं निजात्मानं जानीहि त्वं योगिन् ज्ञानबलेन ॥ १०४ ॥

अप्पुवि परुवि वियाणियइं जें अप्पें मुणिएण आत्मापि परोपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन **सो णिय अप्पा जाणि तुहुं** तं निजात्मानं जानीहि त्वं **जोइय णाणबलेण** हे योगिन् । केन कृत्वा जानीहि । ज्ञानबलेनेति । अयमत्रार्थः । वीतरागसदानंदैकस्वभावेन येनात्मना ज्ञातेन स्वात्मा परोपि ज्ञायते तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानभावनासमुत्पन्नपरमानंदसुखरसास्वादेन जानीहि तन्मयो भूत्वा सम्यगनुभवेति भावार्थः ॥ १०४ ॥

अतः कारणात् ज्ञानं पृच्छति,—

णाणु पयासहि परमु महु, किं अण्णें बहुएण ।
जेण णियप्पा जाणियइं, सामिय एक्कखणेण ॥ १०५ ॥

ज्ञान प्रकाशय परमं मम किं अन्येन बहुना ।
येन निजात्मा ज्ञायते स्वामिन् एकक्षणेन ॥ १०५ ॥

णाणु पयासहि परमु महु ज्ञानं प्रकाशय परमं मम **किं अण्णें बहुएण** किमन्येन ज्ञानरहितेन बहुना **जेण णियप्पा जाणियइं** येन ज्ञानेन निजात्मा ज्ञायते **सामिय एक्क-**

आगे जिस आत्माके जाननेसे निज और पर सब पदार्थ जाने जाते है उसी आत्माको तू स्वसवेदन ज्ञानके बलसे जान ऐसा कहते हैं;—[**येन आत्मना विज्ञातेन**] जिस आत्माको जाननेसे [**आत्मा अपि**] आप और [**परः अपि**] पर सब पदार्थ [**विज्ञायते**] जाने जाते है [**तं निजात्मानं**] उस अपने आत्माको [**हे योगिन्**] हे योगी [**त्वं**] तू [**ज्ञानबलेन**] आत्मज्ञानके बलसे [**जानीहि**] जान । **भावार्थ**— यहापर यह है कि रागादि विकल्पजालसे रहित सदा आनंद स्वभाव जो निज आत्मा उसके जाननेसे निज और पर सब जाने जाते है इसलिये हे योगी हे ध्यानी तू उस आत्माको वीतराग निर्विकल्पस्वसवेदनज्ञानकी भावनासे उत्पन्न परमानंद सुखरसके आस्वादसे जान अर्थात् तन्मयी होकर अनुभव कर । स्वसवेदन ज्ञान (आपकर अपनेको अनुभव करना) ही सार है । ऐसा उपदेश श्रीयोगींद्रदेवने प्रभाकर भट्टको दिया ॥ १०४ ॥

खणेण हे स्वामिन्नियतकालेनैकक्षणेनेति । तथाहि । प्रभाकरभट्टः पृच्छति । किं पृच्छति । हे भगवन् येन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन क्षणमात्रेणैव शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ज्ञायते तदेव ज्ञानं कथय किमन्येन रागादिप्रवर्धकेन विकल्पजालेनेति । अत्र येनैव ज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिविकल्परहितेन निजशुद्धात्मसंवित्तिरूपेणांतर्मुहूर्तेनैव परमात्मस्वरूपं ज्ञायते तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ १०५ ॥

अत ऊर्ध्वं सूत्रचतुष्टयेन ज्ञानस्वरूपं प्रकाशयति;—

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुं, जो जाणइ अप्पाणु ।
जीवपएसहिं तित्तिडउ, णाणें गयणपवाणु ॥ १०६ ॥

आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वं यः जानाति आत्मानं ।
जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं ज्ञानेन गगनप्रमाणं ॥ १०६ ॥

अप्पा णाणु मुणेहिं तुहुं हे प्रभाकरभट्ट आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वं । यः किं करोति । **जो जाणइ अप्पाणु** यः कर्ता जानाति । कं । आत्मानं । किंविशिष्टं । **जीवपएसहिं तित्तिडउ** जीवप्रदेशैस्तावन्मात्रं लोकमात्रप्रदेशं । अथवा पाठांतरं । 'जीवपएसहिं देहसमु' तस्यार्थो निश्चयेन लोकमात्रप्रदेशोपि व्यवहारेणैव संहारविस्तारधर्मत्वाद्देहमात्रः । पुनरपि कथंभूतमात्मानं **णाणें गयणपवाणु** ज्ञानेन कृत्वा व्यवहारेण गगनमात्रं जानीहि इति ।

अब प्रभाकर भट्ट महान् विनयसे ज्ञानका स्वरूप पूछता है;–[**हे स्वामिन्**] हे भगवान [**येन ज्ञानेन**] जिस ज्ञानसे [**एक क्षणेन**] क्षण भरमें [**निजात्मा**] अपना आत्मा [**ज्ञायते**] जाना जाता है वह [**परमं ज्ञानं**] परम ज्ञान [**मम**] मेरे [**प्रकाशय**] प्रकाशित करो [**अन्येन बहुना**] और वहुत विकल्पजालोंसे [**किम्**] क्या फायदा कुछ भी नही । **भावार्थ**—प्रभाकर भट्ट श्रीयोगींद्रदेवको पूछता है कि हे स्वामी जिस वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकर क्षणमात्रमें शुद्धबुद्ध स्वभाव अपना आत्मा जाना जाता है वह ज्ञान मुझको प्रकाशित करो दूसरे विकल्पजालोंसे कुछ फायदा नहीं है क्योंकि ये रागादिक विभावोंके बढानेवाले हैं । साराश यह है कि मिथ्यात्वरागादि विकल्पोंसे रहित तथा निज शुद्ध आत्मानुभवरूप जिस ज्ञानसे अंतर्मुहूर्तमेंही परमात्माका स्वरूप जाना जाता है वही ज्ञान उपादेय है । ऐसी प्रार्थना शिष्यने श्रीगुरूसे की ॥ १०५ ॥

आगे श्रीगुरु चार दोहासूत्रोंसे ज्ञानका स्वरूप प्रकाशते हैं;—श्रीगुरु कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट [**त्वं**] तू [**आत्मानं**] आत्माको ही [**ज्ञानं**] ज्ञान [**मन्यस्व**] जान [**यः**] जो ज्ञानरूप आत्मा [**आत्मानं**] अपनेको [**जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं**] अपने प्रदेशोंसे लोक प्रमाण [**ज्ञानेन गगनप्रमाणं**] ज्ञानसे व्यवहार नयकर आकाशप्रमाण [**जानाति**] जानता है । अथवा यहां "देहसमु" ऐसा भी पाठ है तव ऐसा समझना

तद्यथा । निश्चयनयेन मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपंचकादभिन्नं व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया रूपावलोकनविषये दृष्टिवल्लोकालोकव्यापकं निश्चयेन लोकमात्रासंख्येयप्रदेशमपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रं तमित्थंभूतमात्मानं आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्पकल्लोलजालं त्यक्त्वा जानाति यः स पुरुष एव ज्ञानादभिन्नत्वाज् ज्ञानं भण्यत इति । अत्रायमेव निश्चयनयेन पंचज्ञानाभिन्नमात्मानं जानात्यसौ ध्याता तमेवोपादेयं जानीहीति भावार्थः । तथा चोक्तं । "आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एगमेव पदं । सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदि लहदि" ॥ १०६ ॥

अथ,—

अप्पहं जेवि विभिण्ण वढ, ते जि हवंति ण णाणु ।
ते तुहुं तिण्णिवि परिहरिवि, णियमिं अप्पु वियाणु ॥ १०७ ॥

आत्मनः ये अपि विभिन्नाः वत्स तेपि भवंति न ज्ञानं ।
तान् त्वं त्रीण्यपि परिहृत्य नियमेन आत्मानं विजानीहि ॥ १०७ ॥

अप्पहं जेवि विभिण्ण वढ आत्मनः सकाशाद्येपि भिन्नाः वत्स **ते जि हवंति ण णाणु** तेपि भवंति न ज्ञानं तेन कारणेन **तुहुं तिण्णिवि परिहरिवि** तान् कर्मतापन्नान् तत्र हे

कि निश्चयनयसे लोक प्रमाण है तौभी व्यवहारनयसे सकोच विस्तारस्वभाव होनेसे शरीर प्रमाण है । **भावार्थ**—निश्चयनयकर मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल इन पांच ज्ञानोंसे अभिन्न तथा व्यवहारनयसे ज्ञानकी अपेक्षा रूप देखनेमें नेत्रोंकी तरह लोक अलोकमें व्यापक है । अर्थात् जैसे आखें रूपी पदार्थोंको देखती हैं परंतु उन स्वरूप नहीं होती वैसे ही आत्मा यद्यपि लोक अलोकको जानता है देखता है तौभी उन स्वरूप नहीं होता अपने स्वरूप ही रहता है ज्ञानकर ज्ञेय प्रमाण है यद्यपि निश्चयसे प्रदेशोंकर लोक प्रमाण है असख्यात प्रदेशी है तौभी व्यवहारनयकर अपने देहप्रमाण है ऐसे आत्माको जो पुरुष आहार भय मैथुन परिग्रहरूप चार वांछाओंस्वरूप आदि समस्त विकल्पकी तरंगोंको छोड़कर जानता है वही पुरुष ज्ञानसे अभिन्न होनेसे ज्ञान कहा जाता है । आत्मा और ज्ञानमें भेद नहीं है आत्मा ही ज्ञान है । यहा साराश यह है कि निश्चयनयकरके पाच प्रकारके ज्ञानोंसे अभिन्न अपने आत्माको जो ध्यानी जानता है उसी आत्माको तू उपादेय जान । ऐसाही सिद्धातोंमें हरएक जगह कहा है—"आभिणि" इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल ज्ञान ये पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञान एक आत्माका ही स्वरूप है आत्माके विना ये ज्ञान नही होसकते वह आत्मा ही परम अर्थ है जिसको पाकर यह जीव निर्वाणको पाता है ॥ १०६ ॥

आगे परभावका निषेध करते हैं;—[हे वत्स] हे शिष्य [आत्मनः] आत्मासे

प्रभाकरभट्ट त्रीण्यपि परिहृत्य । पश्चात्किं कुरु । **णियमिं अप्पु वियाणु** निश्चयेनात्मानं विजानीहीति । तद्यथा । सकलविशदैकज्ञानस्वरूपात्परमात्मपदार्थात् निश्चयनयेन भिन्नं त्रीण्यपि धर्मार्थकामान् त्यक्त्वा वीतरागस्वसंवेदनलक्षणे शुद्धात्मानुभूतिज्ञाने स्थित्वात्मानं जानीहीति भावार्थः ॥ १०७ ॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर, णाणु वियाणइ जेण ।
तिण्णिवि मिल्लिवि जाणि तुहुं, अप्पा णाणें तेण ॥ १०८ ॥

आत्मा ज्ञानस्य गम्यः परः ज्ञानं विजानाति येन ।
त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं आत्मानं ज्ञानेन तेन ॥ १०८ ॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर आत्मा ज्ञानस्य गम्यो विषयः परः । कोर्थो । नियमेन । कस्मात् । **णाणु वियाणइ जेण** ज्ञानं कर्तृ विजानात्यात्मानं येन कारणेन अतः कारणात् **तिण्णिवि मिल्लिवि जाणि तुहु** त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट **अप्पा णाणें तेण** । कं जानीहि । आत्मानं । केन । ज्ञानेन तेन कारणेनेति । तथाहि । निजशुद्धात्मा ज्ञानस्यैव गम्यः । कस्मादिति चेत् । मतिज्ञानादिपंचकविकल्परहितं यत्परमपदं परमात्मशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणं तद्रूपो योसौ परमात्मा तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना दुर्धरानुष्ठानं कुर्वाणोपि वहवोपि न लभंते यतः कारणात् । तथा चोक्तं समयसारे । "णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं वहूवि ण लहंति । तं गिण्ह सुपदमेदं जइ इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं" । अत्र धर्मार्थकामादिसर्वपरद्रव्येच्छां योसौ मुंचति स्वशुद्धात्मसुखामृते तृप्तो भवति स एव निःपरिग्रहो भण्यते स एवात्मानं जानातीति भावार्थः ।

[**ये अपि भिन्नाः**] जो जुदे भाव हैं [**तेपि**] वेभी [**ज्ञानं न भवंति**] ज्ञान नहीं हैं वे सब भाव ज्ञानसे रहित जडरूप हैं [**तान्**] उन [**त्रीणि अपि**] धर्म अर्थ कामरूप तीनों भावोंको [**परिहृत्य**] छोडकर [**नियमेन**] निश्चयसे [**आत्मानं**] आत्माको [**त्वं**] तू [**विजानीहि**] जान । **भावार्थ**—हे प्रभाकरभट्ट मुनिरूप धर्म, अर्थरूप संसारके प्रयोजन, काम (विषयाभिलाष) ये तीनों ही आत्मासे भिन्न हैं ज्ञानरूप नही हैं । निश्चयनयकरके सव तरफसे निर्मल केवल ज्ञानस्वरूप परमात्मपदार्थसे भिन्न तीनों ही धर्म अर्थ काम पुरुषार्थोंको छोडकर वीतराग स्वसंवेदनस्वरूप शुद्धात्मानुभवरूपज्ञानमें रहकर आत्माको जान ॥ १०७ ॥

आगे आत्माका स्वरूप दिखलाते हैं;—[**आत्मा**] आत्मा [**परः**] नियमसे [**ज्ञानस्य**] ज्ञानके [**गम्यः**] गोचर है जो ज्ञानरूप [**येन**] क्योंकि [**ज्ञानं**] ज्ञान ही [**विजानाति**] आत्माको प्रदेशोंसे लोक प्रमाण लिये [**त्वं**] हे प्रभाकरभट्ट तू [**त्रीणि अपि मुक्त्वा**] धर्म अर्थ [**जानाति**] जानता हैं को छोडकर [**ज्ञानेन**] ज्ञानसे [**आत्मानं**] निजआत्माको

उक्तं च । "अपरिग्गहो अणिच्छो भणिओ णाणी दु णिच्छदे धम्मं । अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि" ॥ १०८ ॥

अथ;—

णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउं जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणिं णाणमउं, किं पर वंभु लहेहि ॥ १०९ ॥

ज्ञानिन् ज्ञानी ज्ञानिना ज्ञानिनं यावत् न जानासि ।
तावत् अज्ञानेन ज्ञानमयं किं परं ब्रह्म लभसे ॥ १०९ ॥

णाणिय हे ज्ञानिन् **णाणिउ** ज्ञानी निजात्मा **णाणिएण** ज्ञानिना निजात्मना करणभूतेन । कथंभूतो निजात्मा । **णाणिउ** ज्ञानी ज्ञानलक्षणः तमित्थंभूतमात्मानं **जा ण मुणेहि** यावत्कालं न जानासि **ता अण्णाणिं णाणमउं** तावत्कालमज्ञानेन मिथ्यात्वरा-

---

[**जानीहि**] जान । **भावार्थ**—निजशुद्धातमा ज्ञानके ही गोचर (जानने योग्य) है क्योंकि मतिज्ञानादि पाच भेदोंरहित जो परमात्मशब्दका अर्थ परमपद है वही साक्षात् मोक्षका कारण है उस स्वरूप परमात्माको वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानके विना दुर्धर तपके करनेवाले भी बहुतसे प्राणी नहीं पाते । इसलिये ज्ञानसे ही अपना स्वरूप अनुभव कर । ऐसा ही कथन श्रीकुंदकुंदाचार्यने समयसारजीमें किया है "णाणगुणेहि" इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान नामा निज गुणसे रहित पुरुष इस ब्रह्मपदको बहुत कष्ट करके भी नही पाते अर्थात् जो महान दुर्धर तप करौ तौभी नही मिलता । इसलिये जो तू दुःखसे छूटना चाहता है सिद्धपदकी इच्छा रखता है तो आत्मज्ञानकर निजपदको प्राप्त कर । यहां सारांश यह है कि जो धर्म अर्थ कामादि सब परद्रव्यकी इच्छाको छोड़ता है वही निज शुद्धात्मसुखरूप अमृतमें तृप्त हुआ सिद्धांतमें परिग्रहरहित कहा जाता है और निर्ग्रंथ कहा जाता है और वही अपने आत्माको जानता है । ऐसा ही समयसारजीमें कहा है "अपरिग्गहो" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जिनसिद्धातमे परिग्रहरहित और इच्छारहित ज्ञानी कहा गया है जो धर्मको भी नही चांहता है अर्थात् जिसके व्यवहारधर्मकी भी कामना नही है उसके अर्थ तथा कामकी इच्छा कहांसे होवै । वह आत्मज्ञानी सब अभिलाषाओंसे रहित है जिसके धर्मका भी परिग्रह नहीं है तो अन्य परिग्रह कहांसे हो इसलिये वह ज्ञानी परिग्रही नही है केवल निजस्वरूपका जाननेवाला ही होता है ॥ १०८ ॥

आगे ज्ञानसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं;—[**हे ज्ञानिन्**] हे ज्ञानी [**ज्ञानी**] ज्ञानवान् अपना आत्मा [**ज्ञानिना**] सम्यग्ज्ञानकरके [**ज्ञानिनं**] ज्ञानलक्षण-

गादिविकल्पजालेन ज्ञानमयं । **किं पर बंभु लहेहि** कि परमुत्कृष्टं ब्रह्मस्वभावं लभसे किं तु नैवेति । तद्यथा । यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं आत्मनः सकाशात् आत्मनि स्थितं समस्तरागादिविकल्पजालं मुक्त्वा न जानासि तावत्कालं परमब्रह्मशब्दवाच्यं निर्दोषिपरमात्मानं किं लभसे नैवेति भावार्थः ॥ १०९ ॥

अथानंतरं सूत्रचतुष्टयेनांतरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यं परमात्मानं कथयति,—

जोइज्जइ तिं बंभु परु, जाणिज्जइ तिं सोइ ।
बंभु मुणेविणु जेण लहु, गम्मिज्जइ परलोइ ॥ ११० ॥

दृश्यते तेन ब्रह्म परः ज्ञायते तेन स एव ।
ब्रह्म मत्त्वा येन लघु गम्यते परलोके ॥ ११० ॥

जोइज्जइ दृश्यते **तिं** तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा । कोसौ दृश्यते । **बंभु परु** ब्रह्मशब्दवाच्यः शुद्धात्मा । कथंभूतः । परः उत्कृष्टः । अथवा पर इति पाठे नियमेन । न केवलं दृश्यते **जाणिज्जइ** ज्ञायते तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा **सोइ** स एव शुद्धात्मा । केन कारणेन । **बंभु मुणेविणु जेण लहु** येन पुरुषेण येन कारणेन वा ब्रह्मशब्दवाच्यनिर्दोषिपरमात्मानं मत्त्वा ज्ञात्वा पश्चात् **गमिज्जइ परलोइ** तेनैव पूर्वोक्तेन ब्रह्मस्वरूपे परिज्ञा-

---

वाले आत्माको [**यावत्**] जबतक [**न**] नहीं [**जानासि**] जानता [**तावत्**] तबतक [**अज्ञानेन**] अज्ञानी होनेसे [**ज्ञानमयं**] ज्ञानमय [**परं ब्रह्म**] अपने स्वरूपको [**किं लभसे**] क्या पासकता है कभी नहीं पासकता । जो कोई आत्माको पाता है तो ज्ञानसे ही पासकता है । **भावार्थ**—जबतक यह जीव अपनेको आपकर अपनी प्राप्तिके लिये आपसे अपनेमें तिष्ठता नहीं जान ले तबतक निर्दोष शुद्ध परमात्मा सिद्ध परमेष्ठीको क्या पासकता है कभी नहीं पासकता । जो आत्माको जानता है वही परमात्माको जानता है ॥ १०९ ॥

इसप्रकार प्रथम महास्थलमें चार दोहाओंकर अंतरस्थलमें ज्ञानका व्याख्यान किया । आगे चार सूत्रोंकर अंतरस्थलमें परलोक शब्दकी व्युत्पत्तिकर परलोक शब्दसे परमात्माको ही कहते हैं;—[**तेन**] उस कारणसे उसी पुरुषसे [**परः ब्रह्म**] शुद्धात्मा नियमसे [**दृश्यते**] देखा जाता है [**तेन**] उसी पुरुषसे निश्चयसे [**स एव**] वही शुद्धात्मा [**ज्ञायते**] जाना जाता है [**येन**] जो पुरुष जिसकारण [**ब्रह्म मत्त्वा**] अपना स्वरूप जानकर [**परलोके लघु गम्यते**] परमात्मतत्त्वमें शीघ्र ही प्राप्त होता है । **भावार्थ**—जो

नपुरुषेण तेनैव कारणेन वा गम्यते । क । परलोके परलोकशब्दवाच्ये परमात्मतत्त्वे । किं च । योसौ शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण केवलज्ञानदर्शनस्वभावः परमात्मा स सर्वेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवानां शरीरे पृथक् पृथग्रूपेण तिष्ठति स एव परमब्रह्मा स एव परमविष्णुः स एव परमशिवः इति, व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवानर्हन्नेव मुक्तिगतसिद्धात्मा वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते । तेन नान्यः कोपि परिकल्पितः जगद्व्यापी तथैवैको परमब्रह्मा शिवो वास्तीति । अयमत्रार्थः । यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाग्रे तिष्ठति स एव ब्रह्मलोकः स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोपीति भावार्थः ॥ ११० ॥

अथ,—

मुणिवरविंदहं हरिहरहं, जो मणि णिवसइ देउ ।
परहं जि परतरु णाणमउ, सो वुच्चइ परलोउ ॥ १११ ॥

मुनिवरवृंदाना हरिहराणां यः मनसि निवसति देवः ।
परस्मात् अपि परतरः ज्ञानमयः स उच्यते परलोकः ॥ १११ ॥

मुणिवरविंदहं हरिहरहं मुनिवरवृंदानां हरिहराणां च **जो मणि णिवसइ देउ**

कोई शुद्धात्मा अपना स्वरूप शुद्ध निश्चयनयकर शक्तिरूपसे केवलज्ञान केवलदर्शन स्वभाव है वही वास्तवमें (असलमें) परमेश्वर है । परमेश्वरमें और जीवमें जातिभेद नही है जबतक कर्मोंसे बंधा हुआ है तबतक संसारमें भ्रमण करता है । सूक्ष्म वादर एकेन्द्रियादि जीवोंके शरीरमें जुदा जुदा तिष्ठता है और जब कर्मोंसे रहित होजाता है तब सिद्ध कहलाता है । ससारअवस्थामें शक्तिरूप परमात्मा है और सिद्ध अवस्थामें व्यक्तिरूप है । यही आत्मा परब्रह्म परमविष्णु परमशिव शक्तिरूप है और प्रगटरूपसे भगवान अर्हंत अथवा मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धात्मा ही परमब्रह्मा परमविष्णु परमशिव कहे जाते हैं । यह निश्चयसे जानो । ऐसा कहनेसे अन्य कोई भी कल्पना किया हुआ जगतमें व्यापक परमब्रह्म परमविष्णु परमशिव नहीं है । साराश यह है कि जिसलोकके शिखरपर अनंत सिद्ध विराज रहे हैं वही लोकका शिखर परम धाम ब्रह्मलोक वही विष्णुलोक और वही शिवलोक है अन्य कोईभी ब्रह्मलोक विष्णुलोक शिवलोक नही है । ये सब निर्वाण क्षेत्रके नाम हैं और ब्रह्मा विष्णु शिव ये सब सिद्ध परमेष्ठीके नाम हैं । सो भगवान तो व्यक्तिरूप परमात्मा हैं तथा यह जीव शक्तिरूप परमात्मा है । इसमें सदेह नहीं है । जितने भगवानके उतने सब शक्तिरूप इस जीवके नाम हैं । यह जीव ही शुद्धनयकर भगवान है ॥ ११० ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि भगवानका ही नाम परलोक है;—[यः] जो आत्मदेव [मुनिवरवृंदानां हरिहराणां] मुनीश्वरोंके समूह के तथा इंद्र वा वासुदेव, रुद्रोंके

योसौ मनसि निवसति देवः आराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । **परहं जि परतरु णाणमउ** परस्मादुत्कृष्टादपि अथवा परहं जि वहुवचनं परेभ्योपि सकाशादतिशयेन परः परतरः । पुनरपि कथंभूतो । ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः **सो वुच्चइ परलोउ** स एवं गुणविशिष्टः शुद्धात्मा परलोक इत्युच्यते इति । पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानंदैकस्वभाव आत्मा तस्य लोकोऽवलोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवनमिति परलोकशब्दस्यार्थः अथवा लोक्यंते दृश्यंते जीवादिपदार्था यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः परश्चासौ लोकश्च परलोकः व्यवहारेण पुनः स्वर्गापवर्गलक्षणः परलोको भण्यते । अत्र योसौ परलोकशब्दवाच्यः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ १११ ॥ अथ ।

सो पर वुच्चइ लोउ परु, जसु मइ तित्थु वसेइ ।
जहिं मइ तहिं गइ जीवहं जि, णियमें जेण हवेइ ॥ ११२ ॥

सः परः उच्यते लोकः परः यस्य मतिः तत्र वसति ।
यत्र मतिः तत्र गतिः जीवस्य एव नियमेन येन भवति ॥ ११२ ॥

सो पर वुच्चइ लोउ परु स परः नियमेनोच्यते लोको जनः । कथंभूतो भण्यते । पर उत्कृष्टः । स कः । **जसु मइ तित्थु वसेइ** यस्य भव्यजनस्य मतिर्मनश्चित्तं तत्र निजपरमात्मस्वरूपे वसति विषयकषायविकल्पजालत्यागेन स्वसंवेदनसंवित्तिस्वरूपेण स्थिरीभवतीति । यस्य परमात्मतत्त्वे मतिस्तिष्ठति स कस्मात्परो भवतीति चेत् **जहिं मइ तहं गइ जीवहं**

[**मनसि**] चित्तमें [**निवसति**] वस रहा है [**सः**] वह [**परस्मात् अपि परतरः**] उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमई [**परलोकः**] परलोक [**उच्यते**] कहा जाता है । **भावार्थ**—परलोक शब्दका अर्थ ऐसा है कि पर अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग-चिदानंद शुद्धस्वभाव आत्मा उसका लोक अर्थात् अवलोकन निर्विकल्पसमाधिमें अनुभवना वह **परलोक** है । अथवा जिसके परमात्मस्वरूपमें या केवलज्ञानमें जीवादिपदार्थ देखे जावें इसलिये उस परमात्माका नाम परलोक है । अथवा व्यवहारनयकर स्वर्ग मोक्षको परलोक कहते हैं । स्वर्ग और मोक्षका कारण भगवानका धर्म है इसलिये केवली भगवानको परलोक कहते हैं । परमात्माके समान अपना निज आत्मा है वही परलोक है वोही उपादेय है ॥ १११ ॥

आगे ऐसा कहते हैं जिसका मन निजआत्मामें वस रहा है वही ज्ञानी जीव परलोक है;—[**यस्य मति**] जिस भव्यजीवकी वुद्धि [**तत्र**] उस निज आत्मस्वरूपमें [**वसति**] वस रही है अर्थात् विषयकषायविकल्पजालके त्यागसे स्वसंवेदन–ज्ञानस्वरूपकर स्थिर हो रही है [**सः**] वह पुरुष [**परः**] निश्चयकर [**परः लोकः**] उत्कृष्ट जन [**उच्यते**] कहा जाता है । अर्थात् जिसकी वुद्धि निजस्वरूपमें ठहर रही है वही उत्तम जन है

जि णियमिं जेण हवेइ येन कारणेन यत्र स्वशुद्धात्मस्वरूपे मतिस्तत्रैव गतिः । कस्यैव । जीवस्यैव अथवा बहुवचनपक्षे जीवानामेव निश्चयेन भवतीति । अयमत्र भावार्थः । यद्यार्तरौद्राधीनतया स्वशुद्धात्मभावनाच्युतो भूत्वा परभावेन परिणमति तदा दीर्घसंसारी भवति, यदि पुनर्निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मतत्त्वे भावनां करोति तर्हि निर्वाणं प्राप्नोति इति ज्ञात्वा सर्वरागादिविकल्पत्यागेन तत्रैव भावना कर्तव्येति ॥ ११२ ॥ अथ ।

जहिं मइ तहिं गइ जीव तुहुं, मरणुवि जेण लहेहि ।
तें परबंभु मुएवि मइं, मा पर दव्वि करेहि ॥ ११३ ॥

यत्र मतिः तत्र गतिः जीव त्वं मृत्वा येन लभसे ।
तेन परब्रह्म मुक्त्वा मतिं मा परद्रव्ये कार्षीः ॥ ११३ ॥

जहिं मइ तहिं गइ जीव तुहुं मरणुवि जेण लहेहि यत्र मतिस्तत्र गतिः हे जीव त्वं मरणेन कृत्वा येन कारणेन लभसे **तें परबंभु मुएवि मइ मा परदव्वि करेहि** तेन कारणेन परमब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं वीतरागसदानंदैकसुखामृतरसपरिणतं निजशुद्धात्मतत्त्वं मुक्त्वा मतिं चित्तं मा परद्रव्ये देहसंगादिषु मा कार्षीरिति तात्पर्यार्थः ॥ ११३ ॥ एवं सूत्रचतुष्टयेनांतरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यस्य परमात्मनो व्याख्यानं गतं ।

[**येन**] क्योंकि [**यत्र मतिः**] जैसी बुद्धि होती है [**तत्र**] वैसी [**एव**] ही [**जीवस्य**] जीवकी [**गतिः**] गति [**नियमेन**] निश्चयकर [**भवति**] होती है ऐसा जिनवरदेवने कहा है । अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपमें जिस जीवकी बुद्धि होवे उसको वैसी ही गति होती है जिन जीवोंका मन निजवस्तुमें है उनको निजपदकी प्राप्ति होती है इसमें सदेह नही है ॥ **भावार्थ—**जो आर्तध्यान रौद्रध्यानकी आधीनतासे अपने शुद्धात्मकी भावनासे रहित हुआ रागादिक परभावोंस्वरूप परिणमन करता है तो वह दीर्घससारी होता है और जो निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परमात्मतत्त्वमे भावना करता है तो मोक्ष ही पाता है । ऐसा जानकर सब रागादि विकल्पोंको त्याग उस परमात्मतत्त्वमें ही भावना करनी चाहिये ॥ ११२ ॥

आगे फिर भी इसी बातको दृढ करते हैं,—[हे जीव] हे जीव [**यत्र मतिः**] जहा तेरी बुद्धि है [**तत्र गतिः**] वहीपर गति है उसको [**येन**] जिस कारणसे [**त्वं मृत्वा**] तू मरकर [**लभसे**] पावैगा [**तेन**] इसलिये तू [**परब्रह्म**] परम ब्रह्मको [**मुक्त्वा**] छोडकर [**परद्रव्ये**] परद्रव्यमे [**मतिं**] बुद्धिको [**मा कार्षीः**] मत करै ॥ **भावार्थ—** शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर टांकीकासा गढा हुआ अघटितघाट, अमूर्तीक पदार्थ ज्ञायकमात्र स्वभाव, वीतराग सदा आनंदरूप अद्वितीय अतीद्रिय सुखरूप अमृतके रसकर तृप्त, ऐसे

तदनंतरं किं तत् परद्रव्यमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति,—

जं णियदव्वहं भिण्णु जडु, तं परदव्वु वियाणि ।
पुग्गलु धम्माधम्मु णहु, कालुवि पंचमु जाणि ॥ ११४ ॥

यत् निजद्रव्यात् भिन्नं जडं तत् परद्रव्यं जानीहि ।
पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पंचमं जानीहि ॥ ११४ ॥

जमित्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते **जं** यत् **णियदव्वहं** निजद्रव्यात् **भिण्णु** भिन्नं पृथग्भूतं **जडु** जडं **तं** तत् **परदव्वु वियाणि** परद्रव्यं जानीहि । तच्च किं । **पुग्गलु धम्माहम्मु णहु** पुद्गलधर्माधर्मनभोरूपं **कालुवि** कालमपि **पंचमु जाणि** पंचमं जानीहीति । अनंतचतुष्टयस्वरूपान्निजद्रव्याद्बाह्यं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपं जीवसंबंधं शेषं पुद्गलादि-पंचभेदं यत्सर्वं तद्धेयमिति ॥ ११४ ॥

अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरंतर्मुहूर्तेनापि कर्मजालं दहतीति ध्यानसामर्थ्यं दर्शयति;—

जइ णिविसद्धुवि कुवि करइ, परमप्पइ अणुराउ ।
अग्गिकणी जिम कट्ठगिरि, डहइ असेसुवि पाउ ॥ ११५ ॥

यदि निमिषार्धमपि कोपि करोति परमात्मनि अनुरागं ।
अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति अशेषमपि पापं ॥ ११५ ॥

निजशुद्धात्मतत्त्वको छोड़कर द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्ममें या देहादि परिग्रहमें मनको मत लगा ॥ ११३ ॥

इसप्रकार पहले महाधिकारमें चार दोहासूत्रोंकर अंतरस्थलमें परलोक शब्दका अर्थ परमात्मा किया । आगे परलोक (परमात्मा) में ही मन लगा परद्रव्यसे ममता छोड ऐसा कहा गया था उसमें शिष्यने प्रश्न किया कि परद्रव्य क्या है उसका समाधान श्रीगुरु कहते हैं;—[**यत्**] जो [**निजद्रव्यात्**] आत्मपदार्थसे [**भिन्नं**] जुदा [**जडं**] जड पदार्थ है [**तत्**] उसे [**परद्रव्यं**] परद्रव्य [**जानीहि**] जानो । और वह परद्रव्य [**पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पंचमं**] पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और पांचवा कालद्रव्य [**जानीहि**] ये सब परद्रव्य जानो । **भावार्थ**—द्रव्य छह हैं उनमेंसे पांच जड और जीवको चैतन्य जानो । पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश ये सब जड हैं इनको अपनेसे जुदे जानो और जीव भी अनंत हैं उन सबोंको अपनेसे भिन्न जानो । अनंत चतुष्टय स्वरूप अपना आत्मा है उसीको निज (अपना) जान । और जीवके भावकर्म-रूप रागादिक तथा द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि आठकर्म, और शरीरादिक नोकर्म इनका संबंध अनादिसे है परंतु जीवसे भिन्न हैं इसलिये अपने मत मानें । पुद्गलादि पांच भेद जडपदार्थ सब हेय जान अपना, स्वरूप ही उपादेय है उसीको आराधन कर ॥ ११४ ॥

जइ इत्यादि । **जइ णिविसद्धुवि** यदि निमिपार्धमपि **कुवि करइ** कोपि कश्चित् करोति । किं करोति । **परमप्पइ अणुराउ** परमात्मन्यनुरागं । तदा किं करोति । **अग्गि-कणी जिमु कट्ठगिरि** अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति तथा **डहइ असेसुवि पाउ** दहत्य-शेषं पापमिति । तथाहि—शुद्धिगौरवरसगौरवकवित्ववादित्वगमकत्ववाग्मित्वचतुर्विधशब्दगौ-रवस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्पजालत्यागरूपेण महावातेन प्रज्वलिता निजशुद्धात्मतत्त्वध्याना-ग्निकणिका स्तोकाग्निकेंधनराशिमिवांतर्मुहूर्तेनापि चिरसंचितकर्मराशि दहतीति । अत्रैवंविधं शुद्धात्मध्यानसामर्थ्यं ज्ञात्वा तदेव निरंतरं भावनीयमिति भावार्थः ॥ ११५ ॥

अथ हे जीव चिंताजालं मुक्त्वा शुद्धात्मस्वरूपं निरंतरं पश्येति निरूपयति,—

मिल्लिवि सयल अवक्खडी, जिय णिच्चिंतउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परमपइ, देउ णिरंजणु जोइ ॥ ११६ ॥

मुक्त्वा सकलां चिंतां जीव निश्चिंतः भूत्वा ।
चित्तं निवेशय परमपदे देवं निरंजनं पश्य ॥ ११६ ॥

मिल्लिवि इत्यादि । **मिल्लिवि** मुक्त्वा **सयल** समस्तं **अवक्खडी** देशभापया चिंता **जिय** हे जीव **णिच्चिंतउ होइ** निश्चितो भूत्वा । किं कुरु । **चित्तु णिवेसहि** चित्तं निवेशय

आगे एक अंतमुहूर्तमें कर्म जालको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप अग्नि भस्म करडालती है ऐसी समाधिकी सामर्थ्य है वोही दिखाते हैं;—[**यदि**] जो [**निमिषार्धमपि**] आधेनिमेषमात्र भी [**कोपि**] कोई [**परमात्मनि**] परमात्मामें [**अनुरागं**] प्रीतिको [**करोति**] करै तो [**यथा**] जैसे [**अग्निकणिका**] अग्निकी कणी [**काष्ठगिरिं**] काठके पहाड़को [**दहति**] भस्म करती है उसीतरह [**अशेषं अपि पापं**] सब ही पापोंको भस्म कर डालै ॥ **भावार्थ**—ऋद्धिका गर्व रसायनका गर्व अर्थात् पारावगैरः आदि धातु-ओंके भस्म करनेका मद अथवा नौ रसके जाननेका गर्व, कविकलाका मद, वादमें जीतनेका मद, शास्त्रकी टीका बनानेका मद, शास्त्रके व्याख्यान करनेका मद ये चार तरहका शब्द गौरव स्वरूप इत्यादि अनेक विकल्पजालोंका त्यागरूप प्रचंड पवन उसकरके प्रज्वलित हुई (दहकतीहुई) जो निजशुद्धात्मतत्त्वके ध्यानरूप अग्निकी कणी है वह जैसे अग्निकी कणी काठके पर्वतको भस्म करदेती है उसीतरह समस्त पापोंको भस्म कर डालती है अर्थात् जन्म जन्मके इकट्ठे किये हुए कर्मोंको आधे निमेपमें नष्ट कर देती है ऐसी शुद्ध आत्मध्यानकी सामर्थ्य जानकर उसी ध्यानकी ही भावना हमेशा करनी चाहिये ॥ ११५ ॥

आगे हे जीव चिंताओंको छोड़कर शुद्धात्मस्वरूपको निरंतर देख ऐसा कहते हैं;—[**हे जीव**] हे जीव [**सकलां**] समस्त [**चिंतां**] चिंताओंको [**मुक्त्वा**] छोडकर

धारय । क । **परमपए** निजपरमात्मपदे । पश्चात् किं कुरु । **देउ णिरंजणु जोइ** देवं निरंजनं पश्येति । तद्यथा । हे जीव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्वरूपापध्यानादि—समस्तचिंताजालं मुक्त्वा निश्चिंतो भूत्वा चित्तं परमात्मस्वरूपे स्थिरं कुरु, तदनंतरं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माजनरहितं देवं परमाराध्यं निजशुद्धात्मानं ध्यायेति भावार्थः । अपध्यानलक्षणं कथ्यते "बंधवधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः" ॥ ११६ ॥

अथ शिवशब्दवाच्ये निजशुद्धात्मनि ध्याते यत्सुखं भवति तत्सूत्रत्रयेण प्रतिपादयति,—

जं सिवदंसणि परमसुहु, पावहि झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणिवि अत्थि णवि, मेल्लिवि देउ अणंतु ॥ ११७ ॥

यत् शिवदर्शने परमसुखं प्राप्नोषि ध्यानं कुर्वन् ।
तत् सुखं भुवनेपि अस्ति नैव मुक्त्वा देवं अनंतं ॥ ११७ ॥

जमित्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते–**जं** यत् **सिवदंसणि** स्वशुद्धात्मदर्शने **परमसुहु** परमसुखं **पावहि** प्राप्नोषि हे प्रभाकरभट्ट । किं कुर्वन् सन् । **झाणु करंतु** ध्यानं कुर्वन् सन् **तं सुहु** तत्पूर्वोक्तसुखं **भुवणिवि** भुवनेपि **अत्थि णवि** अस्ति नैव । किं कृत्वा । **मिल्लिवि** मुक्त्वा । कं । **देउ** देवं । कथंभूतं । **अणंतु** अनंतशब्दवाच्यपरमात्मपदार्थमिति ।

[**निश्चितः भूत्वा**] निश्चित होकर तू [**चित्तं**] अपने मनको [**परमपदे**] परमपदमें [**निवेशय**] धारण कर और [**निरंजनं देवं**] निरंजनदेवको [**पश्य**] देख । **भावार्थ**— हे हंस (जीव) देखे सुने और भोगे हुए भोगोकी वाछारूप खोटेध्यान आदि सव चिंताओंको छोडकर अत्यंत निश्चित होकर अपने चित्तको परमात्मस्वरूपमें स्थिर कर । उसके वाद भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप अंजनसे रहित जो निरंजनदेव परम आराधने योग्य अपना शुद्धात्मा है उसको ध्यावो । पहले यह कहा था कि खोटे ध्यानको छोड, सो खोटे ध्यानका नाम शास्त्रमें अपध्यान कहा है । वह अपध्यानका लक्षण कहते हैं । "बध बंधेत्यादि" उसका अर्थ ऐसा है कि निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिन शासनमें उसको अपध्यान कहते हैं कि जो द्वेषसे परके मारनेका बांधनेका अथवा छेदनेका चितवन करै और रागभावसे परस्त्री आदिका चिंतवन करै । उस अपध्यानके दो भेद हैं एक आर्त दूसरा रौद्र । सो ये दोनों ही नरक निगोदके कारण हैं इसलिये विवेकियोंको त्यागने योग्य हैं ॥ ११६ ॥

आगे शिव शब्दसे कहे गये निजशुद्धआत्माके ध्यान करनेपर जो सुख होता है उस सुखको तीन दोहासूत्रोंसे वर्णन करते हैं;—[**यत्**] जो [**ध्यानं कुर्वन्**] ध्यान करता हुआ [**शिवदर्शने परमसुखं**] निजशुद्धात्माके अवलोकनमें अत्यंत सुख [**प्राप्नोषि**]

तथाहि—शिवशब्देनात्र विशुद्धो ज्ञानस्वभावो निजशुद्धात्मा ज्ञातव्यः तस्य दर्शनमवलोकनमनुभवनं तस्मिन् शिवदर्शनेन परमसुखं निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्लादरूपं लभसे । किं कुर्वन् सन् । वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिं कुर्वन् । इत्थंभूतं सुखं अनंतशब्दवाच्यो योसौ परमात्मपदार्थस्तं मुक्त्वा त्रिभुवनेपि नास्तीति । अयमत्रार्थः । शिवशब्दवाच्यो योसौ निजपरमात्मा स एव रागद्वेषमोहपरिहारेण ध्यातः सन्ननाकुलत्वलक्षणं परमसुखं ददाति नान्य कोपि शिवनामेति पुरुषः ॥ ११७ ॥ अथ ।

जं मुणि लहइ अणंतसुहु, णियअप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदुवि णवि लहइ, देविहिं कोडि रमंतु ॥ ११८ ॥

यत् मुनिः लभते अनंतसुखं निजात्मानं ध्यायन् ।
तत् सुखं इंद्रोपि नैव लभते देवीना कोटिं रम्यमानः ॥ ११८ ॥

जमित्यादि । **जं** यत् **मुणि** मुनिस्तपोधनः **लहइ** लभते **अणंतुसुहु** अनंतसुखं । किं कुर्वन् सन् । **णियअप्पा झायंतु** निजात्मानं ध्यायन् सन् **तं सुहु** तत्पूर्वोक्तं सुखं **इंदुवि णवि लहइ** इंद्रोपि नैव लभते । किं कुर्वन् सन् । **देविहिं कोडि रमंतु** देवीनां कोटिं

हे प्रभाकर तू पासकता है [**तत् सुखं**] वह सुख [**भुवने अपि**] तीनलोकमें भी [**अनंतं देवं मुक्त्वा**] परमात्म द्रव्यके सिवाय [**नैव अस्ति**] नही है ॥ **भावार्थ**—शिव नाम कल्याणका है सो कल्याणरूप ज्ञानस्वभाव निजशुद्धात्मा जानो उसका जो दर्शन अर्थात् अनुभव उसमें सुख होता है वह सुख परमात्माको छोड तीनलोकमें नही है । वह सुख क्या है कि जो निर्विकल्प वीतराग परम आनंदरूप शुद्धात्मभाव है। वही सुखी है। क्या करता हुआ यह सुख पाता है कि तीनगुप्तिरूप परमसमाधिमें आरूढ हुआ सता ध्यानी पुरुष ही उस सुखको पाता है। अनंत गुणरूप आत्मतत्त्वके विना वह सुख तीनों लोकके स्वामी इंद्रादिकों भी नही है। इसकारण साराश यह निकला कि शिव नामवाला जो निज शुद्धात्मा है वही राग द्वेष मोहके त्यागकर ध्यान किया गया आकुलतारहित परमसुखको देता है। ससारी जीवोंके जो इद्रियजनित सुख है वह आकुलता रूप है और आत्मीक अतींद्रियसुख आकुलता रहित है सो सुख ध्यानसे ही मिलता है दूसरा कोई शिव या ब्रह्मा या विष्णु नामका पुरुष देनेवाला नही है। आत्माका ही नाम शिव है विष्णु है ब्रह्मा है ॥ ११७ ॥

आगे कहते हैं कि जो सुख आत्माको ध्यावनेसे महामुनि पाते हैं वह सुख इंद्रादि देवोंको दुर्लभ है;—[**निजात्मानं ध्यायन्**] अपनी आत्माको ध्यावता [**मुनिः**] परम तपोधन (मुनि) [**यत् अनंतसुखं**] जो अनंतसुख [**लभते**] पाता है [**तत् सुखं**] उस सुखको [**इंद्रः अपि**] इंद्र भी [**देवीनां कोटिं रम्यमानः**] करोड़ देवियोंके साथ

रम्यमानः अनुभवन्निति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । बाह्याभ्यंतरपरिग्रहरहितः स्वशुद्धात्मतत्त्व-भावनोत्पन्नवीतरागपरमानंदसहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तद्देवेन्द्रादयोपि न लभंत इति । तथा चोक्तं । "दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना । विमुक्तविषयासंगाः सुखायंते तपोधनाः ॥ ११८ ॥

अप्पादंसणि जिणवरहं, जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ, जाणंतउ सिउ संतु ॥ ११९ ॥

आत्मदर्शने जिनवराणां यत् सुखं भवति अनंतं ।
तत् सुखं लभते विरागः जीवः जानन् शिवं शांतं ॥ ११९ ॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पादंसणि** निजशुद्धात्मदर्शने **जिणवरहं** छद्मस्थावस्थायां जिनवराणां **जं सुहु होइ अणंतु** यत्सुखं भवत्यनंतं **तं सुहु** तत्पूर्वोक्तसुखं **लहइ** लभते । कोसौ । **विराउ जिउ** वीतरागभावनापरिणतो जीवः । किं कुर्वन् सन् । **जाणंतउ** जानन्ननुभवन् सन् । कं । **सिउ** शिवशब्दवाच्यं निजशुद्धात्मस्वभावं । कथंभूतं । **संतु** शांतं रागादि-विभावरहितमिति । अयमत्र भावार्थः । दीक्षाकाले शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मानुभवने यत्सुखं भवति जिनवराणां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो जीवस्तत्सुखं लभत इति ॥ ११९॥

रमता हुआ [नैव] नही [लभते] पाता ॥ भावार्थ—वाह्य और अंतरंग परिग्रहसे रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद उसकर सहित महा-मुनि जो सुख पाता है उस सुखको इंद्रादिक भी नहीं पाते । जगतमें सुखी साधु ही हैं अन्य कोई नही । यही कथन अन्यशास्त्रोंमें भी कहा है—"दह्यमाने इत्यादि" इसका अर्थ ऐसा है कि महामोहरूपी अग्निसे जलते हुए इस जगतमें देव मनुष्य तिर्यंच नारकी सब दुःखी हैं और जिनके तप ही धन है तथा सब विषयोंका संबंध जिन्होंने छोड दिया है ऐसे साधु मुनि ही इस जगतमें सुखी हैं ॥ ११८ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि वैरागी मुनि ही निज आत्माको जानते हुए निर्विकल्प सुखको पाते है;—[आत्मदर्शने] निजशुद्धात्माके दर्शनमें [यत् अनंतं सुखं] जो अनंत अद्भुत सुख [जिनवराणां] मुनि अवस्थामें जिनेश्वर देवोंके [भवति] होता है [तत् सुखं] वह सुख [विरागः जीवः] वीतराग भावनाको परिणत हुआ मुनिराज [शिवं शांतं जानन्] निज शुद्धात्मस्वभावको तथा रागादिरहित शांत भावको जानता हुआ [लभते] पाता है । भावार्थ—दीक्षाके समय तीर्थंकरदेव निज शुद्ध आत्माको अनुभवते हुए जो निर्विकल्प सुख पाते हैं वही सुख रागादिरहित निर्विकल्प समाधिमें लीन विरक्त मुनि पाते हैं ॥ ११९ ॥

अथ कामक्रोधादिपरिहारेण शिवशब्दवाच्यः परमात्मा दृश्यत इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयंति,—

जोइय णियमणि णिम्मलए, पर दीसइ सिउ संतु ।
अंबरि णिम्मलि घणरहिए, भाणु जि जेम फुरंतु ॥ १२० ॥

योगिन् निजमनसि निर्मले परं दृश्यते शिवः शांतः ।
अंबरे निर्मले घनरहिते भानुः इव यथा स्फुरन् ॥ १२० ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **णियमणि** निजमनसि । कथंभूते । **णिम्मलए** निर्मले परं नियमेन **दीसइ** दृश्यते । कोसौ । कर्मतापन्नः **सिउ** शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा । कथंभूतः । **संतु** शांतः रागादिरहितः । दृष्टांतमाह । अंबरे आकाशे । कथंभूते । **णिम्मलि** निर्मले । पुनरपि कथंभूते । **घणरहिए** घनरहिते । क इव । **भाणु जि** भानुरिव यथा । किं कुर्वन् । **फुरंतु** स्फुरन् प्रकाशमान इति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यथा घनघटाटोपविघटने सति निर्मलाकाशे दिनकरः प्रकाशते तथा शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतानां कामक्रोधादिविकल्परूपघनानां विनाशे सति निर्मलचित्ताकाशे केवलज्ञानाद्यनंतगुणकरकलितः निजशुद्धात्मादित्यः प्रकाशं करोतीति ॥ १२० ॥

अथ यथा मलिने दर्पणे रूपं न दृश्यते तथा रागादिमलिनचित्ते शुद्धात्मस्वरूपं न दृश्यत इति निरूपयति,—

राएं रंगिए हियवडए, देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलइ बिंबु जिम, एहउ जाणि णिभंतु ॥ १२१ ॥

रागेन रंजिते हृदये देवः न दृश्यते शातः ।
दर्पणे मलिने बिंबं यथा एतत् जानीहि निर्भ्रांतं ॥ १२१ ॥

आगे काम क्रोधादिकके त्यागनेसे शिव शब्दसे कहा गया परमात्मा दीख जाता है ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथासूत्र कहते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी [**निर्मले निजमनसि**] निर्मल अपने मनमें [**शिवः शांतः**] निज परमात्मा रागादि रहित [**परं**] नियमसे [**दृश्यते**] दीखता है [**यथा**] जैसे [**घनरहिते निर्मले**] बादल रहित निर्मल [**अंबरे**] आकाशमें [**स्फुरन्**] भासमान (प्रकाशमान) [**भानुः इव**] सूर्यके समान । **भावार्थ**—जैसे मेघमालाके आडंबरसे सूर्य नही भासता और मेघके आडंबरके दूर होनेपर निर्मल आकाशमें सूर्य प्रगट दीखता है उसी तरह शुद्धआत्माकी अनुभूतिके शत्रु जो कामक्रोधादि विकल्परूप मेघ हैं उनके नाश होनेपर निर्मल मनरूपी आकाशमें केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप किरणोंकर सहित निज शुद्धात्मारूपी सूर्य प्रकाश करता है ॥ १२० ॥

आगे जैसे मैले दर्पणमें रूप नही दीखता उसीतरह रागादिकर मलिन चित्तमें शुद्ध

राएं इत्यादि । राएं रंगिए हियवडए रागेन रंजिते हृदये देउ ण दीसइ देवो न दृश्यते । किं विशिष्टः । संतु शांतो रागादिरहितः । दृष्टांतमाह । दप्पणि मइलए दर्पणे मलिने विंबु जिम विंबं यथा एहउ एतत् जानीहि हे प्रभाकरभट्ट णिभंतु निर्भ्रांतं यथा भवतीति । अयमत्राभिप्रायः । यथा मेघपटलप्रच्छादितो विद्यमानोपि सहस्रकरो न दृश्यते तथा केवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकोपि कामक्रोधादिविकल्पमेघप्रच्छादितः सन् देहमध्ये शक्तिरूपेण विद्यमानोपि निजशुद्धात्मा दिनकरो न दृश्यते इति ॥ १२१ ॥

अथानंतरं विषयासक्तानां परमात्मा न दृश्यत इति दर्शयति;—

जसु हरिणच्छी हियवडए, तसु णवि बंभु वियारि ।
एक्कहिं केम समंति वढ, बे खंडा पडियारि ॥ १२२ ॥

यस्य हरिणाक्षी हृदये तस्य नैव ब्रह्म विचारय ।
एकस्मिन् कथं समायातौ वत द्वौ खड्गौ प्रतिद्वारे ॥ १२२ ॥

जसु इत्यादि । जसु यस्य पुरुषस्य हरिणच्छी हरिणाक्षी स्त्री हियवडए हृदये वसतीति क्रियाध्याहारः तसु तस्य णवि नैवास्ति । कोसौ । बंभु ब्रह्मशब्दवाच्यो निजपरमात्मा वियारि एवं विचारय त्वं हे प्रभाकरभट्ट । अत्रार्थे दृष्टांतमाह । एक्कहिं केम एकस्मिन् कथं समंति सम्यग्मिमाते सम्यगवकाशं कथं लभंते वढ वत बे खंडा द्वौ खड्गौ असी । काधिकरणभूते । पडियारि प्रतिद्वारे कोशशब्दवाच्ये इति । तथाहि ।

आत्मस्वरूप नही दीखता ऐसा कहते हैं;—[रागेन रंजिते] रागकरके रंजित [हृदये] मनमें [शांतः देवः] रागादिरहित आत्मा देव [न दृश्यते] नहीं दीखता [यथा] जैसे कि [मलिने दर्पणे] मैले दर्पणमें [विंबं] मुख नहीं भासता [एतत्] यह वात हे प्रभाकर भट्ट तू [निर्भ्रांतं] संदेह रहित [जानीहि] जान । भावार्थ—ऐसा श्री योगींद्राचार्यने उपदेश दिया है कि जैसे सहस्र किरणोंसे शोभित सूर्य आकाशमें प्रत्यक्ष दीखता है लेकिन मेघसमूहकर ढका हुआ नही दीखता उसीतरह केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप किरणोंकर लोक अलोकका प्रकाशनेवाला भी इस देह (घट) के बीचमें शक्तिरूपसे विद्यमान निज शुद्धात्मारूप (परमजोति चिद्रूप) सूर्य काम क्रोधादि रागद्वेषभावोंस्वरूप विकल्प जालोंरूप मेघसे ढंका हुआ नहीं दीखता ॥ १२१ ॥

आगे जो विषयोंमें लीन हैं उनको परमात्माका दर्शन नही होता ऐसा दिखलाते हैं;—[यस्य हृदये] जिस पुरुषके चित्तमें [हरिणाक्षी] मृगके समान नेत्रवाली स्त्री [वसति] [वसति] वस रही है [तस्य] उसके [ब्रह्म] अपना शुद्धात्मा [नैव] नहीं है अर्थात् उसके शुद्धात्माका विचार नहीं होता ऐसा हे प्रभाकरभट्ट तू अपने मनमें [विचारय] विचार कर । जसे [वैत] खेदकी वात है कि [एकस्मिन्] एक [प्रतिद्वारे] म्यानमें

वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिसंजातानाकुलत्वलक्षणपरमानंदसुखामृतप्रतिबंधकैराकुलत्वोत्पादकैः स्त्रीरूपावलोकनचितादिसमुत्पन्नहावभावविभ्रमविलासविकल्पजालैर्मूर्छिते वासिते रंजिते परिणते चित्ते त्वेकस्मिन् प्रतिहारे खड्गद्वयवत्परमब्रह्मशब्दवाच्यनिजशुद्धात्मा कथमवकाशं लभते न कथमपीति भावार्थः। हावभावविभ्रमविलासलक्षणं कथ्यते। "हावो मुखविकारः स्याद्भावश्चित्तोत्थ उच्यते। विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगांतयोः"॥१२२॥

अथ रागादिरहिते निजमनसि परमात्मा निवसतीति दर्शयति,—

णियमणि णिम्मलि णाणियहं, णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिम, महु एहउ पडिहाइ॥ १२३॥

निजमनसि निर्मले ज्ञानिनां निवसति देवः अनादिः।
हंसः सरोवरे लीनः यथा मम एवं प्रतिभाति॥ १२३॥

णियमणि इत्यादि। **णियमणि** निजमनसि। किं विशिष्टे। **णिम्मलि** निर्मले रागादिमलरहिते। केषां मनसि। **णाणियहं** ज्ञानिनां **णिवसइ** निवसति। कोसौ। **देउ** देवः आराध्यः। किंविशिष्ट.। **अणाइ** अनादिः। क इव कुत्र। **हंसा सरवरि लीणु जिम** हंसः सरोवरे लीनो यथा हे प्रभाकरभट्ट **महु एहउ पडिहाइ** ममैवं प्रतिभातीति।

[**द्वौ खड्गौ**] दो तलवारें [**कथं समायातौ**] कैसे आसकतीं हैं कभी नही समासकती॥ **भावार्थ**—वीतराग निर्विकल्प परम समाधिकर उत्पन्न हुआ अनाकुलतारूप परम आनंद अतींन्द्रिय सुखरूप अमृत है उसके रोकनेवाले तथा आकुलताको उत्पन्न करनेवाले जो स्त्रीरूपके देखनेकी अभिलापादिसे उत्पन्न हुए हाव (मुखविकार) भाव अर्थात् चित्तका विकार विभ्रम अर्थात् भौंहका टेढा करना, विलास अर्थात् नेत्रोंके कटाक्ष इन स्वरूप विकल्प जालोंकर मूर्छित रंजित परिणत चित्तमें ब्रह्मका (निजशुद्धात्माका) रहना कैसे हो सकता है। जैसे कि एक म्यानमें दो तलवार कैसे आसकती हैं नहीं आसकतीं। उसी तरह एक चित्तमें ब्रह्मविद्या और विषयविनोद ये दोनो नहीं समासकते। जहां ब्रह्म विचार है वहां विषयविकार नही है, जहा विषयविकार है वहा ब्रह्मविचार नही है। इन दोनोंमें आपसमें विरोध है। हाव भाव विभ्रम विलास इन चारोंका लक्षण दूसरी जगह भी कहा है। "हावो मुखविकारः" इत्यादि, उसका अर्थ ऊपर कह चुके हैं इससे दूसरी बार नही कहा॥ १२२॥

आगे रागादि रहित निज मनमें परमात्मा निवास करता है ऐसा दिखाते हैं;— [**ज्ञानिनां**] ज्ञानियोंके [**निर्मले**] रागादिमलरहित [**निजमनसि**] निज मनमें [**अनादिः देवः**] अनादि देव आराधने योग्य शुद्धात्मा [**निवसति**] निवास कररहा है [**यथा**] जैसे [**सरोवरे**] मानसरोवरमें [**लीनः हंसः**] लीन हुआ हंस वसता है।

तथाहि । पूर्वसूत्रकथितेन चित्ताकुलोत्पादकेन स्त्रीरूपावलोकनसेवनचिंतादिसमुत्पन्नेन रागादिकल्लोलमालाजालेन रहिते निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानसहजसमुत्पन्नवीतरागपरमसुखसुधारसस्वरूपेण निर्मलनीरेण पूर्णे वीतरागस्वसंवेदनजनितमानससरोवरे परमात्मा लीनस्तिष्ठति । कथंभूतः । निर्मलगुणसादृश्येन हंस इव हंसपक्षि इव । कुत्र प्रसिद्धः । सरोवरे । हंस इवेत्यभिप्रायो भगवतां श्रीयोगींद्रदेवानां ॥ १२३ ॥

उक्तंच;—

देउ ण देउलि णवि सिलए, णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्ति ॥ १२४ ॥

देवः न देवकुले नैव शिलाया नैव लेपे नैव चित्रे ।
अक्षयः निरंजनः ज्ञानमयः शिवः संस्थितः समचित्ते ॥ १२४ ॥

देउ इत्यादि । **देउ** देवः परमाराध्यः **ण** नास्ति । कस्मिन् कस्मिन् नास्ति । **देउले** देवकुले देवतागृहे **णवि सिलइ** नैव सिलाप्रतिमायां **णवि लिप्पइ** नैव लेपप्रतिमायां **णवि चित्ति** नैव चित्रप्रतिमायां । तर्हि क तिष्ठति । निश्चयेन **अखउ** अक्षयः **णिरंजणु** कर्मांजनरहितः । पुनरपि किं विशिष्टः । **णाणमउ** ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः **सिउ** शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा । एवं गुणविशिष्टः परमात्मा देव इति । **संठिउ** संस्थितः

सो हे प्रभाकरभट्ट [**मम**] मुझे [**एवं**] ऐसा [**प्रतिभाति**] मालूम पडता है । ऐसा वचन श्री योगींद्रदेवने प्रभाकरभट्टसे कहा । **भावार्थ**—पहले दोहेमें जो कहा था कि चित्तको आकुलताके उपजानेवाले स्त्रीरूपका देखना सेवन चिंतादिकोंसे उत्पन्न हुए रागादितरंगोंके समूह हैं उनकर रहित निज शुद्धात्म द्रव्यका सम्यक् श्रद्धान स्वाभाविकज्ञान उससे उत्पन्न वीतराग परमसुखरूप अमृतरस उस स्वरूप निर्मलनीरसे भरे हुए ज्ञानियोंके मानसरोवरमें परमात्मादेवरूपी हंस निरंतर रहता है । वह आत्मदेव निर्मलगुणोंकी उज्जलताकर हंस समान है । जैसे हंसोंका निवासस्थान मानसरोवर है वैसे ब्रह्मका निवासस्थान ज्ञानियोंका निर्मलचित्त है । ऐसा श्री योगींद्रदेवका अभिप्राय है ॥ १२३ ॥

आगे इसी वातको दृढ करते हैं;— [**देवः**] आत्मदेव [**देवकुले**] देवालयमें (मंदिरमें) [**न**] नही है [**शिलायां नैव**] पाषाणकी प्रतिमामें भी नही है [**लेपे नैव**] लेपमें भी नही है [**चित्रे नैव**] चित्रामकी मूर्तिमें भी नही है । लेप और चित्रामकी मूर्ति लौकिक जन वनाते है पंडितजन तो धातुपाषाणकी ही प्रतिमा मानते हैं सो लौकिक दृष्टांतकेलिये दोहामें लेप चित्रामका भी नाम आगया । वह देव किसी जगह नही रहता । वह देव [**अक्षयः**] अविनाशी है [**निरंजनः**] कर्मांजनसे रहित है [**ज्ञानमयः**] केवल ज्ञानकर पूर्ण है [**शिवः**] ऐसा निज परमात्मा [**समचित्ते**

समचित्ति समभावे समभावपरिणतमनसि इति । तद्यथा । यद्यपि व्यवहारेण धर्मवर्तनानिमित्तं स्थापनारूपेण पूर्वोक्तगुणलक्षणो देवो देवगृहादौ तिष्ठति तथापि निश्चयेन शत्रुमित्रसुखदुःखजीवितमरणादिसमतारूपे वीतरागसहजानंदैकरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकसमचित्ते समशब्दवाच्यः परमात्मा तिष्ठतीति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं समचित्तपरिणतश्रमणलक्षणं । "समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो । समलोट्ठु कंचणोवि य जीवियमरणे समो समणो ॥ १२४ ॥ इत्येकत्रिंशत्सूत्रैश्चूलिकास्थलं गतं ।

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकद्वयं कथ्यते,—

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरुवि मणस्स ।
बीहिवि समरसि हूवाहं, पुज्ज चडावउं कस्स ॥ १२५ ॥

मनः मिलितं, परमेश्वरस्य परमेश्वरः अपि मनसः ।
द्वयोरपि समरसयोः भूतयोः पूजां समारोपयामि कस्य ॥ १२५ ॥

मणु इत्यादि । **मणु** मनो विकल्परूपं **मिलियउ** मिलितं तन्मयं जातं । कस्य संबंधित्वेन । **परमेसरहं** परमेश्वरस्य **परमेसरुवि मणस्स** परमेश्वरोपि मनःसंबंधित्वेन लीनो

संस्थितः] समभावमें तिष्ठरहा है अर्थात् समभावको परिणत हुए साधुओंके मनमें विराज रहा है अन्य जगह नही है । भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयकर धर्मकी प्रवृत्तिकेलिये स्थापनारूप अरहंतदेव देवालयमे तिष्ठता है धातुपाषाणकी प्रतिमाको देव कहते है तौभी निश्चयनयकर शत्रुमित्र सुखदुख जीवितमरण जिसमें समान है तथा वीतराग सहजानंदरूप परमात्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमें लीन ऐसे ज्ञानियोंके सम चित्तमें परमात्मा तिष्ठता है । ऐसाही अन्यजगह भी समचित्तको परिणत हुए मुनियोंका लक्षण कहा है। "समसत्तु" इत्यादि। इसका अर्थ ऐसा है कि जिसके सुख दुख समान है, शत्रुमित्र वर्ग समान है, प्रशंसा निंदा समान है, पत्थर और सोना समान है, और जीवन मरण जिसकें समान है ऐसा समभावका धारण करनेवाला मुनि होता है । अर्थात् ऐसे समभावके धारक शातचित्त योगीश्वरोंके चित्तमें चिदानंद देव तिष्ठता है ॥ १२४ ॥

इस प्रकार इकतीस दोहासूत्रोंकर चूलिका स्थल कहा । चूलिका नाम अंतका है सो पहले स्थलका अंत यहांतक हुआ । आगे स्थलकी सख्यासे सिवाय दो प्रक्षेपक दोहा कहते है;—[मनः] विकल्परूप मन [परमेश्वरस्य मिलितं] भगवान् आत्मारामसे मिलगया तन्मई होगया [परमेश्वरः अपि] और परमेश्वर भी [मनसः] मनसे

जातः बीहिवि समरसि हूवाहं एवं द्वयोरपि समरसीभूतयोः पुज्ज पूजां चडावउं समारोपयामि । कस्स कस्य निश्चयनयेन न कस्यापीति । अयमत्र भावार्थः । यद्यपि व्यवहारनयेन गृहस्थावस्थायां विषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं धर्मवर्धनार्थं च पूजाभिषेकदानादिव्यवहारोस्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां तत्काले वहिरंगव्यापाराभावात् स्वयमेव नास्तीति ॥ १२५ ॥

जेण णिरंजणि मणु धरिउ, विसयकसायहिं जंतु ।
मोक्खहं कारणु एत्तडउ, अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ १२६ ॥

येन निरंजने मनः धृतं विषयकषायेषु गच्छत् ।
मोक्षस्य कारणं एतावदेव अन्यः न तंत्रः न मंत्रः ॥ १२६ ॥

जेण इत्यादि । येन येन पुरुषेण कर्तृभूतेन **णिरंजणि** कर्माजनरहिते परमात्मनि **मणु** मनः **धरिउ** धृतं । किं कुर्वत् सत् । **विसयकसायहिं जंतु** विषयकषायेषु गच्छत् सत् । विसयकसायहिं तृतीयांतं पदं सप्तम्यंतं कथं जातमिति चेत् । परिहारमाह । प्राकृते कचित्कारकव्यभिचारो भवति लिंगव्यभिचारश्च । इदं सर्वत्र ज्ञातव्यं । **मोक्खहं कारणु** मोक्षस्य कारणं **एत्तडउ** एतावदेव । विषयकषायरतचित्तस्य व्यावर्तनेन स्वात्मनि स्थापनं **अण्णु ण** अन्यत् किमपि न मोक्षकारणं । अन्यत् किं । **तंतु** तंत्रं शास्त्रमौषधं वा **मंतु** मंत्राक्षरं चेति । तथाहि । शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिकूलेषु विषयकषायेषु गच्छत् सत्

मिलगया तो [**द्वयोः अपि**] दोनोंही को [**समरसी भूतयोः**] समरस (आपसमें एकमेक) होनेपर [**कस्य**] किसको अब मैं [**पूजां समारोपयामि**] पूजा चढाऊं अर्थात् निश्चयनयकर किसीको पूजना सामग्री चढाना नही रहा ॥ **भावार्थ**—जवतक मन भगवानसे नहीं मिला था तब तक पूजा करता था और जब मन प्रभूसे मिलगया तब पूजाका प्रयोजन नहीं है । यद्यपि व्यवहारनयकर गृहस्थ अवस्थामें विषायकषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेकेलिये और धर्मके वढानेकेलिये पूजा अभिषेक दान आदिक व्यवहार है तौभी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लीन हुए योगीश्वरोंको उस समयमें बाह्य व्यापारके अभाव होनेसे स्वयं ही द्रव्यपूजाका प्रसंग नही आता भावपूजा ही तन्मई है ॥ १२५ ॥

आगे यही कथन दृढ करते हैं;—[**येन**] जिस पुरुषने [**विषयकषायेषु गच्छत्**] विषयकषायोंमें जाता हुआ [**मनः**] मन [**निरंजने धृतं**] कर्मरूपी अंजनसे रहित भगवानमें रक्खा [**एतावदेव**] येही [**मोक्षस्य कारणं**] मोक्षका कारण है [**अन्यः**] दूसरा कोई भी [**तंत्रःन**] तंत्र नही है [**मंत्रःन**] और न मंत्र है । तंत्र नाम शास्त्र व औषधीका है मंत्र नाम मंत्राक्षरोंका है । विषयकषायादि पर पदार्थोंसे मनको रोककर परमात्मामें मनको लगाना यही मोक्षका कारण है । **भावार्थ**—जो कोई निकट संसारी

मनो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन व्यावर्त्य निजशुद्धात्मद्रव्ये स्थापयति यः स एव मोक्षं लभते नान्यो मंत्रतंत्रादिवलिष्ठोपीति भावार्थः ॥ १२६ ॥

एवं **परमात्मप्रकाशवृत्तौ** प्रक्षेपकत्रयं विहाय त्र्यधिकविंशत्युत्तरशतदोहकसूत्रैस्त्रिविधात्मप्रतिपादकनामा **प्रथममहाधिकारः** समाप्तः ॥ १ ॥

जीव शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उलटे विषयकषायोंमें जाते हुए मनको वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे पीछे हटाकर निजशुद्धात्मद्रव्यमें स्थापन करता है वही मोक्षको पाता है दूसरा कोई मंत्र तंत्रादिमें चतुर होनेपर भी मोक्ष नही पाता ॥ १२६ ॥

इसतरह **परमात्मप्रकाशकी** टीकामें तीन क्षेपकोंके सिवाय एकसौ तेईस दोहासूत्रोंसे बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीनप्रकार आत्माको कहनेवाला **पहला महाधिकार** पूर्ण किया ॥ १ ॥



अत ऊर्ध्वं स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयप्रमितैर्दोहकसूत्रैर्मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यते । तत्रादौ सूत्रदशकपर्यंतं मोक्षमुख्यतया व्याख्यानं करोति । तद्यथा;—

सिरिगुरु अक्खहिं मुक्खु महु, मुक्खहं कारणु तत्थु ।
मोक्खहं केरउ अण्णु फलु, जें जाणउं परमत्थु ॥ १२७ ॥

श्रीगुरो आख्याहि मोक्षं मम मोक्षस्य कारणं तथ्यं ।
मोक्षस्य संबंधि अन्यत् फलं येन जानामि परमार्थं ॥ १२७ ॥

सिरि गुरु इत्यादि । **सिरिगुरु** हे श्रीगुरो योगींद्रदेव **अक्खहिं** कथय **मोक्खु** मोक्षं **महु** मम, न केवलं मोक्षं **मोक्खह कारणु** मोक्षस्य कारणं । कथंभूतं । **तत्थु** तथ्यं **मोक्खहं केरउ** मोक्षस्य संबंधि **अण्णु** अन्यत् । किं । **फलु** फलं । एतत्त्रयेन ज्ञातेन किं भवति । **जें जाणउं** येन त्रयस्य व्याख्यानेन जानाम्यहं कर्ता । कं । **परमत्थु** परमार्थमिति । तद्यथा । प्रभाकरभट्टः श्रीयोगींद्रदेवान् विज्ञाप्य मोक्षं मोक्षफलं मोक्षकारणमिति त्रयं पृच्छतीति भावार्थः ॥ १२७ ॥

अथ तदेव त्रयं क्रमेण भगवान् कथयति;—

जोइय मुक्खुवि मोक्खफलु, पुच्छिउ मोक्खहं हेउ ।
सो जिणभासिउ णिसुणि तुहुं जेणवियाणहि भेउ ॥ १२८ ॥

योगिन् मोक्षोपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः ।
तत् जिनभाषितं निशृणु त्वं येन विजानासि भेदं ॥ १२८ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **मुक्खुवि** मोक्षोपि **मुक्खफलु** मोक्षफलं **पुच्छिउ**

इसके बाद प्रकरणकी संख्याके बाहर अर्थात् क्षेपकोंके सिवाय दोसौ चौदह दोहासूत्रोंसे मोक्ष मोक्षफल और मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे दूसरा महा अधिकार आरंभ करते हैं । उसमें भी पहले दस दोहा तक मोक्षकी मुख्यतासे व्याख्यान करते है;— [**हे श्रीगुरो**] हे श्रीगुरु [**मम**] मुझे [**मोक्षं**] मोक्ष [**तथ्यं मोक्षस्य कारणं**] सत्यार्थ मोक्षका कारण [**अन्यत्**] और [**मोक्षस्य संबंधि**] मोक्षका [**फलं**] फल [**आख्याहि**] कृपाकर कहो [**येन**] जिससे कि मैं [**परमार्थं**] परमार्थको [**जानामि**] जानूं ॥ **भावार्थ**—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीद्रदेवसे विनतीकरके मोक्ष, मोक्षका कारण और मोक्षका फल इन तीनोंको पूछता है ॥ १२७ ॥

अब श्रीगुरु उन्ही तीनोंको क्रमसे कहते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी तूने [**मोक्षोपि**] मोक्ष और [**मोक्षफलं**] मोक्षका फल तथा [**मोक्षस्य**] मोक्षका [**हेतुः**] कारण

पृष्टं त्वया कर्तृभूतेन । पुनरपि कः पृष्टः । **मोक्खहं हेउ** मोक्षस्य हेतुः कारणं । तत्त्रयं **जिणभासिउ** जिनभाषितं **णिसुणि** निश्चयेन शृणु समाकर्णय **जेण** येन त्रयेण ज्ञातेन **वियाणहि भेउ** विजानासि भेदं त्रयाणां संबंधिनमिति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । श्रीयोगींद्रदेवाः कथयंति हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मोपलंभलक्षणं मोक्षं केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपं मोक्षफलं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च क्रमेण प्रतिपादयाम्यहं त्वं शृण्विति ॥ १२८ ॥

अथ धर्मार्थकाममोक्षाणां मध्ये सुखकारणत्वान्मोक्ष एवोत्तम इति अभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

धम्महं अत्थहं कामहंवि, एयहं सयलहं मोक्खु ।
उत्तमु पभणहि णाणि जिय, अण्णें जेण ण सुक्खु ॥ १२९ ॥

धर्मस्य अर्थस्य कामस्यापि एतेषां सकलानां मोक्षं ।
उत्तमं प्रभणंति ज्ञानिनः जीव अन्येन येन न सुखं ॥ १२९ ॥

धम्महं इत्यादि । **धम्महं** धर्मस्य धर्माद्वा **अत्थहं** अर्थस्य अर्थाद्वा **कामहंवि** कामस्यापि कामाद्वा **एयहं सयलहं** एतेषां सकलानां संबंधित्वेन एतेभ्यो वा सकाशात् **मोक्खु** मोक्षं **उत्तमु पभणहि** उत्तमं विशिष्टं प्रभणंति । के कथयंति । **णाणि** ज्ञानिनः **जिय** हे जीव । कस्मादुत्तमं प्रभणंति मोक्षं । **अण्णइ** अन्येन धर्मार्थकामादिना **जेण** येन कारणेन **ण सोक्खु** नास्ति परमसुखं इति । तद्यथा—धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते अर्थश-

---

[**पृष्टं**] पूछा [**तत्**] उसको [**जिनभाषितं**] जिनेश्वरदेवके कहे प्रमाण [**त्वं**] तू [**निशृणु**] निश्चयकर सुन [**येन**] जिससे कि [**भेदं**] भेद [**विजानासि**] अच्छीतरह जान जावै । **भावार्थ**—श्री योगींद्रदेवगुरु शिष्यसे कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट योगी शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष, केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयका प्रगटपना स्वरूप मोक्षफल और निश्चय व्यवहार रत्नत्रयरूप मोक्षका मार्ग इन तीनोंको क्रमसे जिन आज्ञाप्रमाण तुझको कहूंगा । उनको तू अच्छीतरह चित्तमें धारण कर जिससे सब भेद मालूम होजावै ॥ १२८ ॥

अब धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारोंमेंसे सुखका मूल कारण मोक्ष ही सबसे उत्तम है ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर इस गाथासूत्रको कहते हैं,—[**हे जीव**] हे जीव [**धर्मस्य**] धर्म [**अर्थस्य**] अर्थ [**कामस्य अपि**] और काम [**एतेषां सकलानां**] इन सब पुरुषार्थोंमेंसे [**मोक्षं उत्तमं**] मोक्षको उत्तम [**ज्ञानिनः**] ज्ञानी पुरुष [**प्रभणंति**] कहते हैं [**येन**] क्योंकि [**अन्येन**] अन्य धर्म अर्थ कामादि पदार्थोंसे [**सुखं**] परमसुख [**न**] नही है ॥ **भावार्थ**—धर्मशब्दसे यहा पुण्य समझना, अर्थशब्दसे पुण्यका

ब्देन तु पुण्यफलभूतार्थो राज्यादिविभूतिविशेषः, कामशब्देन तु तस्यैव राज्यस्य मुख्यफलभूतः स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यादिसंभोगः एतेभ्यस्त्रिभ्यः सकाशान्मोक्षमुत्तमं कथयंति । के ते । वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानिनः । कस्मात् । आकुलत्वोत्पादकेन वीतरागपरमानंदसुखामृतरसास्वादविपरीतेन धर्मार्थकामादिना मोक्षादन्येन येन कारणेन सुखं नास्तीति भावार्थः ॥ १२९ ॥

अथ धर्मार्थकामेभ्यो यद्युत्तमो न भवति मोक्षस्तर्हि तत्त्रयं मुक्त्वा परलोकशब्दवाच्यं मोक्षं किमिति जिना गच्छंतीति प्रकटयंति,—

जइ जिय उत्तमु होइ णवि, एयहं सयलहं सोइ ।
तो किं तिण्णिवि परिहरवि, जिण वच्चहिं परलोइ ॥ १३० ॥

यदि जीव उत्तमो भवति नैव एतेभ्यः सकलेभ्यः स एव ।
ततः किं त्रीण्यपि परिहृत्य जिनाः व्रजंति परलोके ॥ १३० ॥

जइ इत्यादि । जइ यदि चेत् **जिय** हे जीव **उत्तम होइ णवि** उत्तमो भवति नैव । केभ्यः । **एयहं सयलहं** एतेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो धर्मादिभ्यः । कतिसंख्योपेतेभ्यः । सकलेभ्यः **सोवि** स एव पूर्वोक्तो मोक्षः **तो** ततःकारणात् **किं** किमर्थं **तिण्णिवि** त्रीण्यपि **परिहरिवि** परिहृत्य त्यक्त्वा **जिण** जिनाः कर्तारः **वच्चहिं** व्रजंति गच्छंति । कुत्र गच्छंति । **परलोइ** परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने न तु कायमोक्षे चेति । तथाहि—परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थः कथ्यते । परः उत्कृष्टो मिथ्यात्वरागादिरहितः केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितः

फल राज्य वगैरः सपदा जानना और कामशब्दसे उस राज्यका मुख्यफल स्त्री कपड़े सुगंधितमाला आदि वस्तुरूप भोग जानना । इन तीनोंसे परम सुख नहीं है क्लेशरूप दुःख ही है इसलिये इन सबसे उत्तम मोक्षको ही वीतरागसर्वज्ञदेव कहते हैं क्योंकि मोक्षसे जुदे जो धर्म अर्थ काम हैं वे आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं तथा वीतरागपरमानंद सुखरूप अमृतरसके आस्वादसे विपरीत है इसलिये सुखके करनेवाले नहीं हैं ऐसा जानना ॥ १२९ ॥

आगे धर्म अर्थ काम इन तीनोंसे जो मोक्ष उत्तम नहीं होता तो इन तीनोंको छोड़कर जिनेश्वर देव मोक्षको क्यों जाते ऐसा प्रगट दिखाते हैं;—[हे जीव] हे जीव [यदि] जो [एतेभ्यः सकलेभ्यः] इन सबोंसे [सः] मोक्ष [उत्तमः] उत्तम [एव] ही [नैव] नहीं [भवति] होता [ततः] तो [जिनाः] श्रीजिनवरदेव [त्रीण्यपि] धर्म अर्थ काम इन तीनोंको [परिहृत्य] छोड़कर [परलोके] मोक्षमे [किं] क्यों [व्रजंति] जाते । इसलिये जानते हैं कि मोक्ष सबसे उत्कृष्ट है । भावार्थ—पर अर्थात् उत्कृष्ट मिथ्यात्वरागादिरहित केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित परमात्मा वह पर है उस

परमात्मा परशब्देनोच्यते तस्यैवंगुणविशिष्टस्य परमात्मनो लोको लोकनमवलोकनं वीतरागपरमानंदसमरसीभावानुभवनं लोक इति परलोकशब्दस्यार्थः। अथवा पूर्वोक्तलक्षणः परमात्मा परशब्देनोच्यते। निश्चयेन परशिवशब्दवाच्यो मुक्तात्मा शिव इत्युच्यते तस्य लोकः शिवलोक इति। अथवा परमब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा परमब्रह्म इति तस्य लोको ब्रह्मलोक इति। अथवा परमविष्णुशब्दवाच्यो मुक्तात्मा विष्णुरिति तस्य लोको विष्णुलोक इति परलोकशब्देन मोक्षो भण्यते परश्चासौ लोकश्च परलोक इति। परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थो ज्ञातव्यः नचान्यः कोपि परिकल्पितःशिवलोकादिरस्तीति। अत्र स एव परलोकशब्दवाच्यः परमात्मोपादेय इति तात्पर्यं ॥ १३० ॥

अथ तमेव मोक्षं सुखदायकं दृष्टांतद्वारेण दृढयति,—

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ, उत्तमु मुक्खु ण होइ।
तो किं इच्छहिं, बंधणहिं बद्धा पसुयवि सोइ ॥ १३१ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमो मोक्षो न भवति।
ततःकिं इच्छंति बंधनैः बद्धा पशवोपि तमेव ॥ १३१ ॥

उत्तमु इत्यादि। **उत्तमु** उत्तमं **सुक्खु** सुखं **ण देइ जइ** न ददाति यदि चेत् **उत्तमु मुक्खु ण होइ** उत्तमो मोक्षो न भवति **तो** तस्मात्कारणात् **किं** किमर्थं **इच्छहिं** इच्छंति **बंधणहिं** बंधनैः **बद्धा** निबद्धाः। किं निबद्धाः। **पसुयवि** पशवोपि। किमिच्छंति। **सोइ** तमेव मोक्षमिति। अयमत्र भावार्थः। सुखकारणत्वाद्धेतोः बंधनबद्धाः पशवोपि

परमात्माका लोक अर्थात् अवलोकन वीतराग परमानंद समरसीभावका अनुभव वह परलोक कहा जाता है अथवा परमात्माको परमशिव कहते हैं उसका जो अवलोकन वह शिवलोक है, अथवा परमात्माका ही नाम परम ब्रह्म है उसका जो लोक वह ब्रह्मलोक है, अथवा उसीका नाम परमविष्णु है उसका जो लोक अर्थात् स्थान वह विष्णुलोक है ये सब मोक्षके नाम है यानी जितने परमात्माके नाम हैं उनके आगे लोक लगानेसे मोक्षके नाम हो जाते है दूसरा कोई कल्पना किया हुआ शिवलोक ब्रह्मलोक विष्णुलोक नही है। यहापर सारांश यह हुआ कि परलोकके नामसे कहागया परमात्मा ही उपादेय है ध्यान करने योग्य है अन्य कोई नही ॥ १३० ॥

आगे उसी मोक्षको अनंतसुखका देनेवाला दृष्टांतके द्वारा दृढ करते हैं;—[**यदि**] जो [**मोक्षः**] मोक्ष [**उत्तमं सुखं**] उत्तमसुखको [**न ददाति**] न देवै तो [**उत्तमः**] उत्तम [**न भवति**] नही होवै और जो मोक्ष उत्तम ही न होवै [**ततः**] तो [**बंधनैः बद्धाः**] बंधनोंसे बंधे [**पशवोपि**] पशु भी [**तमेव**] उस मोक्षकी ही [**किं इच्छंति**] क्यों इच्छा करें। **भावार्थ**—बंधनेके समान कोई दुःख नही है और छूटनेके समान

मोक्षमिच्छंति तेन कारणेन केवलज्ञानाद्यनंतगुणाविनाभूतस्योपादेयरूपस्यानंतसुखस्य कारणत्वादिति ज्ञानिनो विशेषेण मोक्षमिच्छंति ॥ १३१ ॥

अथ यदि तस्य मोक्षस्याधिकगुणगणो न भवति तर्हि लोको निजमस्तकस्योपरि तं किमर्थं धरतीति निरूपयति,—

अणु जइ जगह जि अहिययरु, गुणगणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउवि किं धरइ, णियसिर उप्परि सोइ ॥ १३२ ॥

अनु यदि जगतोपि अधिकतरः गुणगुणः तस्य न भवति ।
ततः त्रिलोकोपि किं धरति निजशिरसि उपरि तमेव ॥ १३२ ॥

अणु इत्यादि । अणु पुनः जइ यदि चेत् जगहं जि जगतोपि सकाशात् अहिययरु अतिशयेनाधिकः अधिकतरः । कोसौ । गुणगणु गुणगणाः तासु तस्य मोक्षस्य ण होइ न भवति तो ततः कारणात् तइलोउवि त्रिलोकोपि कर्ता । किं धरइ किमर्थं धरति । कस्मिन् । णियसिर उप्परि निजशिरसि उपरि किं धरइ किं धरति सोइ तमेव मोक्षमिति । तद्यथा । यदि तस्य मोक्षस्य पूर्वोक्तः सम्यक्त्वादिगुणगणो न भवति तर्हि लोकः कर्ता निजमस्तकस्योपरि तत्कि धरतीति । अत्रानेन गुणगणस्थापनेन कि कृतं भवति, बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराभिधानानां गुणानामभावं मोक्षं मन्यंते ये

कोई सुख नही है बंधनसे बंधे जानवर भी छूटना चाहते है जब छूटते है तभी सुखी होते हैं । इस सामान्यबंधनेके अभावसेही पशु सुखी होते है तो कर्मबंधनके अभावसे ज्ञानी जन परमसुखी होवें इसमें अचंभा क्या है । इसलिये केवलज्ञानादि अनंतगुणसे तन्मई अनंतसुखका कारण मोक्ष ही आदरने योग्य है इसकारण ज्ञानी पुरुष विशेषतासे मोक्षको ही इच्छते है ॥ १३१ ॥

आगे जो मोक्षमें अधिकगुणोंका समूह नही होता तो मोक्षको तीनलोक अपने मस्तक पर क्यों रखता ऐसा बतलाते है,—[अनु] फिर [यदि] जो [जगतः अपि] सब लोकसे भी [अधिकतरः] बहुत ज्यादा [गुणगणः] गुणोंका समूह [तस्य] उस मोक्षमें [न भवति] नही होता [ततः] तो [त्रिलोकः अपि] तीनों ही लोक [निजशिरसि] अपने मस्तकके [उपरि] ऊपर [तमेव] उसी मोक्षको [किं धरति] क्यों रखता । भावार्थ—मोक्ष लोकके शिखर (अग्रभाग) पर है सो सब लोकसे मोक्षमें बहुत ज्यादा गुण है इसीलिये उसको लोक अपने सिरपर रखता है । कोई किसीको अपने सिरपर रखता है वह अपनेसे अधिक गुणवाला जानकर रखता है । यदि क्षायिक-सम्यक्त्व केवलदर्शनादि अनंतगुण मोक्षमे न होते तौ मोक्ष सबके सिरपर न होता मोक्षके ऊपर अन्य कोईस्थान नहीं है सबके ऊपर मोक्ष ही है और मोक्षके आगे अनंत अलोक

वृद्धवैशेषिकास्ते निषिद्धाः । ये च प्रदीपनिर्वाणवज्जीवाभावं मोक्षं मन्यंते सौगतास्ते च निरस्ताः । यथोक्तं सांख्यैः । सुप्तावस्थावत् सुखज्ञानरहितो मोक्षस्तदपि निरस्तं । लोकाग्रे तिष्ठतीति वचनेन तु मंडिकसंज्ञा नैयायिकमतांतर्गता यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति वदंति तेपि निरस्ता इति । जैनमते पुनरिंद्रियजनितज्ञानसुखस्याभावेन चातींद्रियज्ञानसुखस्येति कर्मजनितेद्रियादिदशप्राणसहितस्याशुद्धजीवस्याभावे न पुनः शुद्धजीवस्येति भावार्थः॥१३२॥

है वह शून्य है वहा कोई स्थान नही है । वह अनत अलोक भी सिद्धोंके ज्ञानमें भास रहा है । यहांपर मोक्षमें अनंतगुणोंके स्थापन करनेसे मिथ्यादृष्टियोंका खंडन किया । कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते हैं कि जो बुद्धि सुख दु.ख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म संस्कार इन नव गुणोंके अभावरूप मोक्ष है उनका निषेध किया, क्योंकि इंद्रिय जनित वुद्धिका तो अभाव है परंतु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञानका अभाव नही है; इंद्रियोंसे उत्पन्न सुखका अभाव है लेकिन अतीद्रियसुखकी पूर्णता है, दुःख इच्छा द्वेष यत्न इन विभावरूप गुणोंका तो अभाव है ही केवलरूप परिणमन है, व्यवहार धर्मका अभाव ही है और वस्तुका स्वभावरूप धर्म वह है ही, अधर्मका तो अभाव ठीक ही है और पर द्रव्यरूप सस्कार सर्वथा नही है स्वभावसस्कार ही है । जो मूढ इन गुणोंका अभाव मानते हैं वे वृथा वकते हैं मोक्ष तो अनंतगुणरूप है । इसतरह निर्गुणवादियोंका निषेध किया । तथा बौद्धमती जीवके अभावको मोक्ष कहते हैं । वे मोक्ष ऐसा मानते हैं कि जैसे दीपकका निर्वाण (वुझना) उसीतरह जीवका अभाव वही मोक्ष है । ऐसी बौ-द्धकी श्रद्धाका भी तिरस्कार किया। क्योंकि जो जीवका ही अभाव होगया तो मोक्ष किसके हुई । जीवका शुद्ध होना वह मोक्ष है अभाव कहना वृथा है । साख्यमतवाले ऐसा कहते हैं कि जो एकदम सोनेकी अवस्था है वही मोक्ष है जिसजगह न सुख है न ज्ञान है ऐसी प्रतीतिका निवारण किया । नैयायिक मतवाले ऐसा कहते हैं कि जहासे मुक्त हुआ वहींपर ही तिष्ठता है ऊपरको गमन नही करता । ऐसे नैयायिकके कथनका लोक सिखर-पर तिष्ठता है इस वचनसे निषेध किया । क्योंकि बंधनसे छूटता है वहा वह नही रहता यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कैदी कैदसे छूटता है तव वंदीग्रहसे छूटकर अपने घरकी तरफ गमन करता है वह निजघर निर्वाण ही है । जैनमार्गमें तो इंद्रियजनित ज्ञान जोकि मति श्रुत अवधि मनःपर्यय हैं उनका अभाव माना है और अतींद्रियरूप जो केवलज्ञान है वह वस्तुका स्वभाव है उसका अभाव आत्मामें नहीं होसकता । स्पर्श रस गंध रूप शब्द इन पांच इंद्रियविषयोंकर उत्पन्न हुए सुखका तो अभाव ही है लेकिन अतींद्रियसुख जो निराकुल परमानंद है उसका अभाव नही है, कर्मजनित जो इंद्रियादि दस प्राण अर्थात् पाच इंद्रियां मन वचन काय आयु श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणोंका भी अभाव है ज्ञानादि

अथोत्तमं सुखं न ददाति यदि मोक्षस्तर्हि सिद्धाः कथं निरंतरं सेवंते तमिति कथयति;—

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ, उत्तमु मुक्खु ण होइ ।
तो किं सयलुवि कालु जिय, सिद्धवि सेवहिं सोइ ॥ १३३ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमः मोक्षो न भवति ।
ततः किं सकलमपि कालं जीव सिद्धा अपि सेवंते तमेव ॥ १३३ ॥

उत्तमु इत्यादि । **उत्तमु सुक्खु** उत्तमं सुखं **ण देइ** न ददाति **जइ** यदि चेत् **उत्तमु** उत्तमो **मुक्खु** मोक्षः **ण होइ** न भवति **तो** ततः कारणात् **किं** किमर्थं **सयलुवि कालु** सकलमपि कालं **जिय** हे जीव **सिद्धवि** सिद्धा अपि **सेवहिं** सेवंते सेवितमेव मोक्षमिति । तथाहि । यद्यतींद्रियपरमाह्लादरूपमविनश्वरं सुखं न ददाति मोक्षस्तर्हि कथमुत्तमो भवति उत्तमत्वाभावे च केवलज्ञानादिगुणसहिताः सिद्धा भगवंतः किमर्थं निरंतरं सेवंते च चेन् । तस्मादेव ज्ञायते तत्सुखमुत्तमं ददातीति । उक्तं च सिद्धसुखं । "आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं, वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावं । अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममसितं शाश्वतं सर्वकालं उत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातं" ॥ अत्रेदमेव निरंतरमभिलषनीयमिति भावार्थः ॥ १३३ ॥

निज प्राणोंका अभाव नहीं है । जीवकी अशुद्धताका अभाव है शुद्धपनेका अभाव नहीं यह निश्चयसे जानना ॥ १३२ ॥

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष उत्तमसुख नहीं दे तो सिद्ध उसे निरंतर क्यों सेवन करें ?;—[यदि] जो [उत्तमं सुखं] उत्तम अविनाशी सुखको [न ददाति] नहीं देवै तो [मोक्षः उत्तमः] मोक्ष उत्तम भी [न भवति] नहीं होसकती उत्तम सुख देती है इसी लिये मोक्ष सबसे उत्तम है । जो मोक्षमें परमानंद नहीं होता [ततः] तो [हे जीव] हे जीव [सिद्धा अपि] सिद्ध परमेष्ठी भी [सकलमपि कालं] सदा काल [तमेव] उसी मोक्षको [किं सेवंते] क्यों सेवन करते कभी भी न सेवते । भावार्थ—वह मोक्ष अखंड सुख देती है इसीलिये उसे सिद्ध महाराज सेवते हैं मोक्ष परम आह्लादरूप है अविनश्वर है मन और इंद्रियोंसे रहित है इसीलिये उसे सदाकाल सिद्ध सेवते हैं केवलज्ञानादिगुणसहित सिद्ध भगवान निरंतर निर्वाणमें ही निवास करते हैं ऐसा निश्चय है । सिद्धोंका सुख दूसरी जगह भी ऐसा कहा है "आत्मोपादान" इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि इस अध्यात्मज्ञानसे सिद्धोंके जो परमसुख हुआ है वह कैसा है कि अपनी २ जो उपादानशक्ति उसीकर उत्पन्न हुआ है परकी सहायतासे नहीं है स्वयं (आप ही) अतिशयरूप है सब बाधाओंसे रहित है निराबाध है विस्तीर्ण है घटती बढतीसे रहित है विषयविकारसे रहित है भेदभावसे रहित है निर्द्वन्द्व

अथ सर्वेषां परमपुरुषाणां मोक्ष एव ध्येय इति प्रतिपादयति,—

हरिहरबम्भुवि जिणवरवि, मुणिवरविंदवि भव्व ।
परमणिरंजणि मणु धरिवि, मुक्खु जि झायहि सव्व ॥ १३४ ॥

हरिहरब्रह्माणोपि जिनवरा अपि मुनिवरवृंदान्यपि भव्याः ।
परमनिरंजने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायंति सर्वे ॥ १३४ ॥

हरि हर इत्यादि । **हरि हरबंभुवि** हरिहरब्रह्माणोपि **जिणवरवि** जिनवरा अपि **मुणिवरविंदवि** मुनिवरवृंदान्यपि **भव्व** शेषभव्या अपि, एते सर्वे किं कुर्वंति । **परमणिरंजणि** परमनिरंजनाभिधाने निजपरमात्मस्वरूपे **मणु** मनः **धरिवि** विषयकषायेषु गच्छन् सन् व्यावृत्य धृत्वा पश्चात **मुक्खु जि** मोक्षमेव **झायहि** ध्यायंति **सव्व** सर्वेपि इति । तद्यथा । हरिहरादयः सर्वेपि प्रसिद्धपुरुषाः ख्यातिपूजालाभादिसमस्तविकल्पजालेन शून्ये शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजानंदैकसुखरसानुभवेन पूर्णकलशवत् भरितावस्थे निरंजनशब्दाभिधेयपरमात्मध्याने स्थित्वा मोक्षमेव ध्यायंतीति । अयमत्र भावार्थः । यद्यपि व्यवहारेण

है जहा पर वस्तुकी अपेक्षा ही नही है अनुपम है अनंत है अपार है जिसका प्रमाण नहीं सदा काल साश्वता है महा उत्कृष्ट है अनंतसारता लिये हुए है । ऐसा परमसुख सिद्धोंके है अन्यके नही है । यहां तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्षका ही सुख अभिलाषा करने योग्य है और ससारपर्याय सव हेय है ॥ १३३ ॥

आगे सभी महान पुरुषोंके मोक्ष ही ध्यावने योग्य है ऐसा कहते हैं;—[**हरिहरब्रह्माणोपि**] नारायण वा इंद्र रुद्र अन्य ज्ञानीपुरुष [**जिनवरा अपि**] श्री तीर्थंकर परमदेव [**मुनिवरवृंदान्यपि**] मुनिश्वरोंके समूह तथा [**भव्याः**] अन्य भी भव्यजीव [**परमनिरंजने**] परम निरंजनमें [**मनः धृत्वा**] मन रखकर [**सर्वे**] सब ही [**मोक्षं**] मोक्षको [**एव**] ही [**ध्यायंति**] ध्यावते है । यह मन विषयकषायोंमें जो जाता है उसको पीछे लौटाकर अपने स्वरूपमें स्थिर अर्थात् निर्वाणका साधनेवाला करते है । **भावार्थ**—श्री तीर्थंकर देव तथा चक्रवर्ती वलदेव वासुदेव प्रतिवासुदेव महादेव इत्यादि सब प्रसिद्ध पुरुष अपने शुद्ध ज्ञान अखंडस्वभाव जो निज आत्मद्रव्य उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो अभेदरत्नत्रय उस मई समाधिकर उत्पन्न वीतरागसहजानद अतीद्रियसुखरस उसके अनुभवसे पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए निरंतर निराकार निजस्वरूप परमात्माके ध्यानमें स्थिर होकर मुक्त होते है । कैसा वह ध्यान है कि ख्याति (प्रसिद्धि) पूजा (अपनी महिमा) और धनादिकका लाभ इत्यादि समस्त विकल्पजालोंसे रहित है । यहा केवल आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग वतलाया है और अपना स्वरूप ही ध्यावने योग्य है । तात्पर्य यह

सविकल्पावस्थायां वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तत्प्रतिबिंबानि तन्मंत्राक्षराणि तदाराधकपुरुषाश्च ध्येया भवंति तथापि वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिकाले निजशुद्धात्मैव ध्येय इति ॥ १३४ ॥

अथ भुवनत्रयेपि मोक्षं मुक्त्वा अन्यत्परमसुखकारणं नास्तीति निश्चिनोति,—

तिहुयणि जीवहं अत्थि णवि, सुक्खहं कारणु कोइ ।
मुक्खु मुएविणु एक्कु पर, तेणवि चिंतहिं सोइ ॥ १३५ ॥

त्रिभुवने जीवानां अस्ति नैव सुखस्य कारणं किमपि ।
मोक्षं मुक्त्वा एकं परं तेनैव चिंतय तमेव ॥ १३५ ॥

तिहुयणि इत्यादि । **तिहुयणि** त्रिभुवने **जीवहं** जीवानां **अत्थि णवि** अस्ति नैव । किं नास्ति । **सोक्खहं कारणु** सुखस्य कारणं **कोइ** किमपि वस्तु । किं कृत्वा । **मुक्खु मुएविणु एक्कु** मोक्षं मुक्त्वैकं परं नियमेन **तेणवि** तेनैव कारणेन **चिंतहिं** चिंतय **सोइ** तमेव मोक्षमिति । तथाहि । त्रिभुवनेपि मोक्षं मुक्त्वा निरंतरातिशयसुखकारणमन्यत्पंचेंद्रियविषयानुभवरूपं किमपि नास्ति तेन कारणेन हे प्रभाकरभट्ट वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिके स्थित्वा निजशुद्धात्मस्वभावं ध्याय त्वमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः हे भगवन्नतींद्रियमोक्षसुखं निरंतरं वर्ण्यते भवद्भिस्तच्च न ज्ञायते जनैः । भगवानाह हे प्रभाकरभट्ट कोपि पुरुषो निर्व्याकुलचित्तः प्रस्तावे पंचेंद्रियभोगसेवारहितस्तिष्ठति स केनापि देवदत्तेन

है कि यद्यपि व्यवहारनयकर प्रथम अवस्थामें वीतरागसर्वज्ञका स्वरूप अथवा वीतरागके प्रतिबिंब अथवा वीतरागके नाम मंत्रके अक्षर अथवा वीतरागके सेवक महामुनि ध्यावने योग्य हैं तौभी वीतराग निर्विकल्पतीनगुप्तिरूप परम समाधिके समय अपना शुद्ध आत्मा ही ध्यान करने योग्य है अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ पूर्ण अवस्थामें ध्यावने योग्य नही है ॥ १३४ ॥

अब तीन लोकमें मोक्षके सिवाय अन्य कोई भी परमसुखका कारण नहीं ऐसा निश्चय करते हैं;—[**त्रिभुवने**] तीनलोकमें [**जीवानां**] जीवोंको [**मोक्षं मुक्त्वा**] मोक्षके सिवाय [**किमपि**] कोई भी वस्तु [**सुखस्य कारणं**] सुखका कारण [**नैव**] नही [**अस्ति**] है एक सुखका कारण मोक्ष ही है [**तेनैव**] इस कारण तू [**परं एकं तं एव**] नियमसे एक मोक्षका ही [**चिंतय**] चिंतवन कर जिसे कि महामुनि भी चितवन करते हैं । भावार्थ—श्रीयोगींद्राचार्य प्रभाकर भट्टसे कहते हैं कि वत्स मोक्षके सिवाय अन्य सुखका कारण नहीं है और आत्मध्यानके सिवाय अन्य मोक्षका कारण नहीं है इसलिये तू वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर निजशुद्धात्मस्वभावको ही ध्याय । यह श्रीगुरुने आज्ञा की । तब प्रभाकर भट्टने वीनती की हे भगवन् तुमने निरंतर अतींद्री

पृष्टः सुखेन स्थितो भवान् । तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमात्मोत्थं । कस्मादिति चेत् । तत्काले स्त्रीसेवादिस्पर्शविषयो नास्ति भोजनादिजिह्वेंद्रियविषयो नास्ति विशिष्टरूपगंधमाल्यादिघ्राणेंद्रियविषयो नास्ति दिव्यस्त्रीरूपावलोकनादिलोचनविषयो नास्ति श्रवणरमणीयगीतवाद्यादिशब्दविषयोपि नास्तीति तस्मात् ज्ञायते तत्सुखमात्मोत्थमिति । किं च । एकदेशव्यापाररहितानां तदेकदेशेनात्मोत्थसुखमुपलभ्यते वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरतानां पुनर्निरवशेषपंचेंद्रियविषयमानसविकल्पजालनिरोधे सति विशेषेणोपलभ्यते । इदं तावत् स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यं सिद्धात्मनां च सुखं पुनरनुमानगम्यं । तथाहि । मुक्तात्मनां शरीरेन्द्रियव्यापाराभावेपि सुखमस्तीति साध्यं । कस्माद्धेतोः । इदानीं पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां पंचेद्रियविषयव्यापाराभावेपि स्वात्मोत्थवीतरागपरमानंदसुखोपल-

---

मोक्षसुख वर्णन किया है सो ये जगतके प्राणी अतीद्रियसुखको जानते ही नही हैं इंद्रियसुखको ही सुख मानते है । तव गुरुने कहा कि हे प्रभाकर भट्ट कोई एक पुरुष जिसका चित्त व्याकुलतारहित है और पंचेंद्रियके भोगोंसे रहित अकेला स्थित है उससमय किसी पुरुषने पूछा कि तुम सुखी हौ । तव उसने कहा कि सुखसे तिष्ठ रहे हैं उस समयपर विषयसेवनादि सुख तो है ही नही उसने यह क्यों कहा कि हम सुखी हैं । इसलिये यह मालूम होता है सुख नाम व्याकुलता रहितका है सुखका मूल निर्व्याकुलपना है वह निर्व्याकुल अवस्था आत्मामे ही है विषय सेवनमें नही । भोजनादि जिह्वा इंद्रियका विषय भी उस समय नही है, स्त्रीसेवनादि स्पर्शका विषय नही है और गधमाल्यादिक नाकका विषय भी नही है, दिव्य स्त्रियोंका रूप अवलोकनादि नेत्रका विषय भी नही और कानोंका मनोज्ञ गीत वादित्रादि शब्द विषयभी नही हैं इसलिये जानते हैं कि सुख आत्मामे ही है । ऐसा तू निश्चयकर जो एकोदेश विषयव्यापारसे रहित हैं उनके एकोदेश थिरताका सुख है तो वीतरागनिर्विकल्पस्वसवेदनज्ञानियोके समस्त पच इद्रियोंके विषय और मनके विकल्प जालोंकी रुकावट होनेपर विशेषतासे निर्व्याकुल सुख उपजता है । इसलिये ये दो वातें तो प्रत्यक्ष ही दृष्टि पडती हैं । जो पुरुष नीरोग और चिंतारहित हैं उनके विषयसामग्रीके विना ही सुख भासता है और जो महामुनि शुद्धोपयोग अवस्थामें ध्यानारूढ हैं उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दीख रही है वे इंद्रादिक देवोंसे भी अधिक सुखी हैं । इसकारण जब ससार अवस्थामें ही सुखका मूल निर्व्याकुलता दीखती है तो सिद्धोंके सुखकी वात ही क्या है । यद्यपि वे सिद्ध दृष्टिगोचर नही हैं तौ भी अनुमानकर ऐसा जानाजाता है कि सिद्धोंके भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म नही तथा विषयोंकी प्रवृत्ति नही है कोई भी विकल्पजाल नही है केवल अतींद्रिय आत्मीक सुख ही है वही सुख उपादेय है अन्य सुख सब दुःखरूप ही हैं । जो चारों गतियोंके पर्याय हैं उनमें

ढिधरिति । अत्रेत्थंभूतसुखमेवोपादेयमिति भावार्थः । तथागमे चोक्तमात्मोत्थमतींद्रियसुखं । "अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं । अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं" ॥ १३५ ॥

अथ यस्मिन् मोक्षे पूर्वोक्तमतींद्रियसुखमस्ति तस्य मोक्षस्य स्वरूपं कथयति;—

जीवहं सो पर मुक्खु मुणि, जो परमप्पयलाहु ।
कम्मकलंकविमुक्काहं, णाणिय बोल्लहिं साहु ॥ १३६ ॥

जीवानां तं परं मोक्षं मन्यस्व यः परमात्मलाभः ।
कर्मकलंकविमुक्तानां ज्ञानिनः ब्रुवंति साधवः ॥ १३६ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां **सो** तं परं नियमेन **मोक्खु** मोक्षं **मुणि** मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । तं कं । **जो परमप्पयलाहु** यः परमात्मलाभः । इत्थंभूतो मोक्षः केषां भवति । **कम्मकलंकविमुक्काहं** ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मकलंकविमुक्तानां । इत्थंभूतं मोक्षं के ब्रुवंति । **णाणिय बोल्लहिं** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो ब्रुवंति । ते के । **साहु** साधवः इति । तथाहि । केवलज्ञानाद्यनंतगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारभूतस्य हि परमात्मलाभो मोक्षो भवतीति । स च केषां । पुत्रकलत्रममत्वस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्परहितध्यानेन भावकर्मद्रव्यकर्मकलंकरहितानां भव्यानां भवतीति ज्ञानिनः कथयंति । अत्रायमेव मोक्षः पूर्वोक्तस्यानंतसुखस्योपादेयभूतस्य कारणत्वादुपादेय इति भावार्थः

कदापि सुख नही है । सुख तो सिद्धोंके है या महामुनीश्वरोंके सुखका लेशमात्र देखाजाता है दूसरेके जगतकी विषयवासनाओंसे सुख नही है । ऐसा ही कथन श्रीप्रवचनसारमें किया है । "अइसय" इत्यादि । सारांश यह है कि जो शुद्धोपयोगकर प्रसिद्ध ऐसे श्रीसिद्ध परमेष्ठी हैं उनके अतीद्रियसुख है वह सर्वोत्कृष्ट है और आत्मजनित है तथा विषयवासनासे रहित है अनुपम है जिसके समान सुख तीनलोकमें भी नही है जिसका पार नही बाधारहित ऐसा सुख सिद्धोंके है ॥ १३५ ॥

आगे जिस मोक्षमें ऐसा अतीद्रिय सुख है उस मोक्षका स्वरूप कहते हैं;—हे प्रभाकरभट्ट जो [**कर्मकलंकविमुक्तानां जीवानां**] कर्मरूपी कलंकसे रहित जीवोंको [**यः परमात्मलाभः**] जो परमात्मकी प्राप्ति है [**तं परं**] उसीको नियमसे तू [**मोक्षं मन्यस्व**] मोक्ष जान ऐसा [**ज्ञानिनः साधवः**] ज्ञानवान् मुनिराज [**ब्रुवंति**] कहते हैं, रत्नत्रयके योगसे मोक्षका साधन करते हैं इससे उनका नाम साधु है । **भावार्थ—** केवलज्ञानादि अनंतगुण प्रगट रूप जो कार्यसमयसार अर्थात् शुद्धपरमात्माका लाभ वह मोक्ष है यह मोक्ष भव्यजीवोंके ही होती है । भव्य कैसे हैं कि पुत्रकलत्रादि पर वस्तुओंके ममत्वको आदि लेकर सब विकल्पोंसे रहित जो आत्मध्यान उससे जिन्होंने भावकर्म

॥ १३६ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये सूत्रदशकेन मोक्षस्वरूपनिरूपणस्थलं समाप्तं ।

अथ तस्यैव मोक्षस्यानंतचतुष्टयस्वरूपं फलं दर्शयति,—

दंसणु णाणु अणंतसुहु, समउ ण तुट्टइ जासु ।
सो पर सासउ मोक्खफलु, बिज्जउ अत्थि ण तासु ॥ १३७ ॥

दर्शनं ज्ञानं अनंतसुखं समयं न त्रुट्यति यस्य ।
तत् परं शाश्वतं मोक्षफलं द्वितीयं अस्ति न तस्य ॥ १३७ ॥

दंसणु इत्यादि । **दंसणु** केवलदर्शनं **णाणु** केवलज्ञानं **अणंतसुहु** अनंतसुखं एतदुपलक्षणमनंतवीर्याद्यनंतगुणाः **समउ ण तुट्टइ** एतद्गुणकदंबकमेकसमयमपि यावन्न त्रुट्यति न नश्यति **जासु** यस्य मोक्षपर्यायस्याभेदेन तदाधारजीवस्य वा **सो पर** तदेव केवलज्ञानादिस्वरूपं **सासउ मोक्खफलु** शाश्वतं मोक्षफलं भवति **बिज्जउ अत्थि ण तासु** तस्यानंतज्ञानादिमोक्षफलस्यान्य द्वितीयमधिकं किमपि नास्तीति । अयमत्र भावार्थः । अनंतज्ञानादिमोक्षफलं ज्ञात्वा समस्तरागादित्यागेन तदर्थमेव निरतर शुद्धात्मभावना कर्तव्येति ॥ १३७ ॥ एवं द्वितीयमहाधिकारे मोक्षफलकथनरूपेण स्वतंत्रसूत्रमेकं गतं ।

अथानंतरमेकोनविंशतिसूत्रपर्यंतं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गव्याख्यानस्थलं कथ्यते तद्यथा,—

जीवहं मुक्खहं हेउ वरु, दंसणु णाणु चरित्तु ।
ते पुणु तिण्णिवि अप्पु मुणि, णिच्छइं एहउ वुत्तु ॥ १३८ ॥

द्रव्यकर्मरूपी कलंक क्षय किये हैं ऐसे जीवोंके निर्वाण होता है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं । यहां पर अनंतसुखका कारण होनेसे मोक्ष ही उपादेय है ॥ १३६ ॥

इस प्रकार मोक्षका फल और मोक्ष मार्गका जिसमें कथन है ऐसा दूसरे महाधिकारमें दस दोहाओंसे मोक्षका स्वरूप दिखलाया ।

आगे मोक्षका फल अनंतचतुष्टय है यह दिखलाते हैं;—[**यस्य**] जिस मोक्षपर्यायके धारक शुद्धात्माके [**दर्शनं ज्ञानं अनंतसुखं**] केवलदर्शन केवलज्ञान अनंतसुख और अनंतवीर्य इन अनंतचतुष्टयोंको आदि देकर अनंत गुणोंका समूह [**समयं न त्रुट्यति**] एक समयमात्र भी नाश नही होता अर्थात् हमेशा अनंतगुण पाये जाते हैं । [**तस्य**] उस शुद्धात्माके [**तत्**] वही [**परं**] निश्चयसे [**शाश्वतं फलं**] हमेशा रहनेवाला मोक्षका फल [**अस्ति**] है [**द्वितीयं न**] इसके सिवाय दूसरा मोक्षफल नही है और इससे अधिक दूसरी वस्तु कोई नही है । **भावार्थ**—मोक्षका फल अनंत ज्ञानादि जानकर समस्तरागादिकका त्यागकरके उसीके लिये निरंतर शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये ॥१३७॥

जीवानां मोक्षस्य हेतुः वरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रं ।
तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मानं मन्यस्व निश्चयेन एवं उक्तं ॥ १३८ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां अथवा एकवचनपक्षे 'जीवहो' जीवस्य **मोक्खहं हेउ** मोक्षस्य हेतुः कारणं व्यवहारनयेन भवतीति क्रियाध्याहारः । कथंभूतं । **वरु** वरमुत्कृष्टं । किं तत् । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं । **ते पुणु** तानि पुनः **तिण्णिवि** त्रीण्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि **अप्पु** आत्मानमभेदनयेन **मुणि** मन्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट **णिच्छए** निश्चयनयेन **एहउ वुत्तु** एवमुक्तं भणितं तिष्टतीति । इदमत्र तात्पर्य । भेदरत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गो साधको भवति अभेदरत्नत्रयात्मकः पुनर्निश्चयमोक्षमार्गः साध्यो भवत्येवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधकभावो ज्ञातव्यः सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् इति । तथा चोक्तं । "सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे । ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा" ॥ १३८ ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीति प्रतिपादयति,—

पेच्छइ जाणइ अणुचरइ, अप्पिं अप्पउ जो जि ।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ, मुक्खहं कारणु सो जि ॥ १३९ ॥

पश्यति जानाति अनुचरति आत्मना आत्मानं य एव ।
दर्शनं ज्ञानं चारित्रं जीवः मोक्षस्य कारणं स एव ॥ १३९ ॥

पिच्छइ इत्यादि । **पिच्छइ** पश्यति **जाणइ** जानाति **अणुचरइ** अनुचरति । केन

इस प्रकार दूसरे महाधिकारमें मोक्षफलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहासूत्र कहा ।

आगे उन्नीसदोहापर्यंत निश्चय व्यवहारमोक्षमार्गका व्याख्यान करते हैं;—[**जीवानां**] जीवोंके [**मोक्षस्य हेतुः**] मोक्षके कारण [**वरं**] उत्कृष्ट [**दर्शनं ज्ञानं चारित्रं**] दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं [**तानि पुनः**] फिर वे [**त्रीण्यपि**] तीनों ही [**निश्चयेन**] निश्चयकर [**आत्मानं**] आत्माको ही [**मन्यस्व**] जानो [**एवं**] ऐसा [**उक्तं**] श्रीवीतरागदेवने कहा है ऐसा हे प्रभाकरभट्ट तू जान । **भावार्थ**—भेदरत्नत्रयरूप व्यवहारमोक्षमार्ग साधक है और अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग साधने योग्य है । इस प्रकार निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गका साध्यसाधकभाव, सुवर्ण सुवर्णपाषाणकी तरह जानना । ऐसा ही कथन श्रीद्रव्यसंग्रहमें कहा है । "सम्मद्दंसण" इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र ये तीनों ही व्यवहारनयकर मोक्षके कारण जानना और निश्चयसे उन तीनोंमयी एक आत्मा ही मोक्षका कारण है ॥ १३८ ॥

आगे निश्चयरत्नत्रयरूप परिणया निजशुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है ऐसा क-

कृत्वा । अप्पइं आत्मना करणभूतेन । कं कर्मतापन्नं । अप्पउ निजात्मानं **जो जि** य एव कर्ता **दंसणुणाणुचरित्तु** दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भवतीति क्रियाध्याहारः । कोसौ भवति । **जीउ** जीवः य एवाभेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भवतीति **मोक्खहं कारणु** निश्चयेन मोक्षस्य कारणं एक एव **सो जि** स एव निश्चयरत्नत्रयपरिणतो जीव इति । तथाहि । यः कर्ता निजात्मानं मोक्षस्य कारणभूतेन पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति । अथवा । तत्त्वार्थश्रद्धानापेक्षया चलमलिनावगाढपरिहारेण शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपेण निश्चिनोति न केवलं निश्चिनोति वीतरागस्वसंवेदनलक्षणाभेदज्ञानेन जानाति परिच्छिनत्ति । न केवलं परिच्छिनत्ति । अनुचरति रागादिसमस्तविकल्पत्यागेन तत्रैव निजस्वरूपे स्थिरीभवतीति स निश्चयरत्नत्रयपरिणतः पुरुष एव निश्चयमोक्षमार्गो भवतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । तत्त्वार्थश्रद्धानरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्गो भवति नास्ति दोषः पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति इत्येवं यदुक्तं तत्सत्तावलोकदर्शनं कथं मोक्षमार्गो भवति यदि भवति चेत्तर्हि तत्सत्तावलोकदर्शनमभव्यानामपि विद्यते तेपामपि मोक्षो भवति स चागमविरोधः इति । परिहारमाह । तेपां निर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनं वहिर्विपये विद्यते न चाभ्यंतरशुद्धात्मतत्त्वविपये । कस्मादिति चेत् । तेपामभव्यानां मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनमेव नास्ति चारित्रमोहो-

---

हते हैं;—[य एव] जो [आत्मना] अपनेसे [आत्मानं] आपको [पश्यति] देखता है [जानाति] जानता है [अनुचरति] आचरण करता है [स एव] वही विवेकी [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्ररूपपरिणया [जीवः] जीव [मोक्षस्य कारणं] मोक्षका कारण है । भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्माको आपकर निर्विकल्परूप देखता है अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धानकी अपेक्षा चंचलता और मलिनता तथा शिथिलता इनका त्यागकर शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार रुचिरूप निश्चय करता है, वीतराग स्वसंवेदनलक्षण ज्ञानसे जानता है और सब रागादिक विकल्पोंके त्यागसे निजस्वरूपमें स्थिर होता है सो निश्चय रत्नत्रयको परिणत हुआ पुरुष ही मोक्षका मार्ग है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया । कि हे प्रभो तत्त्वार्थ श्रद्धान रुचिरूप सम्यग्दर्शन वह मोक्षका मार्ग है इसमें तो दोप नही और तुमने कहा कि जो देखै वह दर्शन, जाने वह ज्ञान और आचरण है वह चारित्र । सो यह देखनेरूप दर्शन कैसे मोक्षका मार्ग होसकता है । और जो कभी देखनेका नाम दर्शन कहौ तो देखना अभव्यके भी होता है उसके मोक्षमार्ग तो नहीं माना है यदि अभव्यके मोक्षमार्ग होवै तो आगमसे विरोध आवै । आगममें तो यह निश्चय है कि अभव्यको मोक्ष नहीं होती । उसका समाधान यह है कि अभव्योंके देखनेरूप जो दर्शन है वह बाह्यपदार्थोंका है अंतरंगशुद्धात्मतत्त्वका दर्शन तो अभव्योंके नहीं होता उनके मिथ्यात्व

दयात् पुनर्वीतरागचारित्ररूपं निर्विकल्पशुद्धात्मसत्तावलोकनमपि न संभवतीति भावार्थः । निश्चयेनाभेदरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीत्यस्मिन्नर्थे संवादगाथामाह । "रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्मि । तह्मा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा" ॥ १३९ ॥

अथ भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गं दर्शयति,—

जं वोल्लइ ववहारणउ, दंसणु णाणु चरित्तु ।
तं परियाणहि जीव तुहुं, जें परु होहि पवित्तु ॥ १४० ॥

यत् ब्रूते व्यवहारनयः दर्शनं ज्ञानं चारित्रं ।
तत् परिजानीहि जीव त्वं येन परः भवसि पवित्रः ॥ १४० ॥

जं इत्यादि । जं यत् वुल्लइ ब्रूते । कोसौ कर्ता । **ववहारणउ** व्यवहारनयः । यत् किं ब्रूते । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं तं पूर्वोक्तं भेदरत्नत्रयस्वरूपं **परियाणहि** परि समंतात् जानीहि **जीव तुहुं** हे जीव त्वं कर्ता **जिं** येन भेदरत्नत्रयपरिज्ञानेन **परु होहि** परः उत्कृष्टो भवसि त्वं । पुनरपि किं विशिष्टस्त्वं । **पवित्तु** पवित्रः सर्वजनपूज्य इति । तद्यथा । हे जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्ग-साधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि? परंपरया पवित्रः

आदि सात प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम क्षय नही है तथा शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन भी उनके नहीं है और चारित्रमोहके उदयसे वीतराग चारित्ररूप निर्विकल्प शुद्धात्मका सत्तावलोकन भी कभी नही है । तात्पर्य यह है निश्चयकर अभेदरत्नत्रयको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है । ऐसा ही द्रव्यसंग्रहमें साक्षीभूत गाथा कहा है । "रयणत्तयं" इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि रत्नत्रय आत्माको छोड़कर अन्य (दूसरी) द्रव्योंमें नहीं रहते इसलिये मोक्षका कारण उन तीनमई निजआत्मा ही है ॥ १३९ ॥

आगे भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहार वह परंपराय मोक्षका मारग है ऐसा दिखलाते हैं;— [**जीव**] हे जीव [**व्यवहारनयः**] व्यवहारनय [**यत्**] जो [**दर्शनं ज्ञानं चारित्रं**] दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों को [**ब्रूते**] कहता है [**तत्**] उस व्यवहाररत्नत्रयको [**त्वं**] तू [**परिजानीहि**] जान [**येन**] जिससे कि [**परः पवित्रः**] उत्कृष्ट पवित्र [**भवसि**] होवै । **भावार्थ**—हे जीव तू तत्त्वार्थका श्रद्धान शास्त्रका ज्ञान और अशुभक्रियाओंका त्यागरूप सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र व्यवहारमोक्षमार्गको जान क्योंकि ये निश्चयरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्गके साधक हैं इनके जाननेसे किसी समय परमपवित्र परमात्मा हो जायगा । पहले व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति होजावे तब ही निश्चयरत्नत्रयकी

परमात्मा भविष्यसि इति। व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते। तद्यथा। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपो निश्चयमार्गः। अथवा साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः। अत्राह शिष्यः। निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह। भूतनैगमनयेन परंपरया भवतीति। अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानंतज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः॥ सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गविषये संवादगाथामाह। "जं पुण सगयं तच्चं सवियप्पं

प्राप्ति होसकती है इसमें संदेह नही है। जो अनंतसिद्ध हुए और होवेंगे वे पहले व्यवहार रत्नत्रयको पाकर निश्चय रत्नत्रयरूप हुए। व्यवहार साधन है और निश्चयसाध्य है। व्यवहार निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप कहते हैं—वीतरागसर्वज्ञदेवके कहे हुए छह द्रव्य साततत्त्व नौं पदार्थ पंचास्तिकाय इनका श्रद्धान इनके स्वरूपका ज्ञान और शुभक्रियाका आचरण यह व्यवहार मोक्षमार्ग है और निज शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान स्वरूपका ज्ञान और स्वरूपका आचरण यह निश्चयमोक्षमार्ग है। साधनके विना सिद्धि नही होती इसलिये व्यवहारके विना निश्चयकी प्राप्ति नही होती। यह कथन सुनकर शिष्यने प्रश्न किया कि हे प्रभो निश्चयमोक्षमार्ग जो निश्चय रत्नत्रय वह तो निर्विकल्प है और व्यवहार रत्नत्रय विकल्प सहित है सो यह विकल्पदशा निर्विकल्पपनेकी साधन कैसे होसकती है इसकारण उसको साधक मत कहो। उसका समाधान करते हैं। जो अनादिकालका यह जीव विषय कषायोंकर मलीन होरहा है सो व्यवहारसाधनके विना उज्वल नही होसकता जब मिथ्यात्व अव्रत कषायादिककी क्षीणतासे देवगुरु धर्मकी श्रद्धा करै तत्त्वोंका जानपना होवै अशुभक्रिया मिट जावै तब गुरू वह अध्यात्मका अधिकारी होसकता है। जैसे मलिन कपडेको धोवें तब रंगने योग्य होता है विना धोये रंग नही लगता इसलिये परंपराय मोक्षका कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है। मोक्षका मार्ग दो प्रकार है एक व्यवहार दूसरा निश्चय, निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है और व्यवहार परंपराय है। अथवा सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे निश्चय मोक्षमार्ग भी दो प्रकारका है। जो मैं अनंतज्ञानरूप हूं शुद्ध हूं एक हूं ऐसा 'सोहं' का चिंतवन है वह तो सविकल्प निश्चयमोक्षमार्ग है उसको साधक कहते हैं और जहांपर कुछ चिंतवन नही है कुछ बोलना नही है और कुछ चेष्टा नही है वह निर्विकल्पसमाधिरूप साध्य है यह तात्पर्य हुआ। इसी कथनके वारेमें द्रव्यसंग्रहकी साख देते है। "मा चिट्ठह" इत्यादि। सारांश यह है कि हे जीव तू कुछ भी कायकी चेष्टा मत करै कुछ बोलै भी मत

होइ तह य अवियप्पं । सवियप्पं सासवयं निरासवं विगयसंकप्पं" ॥ १४० ॥ एवं पूर्वोक्त-एकोनविंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रत्रयं गतं । इदानीं चतुर्दशसूत्रपर्यंतं व्यवहारमोक्षमार्गप्रथमावयवभूतव्यवहारसम्यक्त्वं मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयति । तद्यथा,—

दव्वइं जाणइं जह ठियइं, तहं जगि मण्णइ जो जि ।
अप्पहं केरउ भावडउ, अविचलु दंसणु सो जि ॥ १४१ ॥

द्रव्याणि जानाति यथास्थितानि तथा जगति मन्यते य एव ।
आत्मनः संबंधि भावः अविचलः दर्शनं स एव ॥ १४१ ॥

दव्वइं इत्यादि । **दव्वइं** द्रव्याणि **जाणइं** जानाति । कथंभूतानि । **जहठियइं** यथास्थितानि वीतरागस्वसंवेदनलक्षणस्य निश्चयसम्यग्ज्ञानस्य परंपरया कारणभूतेन परमागमज्ञानेन परिछिनत्तीति । न केवलं परिछिनत्ति **तह** तथैव **जगि** इह जगति **मण्णइ** मन्यते निजा-त्मद्रव्यमेवोपादेयमिति रुचिरूपं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्य परंपरया कारणभूतेन । "मूढत्रयं मदश्चाष्टौ तथानायतानि षट् । अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः" ॥ लोककथित-पंचविंशतिसम्यक्त्वमलत्यागेन श्रद्धातीति । एवं द्रव्याणि जानाति श्रद्दधाति । कोसौ । **अप्पहं केरउ भावडउ** आत्मनः संबंधिभावः परिणामः । किंविशिष्टो भावः । **अविचलु**

मौन रह और कुछ चितवन भी मतकरै । सब वातो को छोड आत्मामें आपको लीन कर, यह ही परमध्यान है । श्रीतत्त्वसारमें भी सविकल्प निर्विकल्प निश्चयमोक्ष-मार्ग के कथनमें यह गाथा कही है कि "जं पुण सगइं" इत्यादि । इसका सारांश यह है कि जो आत्मतत्त्व है वह भी सविकल्प निर्विकल्पके भेदकर दो प्रकारका है जो विकल्पसहित है वह तो आस्रवसहित है और जो निर्विकल्प है वह आस्रव रहित है ॥ १४० ॥

इस तरह पहले महास्थलमें अनेक अंतर स्थलोंमेंसे उन्नीसदोहाओंके स्थलमें तीन. दोहाओंसे निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गका कथन किया ।

आगे चौदह दोहापर्यंत व्यवहारमोक्षमार्गका पहला अंग व्यवहारसम्यक्त्वको मुख्यतासे कहते हैं;—[**य एव**] जो [**द्रव्याणि**] द्रव्योंको [**यथास्थितानि**] जैसा उनका स्वरूप है वैसा [**जानाति**] जानें [**तथा**] और उसी तरह [**जगति**] इस जगतमें [**मन्यते**] निर्दोष श्रद्धान करै [**स एव**] वही [**आत्मनः**] आत्माका [**निश्चलः संबंधिभावः**] चलमलिनावगाढ दोषरहित निश्चल भाव है [**स एव**] वही आत्मभाव [**दर्शनं**] सम्यक् दर्शन है । **भावार्थ**—यह जगत् छहद्रव्यमयी है सो इन द्रव्योंको अच्छीतरह जानकर श्रद्धान करै जिसमें सदेह नही वह सम्यक् दर्शन है यह सम्य-

अविचलोपि चलमलिनावगाढदोपरहितः **दंसणु** दर्शनं सम्यक्त्वं भवतीति । क एव । **सो जि** स एव पूर्वोक्तो जीवभाव इति । अयमत्र भावार्थः । इदमेव सम्यक्त्वं चिंतामणिरिदमेव कल्पवृक्ष इदमेव कामधेनुरिति मत्वा भोगाकांक्षास्वरूपादिसमस्तविकल्पजालं वर्जनीयमिति । तथा चोक्तं । "हस्ते चिंतामणिर्यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः । कामधेनुर्धनं यस्य तस्य का प्रार्थना परा" ॥ १४१ ॥

अथ यैः षट्द्रव्यैः सम्यक्त्वविषयभूतैस्त्रिभुवनं भृतं तिष्ठति तानीदृक् जानीहीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति,—

दव्वइ जाणहि ताइं छह, तिहुयणु भरियउ जेहिं ।
आइविणासविवज्जियहिं, णाणिहि पभणियएहिं ॥ १४२ ॥

ग्दर्शन आत्माका निज स्वभाव है । वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन निश्चयसम्यग्ज्ञान उसका परंपराय कारण जो परमागमका ज्ञान उससे अच्छीतरह जानें और मनमें मानें यह निश्चय करै कि इन सब द्रव्योंमें निज आत्मद्रव्य ही ध्यावने योग्य है ऐसी रुचिरूप जो निश्चयसम्यक्त्व है उसका परंपराय कारण व्यवहारसम्यक्त्व देव गुरु धर्मकी श्रद्धा उसे स्वीकार करै । व्यवहारसम्यक्त्वके पच्चीसदोप है उनको छोडै । उन पच्चीसोंको "मूढत्रयं" इत्यादि श्लोकमें कहा है । इसका अर्थ ऐसा है कि जहा देव कुदेवका विचार नहीं है वह तो देवमूढ, जहा सुगुरु कुगुरुका विचार नही है वह गुरुमूढ, जहां धर्म कुधर्मका विचार नहीं है वह धर्ममूढ ये तीन मूढता; और जातिमद कुलमद धनमद रूपमद तपमद वलमद विद्यामद राजमद ये आठमद; कुगुरु कुदेव कुधर्म इनकी और इनके आराधकोंकी जो प्रशंसा वह छह अनायतन और निःशंकितादि आठ अंगोंसे विपरीत शंका कांक्षा विचिकित्सा मूढता परदोपकथन अथिरकरण साधर्मियोंसे स्नेह नहीं रखना और जिनधर्मकी प्रभावना नही करना ये शंकादि आठ मल इस प्रकार सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोप है । इन दोषोंको छोडकर तत्त्वों की श्रद्धा करै वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहाजाता है । जहां अस्थिर बुद्धि नही है और परिणामोंकी मलिनता नहीं और शिथिलता नही वह सम्यक्त्व है। यह सम्यग्दर्शन ही कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि हैं ऐसा जानकर भोगोंकी वांछारूप जो सब विकल्प उनको छोड़कर सम्यक्त्वका ग्रहण करना चाहिये । ऐसा कहा है "हस्ते" इत्यादि । जिसके हाथमें चिंतामणि है धनमें कामधेनु जिसके घरमें कल्पवृक्ष है उसके अन्य क्या प्रार्थनाकी आवश्यकता है कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि तो कहने मात्र है सम्यक्त्व ही कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि है यह जानना ॥ १४१ ॥

द्रव्याणि जानीहि तानि षट् त्रिभुवनं भृतं यैः ।
आदिविनाशविवर्जितैः ज्ञानिभिः प्रभणितैः ॥ १४२ ॥

दव्वइं इत्यादि । दव्वइं द्रव्याणि जाणहि जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट ताइं तानि परमागमप्रसिद्धानि । कतिसंख्योपेतानि । छहं षडेव । यैः द्रव्यैःकिं कृतं । तिहुयणु भरियउ त्रिभुवनं भृतं जेहिं यैः कर्तृभूतैः । पुनरपि किंविशिष्टैः । आइविणासविवज्जियहिं द्रव्यार्थिकनयेनादिविनाशविवर्जितैः । पुनरपि कथंभूतैः । णाणिहि पभणियएहिं ज्ञानिभिः प्रभणितैः कथितैश्चेति । अयमत्राभिप्रायः । एतैः षड्भिर्द्रव्यैर्निष्पन्नोऽयं लोको नचान्यः कोपि लोकस्य हर्ता कर्ता रक्षको वास्तीति । किं च । यद्यपि षड्द्रव्याणि व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानि भवंति तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिरूपस्य वीतरागसम्यक्त्वस्य नित्यानंदैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव विषयो भवतीति ॥ १४२ ॥

अथ तेषामेव षड्द्रव्याणां संज्ञां चेतनाचेतनविभागं च कथयति,—

जीउ सचेयणु दव्वु मुणि, पंच अचेयण अण्ण ।
पुग्गलु धम्माहम्मु णहु, कालें सहिया भिण्ण ॥ १४३ ॥

जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्व पंच अचेतनानि अन्यानि ।
पुद्गलः धर्माधर्मौ नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥ १४३ ॥

जीउ इत्यादि । जीउ सचेयणु दव्वु चिदानंदैकस्वभावो जीवश्चेतनाद्रव्यं भवति मुणि मन्यस्व जानीहि त्वं पंच अचेयण पंचाचेतनानि अण्ण जीवादन्यानि । तानि कानि । पोग्गलु धम्माहम्मु णहु पुद्गलधर्माधर्मनभांसि । कथंभूतानि तानि । कालें सहिया

आगे सम्यक्त्वके कारण जो छह द्रव्य है उनसे यह तीनलोक भरा हुआ है उनको यथार्थ जानो ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथासूत्र कहते हैं;—हे प्रभाकर भट्ट तू [**तानि षट्द्रव्याणि**] उन छहों द्रव्यों को [**जानीहि**] जान कि [**यैः**] जिन द्रव्योंसे [**त्रिभुवनं भृतं**] यह तीनलोक भररहा है वे छह द्रव्य [**ज्ञानिभिः**] ज्ञानियोंने [**आदिविनाशविवर्जितैः**] आदि अंतकर रहित द्रव्यार्थिकनयसे [**प्रभणितैः**] कहे है । **भावार्थ**—यह लोक छह द्रव्योंसे भरा है अनादि निधन है इस लोकका आदि अंत नही है तथा इसका कर्ता हर्ता व रक्षक कोई नही है । यद्यपि ये छह द्रव्य व्यवहार सम्यक्त्वके कारण है तौ भी शुद्ध निश्चयनयकर शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागसम्यक्त्वका कारण नित्य आनंद स्वभाव निजशुद्धात्मा ही है ॥ १४२ ॥

आगे उन छह द्रव्योंके नाम कहते है;—हे शिष्य तू [**जीवः सचेतनद्रव्यं**] जीव चेतनद्रव्य है ऐसा [**मन्यस्व**] जान [**अन्यानि**] और वाकी [**पुद्गलः धर्माधर्मौ**] पुद्गल धर्म अधर्म [**नभः**] आकाश [**कालेन सहिता**] और काल सहित जो [**पंच**]

कालद्रव्येण सहितानि । पुनरपि कथंभूतानि । भिण्ण स्वकीयस्वकीयलक्षणेन परस्परभिन्नानि इति । तथाहि । द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते सरागवीतरागभेदेन । सरागसम्यक्त्वलक्षणं कथ्यते । प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति । वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः इदानीं पुनः वीतरागचारित्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः । कस्मादिति चेत् । निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकरपरमदेवभरतसगररामपांडवादीनां विद्यते न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारमाह । तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते पर किंतु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभंगो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यंते । शुद्धात्मभावनाच्युताः संतः भरतादयो निर्दोषि-

---

पाच हैं वे [अचेतनानि] अचेतन है और [अन्यानि] जीवसे भिन्न है तथा ये सब [भिन्नानि] अपने २ लक्षणोंसे आपसमें भिन्न (जुदे२) है, काल सहित छह द्रव्य है कालके विना पांच अस्तिकाय है । **भावार्थ**—सम्यक्त्व दो प्रकारका है एक सरागसम्यक्त्व दूसरा वीतरागसम्यक्त्व, सरागसम्यक्त्वका लक्षण कहते है । **प्रशम** अर्थात् सातिपना, **संवेग** अर्थात् जिनधर्मकी रुचि तथा जगतसे अरुचि, **अनुकंपा** परजीवोंको दुखी देखकर दया भाव और **आस्तिक्य** अर्थात् देव गुरु धर्मकी तथा छह द्रव्योंकी श्रद्धा ये चारोंका होना वह व्यवहारसम्यक्त्वरूप सरागसम्यक्त्व है । और वीतरागसम्यक्त्व जो निश्चयसम्यक्त्व वह निजशुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्रसे तन्मयी है । यह कथन सुनकर प्रभाकर भट्टने प्रश्न किया । हे प्रभो निजशुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का कथन पहले तुमने अनेकवार किया फिर अब वीतरागचारित्रसे तन्मयी निश्चयसम्यक्त्व है यह व्याख्यान करते है यह तो पूर्वापर विरोध है । क्योंकि जो निजशुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर परमदेव भरतचक्रवर्ती सगरचक्रवर्ती और रामपाडवादिक बड़े २ पुरुषोंके रहता है लेकिन उनके वीतरागचारित्र नही है । यही परस्पर विरोध है । यदि उनके वीतरागचारित्र माना जावे तो गृहस्थपना क्यों कहा । यह प्रश्न किया । उसका उत्तर श्रीगुरु कहते हैं । उन महान (बड़े) पुरुषोंके शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व तो है परंतु चारित्रमोहके उदयसे थिरता नहीं है । जबतक महाव्रतका उदय नहीं है तबतक असयमी कहलाते हैं शुद्धात्माकी अखंड भावनासे रहित हुए भरत

परमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तवरूपस्तवनादिकं कुर्वंति । तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयंति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं संसारस्थितिछेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वंति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवंति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति । वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः ॥ १४३ ॥

अथानंतरं सूत्रचतुष्टयेन जीवादिषड्द्रव्याणां क्रमेण प्रत्येकं लक्षणं कथ्यते;—

मुत्तिविहूणउ णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।
णियमिं जोइय अप्पु मुणि, णिच्चु णिरंजणु भाउ ॥ १४४ ॥

मूर्तिविहीनः ज्ञानमयः परमानंदस्वभावः ।
नियमेन योगिन् आत्मानं मन्यस्व नित्यं निरंजनं भावम् ॥ १४४ ॥

मुत्तिविहूणउ इत्यादि । **मुत्तिविहूणउ** अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणया स्पर्शरसगंधवर्णवत्या मूर्त्या विहीनत्वान् मूर्तिविहीनः **णाणमउ** क्रमकरणव्यवधानरहितेन लोकालोकप्रकाशकेन केवलज्ञानेन निवृत्तत्वान् ज्ञानमयः **परमाणंदसहाउ** वीतरागपरमानंदैकरूपसुखामृतरसास्वादेन समरसीभावपरिणतस्वरूपत्वात् परमानंदस्वभावः **णियमिं** शुद्धनिश्चयेन **जोइय** हे योगिन् **अप्पु** तमित्थंभूतमात्मानं **मुणि** मन्यस्व जानीहि त्वं । पुनरपि किंविशिष्टं जानीहि । **णिच्चु** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वान्नित्यं । पुनरपि किं

सगर राघव पांडवादिक; निर्दोष परमात्मा अरहंत सिद्धोंके गुणस्तवन वस्तुस्तवन रूप स्तोत्रादि करते हैं और उनके चारित्रपुराणादिक सुनते है तथा उनकी आज्ञाके आराधक जो महान पुरुष आचार्य उपाध्याय साधु उनको भक्तिसे आहारदानादि करते हैं पूजा करते हैं । विषय कषाय रूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये तथा संसारकी स्थितिके नाश करनेके लिये ऐसीं शुभक्रिया करते हैं । इसलिये शुभरागके संबंधसे सम्यग्दृष्टि हैं और इनके निश्चय सम्यक्त्व भी कहा जासकता है क्योंकि वीतरागचारित्रसे तन्मई निश्चय सम्यक्त्वके परंपराय साधकपना है । अब वास्तवमें (असलमें) विचारा जावे तो गृहस्थ अवस्थामें इनके सरागसम्यक्त्व ही है और जो सरागसम्यक्त्व है वह व्यवहार ही है ऐसा जानो ॥ १४३ ॥

आगे चार दोहाओंसे छह द्रव्योंके क्रमसे हर एकके लक्षण कहते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी [**नियमेन**] निश्चय करके [**आत्मानं**] तू आत्माको ऐसा [**मन्यस्व**] जान । कैसा है आत्मा [**मूर्तिविहीनः**] मूर्तिसे रहित है [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमई है [**परमानंदस्वभावः**] परमानंदस्वभाववाला है [**नित्यं**] नित्य है [**निरंजनं**] निरंजन है

विशिष्टं । णिरंजणु मिथ्यात्वरागादिरूपांजनरहितत्वान्निरंजनं । पुनश्च कथंभूतमात्मानं जानीहि । भाउ भावं विशिष्टपदार्थ इति । अत्रैवं गुणविशिष्टः शुद्धात्मैवोपादेय अन्यद्धेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ १४४ ॥

अथ,—

पुग्गलु छव्विहु मुत्तु वढ, इयर अमुत्तु वियाणि ।
धम्माधम्मुवि गइठियहिं, कारणु पभणहिं णाणि ॥ १४५ ॥

पुद्गलः षड्विधः मूर्तः वत्स इतराणि अमूर्तानि विजानीहि ।
धर्माधर्ममपि गतिस्थित्योः कारणं प्रभणंति ज्ञानिनः ॥ १४५ ॥

पुग्गलु इत्यादि । **पुग्गलु** पुद्गलद्रव्यं **छव्विहु** षड्विधं । तथा चोक्तं । "पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपाउग्गा । कम्मातीदा एवं छब्भेया पुग्गला होंति" । एवं तत्कथं भवति । **मुत्तु** स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्तिरिति वचनान्मूर्तं **वढ** वत्स पुत्र **इयर** इतराणि पुद्गलात् शेषद्रव्याणि **अमुत्त** स्पर्शाद्यभावादमूर्तानि **वियाणि** विजानीहि त्वं **धम्माधम्मुवि** धर्माधर्मद्वयमपि **गइठियहिं** गतिस्थित्योः **कारणु** कारणं निमित्तं **पभणहिं** प्रभणंति कथयंति । के कथयंति । **णाणि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः इति । अत्र द्रष्टव्यं। यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूपेण पुद्गलद्रव्यं मुक्तिगमनकाले सहका-

---

[भावं] ऐसा जीवपदार्थ है । भावार्थ—यह आत्मा, अमूर्तीक शुद्धात्मासे भिन्न जो स्पर्श रसगंधवर्णवाली मूर्ति उससे रहित है, लोक अलोकका प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानकर पूर्ण है जो कि केवलज्ञान सब पदार्थोंको एक समयमें प्रत्यक्ष जानता है आगे पीछे नहीं जानता, वीतरागभाव परमानंदरूप अतीन्द्रियसुखस्वरूप अमृतके रसके स्वादसे समरसी भावको परिणत हुआ है ऐसा हे योगी शुद्धनिश्चयसे अपने आत्माको ऐसा समझ शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे विना टाकीका घड्या हुआ सुघटघाट ज्ञायक स्वभाव नित्य है । तथा मिथ्यात्वरागादिरूप अंजनसे रहित निरंजन है । ऐसे आत्माको तू भली भांति जान सब पदार्थोंमें उत्कृष्ट है । इन गुणोंसे मंडित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है और सब तजने योग्य हैं ॥ १४४ ॥

आगे फिर भी कहते हैं;—[हे वत्स] हे वत्स तू [पुद्गलः] पुद्गलद्रव्य [षड्विधः] छै प्रकार तथा [मूर्तः] मूर्तीक है [इतराणि] अन्य सब द्रव्य [अमूर्तानि] अमूर्त है ऐसा [विजानीहि] जान [धर्माधर्ममपि] धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंको [गतिस्थित्योः कारणं] गति स्थितिका सहायककारण [ज्ञानिनः] केवली श्रुतकेवली [प्रभणंति] कहते हैं । भावार्थ— पुद्गल द्रव्यके छह भेद दूसरी जगह भी "पुढवी जलं" इत्यादि गाथासे कहे हैं । उसका अर्थ यह है कि बादर बादर १ बादर २ बाद-

रिकारणं भवति तथापि धर्मद्रव्यं च गतिसहकारिकारणं भवति, अधर्मद्रव्यं च लोकाग्रे स्थितस्य स्थितिसहकारिकारणं भवति । यद्यपि मुक्तात्मप्रदेशमध्ये परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठंति तथापि निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः सकाशाद्भिन्नस्वरूपेण मुक्तौ तिष्ठंति । तथात्र संसारे चेतनाकारणानि हेयानीति भावार्थः ॥ १४५ ॥

अथ,—

दव्वइं सयलइं वरि ठियइं, णियमिं जासु वसंति ।
तं णहु दव्वु वियाणि तुहुं, जिणवर एउ भणंति ॥ १४६ ॥

द्रव्याणि सकलानि उदरे स्थितानि नियमेन यस्य वसंति ।
तत् नभः द्रव्यं विजानीहि त्वं जिनवरा एतद् भणंति ॥ १४६ ॥

दव्वइ द्रव्याणि । कतिसंख्योपेतानि । सयलइं समस्तानि उवरि उदरे ठियइं स्थितानि णियमें निश्चयेन जासु यस्य वसंति आधाराधेयभावेन तिष्ठंति तं तत् णहु दव्वु नभ

रसूक्ष्म ३ सूक्ष्मवादर ४ सूक्ष्म ५ सूक्ष्मसूक्ष्म ६ ये छह भेद पुद्गलके हैं । उनमेंसे पत्थर काठ तृण आदि पृथ्वी वादर वादर है टुकड़े होकर नहीं जुड़ते, जल घी तैल आदि वादर हैं जो टूटकर मिल जाते हैं, छाया आतप चांदनी ए वादर सूक्ष्म हैं जो कि देखनेमें तो वादर और ग्रहण करनेमें सूक्ष्म है, नेत्रको छोडकर चार इंद्रियोंके विषय रसगंधादि सूक्ष्म वादर हैं जो कि देखनेमें नहीं आते और ग्रहण करनेमें आते हैं, कर्मवर्गणा सूक्ष्म हैं जो अनंत मिली हुई हैं परंतु दृष्टिमें नही आतीं और सूक्ष्मसूक्ष्म परमाणु है जिसका दूसरा भाग नही होता । इस तरह छह भेद हैं । इन छहोंतरहके पुद्गलोंको तू अपने स्वरूपसे जुदे समझ । यह पुद्गलद्रव्य स्पर्शरस गंध वर्णको धारण करता है इसलिये मूर्तीक है अन्य धर्म अधर्म दोनों गति तथा स्थितिके कारण है ऐसा वीतरागदेवने कहा है । यहांपर एक वात देखनेकी है कि यद्यपि वज्रवृषभनाराचसहननरूप पुद्गलद्रव्य मोक्षके गमनका सहायक है इसके विना मुक्ति नहीं होसकती तौभी धर्मद्रव्य गति सहाई है इसके विना सिद्धलोकको जाना नहीं होसकता तथा अधर्मद्रव्य सिद्धलोकमें स्थितिका सहाई है । लोकशिखरपर आकाशके प्रदेश अवकाशमें सहाई हैं । अनंते सिद्ध अपने स्वभावमें ही ठहरे हुए हैं परद्रव्यका कुछप्रयोजन नहीं है । यद्यपि मुक्तात्माओंके प्रदेश आपसमें एक-जगह हैं तौभी विशुद्धज्ञान दर्शन भाव भगवान सिद्धक्षेत्रमें भिन्न भिन्न स्थित हैं कोई सिद्ध किसी सिद्धसे प्रदेशोंकर मिला हुआ नहीं है । पुद्गलादि पांचो द्रव्य जीवको यद्यपि निमित्त कारण कहे गये हैं तौभी उपादान कारण नही है ऐसा सारांश हुआ ॥ १४५ ॥

आगे आकाशका स्वरूप कहते हैं;—[यस्य] जिसके [उदरे] अंदर [सकलानि द्रव्याणि] सब द्रव्यें [स्थितानि] स्थित हुईं [नियमेन वसंति] निश्चयसे आधार

आकाशद्रव्यं वियाणि विजानीहि तुहुं त्वं हे प्रभाकरभट्ट जिणवर जिनवराः वीतरागसर्वज्ञाः एउ भणंति एतद्भणंति कथयंतीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठत्याकाशं तथापि साक्षादुपादेयभूतादनंतसुखस्वरूपात्परमात्मनः सकाशादत्यंतभिन्नत्वाद्धेयमिति ॥ १४६ ॥

अथ,—

कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुं, वट्टणलक्खणु एउ ।
रयणहं रासि विभिण्ण जिम, तसु अणुअहं तह भेउ ॥ १४७॥

कालं मन्यस्व द्रव्यं त्वं वर्तनालक्षणं एतत् ।
रत्नानां राशिः विभिन्नः यथा तस्य अणूनां तथा भेदः ॥ १४७ ॥

कालु इत्यादि । कालु कालं मुणिज्जहि मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि । दव्वु कालसंज्ञं द्रव्यं । कथंभूतं । वट्टणलक्खणु वर्तनालक्षणं स्वयमेव परिणममानानां द्रव्याणां वहिरंगसहकारिकारणं । किंवदिति चेत् । कुंभकारचक्रस्याधस्तनशिलावदिति एउ एतत् प्रत्यक्षीभूतं तस्य कालद्रव्यस्यासंख्येयप्रमितस्य परस्परभेदविषये दृष्टांतमाह । रयणहं रासि रत्नानां राशिः । कथंभूतः । विभिन्नः विशेषेण स्वरूपव्यवधानेन भिन्नः तसु तस्य कालद्रव्यस्य अणुअहं अणूनां कालाणूनां तह तथा भेउ भेदः इति । अत्राह शिष्यः । समय एव निश्चयकालः अन्यन्निश्चयकालसंज्ञं कालद्रव्यं नास्ति । अत्र परिहारमाह । समयस्तावत्प-

---

आधेयरूप होकर रहती हैं [तत्] उसको [त्वं] तू [नभो द्रव्यं] आकाशद्रव्य [विजानीहि] जान [एतत्] ऐसा [जिनवराः] जिनेंद्रदेव [भणंति] कहते हैं । लोकाकाश आधार है अन्य सब द्रव्य आधेय हैं । भावार्थ—यद्यपि ये सब द्रव्य आकाशमें परस्पर एक क्षेत्रावगाहसे ठहरी हुई हैं तौभी आत्मासे अत्यंत भिन्न हैं इसलिये त्यागने योग्य हैं और आत्मा साक्षात् आराधने योग्य है अनंतसुखस्वरूप है ॥ १४६ ॥

आगे कालद्रव्यका व्याख्यान करते हैं;—[त्वं] हे भव्य तू [एतत्] इस प्रत्यक्षरूप [वर्तनालक्षणं] वर्तनालक्षणवालेको [कालं] कालद्रव्य [मन्यस्व] जान अर्थात् अपने आप परिणमते हुए द्रव्योंको कुम्हारके चक्रकी नीचेकी सिलाकी तरह बहिरंग सहकारी कारण है यह कालद्रव्य असख्यात प्रदेश प्रमाण है [यथा] जैसे [रत्नानां राशिः] रत्नोंकी राशि [विभिन्नः] जुदे रूप है सब रत्न जुदे २ रहते हैं मिलते नही हैं [तथा] उसीतरह [तस्य] उसकालके [अणूनां] कालकी अणुओंका [भेदः] भेद है एक कालाणूसे दूसरी कालाणू नही मिलता । यहापर शिष्यने प्रश्न किया कि समय ही निश्चयकाल है अन्य निश्चयकाल नामवाला काल द्रव्य नही है उसका श्रीगुरु समाधान करते हैं । समय है वह कालद्रव्यकी पर्याय है क्योंकि विनाशको पाता है । ऐसा ही श्रीपंचास्ति-

र्यायः । कस्मात् । विनश्वरत्वात् । तथा चोक्तं समयस्य विनश्वरत्वं । "समओ उप्पण्णपद्धंसी" इति । स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति । कस्य द्रव्यस्य भवतीति विचार्यते । यदि पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायो भवति तर्हि पुद्गलपरमाणुपिंडनिष्पन्नघटादयो यथा मूर्ता भवंति तथा अणोरण्वंतरव्यक्तिक्रमणाज्जातः समयः, चक्षुःसंपुटविघटनाज्जातो निमिषः, जलभाजनहस्तादिव्यापाराज्जाता घटिका आदित्यबिंबदर्शनाज्जातो दिवसः, इत्यादि कालपर्याया मूर्ता दृष्टिविषया प्राग्भवंति । कस्मात् । पुद्गलद्रव्योपादानकारणजातत्वात् घटादिवत् इति । तथा चोक्तं । उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति मृत्पिंडाद्युपादानकारणजनितघटादिवदेव न च तथा समयनिमिषघटिकादिवसादिकालपर्याया मूर्ता दृश्यंते । यैः पुनः पुद्गलपरमाणुमंदगतिगमननयनपुटविघटनजलभाजनहस्तादिव्यापारदिनकरबिंबगमनादिभिः पुद्गलपर्यायभूतैः क्रियाविशेषैः समयादिकालपर्यायाः परिच्छिद्यंते । ते चाणुव्यतिक्रमणादयः तेषामेव समयादिकालपर्यायाणां व्यक्तिनिमित्तत्वेन बहिरंगसहकारिकारणभूता एव ज्ञातव्याः । न चोपादानकारणभूता घटोत्पत्तौ कुंभकारचक्रचीवरादिवत् । तस्माद् ज्ञायते तत्कालद्रव्यममूर्तमविनश्वरमस्तीति तस्य तत्पर्यायाः समयनिमेषादय इति । अत्रेदं तु कालद्रव्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतात् शुद्धबुद्धैकस्वभावाज्जीवद्रव्याद्भिन्नत्वाद्धेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ १४७ ॥

कायमें कहा है "समओ उप्पण्णपद्धंसी" अर्थात् समय उत्पन्न होता है नाश होता है । इससे जानते हैं कि समय पर्याय है पर्याय द्रव्यके विना हो नहीं सकता । किस द्रव्यका पर्याय है इसपर अब विचार करना चाहिये । यदि पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानी जावे तो जैसे पुद्गलपरमाणुओंसे उत्पन्न हुए घटादि मूर्तीक हैं वैसे समयभी मूर्तीक होना चाहिये परंतु समय अमूर्तीक है इसलिये पुद्गलकी पर्याय तो नही है । पुद्गलपरमाणु आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशको जव गमनकरता है तव समय होता है सो समय पर्याय कालकी है पुद्गलपरमाणुके निमित्तसे होती है, नेत्रोंका मिलना तथा विघटना उससे निमेष होता है, जलपात्र तथा हस्तादिकके व्यापारसे घटिका होती है और सूर्य बिंबके उदयसे दिन होता है इत्यादि कालकी पर्याय हैं पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होती हैं पुद्गल इन पर्यायोंका मूलकारण नही है मूलकारण काल है । जो पुद्गल मूलकारण होता तो समयादिक मूर्तीक होते । जैसे मूर्तीक मट्टीके डेलेसे उत्पन्न घड़े वगैरः मूर्तीक होते हैं वैसे समयादिक मूर्तीक नही हैं । इसलिये अमूर्तद्रव्य जो काल उसकी पर्याय हैं द्रव्य नही हैं कालद्रव्य अणुरूप अमूर्तीक अविनश्वर है और समयादिक पर्याय अमूर्तीक हैं परंतु विनश्वर हैं अविनश्वरपना द्रव्यमें ही है पर्यायमें नही है यह निश्चयसे जानना । इसलिये समयादिकको कालद्रव्यकी पर्याय ही कहना चाहिये पुद्गलकी पर्याय नही हैं पुद्गलपर्याय मूर्तीक है । सर्वथा उपादेय शुद्धबुद्धकेवलस्वभाव जो जीव उससे भिन्न कालद्रव्य है इसलिये हेय है ऐसा सारांश हुआ ॥ १४७ ॥

अथ जीवपुद्गलकालद्रव्याणि मुक्त्वा शेषधर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणीति निरूपयति,—

जीउवि पुग्गलु कालु जिय, ए मेल्लेविणु दव्व ।
इयर अखंड वियाणि तुहु, अप्पपएसहिं सव्व ॥ १४८ ॥

जीवोपि पुद्गलः कालः जीव एतानि मुक्त्वा द्रव्याणि ।
इतराणि अखंडानि विजानीहि त्वं आत्मप्रदेशैः सर्वाणि ॥ १४८ ॥

जीउवि इत्यादि । **जीउवि** जीवोपि **पुग्गलु** पुद्गलः **कालु** कालः **जिय** हे जीव **ए मेल्लेविणु** एतानि मुक्त्वा **दव्व** द्रव्याणि **इयर** इतराणि धर्माधर्माकाशानि **अखंड** अखंडद्रव्याणि **वियाणि** विजानीहि **तुहुं** त्वं हे प्रभाकरभट्ट । कैः कृत्वाखंडानि विजानीहि । **अप्पपएसहिं** आत्मप्रदेशैः । कतिसंख्योपेतानि । **सव्व** सर्वाणि इति । तथाहि । जीवद्रव्याणि पृथक् पृथक् जीवद्रव्यगणनेनानंतसंख्यानि पुद्गलद्रव्याणि तेभ्योप्यनंतगुणानि भवंति । धर्माधर्माकाशानि पुनरेकद्रव्याण्येवेति । अत्र जीवद्रव्यमेवोपादेयं तत्रापि यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शक्त्यपेक्षया सर्वे जीवा उपादेयास्तथापि व्यक्त्यपेक्षया पंचपरमेष्ठिन एव तेष्वपि मध्ये विशेषेणार्हत्सिद्धा एव तयोरपि मध्ये सिद्धा एव परमार्थेन तु मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इत्युपादेयपरंपरया ज्ञातव्येति भावार्थः ॥ १४८ ॥

आगे जीव पुद्गल काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं और धर्म अधर्म आकाश ये तीन द्रव्य एक हैं ऐसा कहते हैं;—[हे जीव] हे जीव [त्वं] तू [जीवः अपि] जीव और [पुद्गलः] पुद्गल [कालः] काल [एतानि द्रव्याणि] इन तीन द्रव्योंको [मुक्त्वा] छोड़कर [इतराणि] दूसरी धर्म अधर्म आकाश [सर्वाणि] ये सब तीन द्रव्य [आत्मप्रदेशैः] अपने प्रदेशोंसे [अखंडानि] अखंडित हैं । भावार्थ—जीवद्रव्य जुदे २ जीवोंकी गणनासे अनंत हैं पुद्गलद्रव्य उससे भी अनतगुणे हैं कालद्रव्याणू असंख्यात हैं धर्मद्रव्य एक है वह लोकव्यापी है अधर्मद्रव्य भी एक है लोकव्यापी है ये दोनों द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं और आकाशद्रव्य अलोक अपेक्षा अनंत प्रदेशी है तथा लोक अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी हैं । ये सब द्रव्य अपने २ प्रदेशोकर सहित हैं किसीके प्रदेश किसीसे नही मिलते । इन छहों द्रव्योंमें जीव ही उपादेय है । यद्यपि शुद्धनिश्चयसे शक्तिकी अपेक्षा सभी जीव उपादेय हैं तौभी व्यक्तिकी अपेक्षा पंच परमेष्ठी ही उपादेय हैं उनमें भी अरहंतसिद्ध ही है उन दोनोंमें भी सिद्ध ही है और निश्चयनयकर मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामके अभावमें विशुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसा जानना ॥ १४८ ॥

अथ जीवपुद्गलौ सक्रियौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि निःक्रियाणीति प्रतिपादयति;—

दव्व चयारिवि इयर जिय, गमणागमणविहीण ।
जीउवि पुग्गलु परिहरिवि, पभणहिं णाणिपवीण ॥ १४९ ॥

द्रव्याणि चत्वारि एव इतराणि जीव गमनागमनविहीनानि ।
जीवोपि पुद्गलः परिहृत्य प्रभणंति ज्ञानिप्रवीणाः ॥ १४९ ॥

दव्व इत्यादि । दव्व द्रव्याणि । कतिसंख्योपेतानि एव । **चयारिवि** चत्वार्येव इयर जीवपुद्गलाभ्यामितराणि **जिय** हे जीव । कथंभूतान्येतानि । **गमणागमणविहीण** गमनागमनविहीनानि निःक्रियाणि चलनक्रियाविहीनानि । किंकृत्वा । **जीउवि पुग्गलु परिहरिवि** जीवपुद्गलौ परिहृत्य पभणहिं एवं प्रभणंति कथयंति । के ते । **णाणिपवीण** भेदाभेदरत्नत्रयाराधकाविवेकिन इत्यर्थः । तथाहि । जीवानां संसारावस्थायां गतेः सहकारिकारणभूताः कर्मनोकर्मपुद्गलाः कर्मनोकर्माभावात्सिद्धानां निःक्रियत्वं भवति पुद्गलस्कंदानां तु कालाणुरूपं कालद्रव्यं गतेर्वहिरंगनिमित्तं भवति । अनेन किमुक्तं भवति । अविभागिव्यवहारकालसमयोत्पत्तौ मंदगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुः घटोत्पत्तौ कुंभकारवद्वहिरंगनिमित्तेन व्यंजको व्यक्तिकारको भवति । कालद्रव्यं तु मृत्पिडवदुपादानकारणं भवति । तस्य तु पुद्गल-

---

आगे जीव पुद्गल ये दोनों चलनहलनादि क्रिया युक्त हैं और धर्म अधर्म आकाश काल ये चारों निःक्रिय हैं ऐसा निरूपण करते हैं;—[हे जीव] हे हंस [**जीवः अपि पुद्गलः**] जीव और पुद्गल इन दोनोंको [**परिहृत्य**] छोड़कर [**इतराणि**] दूसरीं [**चत्वारि एव द्रव्याणि**] धर्मादि चारों ही द्रव्य [**गमनागमनविहीनानि**] चलन हलनादि क्रिया रहित हैं जीव पुद्गल क्रियावंत है गमनागमन करते है ऐसा [**ज्ञानिप्रवीणाः**] ज्ञानियोंमें चतुर रत्नत्रयके धारक केवली श्रुतकेवली [**प्रभणंति**] कहते हैं । **भावार्थ**—जीवोंके संसार अवस्थामें इस गतिसे अन्य गतिके जानेको कर्म नोकर्म जातिके पुद्गल सहाई है । और कर्म नोकर्मके अभावसे सिद्धोंके निःक्रियपना है गमनागमन नहीं है । पुद्गलके स्कंदोंको गमनका बहिरंगनिमित्तकारण कालाणुरूप कालद्रव्य है । इससे क्या अर्थ निकला । यह निकला कि निश्चय कालकी पर्याय जो समयरूप व्यवहारकाल उसकी उत्पत्तिमें मंदगतिरूप परिणत हुआ अविभागी पुद्गलपरमाणू कारण होता है । समयरूप व्यवहार कालका उपादानकारण निश्चय काल द्रव्य है उसीकी एक समयादि व्यवहारकालका मूलकारण निश्चयकालाणुरूप काल द्रव्य है उसीकी एक समयादिक पर्याय है पुद्गल परमाणुकी मंदगति बहिरंग निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं है पुद्गल परमाणु आकाशके प्रदेशमें मंदगतिसे गमन करता है यदि शीघ्र गतिसे चले तो एक समयमें चौदह राजू जाता है जैसे घटपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो मट्टीक

परमाणोर्मंदगतिगमनकाले यद्यपि धर्मद्रव्यं सहकारिकारणमस्ति तथापि कालाणुरूपं निश्चयकालद्रव्यं च सहकारिकारणं भवति । सहकारिकारणानि तु बहून्यपि भवंति मत्स्यानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेपि जलवत् घटोत्पत्तौ कुंभकारबहिरंगनिमित्तेपि चक्रचीवरादिवत् जीवानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेपि कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं पुद्गलानां तु कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणं । कुत्र भणितमास्ते इति चेत् । पंचास्तिकायप्राभृते श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवैः सक्रियनिःक्रियव्याख्यानकाले भणितमस्ति । "जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा । पुग्गलकरणा जीवा खंदा खलु कालकरणेहिं" ॥ पुद्गलस्कंधानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेपि जलवत् द्रव्यकालो गतेः सहकारिकारणं भवतीत्यर्थः । अत्र निश्चयनयेन

डला है और बहिरंग कारण कुम्हार है वैसे समयपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो कालाणूरूप निश्चय काल है और बहिरंगनिमित्त कारण पुद्गलपरमाणू है । पुद्गलपरमाणुकी मंदगतिरूप गमन समयमें यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारी है तौभी कालाणूरूप निश्चयकाल परमाणूकी मंदगतिका सहाई जानना । परमाणूके निमित्तसे तो कालका समय पर्याय प्रगट होता है और कालके सहायसे परमाणू मंदगति करता है । कोई प्रश्न करै कि गतिका सहकारी धर्म है कालको क्यों कहा । उसका समाधान यह है कि सहकारी कारण बहुत होते है और उपादानकारण एक ही होता है दूसरा द्रव्य नही होता निज द्रव्य ही निज (अपनी) गुणपर्यायोंका मूलकारण है और निमित्तकारण वहिरंगकारण तो वहुत होते है इसमें कुछ दोष नही है । धर्म द्रव्य तो सबहीका गतिसहाई है परंतु मछलीयोंको गतिसहाई जल है तथा घटकी उत्पत्तिमें बहिरंग निमित्त कुम्हार है तौभी दंड चक्र चीवरादिक ये भी अवश्य कारण है इनके विना घट नहीं होता । और जीवोंके धर्मद्रव्य गतिकी सहाई विद्यमान है तौभी कर्म नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण है इसीतरह पुद्गलको कालद्रव्य गतिसहकारी कारण जानना । यहा कोई प्रश्न करै कि धर्म द्रव्य तो गतिका सहाई सब जगह कहा है और कालद्रव्य वर्तनाका सहाई है गति सहाई किसजगह कहा है । उसका समाधान श्रीपंचास्तिकायमें कुंदकुंदाचार्यने क्रियावंत और अक्रियावंतके व्याख्यानमें कहा है । "जीवा पुग्गल" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावंत हैं और वाकीके चार द्रव्य अक्रियावाले हैं चलन हलन क्रियासे रहित हैं । जीवको दूसरी गतिमें गमनका कारण कर्म है वह पुद्गल है और पुद्गलको गमनका कारण काल है । जैसे धर्म द्रव्यके मौजूद होनेपर भी मच्छोंको गमनसहाई जल है उसीतरह पुद्गलको धर्म द्रव्यके होनेपर भी द्रव्यकाल गमनका सहकारी कारण है । यहा निश्चयनयकर गमनादि क्रियासे रहित निःक्रिय सिद्धस्वरूपके समान निःक्रिय निर्द्वंद्व निज शुद्धात्मा ही उपादेय है यह शास्त्रका तात्पर्य हुआ । इसी प्रकार

निःक्रियसिद्धस्वरूपसमानं निजशुद्धात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यं । तथाचोक्तं निश्चयनयेन निःक्रियजीवलक्षणं "यावत्क्रियाः प्रवर्तते तावद्द्वैतस्य गोचरः । अद्वये निष्कले प्राप्ते निःक्रियस्य कुतःक्रिया" ॥ १४९ ॥

अथ पंचास्तिकायसूचनार्थं कालद्रव्यमप्रदेशं विहाय कस्य द्रव्यस्य कियंतः प्रदेशाः भवंतीति कथयति;—

धम्माधम्मुवि एक्कु जिउ, ए जि असंखपदेस ।
गयणु अणंतपएसु मुणि, वहुविह पुग्गलदेस ॥ १५० ॥

धर्माधर्मौ अपि एकः जीवः एतानि एव असंख्यप्रदेशानि ।
गगनं अनंतप्रदेशं मन्यस्व वहुविधाः पुद्गलदेशाः ॥ १५० ॥

धम्माधम्मुवि इत्यादि । **धम्माधम्मुवि** धर्माधर्मद्वितयमेव **एक्कु जिउ** एको विवक्षितो जीवः **ए जि** एतान्येव त्रीणि द्रव्याणि **असंखपएस** असंख्येयप्रदेशानि भवंति **गयणु** गगनं **अणंतपएसि** अनंतप्रदेशं **मुणि** मन्यस्व जानीहि **वहुविह** वहुविधा भवंति । के ते । **पुग्गलदेस** पुद्गलप्रदेशाः । अत्र पुद्गलद्रव्यप्रदेशविवक्षया प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्याः

दूसरे ग्रंथोंमें भी निश्चयकर हलन चलनादि क्रिया रहित जीवका लक्षण कहा है । "यावक्रिया" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जव तक इस जीवके हलन चलनादि क्रिया है गतिसे गत्यंतरको जाना है तव तक दूसरे द्रव्यका सवंध है जव दूसरेका संवंध मिटा अद्वैत हुआ तव निकल अर्थात् शरीरसे रहित निःक्रिय है उसके हलन चलनादि क्रिया कहांसे होसक्ती है अर्थात् ससारी जीवके कर्मके संवंधसे गमन है सिद्ध भगवान कर्मरहित निःक्रिय हैं उनके गमनागमन क्रिया कभी नहीं होसक्ती ॥ १४९ ॥

आगे पंचास्तिकायके प्रगट करनेके लिये काल द्रव्य अप्रदेशीको छोड़कर अन्य पांचद्रव्योंमेंसे किसके कितने प्रदेश है यह कहते हैं;—[**धर्माधर्मौ**] धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य [**अपि एकः जीवः**] और एक जीव [**एतानि एव**] इन तीनों ही को [**असंख्यप्रदेशानि**] असख्यात प्रदेशी [**मन्यस्व**] तू जान [**गगनं**] आकाश [**अनंतप्रदेशं**] अनंतप्रदेशी है [**पुद्गलप्रदेशाः**] और पुद्गलके प्रदेश [**वहुविधाः**] वहुत प्रकारके हैं परमाणू तो एक प्रदेशी है और स्कंध संख्यात प्रदेश असंख्यात प्रदेश तथा अनंत प्रदेशी भी होते हैं । **भावार्थ**—जगतमें धर्म द्रव्य तो एक ही है, वह असंख्यात प्रदेशी है, अधर्म द्रव्य भी एक है असंख्यात प्रदेशी है, जीव अनंत हैं सो एक २ जीव असंख्यात प्रदेशी है, आकाशद्रव्य एक ही है वह अनंतप्रदेशी है ऐसा जानो । पुद्गल एक प्रदेशसे लेकर अनंत प्रदेशतक है । एक परमाणू तो एक प्रदेशी है और जैसे २ परमाणू मिलते जाते हैं वैसे २ प्रदेश भी वढते जाते हैं वे संख्यात असंख्यात अनंत प्रदेशतक जानने,

न च क्षेत्रप्रदेशा इति । कस्मात् । पुद्गलस्यानंतक्षेत्रप्रदेशाभावादिति । अथवा पाठांतरं । 'पुग्गलु तिविहु पएसु' पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानंतरूपेण त्रिविधाः प्रदेशाः परमाणवो भवंतीति । अत्र निश्चयेन द्रव्यकर्माभावादमूर्तो मिथ्यात्वरागादिरूपभावकर्मसंकल्पविकल्पाभावात् शुद्धा लोकाकाशप्रमाणेनासंख्येयाः प्रदेशाः यस्य शुद्धात्मनः स शुद्धात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपरिणतिकाले साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १५० ॥

अथ लोके यद्यपि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठंति द्रव्याणि तथापि निश्चयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण कृत्वा स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजंतीति दर्शयति,—

लोयागासु धरेवि जिय, कहियइं दव्वइं जाइं ।
एक्कहिं मिलियइं इत्थु जगि, सगुणहिं णिवसहिं ताइं ॥ १५१ ॥

लोकाकाशं धृत्वा जीव कथितानि द्रव्याणि यानि ।
एकत्वे मिलितानि अत्र जगति स्वगुणेषु निवसंति तानि ॥ १५१ ॥

लोगागासु इत्यादि । **लोगागासु** लोकाकाशं कर्मतापन्नं **धरेवि** धृत्वा मर्यादीकृत्वा **जिय** हे जीव अथवा लोकाकाशमाधारीकृत्वा **ठियाइं** आधेयरूपेण स्थितानि । कानि स्थितानि । **कहियइं दव्वइं जाइं** कथितानि जीवादिद्रव्याणि यानि । पुनः कथंभूतानि ।

अनंत परमाणू इकट्ठे होवें तब अनंत प्रदेश कहे जाते हैं । अन्य द्रव्योंके तो विस्ताररूप प्रदेश हैं और पुद्गलके स्कंधरूप प्रदेश हैं । पुद्गलके कथनमें प्रदेश शब्दसे परमाणू लेना क्षेत्र नही लेना पुद्गलका प्रचार लोकमें ही है अलोकाकाशमें नहीं है इसलिये अनंत क्षेत्र प्रदेशके अभाव होनेसे क्षेत्र प्रदेश न जानने । जैसे २ परमाणू मिलजाते हैं वैसे २ प्रदेशोंकी वढवारी जाननी । इसी दोहाके कथनमें पाठातरमें "पुग्गलु तिविहु पएसु" ऐसा है उसका अर्थ यह है कि पुद्गलके संख्यात असंख्यात अनंत प्रदेश परमाणुओंके मेलसे जानने चाहिये अर्थात् एक परमाणू एक प्रदेश बहुत परमाणू बहु प्रदेश यह जानना । सूत्रमें शुद्ध निश्चयनयकर द्रव्यकर्मके अभावसे यह जीव अमूर्तीक है और मिथ्यात्वरागादिरूप भावकर्म संकल्प विकल्पके अभावसे शुद्ध है लोकाकाशप्रमाण असख्यात प्रदेशवाला है ऐसा जो निजशुद्धात्मा वही वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदशामें साक्षात् उपादेय है यह जानना ॥ १५० ॥

आगे लोकमें यद्यपि व्यवहारनयकर ये सव द्रव्य एक क्षेत्रावगाहसे तिष्ठरहे हैं तौ भी निश्चयनयकर कोई द्रव्य किसीसे नहीं मिलता और कोई भी अपने २ स्वरूपको नहीं छोड़ता है ऐसा दिखलाते हैं;—[**हे जीव**] हे जीव [**अत्र जगति**] इस ससारमें [**यानि द्रव्याणि कथितानि**] जो द्रव्य कहे गये हैं [**तानि**] वे सव [**लोकाकाशं**

एकहिं मिलियइं एकत्वे मिलितानि । **इत्थु जगि** अत्र जगति **सगुणहिं णिवसहिं** निश्चयनयेन स्वकीयगुणेषु निवसंति 'सगुणहिं' तृतीयांतं करणपदं स्वगुणेष्वधिकरणं कथं जातमिति । ननु कथितं पूर्वं प्राकृते कारकव्यभिचारो लिंगव्यभिचारश्च क्वचिद्भवतीति । कानि निवसंति । **ताइं** तानि पूर्वोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याणीति । तद्यथा । यद्यप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेणाधाराधेयभावेनैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठंति तथापि शुद्धपारिणामिकभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण स्वकीयस्वकीयसामान्यविशेषशुद्धगुणान्न त्यजंतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् लोकस्तावदसंख्यातप्रदेशः परमागमे भणितं तिष्ठति तत्रासंख्यातप्रदेशलोके प्रत्येकं प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशान्यनंतजीवद्रव्याणि, तत्र चैकैके जीवद्रव्ये कर्मनोकर्मरूपेणानंतानि पुद्गलपरमाणुद्रव्याणि च तिष्ठंति तेभ्योप्यनंतगुणानि शेषपुद्गलद्रव्याणि तिष्ठंति तानि सर्वाण्यसंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभंते इति पूर्वपक्षः । भगवान् परिहारमाह । अवगाहनशक्तियोगादिति । तथाहि । यथैकस्मिन् गूढनागरसगद्याणके शतसहस्रलक्षसुवर्णसंख्याप्रमितान्यवकाशं लभंते । अथवा यथैकस्मिन् प्रदीपप्रकाशे बहवोपि प्रदीपप्रकाशा अवकाशं लभंते । अथवा यथैकस्मिन् भस्मघटे जलघटः सम्यगवकाशं लभते । अथवा यथैकस्मिन् भूमिगृहे बहवोपि पटहजयघंटादिशब्दाः सम्यगवकाशं लभंते तथैकस्मिन् लोके विशिष्टावगाहनशक्तियोगात् पूर्वोक्तानंतसंख्या जीवपुद्गला अवकाशं लभंते नास्ति विरोधः इति । तथा चोक्तं जीवानामवगाहनशक्तिस्वरूपं परमागमे । "एग-

---

धृत्वा] लोकाकाशमें स्थित हैं लोकाकाश तो आधार है और ये सब आधेय हैं [**एकत्वे मिलितानि**] ये द्रव्य एक क्षेत्रमें मिले हुए रहते हैं एक क्षेत्रावगाही हैं तौभी [**स्वगुणेषु**] निश्चय नयकर अपने २ गुणोंमें ही [**निवसंति**] निवास करते हैं परद्रव्यसे मिलते नहीं है । **भावार्थ**—यद्यपि उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकर आधाराधेय भावसे एक क्षेत्रावगाहकर तिष्ठरहे हैं तौभी शुद्धपारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे परद्रव्यसे मिलनेरूप संकर दोषसे रहित हैं और अपने अपने सामान्यगुण तथा विशेषगुणोंको नहीं छोड़ते हैं । यह कथन सुनकर प्रभाकर भट्टने प्रश्न किया कि हे भगवन् परमागममें लोकाकाश तो असंख्यात प्रदेशी कहा है उस असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनंत जीव किसतरह समासकते हैं क्योंकि एक एक जीवके असख्यात २ प्रदेश हैं और एक एक जीवमें अनंतानंत पुद्गलपरमाणू कर्मनोकर्मरूपसे लगरही है और उनके सिवाय अनंतगुणे अन्य पुद्गल रहते हैं सो ये द्रव्य असंख्यात प्रदेशी लोकमें कैसे समागये । उसका समाधान श्रीगुरु कहते है । आकाशमें अवकाशदान (जगहदेनेकी) शक्ति है उसके संबंधसे समाजाते है । जैसे एक गूढ नागरस गुटिकामें शत सहस्र लक्ष सुवर्ण संख्या आजाती है, अथवा एक दीपकके प्रकाशमें बहुत दीपकोंका प्रकाश

णिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण" ॥ पुनस्तथोक्तं पुद्गलानामवगाहनशक्तिस्वरूपं । "ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकाएहि सव्वदो लोगो । सुहुमेहि वादरेहि य णंताणंतेहि विविहेहिं" । अयमत्र भावार्थः । यद्यप्येकावगाहेन तिष्ठंति तथापि शुद्धनिश्चयेन जीवाः केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूपं न त्यजंति पुद्गलाश्च वर्णादिस्वरूपं न त्यजंति शेषद्रव्याणि च स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजंति ॥ १५१ ॥

अथ जीवस्य व्यवहारेण शेषपंचद्रव्यकृतमुपकारं कथयति, तस्यैव जीवस्य निश्चयेन तान्येव दुःखकारणानि च कथयति,—

एयइं दव्वइं देहियइं, णियणियकज्जु जणंति ।
चउगइदुक्ख सहंत जिय, ते संसारु भमंति ॥ १५२ ॥

एतानि द्रव्याणि देहिनां निजनिजकार्यं जनयंति ।
चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः तेन संसारं भ्रमंति ॥ १५२ ॥

एयइं इत्यादि । एयइं एतानि दव्वइं जीवादन्यद्रव्याणि देहियहं देहिनां संसारि-

---

जगह पाता है, अथवा जैसे एक राखके घड़ेमें जलका घड़ा अच्छी तरह अवकाश पाता है भसमें जल शोषित हो जाता है, अथवा जैसे एक उटनीके दूधके घडेमें शहतका घड़ा समा जाता है, अथवा एक भूमिघरमें ढोल घंटा आदि बहुत वाजोंका शब्द अच्छी तरह समाजाता है उसीतरह एक लोक आकाशमें विशिष्ट अवगाहन शक्तिके योगसे अनंतजीव और अनंतानंत पुद्गल अवकाश पाते हैं इसमें विरोध नही है । और जीवोंमें परस्पर अवगाहन शक्ति है । ऐसा ही कथन परमागममें कहा है—"एगणिगोद" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि एक निगोदिया जीवके शरीरमें जीव द्रव्यके प्रमाणसे दिखलाए गये जितने सिद्ध हैं उन सिद्धोंसे अनंतगुणे जीव एक निगोदियाके शरीरमें हैं और निगोदियाका शरीर अंगुलके असख्यातवें भाग है सो ऐसे सूक्ष्म शरीरमें अनंत जीव समा जाते हैं तो लोकाकाशमें समाजानेका क्या अचंभा है । अनंतानंत पुद्गल लोकाकाशमें समारहे हैं उसकी "ओगाढ" इत्यादि गाथा है । उसका अर्थ यह है कि सवप्रकार सव जगह यह लोक पुद्गल कायोंकर अवगाढगाढ भरा है ये पुद्गल काय अनंत हैं अनेक प्रकारके भेदको धरते है कोई सूक्ष्म है कोई बादर है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहकर रहते है तौभी शुद्धनिश्चयनयकर जीव केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप अपने स्वरूपको नहीं छोडते है पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादि स्वरूपको नही छोड़ता और धर्मादि अन्य द्रव्य भी अपने २ स्वरूपको नही छोडते है ॥ १५१ ॥

आगे जीवका व्यवहारनयकर अन्य पाचों द्रव्य उपकार करते है ऐसा कहते हैं तथा उसी जीवके निश्चयसे वे ही दुःखके कारण है ऐसा कहते है,—[एतानि] ये

जीवानां । किं कुर्वंति । **णियणियकज्जु जणंति** निजनिजकार्यं जनयंति येन कारणेन निजनिजकार्यं जनयंति **चउगइदुक्ख सहंत जिय** चतुर्गतिदुःखं सहमानाः संतो जीवा **तें संसारु भमंति** तेन कारणेन संसारं भ्रमंतीति । तथा च । पुद्गलस्तावज्जीवस्य स्वसंवित्तिविलक्षणविभावपरिणामरतस्य व्यवहारेण शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्तिं करोति, धर्मद्रव्यं चोपचरितासद्भूतव्यवहारेण गतिसहकारित्वं करोति, तथैवाधर्मद्रव्यं स्थितिसहकारित्वं करोति, तेनैव व्यवहारनयेन आकाशद्रव्यमवकाशदानं ददाति, तथैव कालद्रव्यं च शुभाशुभपरिणामसहकारित्वं करोति । एवं पंचद्रव्याणामुपकारं लब्ध्वा जीवो निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाच्युतःसन् चतुर्गतिदुःखं सहत इति भावार्थः ॥ १५२ ॥

अथैवं पंचद्रव्याणां स्वरूपं निश्चयेन दुःखकारणं ज्ञात्वा हे जीव निजशुद्धात्मोपलंभलक्षणे मोक्षमार्गे स्थीयत इति निरूपयति,—

दुक्खहं कारणु मुणिवि जिय, दव्वहं एहु सहाउ ।
होयवि मुक्खहं मग्गि लहु, गम्मिज्जइ परलोउ ॥ १५३ ॥

दुःखस्य कारणं मत्वा जीव द्रव्याणां इमं स्वभावम् ।
भूत्वा मोक्षस्य मार्गे लघु गम्यते परलोकः ॥ १५३ ॥

दुक्खहं कारणु दुःखस्य कारणं **मुणिवि** मत्वा ज्ञात्वा **जिय** हे जीव । किं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा । **दव्वहं एहु सहाउ** द्रव्याणामिमं शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्त्यादिलक्षणं

[द्रव्याणि] द्रव्य [देहिनां] जीवोंके [निजनिजकार्यं] अपने २ कार्यको [जनयंति] उपजाते है [तेन] इस कारण [चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः] नरकादि चारों गतियोंके दुःखोंको सहते हुए जीव [संसारं] संसारमें [भ्रमंति] भटकते है । **भावार्थ-** ये द्रव्य जो जीवका उपकार करते है उसको दिखलाते है । पुद्गल तो आत्मज्ञानसे विपरीत विभाव परिणामोंमें लीन हुए अज्ञानी जीवोंके व्यवहारनयकर शरीर वचन मन श्वासोश्वास इन चारोंकी उत्पत्ति करता है अर्थात् मिथ्यात्व अव्रत कषाय रागद्वेषादि विभाव परिणाम है इन विभावपरिणामोंके योगसे जीवके पुद्गलका संबंध है और पुद्गलके संबंधसे ये हैं, धर्मद्रव्य उपचरितासद्भूत व्यवहारनयकर गतिसहाई है. अधर्म द्रव्य स्थिति सहकारी है, व्यवहार नयकर आकाश द्रव्य अवकाश (जगह) देता है और कालद्रव्य शुभ अशुभ परिणामोंका सहाई है । इस तरह ये पांच द्रव्य सहकारी है । इनका सहाय पाकर ये जीव निश्चय व्यवहार रत्नत्रयकी भावनासे रहित भ्रष्ट होते हुए चारों गतियोंके दुःखोंको सहते हुए संसारमें भटकते है यह तात्पर्य हुआ ॥ १५२ ॥

आगे पर द्रव्योंका संबंध निश्चय नयसे दुःखका कारण है ऐसा जानकर हे जीव शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्षमार्गमें स्थित हो ऐसा कहते है;—[हे जीव] हे जीव [द्रव्याणां

पूर्वोक्तस्वभावं पुद्गलादिपंचद्रव्यस्वभावं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा । किं क्रियते । **होयवि** भूत्वा । क । **मोक्खहं मग्गि** मोक्षस्य मार्गे **लहु** लघु शीघ्रं पश्चात् **गमिज्जइ** गम्यते । कः कर्मतापन्नः । **परलोउ** परलोको मोक्ष इति । तथाहि । वीतरागसदानंदैकस्वाभाविकसुखविपरीतस्याकुलत्वोत्पादकस्य दुःखस्य कारणानि पुद्गलादिपंचद्रव्याणि ज्ञात्वा हे जीव भेदाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षस्य मार्गे स्थित्वा परः परमात्मा तस्यावलोकनमनुभवनं परमसमरसीभावेन परिणमनं परलोको मोक्षस्तत्र गम्यत इति भावार्थः ॥ १५३ ॥

अथेदं व्यवहारेण मया भणितं जीवद्रव्यादिश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनमिदानीं सम्यग्ज्ञानं चारित्रं च हे प्रभाकरभट्ट शृणु त्वमिति मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

णियमिं कहियउ एहु मइं, ववहारेणवि दिट्ठि ।
एवहिं णाणु चरित्तु सुणि, जिं पावहि परमेट्ठि ॥ १५४ ॥

नियमेन कथिता एषा मया व्यवहारेणैव दृष्टिः ।
इदानीं ज्ञानं चारित्रं शृणु येन प्राप्नोषि परमेष्ठिम् ॥ १५४ ॥

णियमें नियमेन निश्चयेन **कहियउ** कथिता **एहु मइं** एषा कर्मतापन्ना मया । केनैव । **ववहारेणवि** व्यवहारनयेनैव । एषा का । **दिट्ठि** दृष्टिः । दृष्टिः कोर्थः सम्यक्त्वं **एवहिं** इदानीं **णाणु चरित्तु सुणि** हे प्रभाकरभट्ट क्रमेण ज्ञानचारित्रद्वयं शृणु । येन श्रुतेन किं भवति । **जें पावहि** येन सम्यग्ज्ञानचरित्रद्वयेन प्राप्नोषि । किं प्राप्नोषि । **परमेट्ठि** परमेष्ठिपदं मुक्तिपदमिति । अतो व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानां द्रव्याणां चूलिकारूपेण व्याख्यानं

इमं स्वभावं] परद्रव्योंके ये स्वभाव [**दुःखस्य**] दुःखके [**कारणं मत्वा**] कारण जानकर [**मोक्षस्य मार्गे**] मोक्षके मार्गमें [**भूत्वा**] लगकर [**लघु**] शीघ्र ही [**परलोकः गम्यते**] उत्कृष्ट लोक रूप मोक्षमें जाना चाहिये । **भावार्थ**—पहले कहेगये पुद्गलादि द्रव्योंके सहाय शरीर वचन मन श्वासोश्वास आदिक ये सब दुःखके कारण हैं क्योंकि वीतराग सदा आनंदरूप स्वभावकर उत्पन्न जो अतीद्री सुख उससे विपरीत आकुलताके उपजानेवाले हैं ऐसा जानकर हे जीव तू भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षके मार्गमें लगकर परमात्माका अनुभव परमसमरसीभावसे परिणमन रूप मोक्ष उसमें गमन कर ॥ १५३ ॥

आगे व्यवहारनयसे मैंने ये जीवादि द्रव्योंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन कहा है अब सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको हे प्रभाकर भट्ट तू सुन ऐसा मनमें रखकर यह दोहासूत्र कहते हैं;—हे प्रभाकर भट्ट [**मया**] मैंने [**व्यवहारेणैव**] व्यवहारनयसे तुझको [**एषा दृष्टिः**] ये सम्यग्दर्शनका स्वरूप [**नियमेन कथिता**] अच्छीतरह कहा [**इदानीं**] अब तू [**ज्ञानं चारित्रं**] ज्ञान और चारित्रको [**शृणु**] सुन [**येन**] जिसके धारण करनेसे [**परमेष्ठिं प्राप्नोषि**] सिद्धपरमेष्ठीके पदको पावै । **भावार्थ**—व्यवहार सम्यक्त्वके

क्रियते । तद्यथा । "परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एय खित्त किरिया य । णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदं इदरह्मि यपवेसो" । परिणाम इत्यादि । 'परिणाम' परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपरिणामाभ्यां शेषचत्वारि द्रव्याणि जीवपुद्गलवद्विभावव्यंजनपर्यायाभावात् मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनि इति, 'जीव' शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः पुद्गलादिपंचद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि, 'मुत्तं' अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणा स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्तिरुच्यते तत्सद्भावान्मूर्तः पुद्गलः जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनामूर्तं धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्तानि, 'सपदेसं' लोकमात्रप्रमितासंख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पंचद्रव्याणि पंचास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशं, 'एय, द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवंति जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवंति, 'खेत्त' सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकं शेषपंचद्रव्याण्यक्षेत्राणि, 'किरिया य' क्षेत्रात्क्षेत्रांतरगमनरूपा परिस्पंदवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावंतौ जीवपुद्गलौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि, 'णिच्चं' धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि तथापि

कारण भूत छह द्रव्योंका सांगोपांग व्याख्यान करते हैं "परिणाम" इत्यादि गाथासे । इसका अर्थ यह है कि इन छह द्रव्योंमें विभावपरिणामके परिणमनेवाले जीव और पुद्गल दोही है अन्य चार द्रव्य अपने स्वभावरूप तो परिणमते है लेकिन जीव पुद्गलकी तरह विभाव व्यंजन पर्यायके अभावसे विभावपरिणमन नहीं है इसलिये मुख्यतासे परिणामी दो द्रव्य ही कहे हैं, शुद्ध निश्चय नयकर शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्ध चैतन्यप्राण उनसे जीवता है जीवेगा पहले जी आया और व्यवहार नयकर इंद्री वल आयुश्वासोस्वास रूप द्रव्यप्राणोंकर जीता है जीवेगा पहले जी चुका इसलिये जीवको ही जीव कहा गया है अन्य पुद्गलादि पांच द्रव्य अजीव हैं, स्पर्शरसगंधवर्णवाली मूर्ति सहित मूर्तीक एक पुद्गलद्रव्य ही है अन्य पांच अमूर्तीक है । उनमेंसे धर्म अधर्म आकाश काल ये चारों तो प्रत्यक्षमें अमूर्तीक है तथा जीवद्रव्य अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकर मूर्तीक भी कहा जाता है क्योंकि शरीरको धारण कर रहा है तौभी शुद्धनिश्चयनयकर अमूर्तीक ही है, लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी जीवद्रव्यको आदि लेकर पाच द्रव्य पंचास्तिकाय हैं वे सप्रदेशी हैं और कालद्रव्य बहुप्रदेशस्वभावकायपना न होनेसे अप्रदेशी है, धर्म अधर्म आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं और जीव पुद्गल काल ये तीनों अनेक हैं । जीव तो अनंत हैं पुद्गल अनंतानंत हैं काल असंख्यात है

मुख्यवृत्त्या विभावव्यंजनपर्यायाभावात् नित्यानि । द्रव्यार्थिकनयेन च जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यंजनपर्यायापेक्षया चानित्ये, 'कारण' पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वंति इति कारणानि भवंति जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपंचद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणं, 'कत्ता' शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बंधमोक्षद्रव्यभावरूपः पुण्यपापघटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतःसन् पुण्यपापबंधयोःकर्ता तत्फलभोक्ता च भवति विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तत्परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्ता तत्फलभोक्ता च । शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति । पुद्गलादिपंचद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वं । वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव, 'सव्वगदं' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते धर्माधर्मौ च लोकव्याप्त्यपेक्षया जीवद्रव्यं तु पुनरेकैकजीवापेक्षया लोकपू-

---

सब द्रव्योंको अवकाश देने समर्थ एक आकाश ही है इसलिये आकाश क्षेत्र कहागया है बाकी पांच द्रव्य अक्षेत्री हैं, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन करना वह चलन हलनवती क्रिया कही गई है यह क्रिया जीव पुद्गल दोनोंके ही है और धर्म, अधर्म आकाश काल चार द्रव्य निष्क्रिय हैं जीवोंमें भी संसारी जीव हलनचलनवाले हैं इसलिये क्रियावंत हैं और सिद्ध परमेष्ठी निःक्रिय हैं उनके हलन चलन क्रिया नही है, द्रव्यार्थिकनयसे विचारा जावे तो सभी द्रव्य नित्य हैं और अर्थपर्याय जो षट् गुणी हानि वृद्धिरूप स्वभावपर्याय है उसकी अपेक्षा सब ही अनित्य हैं तौभी विभावव्यंजनपर्याय जीव और पुद्गल इन दोनोंकी है इसलिये इन दोनोंको ही अनित्य कहा है अन्य चार द्रव्य विभावके अभावसे नित्य ही हैं इसकारण यह निश्चयसे जानना कि चार नित्य हैं दो अनित्य हैं तथा द्रव्यकर सब ही नित्य हैं कोई भी द्रव्य विनश्वर नही है, जीवको पांचों ही द्रव्य कारणरूप हैं पुद्गल तो शरीरादिकका कारण है धर्म अधर्मद्रव्य गति स्थिति के कारण हैं आकाशद्रव्य अवकाश देनेका कारण है और काल वर्तनाका सहाई है । ये पाचों द्रव्य जीवको कारण हैं और जीव उनको कारण नही है । यद्यपि जीवद्रव्य अन्य जीवोंको गुरु शिष्यादिरूप परस्पर उपकार करता है तौभी पुद्गलादि पांचद्रव्योंको अकारण है और ये पाचो कारण हैं, शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नयकर यह जीव यद्यपि बंध मोक्ष पुन्य पापका कर्ता नही है तौभी अशुद्ध निश्चयनयकर शुभ अशुभ उपयोगोंसे परिणत हुआ पुन्य पापके बंधका कर्ता होता है और उनके

रणावस्थां विहायासर्वगतं नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवतीति । पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूप-महास्कंधापेक्षया सर्वगतं शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवतीति । कालद्रव्यं पुनरेककाला-णुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति, 'इदरह्मि यपवेसो' यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यानुप्रवेशेन तिष्ठंति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजंतीति । तथा चोक्तं । "अण्णोण्णं पविसंता दिंता उग्गासमण्णमण्णस्स । मेलंतावि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति" ॥ इदमत्र तात्पर्य । व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतेषु षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानंदैकादिगुण-स्वभावं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयं ॥ १५४ ॥ एवमे-कोनविंशतिसूत्रप्रमितस्थले निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकत्वेन पूर्वसूत्रत्रयं गतं । इदं पुनरंतरं स्थलं चतुर्दशसूत्रप्रमितं षड्द्रव्यध्येयभूतव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन समाप्तमिति ।

फलका भोक्ता होता है तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप निज शुद्धात्मद्रव्यका श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप शुद्धोपयोगकर परिणत हुआ मोक्षका भी कर्ता होता है और अनंतसुखका भोक्ता होता है। इसलिये जीवको कर्ता भी कहाजाता है और भोक्ता भी कहा जाता है। शुभ अशुभ शुद्ध परिणमन ही सवजगह कर्तापना है और पुद्गलादि पांचद्रव्योंके अपने २ परिणामरूप जो परिणमन वही कर्तापना है पुन्य पापादिकका कर्तापना नही है, सर्वगत-पना लोकालोकव्यापकताकी अपेक्षा आकाशहीमें है धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य ये दोनों लोका-काशव्यापी है अलोकमें नहीं है और जीव द्रव्यमें एक जीवकी अपेक्षा केवलसमुद्घातमें लोक पूरण अवस्थामें लोकमें सर्वगतपना है तथा नाना जीवकी अपेक्षा सर्वगतपना नहीं है, पुद्गलद्रव्य लोकप्रमाण महास्कंधकी अपेक्षा सर्वगत है अन्य पुद्गलकी अपेक्षा सर्वगत नही है कालद्रव्य एक कालाणूकी अपेक्षा तो एकप्रदेशगत है सर्वगत नही है और नाना कालाणूकी अपेक्षा लोकाकाशके सव प्रदेशोंमें कालाणू है इसलिये सव कालाणुओंकी अपेक्षा सर्वगत कह सकते है। यह नयविवक्षासे सर्वगतपनेका व्याख्यान किया। और मुख्यवृत्तिसे विचाराजावे तो सर्वगतपना आकाशमें ही है अथवा ज्ञानकी अपेक्षा जीवमें भी है जीवका केवलज्ञान लोकालोक व्यापक है इसलिये सर्वगत कहा। ये सब द्रव्य यद्यपि व्यवहारनयकर एक क्षेत्रावगाही रहते है तौभी निश्चयनयकर अपने २ स्वभावको नही छोड़ते दूसरे द्रव्यमें जिनका प्रवेश नही है सभी द्रव्य निज २ स्वरूपमें हैं पररूप नहीं है कोई किसीका स्वभाव नही लेता। ऐसा ही कथन श्रीपंचास्तिकायमें कहा है। "अण्णोण्णं" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि यद्यपि ये छहों द्रव्य परस्परमें प्रवेश करते हुए देखे जाते है, तौभी कोई किसीमें प्रवेश नही करता, यद्यपि अन्यको अन्य

अथ संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं सम्यग्ज्ञानं प्रकटयति,—

जं जह थक्कउ दव्वु जिय, तं तह जाणइ जो जि।
अप्पहं केरउ भावडउ, णाणु मुणिज्जहि सो जि॥ १५५॥

यत् यथा स्थितं द्रव्यं जीव तत् तथा जानाति य एव।
आत्मनः संबंधि भावः ज्ञानं मन्यस्व स एव॥ १५५॥

जं इत्यादि। जं यत् जह यथा थक्कउ स्थितं दव्वु द्रव्यं जिय हे जीव तं तत् तह तथा जाणइ जानाति जो जि य एव। य एव कः। अप्पहं केरउ भावडउ आत्मनः संबंधि भावः परिणामः णाणु मुणिज्जहि ज्ञानं मन्यस्व जानीहि सो जि स एव पूर्वोक्त आत्मपरिणाम इति। तथा च। यद्द्रव्यं यथा स्थितं सत्तालक्षणं उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं वा गुणपर्यायलक्षणं वा सप्तभङ्गयात्मकं वा तत् तथा जानाति य आत्मसंबंधी स्वपरपरिच्छेदको भावः परिणामस्तत् संज्ञानं भवति। अयमत्र भावार्थः। व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां तत्त्वविचारकाले स्वपरपरिच्छेदकं ज्ञानं भण्यते। निश्चयनयेन पुनर्वीतराग-

---

अवकाश देता है तौ भी अपना २ अवकाश आपमें ही है परमें नहीं है यद्यपि ये द्रव्य हमेशासे मिलरहे है तौभी अपने स्वभावको नही छोड़ते। यहां तात्पर्य यह है कि व्यवहारसम्यक्त्वके कारण छह द्रव्योंमें वीतराग चिदानंद अनंत गुणरूप जो शुद्धात्मा है वह शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित हुआ ध्यावने योग्य है॥ १५४॥

इस प्रकार उन्नीस दोहाओंके स्थलमें निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहे। ऐसे चौदह दोहा तक व्यवहार सम्यक्त्वका व्याख्यान किया जिसमें छहद्रव्यका श्रद्धान मुख्य है।

आगे संशय विमोह विभ्रम रहित जो सम्यग्ज्ञान है उसका स्वरूप प्रगट करते हैं;— [हे जीव] हे जीव [यत्] ये सबद्रव्य [यथास्थितं] जिस तरह अनादिकालके तिष्ठे हुए है जैसा इनका स्वरूप हैं [तत् तथा] उनको वैसा ही संशयादि रहित [य एव जानाति] जो जानता है [स एव] वही [आत्मनः संबंधी भावः] आत्माका निजस्वरूप [ज्ञानं] सम्यग्ज्ञान है ऐसा [मन्यस्व] तू मान। भावार्थ—जो द्रव्य है वह सत्ता लक्षण है उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है और सभी द्रव्य गुणपर्यायको धारण करतो हैं गुणपर्यायके विना कोई नहीं है। अथवा सब ही द्रव्य सप्तभंगीस्वरूप है ऐसा द्रव्योंका स्वरूप जो निःसदेह जाने आप परको पहचाने ऐसा जो आत्माका भाव (परिणाम) वह सम्यग्ज्ञान है। सारांश यह है कि व्यवहारनयकर विकल्प सहित अवस्थामें तत्त्वके विचारके समय आप परका जानपना ज्ञान कहा है और निश्चयनयकर वीतराग निर्विकल्प समाधिसमय पदार्थोंका जानपना मुख्य नही लिया केवल स्वसंवेदनज्ञान ही

निर्विकल्पसमाधिकाले बहिरुपयोगो यद्यप्यनीहितस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद्गौणत्वमिति कृत्वा स्वसंवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते ॥ १५५ ॥

अथ स्वपरद्रव्यं ज्ञात्वा रागादिरूपपरद्रव्यविषयसंकल्पविकल्पत्यागेन स्वस्वरूपे अवस्थानं ज्ञानिनां चारित्रमिति प्रतिपादयति,—

जाणवि मण्णवि अप्पु परु, जो परभाउ चएइ ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ, णाणिहिं चरणु हवेइ ॥ १५६ ॥

ज्ञात्वा मत्त्वा आत्मानं परं यः परभावं त्यजति ।
स निजः शुद्धः भावः ज्ञानिनां चरणं भवति ॥ १५६ ॥

जाणवि इत्यादि । **जाणवि** सम्यग्ज्ञानेन ज्ञात्वा न केवलं ज्ञात्वा **मण्णवि** तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणपरिणामेन मत्त्वा श्रद्धाय । कं । **अप्पु परु** आत्मानं च परं च **जो** यः कर्ता **परभाउ** परभावं **चएइ** त्यजति **सो** स पूर्वोक्तः **णिउ** निजः **सुद्धउ भावडउ** शुद्धो भावः **णाणिहिं चरणु हवेइ** ज्ञानिनां पुरुषाणां चरणं भवतीति । तद्यथा । वीतरागसहजानंदैकस्वभावं स्वद्रव्यं तद्विपरीतं परद्रव्यं च संशयविपर्ययानध्यवसायरहितेन ज्ञानेन पूर्वं ज्ञात्वा शंकादिदोषरहितेन सम्यक्त्वपरिणामेन श्रद्धाय च यः कर्ता मायामिथ्यानिदानशल्यप्रभृतिसमस्तचिंताजालत्यागेन निजशुद्धात्मस्वरूपे परमानंदसुखरसास्वादतृप्तो भूत्वा तिष्ठति स पुरुष एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीति भावार्थः ॥ १५६ ॥ एवं मोक्षमोक्ष-

---

निश्चय सम्यग्ज्ञान है । व्यवहारसम्यग्ज्ञान तो परंपराय मोक्षका कारण है और निश्चय सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षका कारण है ॥ १५५ ॥

आगे निजपर द्रव्यको जानकर रागादिरूप जो परद्रव्यमें संकल्पविकल्प हैं उनके त्यागसे जो निजस्वरूपमें निश्चलता वही ज्ञानी जीवोंके सम्यक् चारित्र है ऐसा कहते हैं;—सम्यग्ज्ञानसे [**आत्मानं च परं**] आपको और परको [**ज्ञात्वा**] जानकर और सम्यग्दर्शनसे [**मत्त्वा**] आपपरकी प्रतीति करके [**यः**] जो [**परभावं**] परभावको [**त्यजति**] छोड़ता है [**सः**] वह [**निजः शुद्धः भावः**] आत्माका निज शुद्ध भाव [**ज्ञानिनां**] ज्ञानीपुरुषोंके [**चरणं**] चारित्र [**भवति**] होता है । **भावार्थ**—वीतराग सहजानंद अद्वितीय स्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको सम्यग्ज्ञानसे पहले तो जानें वह सम्यग्ज्ञान सशय विमोह और विभ्रम इन तीनोंसे रहित है । तथा शंकादि दोषोंसे रहित जो सम्यग्दर्शन है उससे आप परकी श्रद्धा करै अच्छीतरह जानके प्रतीति करै और माया मिथ्या निदान इन तीन शल्योंको आदि देकर समस्त चिंतासमूहके त्यागसे निज शुद्धात्म स्वरूपमें तिष्ठै है, वह परम आनंद अतींद्रिय सुखरसके आस्वादसे तृप्त हुआ पुरुष ही अभेदनयसे निश्चय चारित्र है ॥ १५६ ॥

फलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं षड्द्रव्यश्रद्धानलक्षणं व्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राणि चतुर्दश, सम्यग्ज्ञानचारित्रमुख्यत्वेन सूत्रद्वयमिति समुदायेनैकोनविंशतिसूत्रस्थलं समाप्तं ।

अथानंतरमभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तत्रादौ तावत् रत्नत्रयभक्तभव्यजीवस्य लक्षणं प्रतिपादयति,—

जो भत्तउ रयणत्तयहं, तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अप्पा मिल्लिवि गुणणिलउ, तासुवि अण्णु ण झेउ ॥ १५७ ॥

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं इदम् ।
आत्मानं मुक्त्वा गुणनिलयं तस्यैव अन्यत् न ध्येयम् ॥ १५७ ॥

जो इत्यादि । **जो** यः **भत्तउ** भक्तः । कस्य । **रयणत्तयहं** रत्नत्रयसंयुक्तस्य जीवस्य **मुणि** मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । किं जानीहि । **लक्खणु** लक्षणं **एउ** इदमग्रे वक्ष्यमाणं । इदं किं । **अप्पा मिल्लिवि** आत्मानं मुक्त्वा । किं विशिष्टं । **गुणणिलउ** गुणनिलयं गुणगृहं **तासुवि** तस्यैव जीवस्य **अण्णु ण झेउ** निश्चयेनान्यद्बहिर्द्रव्यं ध्येयं न भवतीति । तथाहि । व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिषड्द्रव्यपंचास्तिका-

---

इस प्रकार मोक्ष, मोक्षका फल, मोक्षका मार्ग इनको कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें निश्चयव्यवहार रूप निर्वाणके पंथकी मुख्यतासे तीन दोहाओंमें व्याख्यान किया और चौदह दोहाओंमें छह द्रव्यकी श्रद्धारूप व्यवहार सम्यक्त्वका व्याख्यान किया तथा दो दोहाओंमें सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रकी मुख्यतासे वर्णन किया । इसप्रकार उन्नीस दोहाओंका स्थल पूरा हुआ ।

आगे अभेद रत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहासूत्र कहते हैं उनमेंसे पहले रत्नत्रयका भक्त भव्यजीव है उसका लक्षण कहते हैं;—[यः] जो जीव [रत्नत्रयस्य भक्तः] रत्नत्रयका भक्त है [तस्य] उसका [इदं लक्षणं] यह लक्षण [मन्यस्व] जानना हे प्रभाकर भट्ट रत्नत्रय धारकके ये लक्षण हैं कि [गुणनिलयं] गुणोंके समूह [आत्मानं मुक्त्वा] आत्माको छोडकर [तस्यैव अन्यत्] आत्मासे अन्य बाह्य द्रव्यको [न ध्येयं] न ध्यावै निश्चयनयसे एक आत्मा ही ध्यावने योग्य है अन्य नहीं । भावार्थ—व्यवहार नयकर वीतराग सर्वज्ञके कहे हुए शुद्धात्म तत्त्व आदि छहद्रव्य सात तत्त्व नौ पदार्थ पंच अस्तिकायका श्रद्धान योग्य है जानना योग्य है और हिंसादि पाप त्यागना योग्य है व्रतशीलादि पालने योग्य हैं ये लक्षण व्यवहार रत्नत्रयके हैं सो व्यवहारका नाम भेद है वह भेदरत्नत्रय आराधने योग्य है उसके प्रभावसे निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति है । वीतराग सदा आनंदरूप जो निज शुद्धात्मा आत्मीक सुखरूप सुधारसके आस्वाद

यसप्ततत्त्वनवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धानज्ञानाहिंसादिव्रतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य निश्चयेन वीतरागसदानंदैकरूपसुखसुधारसास्वादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेदरत्नत्रयस्य च योसौ भक्तस्तस्येदं लक्षणं जानीहि । इदं किं । यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषकारणं परंपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूतं पंचपरमेष्टिरूपस्तववस्तुस्तवगुणस्तवादिकं वचनेन स्तुत्यं भवति मनसा च तदक्षररूपादिकं प्राथमिकानां ध्येयं भवति तथापि पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरिणतस्वशुद्धात्मैव ध्येय इति । अत्रेदं तात्पर्यं । योसावनंतज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा ध्येयो भणितः स एव निश्चयेनोपादेय इति ॥ १५७ ॥

अथ ये ज्ञानिनो निर्मलरत्नत्रयमेवात्मानं मन्यंते शिवशब्दवाच्यं ते मोक्षपदाराधकाः संतो निजात्मानं ध्यायंतीति निरूपयति,—

जे रयणत्तउ णिम्मलओ, णाणिय अप्पु भणंति ।
ते आराहय सिवपयहं, णियअप्पा झायंति ॥ १५८ ॥

ये रत्नत्रयं निर्मलं ज्ञानिनः आत्मानं भणंति ।
ते आराधकाः शिवपदस्य निजात्मानं ध्यायंति ॥ १५८ ॥

जे इत्यादि । ये केचन रयणत्तउ रत्नत्रयं । कथंभूतं । णिम्मलउ निर्मलं रागादि-

---

कर परिणत हुआ । उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रय है उसका जो भक्त (आराधक) उसके ये लक्षण हैं यह जानो । वे कौनसे लक्षण हैं—यद्यपि व्यवहार नयकर सविकल्प अवस्थामें चित्तके स्थिर करनेके लिये पंचपरमेष्ठीका स्तवन करता है जो पंचपरमेष्ठीका स्तवन देवेंद्र चक्रवर्ती आदि विभूतिका कारण है और परंपराय शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका कारण है सो प्रथम अवस्थामें भव्यजीवोंको पंच परमेष्ठी ध्यावने योग्य हैं उनके आत्माका स्तवन गुणोंकी स्तुति वचनसे उनकी अनेक तरहकी स्तुति करनी और मनसे उनके नामके अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यावने योग्य है तौ भी पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिके समय केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप परिणत जो निजशुद्धात्मा वही आराधने योग्य है अन्य नही । तात्पर्य यह है कि ध्यान करने योग्य या तो निज आत्मा या पंचपरमेष्ठी हैं अन्य नहीं सो प्रथम अवस्थामें तो पंच परमेष्ठीका ध्यान करना योग्य है और निर्विकल्पदशामें निजस्वरूप ही ध्यावने योग्य है निजरूप ही उपादेय है ॥ १५७ ॥

आगे जो ज्ञानी निर्मलरत्नत्रयको ही आत्मस्वरूप मानते हैं और अपनेको ही शिव जानते हैं वे ही मोक्षपदके धारक हुए निज आत्माको ध्यावते हैं ऐसा निरूपण करते हैं;—[ये ज्ञानिनः] जो ज्ञानी [निर्मलं रत्नत्रयं] निर्मल रागादि दोषरहित रत्न-

दोषरहितं । कथंभूता ये । णाणिय ज्ञानिनः । किं कुर्वंति । अप्पु भणंति पूर्वोक्तरत्नत्रयस्वरूपमेवात्मानं आत्मस्वरूपं कर्मतापन्नं भणंति मन्यंते ते आराहय ते पूर्वोक्ताः पुरुषाः आराधका भवंति । कस्य । सिवपयहं शिवपदस्य शिवशब्दवाच्यमोक्षस्य । मोक्षपदाराधका संतः किं कुर्वंति । णियअप्पा झायंति निजात्मानं कर्मतापन्नं ध्यायंति इति । तथा च ये केचन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः परमात्मानं सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षणं निश्चयरत्नत्रयमेवाभेदनयेन निजशुद्धात्मानं मन्यंते ते शिवशब्दवाच्यमोक्षपदाराधका भवंति । आराधकाः संतः किं ध्यायंति । विशुद्धज्ञानदर्शनं स्वशुद्धात्मस्वरूपं निश्चयनयेन ध्यायंति भावयंतीत्यभिप्रायः ॥ १५८ ॥

अथात्मानं गुणस्वरूपं रागादिदोषरहितं ये ध्यायंति ते शीघ्रं नियमेन मोक्षं लभंत इति प्रकटति,—

अप्पा गुणमउ णिम्मलउ, अणुदिणु जे झायंति ।
ते पर णियमें परममुणि, लहु णिव्वाणु लहंति ॥ १५९ ॥

आत्मानं गुणमयं निर्मलं अनुदिनं ये ध्यायंति ।
ते परं नियमेन परममुनयः लघु निर्वाणं लभंते ॥ १५९ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा आत्मानं कर्मतापन्नं । कथंभूतं । गुणमउ गुणमयं केवलज्ञानाद्यनंतगुणनिर्वृतं । पुनरपि कथंभूतं । णिम्मलउ निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितं अणुदिणु दिनं दिनं प्रति अनुदिनमनवरतमित्यर्थः । इत्थंभूतमात्मानं जे झायंति ये केचन ध्यायंति ते पर ते एव नान्ये णियमें निश्चयेन । किं विशिष्टास्ते । परममुणि परममुनयः लहु लघु शीघ्रं लहंति लभंते । किं लभंते । णिव्वाणु निर्वाणमिति । अत्राह

यको [आत्मानं] आत्मा [भणंति] कहते हैं [ते] वे [शिवपदस्य आराधकाः] शिवपदके आराधक हैं और वे ही [निजात्मानं] मोक्षपदके आराधक हुए अपने आत्माको [ध्यायंति] ध्यावते हैं। भावार्थ—जो कोई वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप आत्माको मानते हैं वे ही मोक्षपदके आराधक हुए निश्चयनयकर केवल निजरूपको ही ध्यावते हैं ॥ १५८ ॥

आगे अनंत गुणरूप रागादिदोष रहित निज आत्माको ध्यावते हैं वे निश्चयसे शीघ्र ही मोक्षको पाते हैं यह व्याख्यान करते हैं;—[ये] जो पुरुष [गुणमयं] केवलज्ञानादि अनत गुणरूप [निर्मलं] भाव कर्म द्रव्यकर्म नोकर्म मलरहित निर्मल [आत्मानं] आत्माको [अनुदिनं] निरंतर [ध्यायंति] ध्यावते हैं [ते परं] वे ही [परममुनयः] परममुनि [नियमेन] निश्चयकर [निर्वाणं] निर्वाणको [लघु]

प्रभाकरभट्टः । अत्रोक्तं भवद्भिः य एव शुद्धात्मध्यानं कुर्वंति त एव मोक्षं लभंते नचान्ये । चारित्रसारादौ पुनर्भणितं द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यात्वा केवलज्ञानमुत्पादयंतीत्यत्र विषये अस्माकं संदेहोस्ति । अत्र श्रीयोगींद्रदेवाः परिहारमाहुः । तत्र द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं न च पुद्गलद्रव्यपरमाणुः । तथाचोक्तं सर्वार्थसिद्धिटिप्पणिके । द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वमिति । तद्यथा । द्रव्यमात्मद्रव्यं तस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सा च रागादिविकल्पोपाधिरहिता तस्य सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत्, निर्विकल्पसमाधिविषयत्वेनेद्रियमनोविकल्पातीतत्वात् । भावशब्देन स्वसंवेदनपरिणामः तस्य भावस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सूक्ष्मा कथमिति चेत् । वीतरागनिर्विकल्पसमरसीभावविषयेन पंचेद्रियमनोविषयातीतत्वादिति । पुनरप्याह । इदं परद्रव्यावलंबनं ध्यानं निषिद्धं किल भवद्भिः निजशुद्धात्मध्यानेनैव मोक्षः कुत्रापि भणितमास्ते । परिहारमाह— "अप्पा झायहि णिम्मलउ" इत्यत्रैव ग्रंथे निरंतरं भणितमास्ते, ग्रंथांतरे च समाधिशतकादौ पुनश्चोक्तं तैरेव पूज्यपादस्वामिभिः । "आत्मानमात्मा आत्मन्येवात्मनासौ क्षणमु-

---

शीघ्र [लभंते] पाते हैं । भावार्थ—यह कथन श्रीगुरुने कहा तव प्रभाकरभट्टने पूछा कि हे प्रभो तुमने कहा कि जो शुद्धात्माका ध्यान करते हैं वे ही मोक्षको पाते हैं दूसरा नहीं । तथा चारित्रासारादिक ग्रंथोंमें ऐसा कहा है जो द्रव्यपरमाणू और भावपरमाणूका ध्यानकर केवल ज्ञानको पाते हैं । इस विषयमें मुझको संदेह है । तव श्रीयोगीन्द्रदेव समाधान कहते है । द्रव्यपरमाणुसे द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणूसे भावकी सूक्ष्मता कही गई है । उसमें पुद्गल परमाणूका कथन नहीं है । तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें भी ऐसा ही कथन है जो द्रव्य परमाणू द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणू भावकी सूक्ष्मता समझना अन्यद्रव्यका कथन न लेना । यहां निजद्रव्य तथा निजगुणपर्यायका ही कथन है अन्य द्रव्यका प्रयोजन नही है । द्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य उसकी सूक्ष्मता वह द्रव्यपरमाणू कहा जाता है । वह रागादि विकल्पकी उपाधि से रहित है उसको सूक्ष्मपना कैसे हो सकता है ऐसा शिष्यने प्रश्न किया । उसका समाधान इस तरह है कि मन और इंद्रीओंके अगोचर होनेसे सूक्ष्म कहा जाता है तथा भाव· (स्वसंवेदनपरिणाम) भी परमसूक्ष्म है वीतराग निर्विकल्प परमसमरसीभावरूप है वहां मन और इंद्रियोंकी गम्य नहीं है इसलिये सूक्ष्म है । ऐसा कथन सुनकर फिर शिष्यने पूछा कि तुमने परद्रव्यके आलंवनरूप ध्यानका निषेध किया और निजशुद्धात्माके ध्यानसे ही मोक्ष कही । ऐसा कथन किसजगह कहा है । उसका समाधान । "अप्पा झायहि णिम्मलउ" निर्मल आत्माको ध्यावो ऐसा कथन इस ग्रंथमें पहले कहा है और समाधिशतकमें भी श्रीपूज्यपादस्वामीने

पजनयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः" अस्यार्थः । आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मा कर्ता आत्मन्येवाधिकरणभूते असौ पूर्वोक्तात्मा आत्मना करणभूतेन क्षणमंतर्मुहूर्तमात्रं उपजनयन् निर्विकल्पसमाधिनाराधयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः सर्वज्ञो जात इत्यर्थः । ये च तत्र द्रव्यभावपरमाणुध्येयलक्षणे शुक्लध्याने द्व्यधिकचत्वारिंशद्विकल्पा भणितास्तिष्ठंति ते पुनरनीहितवृत्त्या ग्राह्याः । केन दृष्टांतेनेति चेत् । यथा प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणकाले परमागमप्रसिद्धानधाप्रवृत्तिकरणादिविकल्पान् जीवः करोति न चात्रेहादि पूर्वकत्वेन स्मरणमस्ति तथात्र शुक्लध्याने चेति । इदमत्र तात्पर्यं । प्राथमिकानां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकपायदुर्ध्यानवंचनार्थं च परंपरया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्यं ध्येयं पश्चात् चित्ते स्थिरे भूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्मतत्त्वमेव ध्येयं नास्त्येकांतः । एवं साध्यसाधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविपये विवादो न कर्तव्यः इति ॥ ॥ १५९ ॥

अथ सामान्यग्राहकं निर्विकल्पं सत्तावलोकदर्शनं कथयति,—

सयलपयत्थहं जं गहणु, जीवहं अग्गिमु होइ ।
वत्थुविसेसविवज्जियउ, तं णियदंसणु जोइ ॥ १६० ॥

सकलपदार्थानां यत् ग्रहणं जीवानां अग्रिमं भवति ।
वस्तुविशेपविवर्जितं तत् निजदर्शनं पश्य ॥ १६० ॥

सयल इत्यादि । **सयलपयत्थहं** सकलपदार्थानां **जं गहणु** यद्ग्रहणमवलोकनं । कस्य ।

कहा है "आत्मानम्" इत्यादि । अर्थात् जीवपदार्थ अपने स्वरूपको अपनेमें ही अपने करके एक क्षणमात्र भी निर्विकल्प समाधिकर आराधता हुआ वह सर्वज्ञवीतराग हो जाता है । जिस शुक्ल ध्यानमें द्रव्य परमाणुकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुकी सूक्ष्मता ध्यान करने योग्य है ऐसे शुक्ल ध्यानमें निजवस्तु और निजभावका ही सहारा है पर वस्तुका नही । सिद्धातमें शुक्ल ध्यानके व्यालीस भेद कहे हैं वे अवांछीक वृत्तिसे गौणरूप जानना मुख्यवृत्तिसे न जानना । उसका दृष्टात । जैसे उपशमसम्यक्त्वके ग्रहणके समय परमागममें प्रसिद्ध जो अधाकरणादि भेद हैं उनको जीव करता है वे वाछापूर्वक नही होते सहजही होते हैं वैसे ही शुक्ल ध्यानमें भी ऐसेही जानना । तात्पर्य यह है कि प्रथम अवस्थामें चित्तके थिर करनेके लिये और विषयकषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये परंपराय मुक्तिके कारणरूप अरहंत आदि पंच परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं वादमें चित्तके स्थिर होनेपर साक्षात् मुक्तिका कारण जो निज शुद्धात्मतत्त्व है वही ध्यावने योग्य है । इस प्रकार साध्य साधकभावको जानकर ध्यावने योग्य वस्तुमें विवाद नहीं करना पंचपरमेष्ठीका ध्यान साधक है और आत्मध्यान साध्य है यह निःसदेह जानना ॥ १५९ ॥

आगे सामान्य ग्राहक निर्विकल्प सत्तावलोकन रूप दर्शनको कहते हैं;—[यत्] जो

जीवहं जीवस्य अथवा बहुवचनपक्षे "जीवहं" जीवानां । कथंभूतमवलोकनं । अग्गिमु अग्रिमं सविकल्पज्ञानात्पूर्वं होइ भवति । पुनरपि कथंभूतं । वत्थुविसेसविवज्जियउ वस्तुविशेषविवर्जितं शुक्लमिदमित्यादिविकल्परहितं तं तत्पूर्वोक्तलक्षणं णियदंसणु निज आत्मा तस्य दर्शनमवलोकनं जोइ पश्य जानीहीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । निजात्मा तस्य दर्शनमवलोकनं दर्शनमिति व्याख्यातं भवद्भिरिदं तु सत्तावलोकदर्शनं मिथ्यादृष्टीनामप्यस्ति तेषामपि मोक्षो भवतु । परिहारमाह । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन चतुर्धा दर्शनं । अत्र चतुष्टयमध्ये मानसमचक्षुर्दर्शनमात्माग्राहकं भवति तच्च मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयजनिततत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वाभावात् शुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति श्रद्धानाभावे सति तेषां मिथ्यादृष्टीनां न भवत्येवेति भावार्थः ॥ १६० ॥

अथ छद्मस्थानां सत्तावलोकदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति प्रतिपादयति,—

दंसणु पुव्वु हवेइ फुडु, जं जीवहं विण्णाणु ।
वत्थुविसेसु मुणंतु जिय, तं मुणि अविचलु णाणु ॥ १६१ ॥

दर्शनपूर्वं भवति स्फुटं यत् जीवानां विज्ञानं ।
वस्तुविशेषं जानन् जीव तत् मन्यस्व अविचलं ज्ञानं ॥ १६१ ॥

[**जीवानां**] जीवोंके [**अग्रिमं**] ज्ञानके पहले [**सकलपदार्थानां**] सब पदार्थोंका [**वस्तुविवर्जितं**] यह सफेद है इत्यादि भेदरहित [**ग्रहणं**] सामान्यरूप देखना [**तत्**] वह [**निजदर्शनं**] दर्शन है [**पश्य**] उसको तू जान । **भावार्थ**—यहां प्रभाकर भट्ट पूछता है कि आपने जो कहा कि निजात्माका देखना वह दर्शन है ऐसा बहुतवार तुमने कहा है अब सामान्य अवलोकनरूप दर्शन कहते है । ऐसा दर्शन तो मिथ्या दृष्टियोंके भी होता है उनकोभी मोक्ष कहनी चाहिये । उसका समाधान । चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शन ये दर्शनके चार भेद हैं । इन चारोंमें मनकर जो देखना वह अचक्षुदर्शन है जो आंखोंसे देखना वह चक्षुदर्शन है । इन चारोंमेंसे आत्माका अवलोकन छद्मस्थ अवस्थामें मनसे होता है और वह आत्मदर्शन मिथ्यात्व आदि सातप्रकृतियोंके उपशम क्षयोपशम तथा क्षयसे होता है । सो सम्यग्दृष्टिके तो यह दर्शन तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप होनेसे मोक्षका कारण है जिसमें शुद्ध आत्मतत्त्व ही उपादेय है और मिथ्यादृष्टियोंके तत्त्वश्रद्धान नहीं होनेसे आत्माका दर्शन नही होता । मिथ्यादृष्टियोंके स्थूलरूप परद्रव्यका देखना जानना मन इंद्रियोंके द्वारा होता है वह सम्यग्दर्शन नही है इसलिये मोक्षका कारण भी नहीं है । सारांश यह है कि तत्त्वार्थ श्रद्धानके अभावसे सम्यक्त्वका अभाव है और सम्यक्त्वके अभावसे मोक्षका अभाव है ॥ १६० ॥

दंसणु पुव्वु इत्यादि । दंसणपुव्वु सामान्यग्राहकनिर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनपूर्वकं हवेइ भवति फुडु स्फुटं जं यत् जीवहं जीवाना । किं भवति । विण्णाणु विज्ञानं । किं कुर्वन् । सन् । वत्थुविसेसु मुणंतु वस्तुविशेषं वर्णसंस्थानादिविकल्पपूर्वकं जानन् जिय हे जीव तं तत् मुणि मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि । अविचलु णाणु अविचलं संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं ज्ञानमिति । तत्रेदं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं व्याख्यातं । यद्यपि शुद्धात्मभावनाव्याख्यानकाले प्रस्तुतं न भवति तथापि भणितं भगवता । कस्मादिति चेत् । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन दर्शनोपयोगश्चतुर्विधो भवति । तत्र चतुष्टयमध्ये द्वितीयं यदचक्षुर्दर्शनं मानसरूपं निर्विकल्पं यथा भव्यजीवस्य दर्शनमोहोपशमक्षयोपशमक्षयलाभे सति शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपं वीतरागसम्यक्त्वं भवति तथैव च शुद्धात्मानुभूतिस्थिरतालक्षणं वीतरागचरित्रं भवति तदा काले तत्पूर्वोक्तं सत्तावलोकलक्षणं मानसं निर्विकल्पदर्शनं कर्तृ पूर्वोक्तनिश्चयसम्यक्त्वचारित्रबलेन निर्विकल्पनिजशुद्धात्मानुभूतिध्यानेन सहकारिकारणं भवति पूर्वोक्तभव्यजीवस्य नचाभव्यस्य । कस्मात् । निश्चयसम्यक्त्वचारित्राभावादिति भावार्थः ॥ १६१ ॥

आगे केवल ज्ञानके पहले छद्मस्थोंके पहले दर्शन होता है उसके वाद ज्ञान होता है और केवली भगवानके दर्शन और ज्ञान एक साथ ही होते हैं आगे पीछे नहीं होते यह कहते हैं;—[यत्] जो [जीवानां] जीवोंके [विज्ञानं] ज्ञान है वह [स्फुटं] निश्चयकरके [दर्शनपूर्वं] दर्शनके वादमें [भवति] होता है [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [वस्तुविशेषं जानन्] वस्तुकी विस्तीर्णता को जाननेवाला है उस ज्ञानको [जीव] हे जीव [अविचलं] संशय विमोह विभ्रमसे रहित [मन्यस्व] तू जान । भावार्थ— जो सामान्यको ग्रहण करै विशेष न जानै वह दर्शन है तथा जो वस्तुका विशेषवर्णन आकार जानै वह ज्ञान है । यह दर्शन ज्ञानका व्याख्यान किया । यद्यपि यह व्यवहार सम्यग्ज्ञान शुद्धात्माकी भावनाके व्याख्यान समय प्रशंसा योग्य नहीं है तौभी प्रथम अवस्थामें प्रशंसा योग्य है ऐसा भगवानने कहा है । क्योंकि चक्षु अचक्षु अवधि केवलके भेदसे दर्शनोपयोग चारतरहका होता है । उन चार भेदोंमें दूसरा भेद अचक्षुदर्शन मन संवंधी निर्विकल्प भव्यजीवोंके दर्शनमोह चारित्रमोहके उपशम क्षयोपशम तथा क्षयके होनेपर शुद्धात्मानुभूति रुचिरूप वीतराग सम्यक्त्व होता है और शुद्धात्मानुभूतिमें स्थिरतारूप वीतराग चारित्र होता है उस समय पूर्वोक्त सत्ताके अवलोकनरूप मनसंवंधी निर्विकल्पदर्शन निश्चयचारित्रके वलसे विकल्परहित निज शुद्धात्मानुभूतिके ध्यानकर सहकारी कारण होता है । इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान भव्यजीवके ही होता है अभव्यके सर्वथा नही क्योंकि अभव्यजीव मुक्तिका पात्र नहीं है ।

अथ परमध्यानारूढो ज्ञानी समभावेन दुःखं सहमानः स एवाभेदेन निर्जराहेतुर्भण्यते इति दर्शयति;—

दुक्खुवि सुक्खु सहंतु जिय, णाणिउं झाणणिलीणु ।
कम्महं णिज्जरहेउ तउ वुच्चइ संगविहीणु ॥ १६२ ॥

दुःखमपि सुखं सहमानः जीव ज्ञानी ध्याननिलीनः ।
कर्मणः निर्जराहेतुः तपः उच्यते संगविहीनः ॥ १६२ ॥

दुक्खुवि इत्यादि । **दुक्खुवि सुक्खु सहंतु** दुःखमपि सुखमपि समभावेन सहमानः सन् **जिय** हे जीव । कोसौ कर्ता । **णाणिउ** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी । किंविशिष्टः । **झाणणिलीणु** वीतरागचिदानंदैकाग्र्यध्याननिलीनो रतः स एवाभेदेन **कम्महं णिज्जरहेउ** शुभाशुभकर्मणो निर्जराहेतुरुच्यते न केवलं ध्यानपरिणतपुरुषो निर्जराहेतुरुच्यते **तउ** परद्रव्येच्छानिरोधरूपबाह्याभ्यंतरलक्षणं द्वादशविधं तपश्च । किंविशिष्टः स तपोधनस्तत्तपश्च । **संगविहीणु** संगविहीनो बाह्याभ्यंतरपरिग्रहरहित इति । अत्राह प्रभाकर भट्टः । ध्यानेन निर्जरा भणिता भवद्भिः उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमिति ध्यानलक्षणं

जो मुक्तिका पात्र होता है उसीके व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है । व्यवहार रत्नत्रय है वह परंपराय मोक्षका कारण है और निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मुक्तिका कारण है ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ १६१ ॥

आगे परमध्यानमें आरूढ ज्ञानी जीव समभावसे दुःख सुखको सहता हुआ अभेदनयसे निर्जराका कारण होता है ऐसा दिखाते हैं;—[**जीव**] हे जीव [**ज्ञानी**] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी [**ध्याननिलीनः**] आत्मध्यानमें लीन [**दुःखं अपि सुखं**] दुःख और सुखको [**सहमानः**] समभावोंसे सहता हुआ अभेद नयसे [**कर्मणो निर्जराहेतुः**] शुभ अशुभ कर्मोंकी निर्जराका कारण है ऐसा भगवानने [**उच्यते**] कहा है और [**संगविहीनः तपः**] बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहित परद्रव्यकी इच्छाके निरोधरूप बाह्य अभ्यंतर अनशनादि बारह प्रकारके तपरूप भी वह ज्ञानी है । **भावार्थ**—यहां प्रभाकर भट्टने प्रश्न किया कि हे प्रभो आपने ध्यानसे निर्जरा कही वह ध्यान एकाग्र चित्तका निरोधरूप उत्तमसंहननवाले मुनिके होता है जहां उत्तमसंहननही नहीं है वहां ध्यान किस तरहसे हो सकता है । उसका समाधान श्रीगुरु कहते हैं । उत्तमसंहननवाले मुनिके जो ध्यान कहा है वह आठवें गुणस्थानसे लेकर उपशम क्षपक श्रेणीवालोंके जो शुक्लध्यान होता है उसकी अपेक्षा कहा गया है । उपशमश्रेणी वज्रऋषभनाराच वज्रनाराच नाराच इन तीन संहननवालोंके होती है उनके शुक्लध्यानका पहला पाया है वे ग्यारवें गुणस्थानसे नीचे आते हैं और क्षपक श्रेणी एक वज्रवृषभनाराच संहननवालेके ही होती है वे आठवें

उत्तमसंहननाभावे कथं ध्यानमिति । भगवानाह । उत्तमसंहननेन यद्ध्यानं भणितं तदपूर्वगुणस्थानादिषूपशमक्षपकश्रेण्योर्यत् शुक्लध्यानं तदपेक्षया भणितम् अपूर्वगुणस्थानादधस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्यानस्य निषेधकं न भवति । तथाचोक्तं तत्त्वानुशासने ध्यानग्रंथे । "यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः । श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं" । किंच । रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणंति इदानीं तदभावेन्यच्चारित्रमाचरंतु तपोधनाः । तथाचोक्तं तत्रेदं । "चरितारो न संत्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति । तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरंतु तपस्विनः" । पुनश्चोक्तं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते । "अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाऊण लहहि इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा

गुणस्थानमें क्षपक श्रेणी मांडते (प्रारंभ करते) हैं उनके आठवें गुणस्थानमें शुक्लध्यानका पहला पाया (भेद) होता है वह आठवें नवमें दशवें तथा दशवेंसे बारवें गुणस्थानमें स्पर्श करते हैं ग्यारवेंमें नहीं तथा बारवेंमें शुक्लध्यानका दूसरा पाया होता है उसके प्रसादसे केवलज्ञान पाता है और उसी भवमें मोक्ष को जाता है । इसलिये उत्तमसहननका कथन शुक्लध्यानकी अपेक्षा है । आठवें गुणस्थानसे नीचेके चौथेसे लेकर सातवें तक शुक्लध्यान नहीं होता धर्मध्यान ही है वह धर्मध्यान छहो सहननवालोंके है श्रेणीके नीचे धर्मध्यान ही है उसका निषेध किसी सहननमें नही है । ऐसा ही कथन तत्त्वानुशासन नामा ग्रंथमें कहा है "यत्पुनः" इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि जो वज्रकायके ही ध्यान होता है ऐसा आगममें वचन कहा है वह दोनों श्रेणियोंमें शुक्लध्यान होनेकी अपेक्षा है और श्रेणीके नीचे जो धर्मध्यान है उसका निषेध (न होना) किसी संहननमें नहीं कहा है यह निश्चयसे जानना । रागद्वेषके अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरण निश्चय चारित्र है वह इस समय पंचमकालमें भरतक्षेत्रमें नही है इसलिये साधुजन अन्य चारित्रको आचरण करौ । चारित्रके पांच भेद हैं सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसापराय यथाख्यात । उनमें इस समय इस क्षेत्रमें सामायिक छेदोपस्थापना ये दोही चारित्र होते हैं अन्य नहीं इसलिये इनको ही आचरौ । तत्त्वानुशासनमें भी कहा है "चारितारो इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि इस समय यथाख्यात चारित्रके आचरण करनेवाले मौजूद नहीं है तो क्या हुआ अपनी शक्तिके अनुसार तपस्वीजन सामायिक छेदोपस्थापनाका आचरण करौ । फिर श्रीकुंदकुंदाचार्यने भी मोक्षपाहुड़में ऐसा ही कहा है "अज्जवि" इत्यादि । उसका तात्पर्य यह है कि अब भी इस पंचमकालमें मन वचन कायकी शुद्धतासे आत्माका ध्यान करके यह जीव इंद्र पदको पाता है अथवा लौकांतिकदेव होता है और वहासे च्युत होकर मनुष्य भव धारण करके मोक्षको पाता है । अर्थात् जो इस समय पहलेके तीन संहनन तो नहीं हैं

णिव्वुदिं जंति" । अयमत्र भावार्थः । यथादित्रिकसंहननलक्षणवीतरागयथाख्यातचारित्राभावेपीदानीं शेषसंहननेनापि संसारस्थितिछेदकारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरंतीति ॥ १६२ ॥

अथ सुखदुःखं सहमानः सन् येन कारणेन समभावं करोति मुनिस्तेन कारणेन पुण्यपापद्वयं संवरहेतुर्भवतीति दर्शयति;—

विण्णिवि जेण सहंतु मुणि, मणि समभाउ करेइ ।
पुण्णहं पावहं तेण जिय, संवरहेउ हवेइ ॥ १६३ ॥

द्वे अपि येन सहमानः मुनिः मनसि समभावं करोति ।
पुण्यस्य पापस्य तेन जीव संवरहेतुः भवति ॥ १६३ ॥

विण्णिवि इत्यादि । **विण्णिवि** द्वे अपि सुखदुःखे **जेण** येन कारणेन **सहंतु** सहमानः सन् । कोसौ कर्ता । **मुणि** मुनिः स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानी **मणि** अविक्षिप्तमनसि **समभाउ** समभावं सहजशुद्धज्ञानानंदैकरूपं रागद्वेषमोहरहितं परिणामं कर्मतापन्नं **करेइ** करोति परिणमति **पुण्णहं पावहं** पुण्यस्य पापस्य संबंधी **तेण** तेन कारणेन **जिय** हे जीव **संवरहेउ** संवरहेतुः कारणं **हवेइ** भवतीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । कर्मोदयवशात् सुखदुःखे

परंतु अर्धनाराच कीलक सृपाटिका ये आगेके तीन हैं इन तीनोंसे सामायिक छेदोपस्थापनाका आचरण करो तथा धर्मध्यानको आचरो । धर्मध्यानका अभाव छहों संहननोंमें नहीं है शुक्लध्यान पहलेके तीन संहननोंमें ही होता है उनमें भी पहला पाया (भेद) उपशम श्रेणीसंबंधी तीनों संहननोंमें है और दूसरा तीसरा चौथा पाया प्रथमसंहननवाले हीके होता है ऐसा नियम है । इसलिये अब शुक्लध्यानके अभावमें भी हीन संहननवाले इस धर्मध्यानको आचरो । यह धर्मध्यान परंपराय मुक्तिका मार्ग है संसारकी स्थितिका छेदनेवाला है । जो कोई नास्तिक इस समय धर्मध्यानका अभाव मानते हैं वे झूठ बोलनेवाले हैं इस समय धर्मध्यान है शुक्लध्यान नहीं है ॥ १६२ ॥

आगे जो मुनिराज सुखदुःखको सहते हुए समभाव रखते हैं अर्थात् सुखमें तो हर्ष नहीं करते और दुःखमें खेद नहीं करते जिनके सुख दुःख दोनों ही समान हैं वे ही साधु पुन्यकर्म पापकर्मके संवर (रोकने) के कारण है आनेवाले कर्मोंको रोकते हैं ऐसा दिखलाते हैं;—[**येन**] जिस कारण [**द्वे अपि सहमानः**] सुख दुःख दोनों को ही सहता हुआ [**मुनिः**] स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानी [**मनसि**] निश्चित मनमें [**समभावं**] समभावोंको [**करोति**] धारण करता है अर्थात् रागद्वेषमोहरहित स्वाभाविक शुद्धज्ञानानंद स्वरूप परिणमन करता है विभाव रूप नहीं परिणमता [**तेन**] इसी कारण [**हे जीव**] हे जीव वह मुनि [**पुण्यस्य पापस्य संवरहेतुः**] सहजमें ही पुण्य और पाप इन दोनोंके

जातेपि योसौ रागादिरहितमनसि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मसंवित्तिं न त्यजति स पुरुष एवाभेदनयेन द्रव्यभावरूपपुण्यपापसंवरस्य हेतुः कारणं भवतीति ॥ १६३ ॥

अथ यावंतं कालं रागादिरहितपरिणामेन स्वशुद्धात्मस्वरूपे तन्मयो भूत्वा तिष्ठति तावंतं कालं संवरनिर्जरां करोतीति प्रतिपादयति,—

अत्थइ जित्तिउ कालु मुणि, अप्पसरूवि णिलीणु ।
संवरणिज्जर जाणि तुहुं, सयलविअप्पविहीणु ॥ १६४ ॥

तिष्ठति यावंतं कालं मुनिः आत्मस्वरूपे निलीनः ।
संवरनिर्जरां जानीहि त्वं सकलविकल्पविहीनं ॥ १६४ ॥

अत्थइ इत्यादि । **अत्थइ** तिष्ठति । किंकृत्वा तिष्ठति । **जित्तिउ कालु** यावंतं कालं प्राप्य । क्व तिष्ठति । **अप्पसरूवि** निजशुद्धात्मस्वरूपे । कथंभूतः सन् । **णिलीणु** निश्चयेन लीनो द्रवीभूतो वीतरागनित्यानंदैकपरमसमरसीभावेन परिणतः हे प्रभाकर इत्थंभूतपरिणामपरिणतं तपोधनमेवाभेदेन **संवरणिज्जर जाणि तुहुं** संवरनिर्जरास्वरूपं जानीहि त्वं । पुनरपि कथंभूतं । **सयलवियप्पविहीणु** सकलविकल्पहीनं ख्यातिपूजालाभप्रभृतिविकल्पजालावलीरहितमिति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वसूत्रद्वयभणितं तदेव ज्ञातव्यं । कस्मात् । तस्यैव निर्जरासंवरव्याख्यानस्योपसंहारोयमित्यभिप्रायः ॥ १६४ ॥ एवं मोक्षमोक्षमार्गमोक्षफलादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारोक्तसूत्राष्टकेनाभेदरत्नत्रयव्याख्या-

---

संवरका कारण [भवति] होता है । **भावार्थ**—कर्मके उदयसे सुख दुःख उत्पन्न होनेपर भी जो मुनीश्वर रागादिरहितमनमें शुद्ध ज्ञान दर्शनस्वरूप अपने निज शुद्धस्वरूपको नही छोड़ता है वही पुरुष अभेदनयकर द्रव्य भावरूप पुण्य पापके संवरका कारण है ॥१६३॥

आगे जिस समय जितने काल तक रागादि रहित परिणामोंकर निज शुद्धात्मस्वरूपमें तन्मय हुआ ठहरता है तब तक सवर और निर्जराको करता है ऐसा कहते हैं;—[**मुनिः**] मुनिराज [**यावंतं कालं**] जब तक [**आत्मस्वरूपे निलीनः**] आत्मस्वरूपमें लीन हुआ [**तिष्ठति**] रहता है अर्थात् वीतराग नित्यानंद परम समरसीभावकर परिणमता हुआ अपने स्वभावमें तल्लीन होता है, उस समय हे प्रभाकर भट्ट [**त्वं**] तू [**सकलविकल्पविहीनं**] समस्त विकल्पसमूहोंसे रहित अर्थात् ख्याति (अपनी बड़ाई) पूजा (अपनी प्रतिष्ठा) लाभको आदि देकर विकल्पोंसे रहित उस मुनिको [**संवरनिर्जरां**] संवर निर्जरा स्वरूप [**जानीहि**] जान । यहांपर भावार्थरूप विशेष व्याख्यान जोकि पहले दो सूत्रोंमें कहा था वही जानो । इस प्रकार सवर निर्जराका व्याख्यान सक्षेपरूप कहा गया है ॥ १६४ ॥ इस तरह मोक्ष मोक्षमार्ग और मोक्षफलका निरूपण करनेवाले दूसरे

नमुख्यत्वेन स्थलं समाप्तं ।' अत ऊर्ध्वं चतुर्दशसूत्रपर्यंतं परमोपशमभावमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति ।

तथाहि,—

कम्मु पुरक्किउ सो खवइ, अहिणव पेसु ण देइ ।
संगु मुएविणु जो सयलु, उवसमभाउ करेइ ॥ १६५ ॥

कर्म पुराकृतं स क्षपयति अभिनवं प्रवेशं न ददाति ।
संगं मुक्त्वा यः सकलं उपशमभावं करोति ॥ १६५ ॥

कम्मु इत्यादि । **कम्मु पुरक्किउ** कर्म पुराकृतं **सो खवइ** स एव वीतरागस्वसंवेदनतत्त्वज्ञानी क्षपयति । पुनरपि किं करोति । **अहिणव पेसु ण देइ** अभिनव कर्म प्रवेशं न ददाति । स कः । **संगु मुएविणु जो सयलु** संगं बाह्याभ्यंतरपरिग्रहं मुक्त्वा यः कर्ता समस्तं । पश्चात्किं करोति । **उवसमभाउ करेइ** जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमताभावलक्षणसमभावं करोति । तद्यथा । स एव पुराकृतकर्म क्षपयति नवतरं संवृणोति य एव बाह्याभ्यंतरपरिग्रहं मुक्त्वा सर्वशास्त्रं पठित्वा च शास्त्रफलभूतं वीतरागपरमानंदैकसुखरसास्वादरूपं समभावं करोतीति भावार्थः । तथा चोक्तं । "साम्यमेवादराद्भाव्यं किमन्यैर्ग्रंथविस्तरैः । प्रक्रियामात्रमेवेदं वाङ्मयं विश्वमस्य हि" ॥ १६५ ॥

महाधिकारमें आठ दोहा सूत्रोंसे अभेदरत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतरस्थल पूरा हुआ ।

आगे चौदह दोहा तक परम उपशम भावकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं;—[स एव] वही वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी [पुराकृतं कर्म] पूर्व उपार्जित कर्मोंको [क्षपयति] क्षय करता है और [अभिनवं] नवे कर्मोंको [प्रवेशं] प्रवेश [न ददाति] नहीं होने देता [यः] जो कि [सकलं] सब [संगं] बाह्य अभ्यंतर परिग्रहको [मुक्त्वा] छोडकर [उपशमभावं] परम शांत भावको [करोति] करता है अर्थात् जीवन मरण लाभ अलाभ सुख दुःख शत्रु मित्र तृण कंचन इत्यादि वस्तुओंमें एकसा परिणाम रखता है । **भावार्थ**—जो मुनिराज सकल परिग्रहको छोड़कर सब शास्त्रोंका रहस्य जानके वीतराग परमानंद सुखरसका आस्वादी हुआ समभाव करता है वही साधु पूर्वके कर्मोंका क्षय करता है और नवीन कर्मोंको रोकता है । ऐसा ही कथन पद्मनंदि पचीसीमें भी कहा है । "साम्यमेव" इत्यादि । इसका तात्पर्य यह है कि आदरसे समभावको ही धारण करना चाहिये अन्य ग्रंथके विस्तारोंसे क्या, समस्त पंथ तथा सकल द्वादशांग इस समभावरूप सूत्रकी ही टीका है ॥ १६५ ॥

अथ यः समभावं करोति तस्यैव निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि नान्यस्येति दर्शयति,—

दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो समभाउ करेइ ।
इयरहं एक्कुवि अत्थि णवि, जिणवरु एउ भणेइ ॥ १६६ ॥

दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तस्य यः समभावं करोति ।
इतरस्य एकमपि अस्ति नैव जिनवरः एवं भणति ॥ १६६ ॥

दंसणु इत्यादि । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रत्रयं **तसु** निश्चयनयेन तस्यैव भवति । कस्य । **जो समभाउ करेइ** यः कर्ता समभावं करोति **इयरहं** इतरस्य समभावरहितस्य **एक्कुवि अत्थि णवि** रत्नत्रयमध्ये नास्त्येकमपि **जिणवरु एउ भणेइ** जिनवरो वीतरागः सर्वज्ञ एवं भणतीति । तथाहि । निश्चयनयेन निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानंदमधुररसास्वादोयमात्मा निरंतराकुलत्वोत्पादकत्वात् कटुकरसास्वादाः कामक्रोधादय इति भेदज्ञानं तस्यैव भवति स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं तस्यैव भवति । तस्य कस्य । वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिकभावनानुकूलं निर्दोषिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं यः समभावं करोतीति भावार्थः ॥ १६६ ॥

अथ यदा ज्ञानी जीव उपशाम्यति तदा संयतो भवति कामक्रोधादिकषायसंगतः पुनरसंयतो भवतीति निश्चिनोति,—

आगे जो जीव समभावको करता है उसीके निश्चयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र होते हैं अन्यके नही ऐसा दिखलाते हैं;—[**दर्शनं ज्ञानं चारित्रं**] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र [**तस्य**] उसीके निश्चयसे होते हैं [**यः**] जो यति [**समभावं**] समभाव [**करोति**] करता है [**इतरस्य**] दूसरे समभाव रहित जीवके [**एकं अपि**] तीन रत्नोंमेंसे एक भी [**नैव अस्ति**] नही है [**एवं**] इस प्रकार [**जिनवरः**] जिनेन्द्रदेव [**भणति**] कहते हैं । **भावार्थ**—निश्चय नयसे निजशुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन उस समभावके धारकके होता है । और निजशुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद मधुररसका आस्वाद उस स्वरूप आत्मा है तथा हमेशा आकुलताके उपजाने वाले काम क्रोधादिक हैं वे महा कटुकरसरूप अत्यंत विरस हैं ऐसा जानना वह सम्यग्ज्ञान और स्वरूपके आचरणरूप वीतराग चारित्र भी उसी समभावके धारण करनेवालेके ही होता है जो मुनीश्वर वीतराग निर्विकल्प परम सामायिक भावकी भावनाके अनुकूल (सन्मुख) निर्दोष परमात्माके यथार्थ श्रद्धान यथार्थ ज्ञान और स्वरूपका यथार्थ आचरणरूप अखंड भाव धारण करता है उसीके परमसमाधिकी सिद्धि होती है ॥ १६६ ॥

जावइ णाणिउं उवसमइं, तामइं संजदु होइ ।
होइ कसायहं वसिगयउ, जीउ असंजदु सोइ ॥ १६७ ॥

यदा ज्ञानी उपशाम्यति तदा सयतो भवति ।
भवति कपायानां वशंगतः जीवः असयतः स एव ॥ १६७ ॥

जांवइ इत्यादि । **जांवइ** यदा काले **णाणिउ** ज्ञानी जीवः **उवसमइ** उपशाम्यति **तामइ** तदा काले **संजदु होइ** संयतो भवति। **होइ** भवति **कसायहं वसिगयउ** कपायवशगतः **जीउ** जीवः । कथंभूतो भवति । **असंजदु** असंयतः । कोसौ । **सोइ** स एव पूर्वोक्तजीव इति । अयमत्र भावार्थः । अनाकुलत्वलक्षणस्य स्वशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखस्यानुकूलपरमोपशमो यदा ज्ञानी तिष्ठति तदा संयतो भवति तद्विपरीतं परमात्माकुलत्वोत्पादककामक्रोधादौ परिणतः पुनरसंयतो भवतीति । तथा चोक्तं । "अकसायं तु चरित्तं कसायवसगद असंजदो होदि । उपसमइ जम्हि काले तक्काले संजदो होदि" ॥ १६७ ॥

अथ येन कषाया भवंति मनसि तं मोहं त्यजेति प्रतिपादयति;—

जेण कसाय हवंति मणि, सो जिय मिल्लहि मोहु ।
मोहकसायविवज्जियउ, पर पावहिं समबोहु ॥ १६८ ॥

येन कषाया भवंति मनसि तं जीव मुंच मोहम् ।
मोहकषायविवर्जितः परं प्राप्नोषि समबोधम् ॥ १६८ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जिस समय ज्ञानी जीव शात भावको धारण करता है उसी समय सयमी होता है तथा जव क्रोधादि कपायके वश होता है तव असंयमी होता है;—[यदा] जिससमय [ज्ञानी जीवः] ज्ञानी जीव [उपशाम्यति] शांत भावको प्राप्त होता है [तदा] उस समय [संयतः भवति] संयमी होता है और [कषायाणां] क्रोधादि कषायोंके [वशं गतः] आधीन हुआ [स एव] वही जीव [असंयतः] असयमी [भवति] होता है । भावार्थ—आकुलता रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुए निर्विकल्प (असली) सुखका कारण जो परमशांतभाव उसमें जिससमय ज्ञानी ठहरता है उसी समय संयमी कहलाता है और आत्मभावनासे उलटे परमआकुलताके उपजानेवाले काम क्रोधादिक अशुद्ध भावोंमें परिणमता हुआ जीव असंयमी होता है इसमें कुछ सदेह नहीं है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है । "अकसायं" इत्यादि । अर्थात् कषायका जो अभाव है वही चारित्र है इसलिये कषायके आधीन हुआ जीव असंयमी होता है और जव कषायोंको शांत करता है तव संयमी कहलाता है ॥ १६७ ॥

आगे जिस मोहसे मनमें कषायें होतीं हैं उस मोहको तू छोड ऐसा वर्णन करते

जेण इत्यादि । जेण येन वस्तुना वस्तुनिमित्तेन मोहेन वा । किं भवति । कसाय हवंति क्रोधादिकषाया भवंति । क भवंति । मणे मनसि सो तं जिय हे जीव मिल्लहि मुंच । कं । तं पूर्वोक्तं मोहु मोहं मोहनिमित्तपदार्थं चेति । पश्चात् किं लभसे त्वं । मोह-कसायविवज्जियउ मोहकषायविवर्जितः सन् पर नियमेन पावहि प्राप्नोसि । कं कर्मतापन्नं । समवोहु समवोधं रागद्वेषरहितं ज्ञानमिति । तथाहि । निर्मोहनिजशुद्धात्मध्यानेन निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वविपरीतं हे जीव मोहं मुंच, येन मोहेन मोहनिमित्तवस्तुना वा निष्कषायपरमात्मतत्त्वविनाशकाः क्रोधादिकषाया भवंति पश्चान्मोहकषायाभावे सति रागरहितं विशुद्धज्ञानं लभसे त्वमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तं । "तं वत्थुं मुत्तव्वं जं पडि उपज्जए कसायग्गी । तं वत्थुं सल्लियजो जत्थुवसम्मो कसायाणं" ॥ १६८ ॥

अथ हेयोपादेयतत्त्वं ज्ञात्वा परमोपशमे स्थित्वा येषां ज्ञानिनां स्वशुद्धात्मनिरतिस्त एव सुखिन इति कथयति,—

तत्तातत्तु मुणेवि मणि, जे थक्का समभावि ।
ते पर सुहिया इत्थु जगि, जहं रइ अप्पसहावि ॥ १६९ ॥

तत्त्वातत्त्वं मत्वा मनसि ये स्थिता समभावे ।
ते परं सुखिनः अत्र जगति येषा रतिः आत्मस्वभावे ॥ १६९ ॥

हैं;—[हे जीव] हे जीव [येन] जिस मोहसे अथवा मोहके उत्पन्न करनेवाली वस्तुसे [मनसि] मनमें [कषायाः] कषाय [भवंति] होवै [तं मोहं] उस मोहको अथवा मोहनिमित्तक पदार्थको [मुंच] छोड़ [मोहकषायविवर्जितः] फिर मोहको छोडनेसे मोह कषाय रहित हुआ तू [परं] नियमसे [समबोधं] रागद्वेष रहित ज्ञानको [प्राप्नोषि] पावेगा । भावार्थ—निर्मोह निज शुद्धात्माके ध्यानसे निर्मोह निजशुद्धात्मतत्त्वसे विपरीत मोहको हे जीव छोड । जिस मोहसे अथवा मोहकरनेवाले पदार्थसे कषायरहित परमात्मतत्त्व रूप ज्ञानानंद स्वभावके विनाशक क्रोधादि कषाय होते हैं इन्हींसे ससार है, इसलिये मोहकषायके अभाव होनेपर ही रागादि रहित निर्मल ज्ञानको तू पासकेगा । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है । "तं वत्थुं" इत्यादि । अर्थात् वह वस्तु मन वचन कायसे छोड़नी चाहिये कि जिससे कषायरूपी अग्नि उत्पन्न हो तथा उस वस्तुको अंगीकार करना चाहिये जिससे कषायें शांत हों । तात्पर्य यह है कि विषयादिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियोंका सग सब तरहसे मोह कषायको उपजाते हैं इससे ही मनमें कषायरूपी अग्नि दहकती रहती है । वह सबप्रकार छोड़ना चाहिये और सत्सगति तथा शुभ सामग्री (कारण) कषायोंको उपशमाती है कषायरूपी अग्निको बुझाती है, इसलिये उस सगति वगैरः को अंगीकार करना चाहिये ॥ १६८ ॥

तत्तातत्तु इत्यादि । **तत्तातत्तु मुणेवि** अंतस्तत्त्वं बहिस्तत्त्वं मत्वा । क । **मणि** मनसि **जे** ये केचन वीतरागस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानिनः **थक्का** स्थिता । क । **समभावि** परमोपशमपरिणामे **ते पर** त एव **सुहिया** सुखिनः **एत्थु जगि** अत्र जगति । के ते । **जहं रइ** येषां रतिः । क । **अप्पसहावि** स्वकीयशुद्धात्मस्वभावे इति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारेणानादिबंधनबद्धस्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधरहितं, यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन प्रकृतशुभाशुभकर्मफलभोक्ता तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्थवीतरागपरमानंदैकसुखामृतभोक्ता, यद्यपि व्यवहारेण कर्मक्षयानंतरं मोक्षभाजनं भवति तथापि शुद्धपरिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सदा मुक्तं एव, यद्यपि व्यवहारेणेंद्रियजनितज्ञानदर्शनसहितं तथापि निश्चयनयेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावं, यद्यपि व्यवहारेण स्वोपात्तदेहमात्रं तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशं, यद्यपि व्यवहारेणोपसंहारविस्तारसहितं तथापि मुक्तावस्थायामुपसंहारविस्ताररहितं चरमशरीरप्रमाणप्रदेशं, यद्यपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तथापि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटंकोत्कीर्णज्ञा-

---

आगे हेयोपादेय तत्त्वको जानकर परमशात भावमें स्थित होकर जिनके निःकषायभाव हुआ और निजशुद्धात्मामें जिनकी लीनता हुई वेही ज्ञानी परमसुखी है ऐसा कथन करते हैं;—[**ये**] जो कोई वीतरागस्वसवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानी जीव [**तत्त्वातत्त्वं**] आराधने योग्य निजपदार्थ और त्यागने योग्य रागादि सकल विभावोंको [**मनसि**] मनमें [**मत्त्वा**] जानकर [**समभावे स्थिताः**] शांत भावमें तिष्ठते हैं और [**येषां रतिः**] जिनकी लगन [**आत्मस्वभावे**] निज शुद्धात्मस्वभावमें हुई है [**ते परं**] वे ही जीव [**अत्र जगति**] इस संसारमें [**सुखिनः**] सुखी हैं । **भावार्थ**—यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नयकर अनादिकालसे कर्मबंधनकर बंधा है तौभी शुद्धनिश्चयनयकर प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश—इन चार तरहके बंधनोंसे रहित है, यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयसे अपने उपार्जनकिये शुभ अशुभकर्मोंके फलका भोक्ता है तौभी शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे निजशुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए वीतराग परमानंद सुखरूप अमृतका ही भोगनेवाला है, यद्यपि व्यवहारनयसे कर्मोंके क्षय होने वाद मोक्षका पात्र है तौभी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सदा मुक्त ही है, यद्यपि व्यवहार नयकर इंद्रियजनित मति आदि क्षयोपशमिक ज्ञान तथा चक्षु आदि दर्शन सहित है तौभी निश्चयनयसे सकलविमल केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाववाला है, यद्यपि व्यवहार नयकर यह जीव नामकर्मसे प्राप्त देह प्रमाण है तौभी निश्चयनयसे लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशी है, यद्यपि व्यवहारनयसे प्रदेशोंके संकोच विस्तार सहित है तौभी सिद्ध अवस्थामें सकोचविस्तारसे चरम शरीर प्रमाण प्रदेशवाला है, और यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यकर सहित है तौभी द्रव्यार्थिकनयकर टंकोत्कीर्ण ज्ञानके अखंड स्वभावसे ध्रुव

यथैकस्वभावं निजशुद्धात्मद्रव्यं पूर्वं ज्ञात्वा तद्विलक्षणं परद्रव्यं च निश्चित्य पश्चात् समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पत्यागेन वीतरागचिदानंदैकस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वे ये रतास्तयेव धन्या इति भावार्थः । तथा चोक्तं परमात्मतत्त्वलक्षणे श्रीपूज्यपादस्वामिभिः । "अस्त्यात्मानादिवद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपशमाहारविस्तारधर्मा । ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः" ॥ १६९ ॥

अथ योसावेवोपशमभावं करोति तस्य निंदाद्वारेण स्तुतिं त्रिकलेन कथयति,—

विण्णिवि दोस हवंति तसु, जो समभाउ करेइ ।
वंधु जि णिहणइ अप्पणउ, अणु जगु गहिलु करेइ ॥ १७० ॥

द्वौ अपि दोषौ भवतः तस्य यः समभावं करोति ।
वंधं एव निहंति आत्मीयं पुनः जगत् गहिलं करोति ॥ १७० ॥

विण्णिवि इत्यादि । **विण्णिवि** द्वावपि । द्वौ कौ । **दोस** दोषौ **हवंति** भवतः **तसु** तस्य तपोधनस्य **जो समभाउ करेइ** यः समभावं करोति रागद्वेषत्यागं करोति । तौ दोषौ **वंधु जि णिहणइ** वंधमेव निहंति । कथंभूतं वंधं । **अप्पणउ** आत्मीयं **अणु** पुनः **जग** जगत प्राणिगणं **गहिलु करेइ** गहिलं पिशाचसमानं विकलं करोति । अयमत्र भावार्थः ।

ही है । इस तरह पहले निजशुद्धात्मद्रव्यको अच्छीतरह जानकर और आत्मस्वरूपसे विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको भी अच्छी तरह निश्चय करके अर्थात् आप परका निश्चय करके वादमें समस्त मिथ्यात्वरागादि विकल्पोंको छोड़कर वीतराग चिदानंद स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वमें जो लीन हुए हैं वे ही धन्य हैं । ऐसा ही कथन परमात्मतत्त्वके लक्षणमें श्रीपूज्यपादस्वामीने कहा है "नाभाव" इत्यादि । अर्थात् यह आत्मा व्यवहार नयकर अनादिका वंधा हुआ है और अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, उन कर्मोंके क्षयसे मोक्षपदका भोक्ता है, ज्ञाता है, देखनेवाला है, अपनी देहके प्रमाण है, ससार अवस्थामें प्रदेशोंके सकोच विस्तारको धारण करता है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है और अपने गुण पर्याय सहित है । इस प्रकार आत्माके जाननेसे ही साध्यकी सिद्धि है दूसरी तरह नहीं है ॥ १६९ ॥

आगे जो सयमी परमशांत भावको ही कर्ता है उसकी निंदा द्वारा स्तुति तीनगाथासे करते है;—[**यः**] जो साधु [**समभावं**] रागद्वेषके त्यागरूप समभावको [**करोति**] करता है [**तस्य**] उस तपोधनके [**द्वौ अपि दोषौ**] दो दोष [**भवतः**] होते हैं । [**आत्मीयं वंधं एव निहंति**] एक तो अपने वंधको नष्ट करता है [**पुनः**] दूसरे [**जगत् गहिलं करोति**] जगत्के प्राणियोंको वावला वना देता है । **भावार्थ**—यह

---

१ यह श्लोक अपूर्ण है भाषामे 'नाभाव' आदि लिखा है ।

समशब्देनात्राभेदनयेन रागादिरहित आत्मा भण्यते तेन कारणेन योसौ समं करोति वीतरागचिदानंदैकस्वभावं निजात्मानं परिणमति तस्य दोषद्वयं भवति । कथमिति चेत् । प्राकृतभाषया बंधुशब्देन ज्ञानावरणादिबंधा भण्यंते गोत्रं च येन कारणेनोपशमस्वभावेन परमात्मस्वरूपेण परिणतः सन् ज्ञानावरणादिकर्मबंधं निहंति तेन कारणेन स्तवनं भवति अथवा येन कारणेन बंधुशब्देन गोत्रमपि भण्यते तेन कारणेन बंधुघाती लोकव्यवहारभाषया निंदापि भवतीति । तथा चोक्तं । लोकव्यवहारे ज्ञानिनां लोकः पिशाचो भवति लोकस्याज्ञानिजनस्य ज्ञानी पिशाच इति ॥ १७० ॥

अथ;—

अण्णु जि दोसु हवेइ तसु, जो समभाउ करेइ ।
सत्तुवि मिल्लिवि अप्पणउ, परहं णिलीणु हवेइ ॥ १७१ ॥

अन्यः अपि दोषो भवति तस्य यः समभावं करोति ।
शत्रुमपि मुंचति आत्मीयं परस्य निलीनः भवति ॥ १७१ ॥

अण्णु जि इत्यादि । **अण्णु जि** न केवलं पूर्वोक्त अन्योपि **दोसु** दोषः **हवेइ** भवति **तसु** तस्य तपोधनस्य । यः किं करोति । **जो समभाउ करेइ** यः कर्ता समभावं करोति । पुनरपि किं करोति । **सत्तुवि मिल्लिवि** शत्रुमपि मुंचति । कथंभूतं शत्रुं । **अप्पणउ** आत्मीयं । पुनश्च किं करोति । **परह णिलीणु हवेइ** परस्यापि लीन आधीनो भवति इति । अयमत्र

निंदाद्वारा स्तुति है । प्राकृत भाषामें बंधु शब्दसे ज्ञानावरणादि कर्म बंध भी लिया जाता है तथा भाईको भी कहते हैं । यहांपर बंधु हत्या निंद्य है इससे एक तो बंधु हत्याका दोष आया तथा दूसरा दोष यह है कि जो कोई इनका उपदेश सुनता है वह वस्त्र आभूषणका त्यागकर नग्न दिगंबर होजाता है । कपडे उतार कर नंगा होजाना उसे लोग गहला कहते हैं । ये दोनों लोकव्यवहारमें दोष हैं सो शब्दके अर्थसे ऐसे ऊपरसे निकाले हैं । परंतु दूसरे अर्थ में कोई दोष नहीं है स्तुति ही है । क्योंकि कर्मबंध नाश करने ही योग्य है तथा जो समभावका धारक है वह आप नग्न दिगंबर होजाता है और अन्यको दिगंबर कर देता है सो मूढ लोक निंदा करते हैं। यह दोष नही है गुण ही है । मूढ लोकोंके जाननेमें ज्ञानी जन वावले हैं और ज्ञानियोंके जाननेमें जगतके जन वावले हैं । क्योंकि ज्ञानी जगतसे विमुख हैं तथा जगत् ज्ञानियोंसे विमुख है ॥ १७० ॥

आगे समभावके धारक मुनिकी फिर भी निंदा स्तुति करते हैं;—[**यः**] जो [**समभावं**] समभावको [**करोति**] करता है [**तस्य**] उस तपोधनके [**अन्य अपि दोषः**] दूसरा भी दोष [**भवति**] है । क्योंकि [**परस्य निलीनः**] परके आधीन [**भवति**] होता है और [**आत्मीयं अपि**] अपने आधीन भी [**शत्रुं**] शत्रुको

भावार्थः। यो रागादिरहितस्य समभावलक्षणस्य निजपरमात्मनो भावनां करोति स पुरुषः शत्रुशब्दवाच्यं ज्ञानावरणादिकर्मरूपं निश्चयशत्रुं मुंचति परशब्दवाच्यं परमात्मानमाश्रयति च तेन कारणेन तस्य स्तुतिर्भवति। अथवा यथा लोकव्यवहारेण बंधनबद्धं निजशत्रुं मुक्त्वा कोपि केनापि कारणेन तस्यैव परशब्दवाच्यस्य शत्रोराधीनो भवति तेन कारणेन स निंदां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोपीति ॥ १७१ ॥

अथ,—

अण्णु जि दोसु हवेइ तसु, जो समभाउ करेइ।
वियलु हवेविणु इक्कलउ, उप्परि जगहं चडेइ ॥ १७२ ॥

अन्यः अपि दोषः भवति तस्य यः समभावं करोति।
विकलः भूत्वा एकाकी उपरि जगतः चटिति ॥ १७२ ॥

अण्णु जि इत्यादि। अण्णु जि न केवलं पूर्वोक्तोन्योपि **दोसु** दोषः **हवेइ** भवति **तसु** तस्य तपस्विनः। यः किं करोति। **जो समभाउ करेइ** यः कर्ता समभावं करोति। पुनरपि किं करोति। **वियलु हवेविणु** विकलः कलरहितः शरीररहितो भूत्वा **इक्कलउ** एकाकी पश्चात् **उप्परि जगहं चडेइ** उपरितनभागे जगतो लोकस्यारोहणं करोतीति। अयमत्राभिप्रायः। यः तपस्वी रागादिविकल्परहितस्य परमोपशमरूपस्य निजशुद्धात्मनो भावनां करोति सकलशब्दवाच्यं शरीरं मुक्त्वा लोकस्योपरि तिष्ठति तेन कारणेन स्तुतिं लभते

[मुंचति] छोड़ देता है। भावार्थ—जो तपोधन धनधान्यादिका राग त्यागकर परम शांतभावको आदरता है राजा रंकको समान जानता है उसके दोष कभी नही होसकता। सदा स्तुतिके योग्य है तौभी शब्दकी योजनासे निंदा द्वारा स्तुति कीगई है। वह इस तरहसे है कि शत्रु शब्दसे कहे गये जो ज्ञानावरणादि कर्मशत्रु उनको छोडकर पर शब्दसे कहे गये परमात्माका आश्रय करता है। इसमें निंदा क्या हुई वल्कि स्तुति ही हुई। परंतु लोक व्यवहारमें अपने आधीन शत्रुको छोड़कर किसी कारणसे पर शब्दसे कहेगये शत्रुके आधीन आप होता है इसलिये लौकिकनिंदा हुई वह शब्दके छलसे निंदा स्तुति कीगई। यहां शब्दका श्लेष होना रूप अलंकार कहा गया है ॥ १७१ ॥

आगे समदृष्टिकी फिर भी निंदास्तुति करते हैं;—[यः] जो तपस्वी महामुनि [समभावं] समभावको [करोति] करता है [तस्य] उसके [अन्यः अपि] दूसरा भी [दोषः] दोष [भवति] होता है जोकि [विकलः भूत्वा] शरीर रहित होके अथवा बुधि धन वगैरःसे भ्रष्ट होकर [एकाकी] अकेला [जगतः उपरि] लोकके शिखर पर अथवा सवके ऊपर [चटिति] चढता है। भावार्थ—जो तपस्वी रागादि रहित परम उपशम भावरूप निजशुद्धात्माकी भावना करता है उसकी शब्दके छलसे तो

अथवा यथा कोपि लोकमध्ये वित्तविकलो भूतः सन् निंदां लभते तथा शब्दछलेन तपोधनोपीति ॥ १७२ ॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति,—

जा णिसि सयलहं देहियहं, जोग्गिउ तहिं जग्गेइ ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥ १७३ ॥

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जागर्ति ।
यत्र पुनः जागर्ति सकलं जगत् तां निशां मत्वा स्वपिति ॥ १७३ ॥

जा णिसि इत्यादि । **जा णिसि** या वीतरागपरमानंदैकसहजशुद्धात्मावस्था मिथ्यात्वरागाद्यंधकारावगुंठिता सती रात्रिः प्रतिभाति । केषां । **सयलहं देहियहं** सकलानां स्वशुद्धात्मसंवित्तिरहितानां देहिनां **जोग्गिउ तहिं जग्गेइ** परमयोगी वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरत्नप्रदीपप्रकाशेन मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालांधकारमपसार्य स तस्यां तु शुद्धात्मना जागर्ति **जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु** यत्र पुनः शुभाशुभमनोवाक्कायपरिणामव्यापारे परमात्मतत्त्वभावनापराङ्मुखः सन् जगज्जागर्ति स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलो

निंदा है कि विकल अर्थात् बुद्धि वगैरःसे भ्रष्ट होकर लोक अर्थात् लोगोंके ऊपर चढता है । यह लोकनिंदा हुई । लेकिन असलमें ऐसा अर्थ है कि विकल अर्थात् शरीरसे रहित होकर तीन लोकके शिखर (मोक्ष) पर विराजमान हो जाता है । यह स्तुति ही है । क्योंकि जो अनंत सिद्ध हुए तथा होंगे वे शरीर रहित निराकार होके जगतके शिखरपर विराजे ॥ १७२ ॥

आगे स्थलसंख्याके सिवाय क्षेपक दोहा कहते है;—[**या**] जो [**सकलानां देहिनां**] सब संसारी जीवोंकी [**निशा**] रात है [**तस्यां**] उस रातिमें [**योगी**] परम तपस्वी [**जागर्ति**] जागता है [**पुनः**] और [**यत्र**] जिसमें [**सकलं जगत्**] सब संसारी जीव [**जागर्ति**] जाग रहे हैं [**तां**] उस दशाको [**निशां मत्वा**] योगी रात मानकर [**स्वपिति**] योगनिद्रामें सोता है । **भावार्थ**—जो जीव वीतराग परमानंदरूप सहज शुद्धात्माकी अवस्थासे रहित हैं मिथ्यात्व रागादि अंधकार कर मंडित हैं इसलिये इन सबोंको वह परमानंद अवस्था रात्रिके समान मालूम होती है । कैसे ये जगतके जीव हैं कि आत्मज्ञानसे रहित हैं अज्ञानी हैं अपने स्वरूपसे विमुख हैं जिनके जाग्रत दशा नहीं हैं अचेत सोरहे हैं ऐसी रात्रिमें वह परमयोगी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूपी रत्नदीपके प्रकाशसे मिथ्यात्वरागादि विकल्प जालरूप अंधकारको दूर कर अपने स्वरूपमें सावधान होनेसे सदा जागता है । तथा शुद्धात्माके ज्ञानसे रहित शुभ अशुभ मन वचन कायके परिणमनरूप व्यापारवाले थावर जंगम सकल अज्ञानी

ज्ञानीजनः सा णिसि मणिवि सुवेइ तां रात्रिं मत्वा त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीतरागनिर्विकल्प-परमसमाधियोगनिद्रायां स्वपिति इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो भण्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ १७३ ॥

अथ ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति दर्शयति;—

णाणि मुएप्पिणु भाउ समु, कित्थुवि जाइ ण राउ ।
जेण लहेसइ णाणमउ, तेण जि अप्पसहाउ ॥ १७४ ॥

ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं क्वापि याति न रागम् ।
येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥ १७४ ॥

णाणि इत्यादि । **णाणि** परमात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी **मुएप्पिणु** मुक्त्वा । कं । **भाउ** भावं । कथंभूतं भावं । **समु** उपशमं पंचेंद्रियविषयाभिलापरहितं वीतरागपरमाह्लादसहितं **कित्थुवि जाइ ण राउ** तं पूर्वोक्तं समभावं मुक्त्वा क्वापि बहिर्विषये रागं न याति न गच्छति । कस्मादिति चेत् । **जेण लहेसइ** येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति । कं । **णाणमउ** ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानांतर्भूतानंतगुणं **तेण जि** तेनैव समभावेन **अप्पसहाउ** निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यं । ज्ञानी पुरुषः शुद्धात्मानुभू-

---

जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे परान्मुख हुए विषयकषायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान (जागते) नही रहते। इसलिये ससारकी दशासे सोते हुएसे मालूम पड़ते हैं। जिनको आत्मस्वभावके सिवाय विषयकषायरूप प्रपंचकी मालूम भी नही है। उस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर उसमें याद नहीं रखते मनवचनकायकी तीन गुप्तिमें अचल हुए वीतराग निर्विकल्प परम समाधिरूप योगनिद्रामें मगन होरहे हैं । साराश यह है कि ध्यानी मुनियोंको आत्मस्वरूपकी गम्य है प्रपंचकी गम्य नही है और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनको आत्मस्वरूपकी गम्य नही है अनेक प्रपंचोंमें (झगड़ोंमें) लगे हुए हैं । प्रपंचकी सावधानी रखनेको भूलजाना वही परमार्थ है तथा बाह्यविषयोंमें जाग्रत होना ही भूल है ॥ १७३ ॥

आगे जो ज्ञानी पुरुष हैं वे परमवीतरागरूप समभावको छोडकर शरीरादि परद्रव्यमें राग नही करते ऐसा दिखलाते हैं;—[**ज्ञानी**] निजपरके भेदका जाननेवाला ज्ञानी मुनि [**शमं भावं**] समभावको [**मुक्त्वा**] छोडकर [**क्वापि**] किसी पदार्थमें [**रागं न याति**] राग नही करता [**येन**] इसी कारण [**ज्ञानमयं**] ज्ञानमई निर्वाणपद [**प्राप्स्यति**] पावेगा [**तेनैव**] और उसी समभावसे [**आत्मस्वभावं**] केवल ज्ञान पूर्ण

तिलक्षणं समभावं विहाय वहिर्भावे रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन विना शुद्धात्मलाभो न भवतीति ॥ १७४ ॥

अथ ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निंदतीति प्रतिपादयति;—

भणइ भणावइ णवि थुणइ, णिंदइ णाणि ण कोइ ।
सिद्धिहिं कारणु भाउ समु, जाणंतउ पर सोइ ॥ १७५ ॥

भणति भाणयति नैव स्तौति निंदति ज्ञानी न कमपि ।
सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥ १७५ ॥

भणइ इत्यादि । **भणइ** भणति नैव **भणावइ** नैवान्यं भणंतं प्रेरयति **णवि थुणइ** नैव स्तौति **णिंदइ णाणि ण कोइ** निंदति ज्ञानी न कमपि । किंकुर्वन् सन् । **सिद्धिहिं कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ** जानन् । कं । परं भावं परिणामं । कथंभूतं । समं रागद्वेषरहितं । पुनरपि कथंभूतं । कारणं । कस्याः । सिद्धेःपरं नियमेन तमेव सिद्धिकारणं परिणाममिति । इदमत्र तात्पर्य । परमोपेक्षासंयमभावनारूपं विशुद्धज्ञानदर्शननिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणं साक्षात्सिद्धिकारणं कारणसमयसारं जानन् त्रिगुप्ता-

---

आत्मस्वभावको आगे पावेगा । **भावार्थ**—जो अनंतसिद्ध हुए वे समभावके प्रसादसे हुए हैं और जो होवेंगे इसीभावसे होंगे । इसलिये ज्ञानी समभावके सिवाय अन्य भावोंमें राग नहीं करते । इस समभावके विना अन्य उपायसे शुद्धात्माका लाभ नही है । एक समभाव ही भवसागरसे पार होनेका उपाय है । **समभाव** उसे कहते हैं जो पंचेन्द्रीके विषयोंकी अभिलाषासे रहित वीतराग परमानंदसहित निर्विकल्प निजभाव हो ॥ १७४ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीजन समभावका स्वरूप जानता हुआ न किसीसे पढता है न किसीको पढाता है न किसीको प्ररणा करता है न किसीकी स्तुति करता है न किसीकी निंदा करता है;—[**ज्ञानी**] निर्विकल्प ध्यानी पुरुष [**कमपि न**] न किसीपर [**भणति**] शिष्य होकर पढता है, न गुरु होकर किसीको [**भाणयति**] पढाता है [**नैव स्तौति निंदति**] न किसीकी स्तुति करता है न किसीकी निंदा करता है [**सिद्धेः कारणं**] मोक्षका कारण [**समं भावं**] एक समभावको [**परं**] निश्चयसे [**जानन्**] जानता हुआ [**तमेव**] केवल आत्मस्वरूपमें अचल होरहा है, अन्य कुछभी शुभ अशुभ कार्य नहीं करता । **भावार्थ**—परमोपेक्षा संयम अर्थात् तीनगुप्तिमें स्थिर परम समाधि उसमें आरूढ जो परमसंयम उसकी भावनारूप निर्मल यथार्थ सम्मग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र वही जिसका लक्षण है ऐसा मोक्षका कारण जो समयसार उसे जानता हुआ अनुभवता हुआ अनुभवी पुरुष न किसी प्राणीको सिखाता है, न

वस्थायां अनुभवन् सन् भेदज्ञानी पुरुषः परं प्राणिनं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न च निंदतीति ॥ १७५ ॥

अथ बाह्याभ्यंतरपरिग्रहेच्छायाः पंचेन्द्रियविषयभोगाकांक्षादेहमूर्छाव्रतादिसंकल्पविकल्परहितेन निजशुद्धात्मध्यानेन योसौ निजशुद्धात्मानं जानाति स परिग्रहविषयदेहव्रताव्रतेषु रागद्वेषौ न करोतीति चतुःकलं प्रकटयति,—

गंथहं उप्परि परममुणि, देसुवि करइ ण राउ ।
गंथहं जेण वियाणियउ, भिण्णउ अप्पसहाउ ॥ १७६ ॥

ग्रंथस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागं ।
ग्रंथात् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ १७६ ॥

गंथहं इत्यादि । **गंथहं उप्परि** ग्रंथस्य बाह्याभ्यंतरपरिग्रहस्योपरि अथवा ग्रंथरचनारूपशास्त्रस्योपरि **परममुणि** परमतपस्वी **देसुवि करइ ण** द्वेषमपि न करोति न **राउ** रागमपि । येन तपोधनेन किंकृतं । **गंथहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्पसहाउ** ग्रंथात्सकाशाद्येन विज्ञातो भिन्न आत्मस्वभाव इति । तद्यथा । मिथ्यात्वं, स्त्र्यादिवेदकांक्षारूपवेदत्रयं, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं नोकषायषट्कं, क्रोधमानमायालोभरूपं कषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशाभ्यंतरपरिग्रहाः क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभांडरूपा बाह्यपरिग्रहा इत्थंभूतान् बाह्याभ्यंतरपरिग्रहान् जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा शुद्धात्मोपलंभलक्षणे वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ

किसीसे सीखता है न स्तुति करता है न निंदा करता है । जिसके शत्रुमित्र सुख-दुःख सब समान हैं ॥ १७५ ॥

आगे बाह्य अंतरंग परिग्रहकी इच्छासे पांच इंद्रियोंके विषयभोगोंका वांछक हुआ देहमें ममता नही करता तथा मिथ्यात्व अव्रत आदि समस्त सकल्पविकल्पोंसे रहित जो निज शुद्धात्मा उसे जानता है वह परिग्रहमें तथा विषयदेहसंबधी व्रत अव्रतमें राग द्वेष नहीं करता ऐसा चारसूत्रोंसे प्रगट करते हैं;—[**ग्रंथस्य उपरि**] अंतरंग बाह्य परिग्रहके ऊपर अथवा शास्त्रके ऊपर जो [**परममुनिः**] परम तपस्वी [**रागं न द्वेषमपि करोति**] राग और द्वेष नही करतो है [**येन**] जिस मुनिने [**आत्मस्वभावः**] आत्माका स्वभाव [**ग्रंथात्**] ग्रंथसे [**भिन्नः विज्ञातः**] जुदा जानलिया है । **भावार्थ**—मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया लोभ—ये चौदह अंतरंग परिग्रह और क्षेत्र, वास्तु (घर), हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांडरूप दस बाह्य परिग्रह—इसप्रकार चौवीस तरहके बाह्य अभ्यंतर परिग्रहोंको तीन जगतमें तीनोंकालोंमें मन वचन काय कृतकारित अनुमोदनासे छोड़ और शुद्धा-

स्थित्वा च यो बाह्याभ्यंतरपरिग्रहाद्भिन्नमात्मानं जानाति स परिग्रहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुणविशिष्टनिर्ग्रंथस्यैव शोभते न च सपरिग्रहस्येति तात्पर्यार्थः ॥ १७६ ॥

अथ;—

विसयहं उप्परि परममुणि, देसुवि करइ ण राउ ।
विसयहं जेण वियाणियउ, भिण्णउ अप्पसहाउ ॥ १७७ ॥

विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ १७७ ॥

विसयहं इत्यादि । **विसयहं उप्परि** विषयाणामुपरि **परममुणि** परममुनिः **देसुवि करइ ण राउ** द्वेषमपि करोति न च रागमपि येन । येन किं कृतं । **विसयहं जेण वियाणियउ** विषयेभ्यो येन विज्ञातः । कोसौ विज्ञातः । **भिण्णउ अप्पसहाउ** आत्मस्वभावः । कथंभूतो, भिन्न इति । तथा च । द्रव्येंद्रियाणि भावेंद्रियाणि द्रव्येंद्रियभावेंद्रियग्राह्यान् विषयांश्च दृष्टश्रुतानुभूतान् जगत्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा निजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानंदैकरूपसुखामृतरसास्वादेन तृप्तो भूत्वा यो विषयेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मानमनुभवति स मुनिः पंचेंद्रियविषयेषु रागद्वेषौ न

त्माकी प्राप्तिरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरकर परवस्तुसे अपनेको भिन्न जानता है वोही परिग्रहके ऊपर रागद्वेष नहीं करता है । यहापर ऐसा व्याख्यान निर्ग्रंथ मुनिको ही शोभा देता है परिग्रह धारीको नही शोभा देता है ऐसा तात्पर्य जानना ॥ १७६ ॥

आगे विषयोंके ऊपर वीतरागता दिखलाते हैं;—[**परममुनिः**] महामुनि [**विषयाणां उपरि**] पांच इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंपर [**रागमपि दोषं**] राग और द्वेष [**न करोति**] नही करता अर्थात् मनोज्ञ विषयोंपर राग नहीं करता और अनिष्ट विषयपर द्वेष नहीं करता क्योंकि [**येन**] जिसने [**आत्मस्वभावः**] अपना स्वभाव [**विषयेभ्यः**] विषयोंसे [**भिन्नः विज्ञातः**] जुदा समझलिया है । इसलिये वीतराग दशा धारण करली है ॥ भावार्थ—द्रव्येंद्री भावेन्द्री और इन दोनोंसे ग्रहण करने योग्य देखे सुने अनुभव किये जो रूपादि विषय हैं उनको मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे छोड़कर और निजशुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अतींद्रियसुखके रसके आस्वादनेसे तृप्त होकर विषयोंसे भिन्न अपने आत्माको जो मुनि अनुभवता है वोही विषयोंमें रागद्वेष नहीं करता । यहांपर तात्पर्य यह है कि जो पंचेन्द्रियोंके विषयसुखसे निवृत्त होकर निज शुद्ध आत्मसुखमें

करोति । अत्र यः पंचेंद्रियविषयसुखान्निवर्त्य स्वशुद्धात्मसुखे तृप्तो भवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते न च विषयासक्तस्येति भावार्थः ॥ १७७ ॥

अथ;—

देहहं उप्परि परममुणि, देसुवि करइ ण राउ ।
देहहं जेण वियाणियउ, भिण्णउ अप्पसहाउ ॥ १७८ ॥

देहस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागं ।
देहात् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ १७८ ॥

देहहं इत्यादि । **देहहं उप्परि** देहस्योपरि **परममुणि** परममुनिः **देसुवि करइ ण राउ** द्वेषमपि न करोति न रागमपि । येन किं कृतं । **देहहं जेण वियाणियउ** देहात्सकाशाद्येन विज्ञातः । कोसौ । **भिण्णउ अप्पसहाउ** आत्मस्वभावः । कथंभूतो विज्ञातः । तस्माद्देहाद्भिन्न इति । तथाहि । "सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं । जं इंदियेहिं लद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा" ॥ इति गाथाकथितलक्षणं दृष्टश्रुतानुभूतं यद्देहजनितसुखं तज्जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखपरिणते निजपरमात्मनि स्थित्वा च य एव देहाद्भिन्नं स्वशुद्धात्मानं जानाति स एव देहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्र य एव

तृप्त होता है उसीको यह व्याख्यान शोभा देता है और विषयाभिलाषीको नहीं शोभता ॥ १७७ ॥

आगे साधु देहके ऊपर भी रागद्वेष नहीं करता;—[**परममुनिः**] महामुनि [**देहस्य उपरि**] मनुष्यादिशरीरके ऊपर भी [**रागमपि दोषं**] राग और द्वेषको [**न करोति**] नहीं करता अर्थात् शुभ शरीरसे राग नहीं करता अशुभ शरीरसे द्वेष नहीं करता [**येन**] जिसने [**आत्मस्वभावः**] निजस्वभाव [**देहात्**] देहसे [**भिन्नः विज्ञातः**] भिन्न जानलिया है । देह तो जड है आत्मा चैतन्य है जड चैतन्यका क्या सबंध ? ॥ **भावार्थ**—इन इंद्रियोंसे जो सुख उत्पन्न हुआ है वह दुःखरूप ही है । ऐसा कथन श्रीप्रवचनसारमें कहा है । 'सपरं' इत्यादि । इसका तात्पर्य ऐसा है कि जो इंद्रियोंसे सुख प्राप्त होता है वह सुख दुःखरूप ही है क्योंकि वह सुख परवस्तु है निजवस्तु नहीं है, बाधा सहित है निराबाध नहीं हैं, नाशको लिये हुए है जिसका नाश होजाता है, बन्धका कारण है और विषम है । इसलिये इन्द्रियसुख दुःखरूप ही है । ऐसा इस गाथामें जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे देहजनित सुखको मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे छोडै । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिके बलसे आकुलतारहित परमसुखरूप निजपरमात्मामें स्थित होकर जो महामुनि देहसे भिन्न अपने शुद्धात्माको जानता है वही

सर्वप्रकारेण देहममत्वं त्यक्त्वा देहसुखं नानुभवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते नापरस्येति-तात्पर्यार्थः ॥ १७८ ॥

अथ;—

वित्तिणिवित्तिहिं परमसुणि, देसुवि करइ ण राउ ।
बंधहं हेउ वियाणियउ, एयहं जेण सहाउ ॥ १७९ ॥

वृत्तिनिवृत्त्योः परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागं ।
बंधस्य हेतुः विज्ञातः एतयोः येन स्वभावः ॥ १७९ ॥

वित्तिणिवित्तिहि इत्यादि । **वित्तिणिवित्तिहिं** वृत्तिनिवृत्तिविषये व्रताव्रतविषये **परमसुणि** परममुनिः **देसुवि करइ ण राउ** द्वेषमपि न करोति न च रागं । येन किं कृतं । **बंधहं हेउ वियाणियउ** बंधस्य हेतुर्विज्ञातः । कोसौ । **एयहं जेण सहाउ** एतयोर्व्रताव्रतयोः स्वभावो येन विज्ञात इति । अथवा पाठांतरं । "भिण्णउ जेण वियाणियउ एयहं अप्पसहाउ" भिन्नो येन विज्ञातः । कोसौ । आत्मस्वभावः । काभ्यां । एताभ्यां व्रताव्रतविकल्पाभ्यां सकाशादिति । तथाहि । येन व्रताव्रतविकल्पौ पुण्यपापबंधकारणभूतौ विज्ञातौ स शुद्धात्मनि स्थितः सन् व्रतविषये रागं न करोति तथा चाव्रतविषये द्वेषं न करोतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् यदि व्रतस्योपरि रागतात्पर्यं नास्ति तर्हि व्रतं निषिद्ध-

---

देहके ऊपर राग द्वेष नही करता । जो सब तरह देहसे निर्ममत्व होकर देहके सुखको नही अनुभवता उसीके लिये यह व्याख्यान शोभा देता है और देहबुद्धिवालोंको नहीं शोभता ऐसा अभिप्राय जानना ॥ १७८ ॥

आगे प्रवृत्ति और निवृत्तिमें भी महामुनि राग द्वेष नही करता ऐसा कहते हैं;— [**परममुनिः**] महामुनि [**वृत्तिनिवृत्त्योः**] प्रवृत्ति और निवृत्तिमें [**रागं अपि द्वेषं**] राग और द्वेषको [**न करोति**] नही करता [**येन**] जिसने [**एतयोः**] इनदोनोंका [**स्वभावः**] स्वभाव [**बंधस्य हेतुः**] कर्मबंधका कारण [**विज्ञातः**] जानलिया है ॥ **भावार्थ**—व्रत अव्रतमें परममुनि राग द्वेष नहीं करता । जिसने इन दोनोंका स्वभाव बंधका कारण जानलिया है । अथवा पाठांतर होनेसे ऐसा अर्थ होता है कि जिसने आत्माका स्वभाव भिन्न जानलिया है । अपना स्वभाव प्रवृत्ति निवृत्तिसे रहित है । जहां व्रत अव्रतका विकल्प नही है । ये व्रत अव्रत पुण्य पापरूप बंधके कारण हैं । ऐसा जिसने जानलिया वह आत्मामें तल्लीन हुआ व्रत अव्रतमें रागद्वेष नही करता । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकर भट्टने पूछा हे भगवन् जो व्रतपर राग नही करे तो व्रत क्यों धारण करै । ऐसे कथनमें व्रतका निषेध होता है । तब योगीन्द्राचार्यकहते हैं कि व्रतका अर्थ यह है कि सब शुभ अशुभ भावोंसे निवृत्ति परिणाम होना । ऐसा ही अन्य ग्रंथोमें भी "रागद्वेषौ"

मिति । भगवानाह । व्रतं कोर्थः । सर्वनिवृत्तिपरिणामः । तथाचोक्तं । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं । अथवा । "रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनं । तौ च बाह्यार्थसंबंधौ तस्मात्तांस्तु परित्यजेत् ॥" प्रसिद्धं पुनरहिंसादिव्रतं एकदेशेन व्यवहारेणेति । कथमेकदेशव्रतमितिचेत् । तथाहि । जीवघाते निवृत्तिर्जीवदयाविषये प्रवृत्तिः, असत्यवचनविषये निवृत्तिः सत्यवचनविषये प्रवृत्तिः, अदत्तादानविषये निवृत्तिः दत्तादानविषये प्रवृत्तिरित्यादिरूपेणैकदेशं व्रतं । रागद्वेषरूपसंकल्पविकल्पकल्लोलमालारहिते त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ पुनः शुभाशुभत्यागात्परिपूर्णं व्रतं भवतीति । कश्चिदाह । व्रतेन किं प्रयोजनमात्मभावनया मोक्षो भविष्यति । भरतेश्वरेण किं व्रतं कृतं ? घटिकाद्वयेन मोक्षं गतः इति । परिहारमाह । भरतेश्वरोपि पूर्वं जिनदीक्षाप्रस्तावे लोचानंतरं हिंसादिनिवृत्तिरूपं महाव्रतविकल्पं कृत्वांतर्मुहूर्ते गते सति दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविकल्परहिते मनोवचनकायनिरोधलक्षणे

इत्यादिसे कहा है । अर्थ यह है कि राग और द्वेष ये दोनों प्रवृत्ति हैं तथा इनका निषेध वह निवृत्ति है । ये दोनों अपने नहीं हैं अन्य पदार्थके संबंधसे हैं । इसलिये इन दोनोंको छोडै । अथवा "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं" ऐसा कहा गया है । इसका अर्थ यह है कि प्राणियोंको पीडादेना, झूठवचन, परधनहरना, कुशीलका सेवन और परिग्रह इनसे जो विरक्त होना वही व्रत है । ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं वे व्यवहारनयकर एकोदेशरूप व्रत हैं । यही दिखलाते हैं—जीवघातमें निवृत्ति जीव दयामें प्रवृत्ति, असत्यवचनमें निवृत्ति सत्यवचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी)से निवृत्ति अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादिस्वरूपसे एकोदेश व्रत कहा जाता है । और राग द्वेषरूप संकल्पविकल्पोंकी कल्लोलोसे रहित तीन गुप्तिसे गुप्त समाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है । अर्थात् अशुभकी निवृत्ति और शुभकी प्रवृत्तिरूप एकोदेशव्रत और शुभ अशुभ दोनोंका ही त्याग होना वह पूर्ण व्रत है । इसलिये प्रथम अवस्थामें व्रतका निषेध नहीं है एकोदेश व्रत है और पूर्ण अवस्थामें सर्वदेश व्रत है । यहा पर कोई यदि प्रश्न करै कि व्रतसे क्या प्रयोजन आत्मभावनासे ही मोक्ष होती है । भरतजी महाराजने क्या व्रत कियाथा ? वो दोघड़ीमें ही केवल ज्ञान पाकर मोक्ष गये । उसका समाधान ऐसे है कि भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, शिरके केश लुंचन किये, हिंसादि पापोंकी निर्वृत्तिरूप पंच महाव्रत आदरे । फिर एक अंतर्मुहूर्तमें समस्त विकल्प रहित मनवचन काय रोकनेरूप निज शुद्धात्मध्यान उसमें ठहरकर निर्विकल्प हुए । वो शुद्धात्माका ध्यान, देखे सुने और भोगे हुए भोगों की वाछारूप निदानबन्धादि विकल्पोंसे रहित है । ऐसे ध्यानमें तल्लीन होकर केवली हुए । जब राज छोड़ा और मुनि हुए तभी केवली हुए । तब भरतेश्वरने अंतर्मुहूर्तमें केवल ज्ञान प्राप्त किया । इसलिये महाव्रतकी प्रसिद्धि नही हुई । इसपर कोई मूर्ख ऐसा विचारलेवे कि जैसा उनको हुआ

निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जातः । परं किंतु तस्य स्तोककालत्वान्महाव्रतप्रसिद्धिर्नास्ति । अथेदं मतं वयमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले । नैवं वक्तव्यं । यद्येकस्यांधस्य कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हि किं सर्वेषां भवतीति भावार्थः । तथा चोक्तं । "पुव्वमभाविदजोगो मरणे आराहओ जदि वि कोई । खन्नंगनिधि दिट्ठंतं तं खु पमाणं ण सव्वत्थ" ॥ १७९ ॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये परमोपशमभावव्याख्यानोपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रैः स्थलं समाप्तम् । अथानंतरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यंतं व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—योसौ विभावस्वभावपरिणामौ निश्चयनयेन बंधमोक्षहेतुभूतौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं करोति न चान्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

बंधहं मोक्खहं हेउ णिरु, जो णवि जाणइ कोइ ।
सो पर मोहिं करइ जिय, पुण्णुवि पाउवि दोवि ॥ १८० ॥

बंधस्य मोक्षस्य हेतुः निजः यः नैव जानाति कश्चित् ।
स एव मोहेन करोति जीव पुण्यमपि पापमपि द्वे अपि ॥ १८० ॥

बंधहं इत्यादि । **बंधहं** बंधस्य **मोक्खहं** मोक्षस्य **हेउ** हेतुः कारणं । कथंभूतं । **णिरु** निजविभावस्वभावहेतुस्वरूपं **जो णवि जाणइ कोइ** यो नैव जानाति कश्चित् **सो पर** स

वैसे हमको भी होवेगा । ऐसा विचार ठीक नही है । यदि किसीएक अंधेको किसी तरहसे निधिका लाभ हुआ तो क्या सभीको ऐसा होसकता है सबको नही होता । भरत सरीखे भरत ही हुए । इसलिये अन्य भव्य जीवोंको यही योग्य है कि तप संयमका साधन करना ही श्रेष्ठ है । ऐसा ही "पुव्वं" इत्यादि गाथासे दूसरी जगह भी कहा है । अर्थ ऐसा है कि जिसने पहले तो योगका अभ्यास नही किया और मरणके समय जो कभी आराधक हो जावे तो यह वात ऐसे जानना जैसे किसी अंधे पुरुषको निधिका लाभ हुआ हो । ऐसी वात सब जगह प्रमाण नही होसकती । कभी कहीपर होवे तो होवे ॥ १७९ ॥

इस तरह मोक्ष, मोक्षका फल और मोक्षके मार्गके कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें परम उपशांत भावके व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतरस्थलमें चौदह दोहा पूर्ण हुए ।

आगे निश्चय नयकर पुन्य पाप दोनों हीं समान हैं ऐसा चौदह दोहाओंमें कहते हैं । जो कोई सभाव परिणामको मोक्षका कारण और विभाव परिणामको बंधका कारण ऐसा निश्चयसे भेद नहीं जानता है वही पुन्यपापका कर्ता होता है अन्य नहीं ऐसा मनमें धारणकर यह गाथासूत्र कहते हैं;—[यः कश्चित्] जो कोई जीव [**बंधस्य**

एव मोहिं मोहेन करइ करोति पुण्णुवि पाउवि पुण्यमपि पापमपि । कतिसंख्योपेते अपि । दोइ द्वे अपीति। तथाहि । निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीतं मिथ्यादर्शनं स्वशुद्धात्मप्रतीतिविपरीतं मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलस्थितिविपरीतं मिथ्याचारित्रमित्येतत्त्रयं कारणं, तस्मात्त्रयाद्विपरीतं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योसौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं करोतीति भावार्थः ॥ १८० ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतमात्मानं योसौ मुक्तिकारणं न जानाति स पुण्यपापद्वयं करोतीति दर्शयति,—

दंसणणाणचरित्तमउ, जो णवि अप्पु मुणेइ ।
सिद्धिहिं कारणु भणिवि जिय, सो पर ताइं करेइ ॥ १८१ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रमयं यः नैवात्मानं मनुते ।
मोक्षस्य कारणं भणित्वा जीव स एव ते करोति ॥ १८१ ॥

दंसणु णाणु चरित्तु इत्यादि । **दंसणणाणचरित्तमउ** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयं **जो णवि अप्पु मुणेइ** यः कर्ता नैवात्मानं मनुते जानाति । किंकृत्वा न जानाति । **मोक्खहं कारणु भणिवि** मोक्षस्य कारणं भणित्वा मत्त्वा **जिय** हे जीव **सो पर ताइं करेइ** स एव पुरुषस्ते पुण्यपापे द्वे करोतीति । तथाहि—निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसहजानंदैकरूप-

---

मोक्षस्य हेतुः] बंध और मोक्षका कारण [**निजः**] अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है ऐसा भेद [**नैव जानाति**] नही जानता है [**स एव**] वोही [**पुण्यमपि पापमपि**] पुण्य और पाप [**द्वे अपि**] दोनोंको ही [**मोहेन**] मोहसे [**करोति**] कर्ता है । **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रुचिसे विपरीत जो मिथ्यादर्शन, निज शुद्धात्माके ज्ञानसे विपरीत मिथ्याज्ञान और निजशुद्धात्मद्रव्यमें निश्चल स्थिरतासे उलटा जो मिथ्याचारित्र इन तीनोंको बंधका कारण और इन तीनोंसे रहित भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षका कारण ऐसा जो नहीं जानता है । वही मोहके वशसे पुन्य पापका कर्ता होता है । पुन्यको उपादेय जानके कर्ता है पापको हेय समझता है ॥ १८० ॥

आगे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप परिणमता जो आत्मा वोही मुक्तिका कारण है ऐसा जो भेद नही जानता है वही पुन्यपाप दोनोंको कर्ता है ऐसा दिखलातेहैं;—[**यः**] जो [**दर्शनज्ञानचारित्रमयं**] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी [**आत्मानं**] आत्माको [**नैव मनुते**] नही जानता [**स एव**] वही [**हे जीव**] हे जीव [**ते**] उन पुण्य पाप दोनोंको [**मोक्षस्य कारणं**] मोक्षके कारण [**मत्त्वा**] जानकर

सुखरसास्वादरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्रैव स्वशुद्धात्मनि वीतरागसहजानंदैकस्वसंवेदनपरिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, वीतरागसहजानंदैकपरमसमरसीभावेन तत्रैव निश्चलस्थिरत्वं सम्यक् चारित्रं इत्येतैस्त्रिभिः परिणतमात्मानं योसौ मोक्षकारणं न जानाति स एव पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं च करोतीति । यस्तु पूर्वोक्तरत्नत्रयपरिणतमात्मानमेव मोक्षमार्गं जानाति तस्य तु सम्यग्दृष्टेर्यद्यपि संसारस्थितिछेदकारणेन सम्यक्त्वादिगुणेन परंपरया मुक्तिकारणं तीर्थंकरनाम प्रकृत्यादिकमनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तथाप्यसौ तदुपादेयं न करोतीति भावार्थः ॥ १८१ ॥

अथ योसौ निश्चयेन पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स मोहेन मोहितः सन् संसारं परिभ्रमतीति कथयति;—

जो णवि मण्णइ जीउ समु, पुण्णुवि पाउवि दोइ ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय, मोहिं हिंडइ लोइ ॥ १८२ ॥

यः नैव मन्यते जीवः समाने पुण्यमपि पापमपि द्वे ।
स चिरं दुःखं सहमानः जीव मोहेन हिंडते लोके ॥ १८२ ॥

जो इत्यादि । **जो णवि मण्णइ** यः कर्ता नैव मन्यते **जीउ** जीवः । किं न मन्यते । **समु** समाने । के । **पुण्णुवि पाउवि दोइ** पुण्यमपि पापमपि द्वे **सो** स जीवः **चिरु दुक्खु सहंतु** चिरं बहुतरं कालं दुक्खं सहमानःसन् **जिय** हे जीव **मोहिं हिंडइ लोइ** मोहेन मोहितःसन् हिंडते भ्रमति । क । लोके संसारे इति । तथा च । यद्यप्यसद्भूत-

---

[करोति] करता है । **भावार्थ—**निजशुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग सहजानंद एकरूप सुखरसका आस्वाद उसकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन, उसी शुद्धात्मामें वीतराग नित्यानंद स्वसंवेदन रूप सम्यग्ज्ञान और वीतरागपरमानंद परम समरसी भावकर उसीमें निश्चय स्थिरता रूप सम्यक् चारित्र–इन तीनों स्वरूप परिणत हुआ जो आत्मा उसको जो जीव मोक्षका कारण नही जानता वोही पुन्यको आदरने योग्य जानता है और पापको त्यागने योग्य जानता है । तथा जो सम्यग्दृष्टी जीव रत्नत्रयस्वरूप परिणत हुए आत्माको ही मोक्षका मार्ग जानता है उसके यद्यपि ससारकी स्थितिके छेदनका कारण सम्यक्त्वादिगुणसे परंपराय मुक्तिका कारण ऐसी तीर्थंकर नाम प्रकृति आदि शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंको (कर्मोंको) अवाछितवृत्तिसे ग्रहण करता है तौभी उपादेय नहीं मानता । कर्मप्रकृतियोंको त्यागने योग्य ही समझता है ॥ १८१ ॥

आगे जो निश्चयनयसे पुन्य पाप दोनोंको समान नही मानता वह मोहसे मोहित कारण ऐसा निश्चकता है ऐसा कहते हैं;—**[यः]** जो **[जीवः]** जीव **[पुण्यमपि** ऐसा मनमें धारणकर और पाप दोनोंको **[समाने]** समान **[नैव मन्यते]** नहीं मानता

व्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपापरहितशुद्धात्मनः सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्वंधं प्रति समान एव भवतः । एवं नयविभागेन योसौ पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स निर्मोहशुद्धात्मनो विपरीतेन मोहेन मोहितः सन् संसारे परिभ्रमति इति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठंति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधि लब्ध्वा तिष्ठंति तदा सम्मतमेव । यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि संतो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजंति तपोधनावस्थायां षडावश्यादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः संतः तिष्ठंति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यं ॥ १८२ ॥

अथ येन पापफलेन जीवो दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो भवति तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयति,—

वर जिय पावइं सुंदरइं, णाणिय ताइं भणंति ।
जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु, सिवमइ जाइं कुणंति ॥ १८३ ॥

[सः] वह जीव [मोहेन] मोहसे मोहित हुआ [चिरं] बहुतकाल तक [दुःखं सहमानः] दुःख सहता हुआ [लोके] संसारमें [हिंडते] भटकता है । भावार्थ—यद्यपि असद्भूत (असत्य) व्यवहारनयसे द्रव्यपुन्य और द्रव्य पाप येदोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं और अशुद्ध निश्चयनयसे भावपुन्य और भावपाप ये दोनोंभी आपसमे भिन्न हैं तौभी शुद्ध निश्चय नयकर पुन्य पाप रहित शुद्धात्मासे दोनोंही भिन्न हुए बधरूप होनेसे दोनों समान ही हैं । जैसे सोनेकी वेडी और लोहेकी बेडी ये दोनों ही बंधका कारण हैं इससे समान हैं । इस तरह नयविभागसे जो पुन्य पापको समान नहीं मानता वह निर्मोह शुद्धात्मासे विपरीत जो मोहकर्म उससे मोहित हुआ ससारमें भ्रमण करता है ॥ ऐसा कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट बोला । यदि ऐसें ही है तो कितने ही परमतवादी पुन्य पापको समान मानकर स्वच्छंद हुए रहते हैं उनको तुम दोष क्यों देते हौ । तब योगींद्रदेवने कहा । जब शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप तीनगुप्तिसे गुप्त वीतरागनिर्विकल्पसमाधिको पाकर ध्यानमें मग्न हुए पुन्य पापको समान जानते हैं तब तो जानना योग्य है । परंतु जो मूढ परमसमाधिको नहीं पाकरभी गृहस्थ अवस्थामें दानपूजा आदि शुभक्रियाओंको छोड़देते हैं और मुनिपदमें छह आवश्यककर्मोंको छोडते हैं वे दोनों वातोंसे भ्रष्ट हैं । न तो यती हैं न श्रावक हैं । वे निंदा योग्य ही हैं । तब उनको दोष ही है ऐसा जानना ॥ १८२ ॥

आगे जिस पापके फलसे यह जीव नरकादिमें दुःख पाकर उस दुःखके दूर करनेके-

वरं जीव पापानि सुंदराणि ज्ञानिनः तानि भणंति ।
जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शिवमतिं यानि कुर्वंति ॥ १८३ ॥

वर जिय इत्यादि । वर जिय वरं किंतु हे जीव पावइं सुंदरइं पापानि सुंदराणि समीचीनानि भणंति कथयंति । के । णाणिय ज्ञानिनः तत्त्ववेदिनः । कानि । ताइं तानि पूर्वोक्तानि पापानि । कथंभूतानि ! जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु सिवमइं जाइं कुणंति जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शीघ्रं शिवमतिं मुक्तियोग्यमतिं यानि कुर्वंति ।

लिये धर्मके संमुख होता है वह पापका फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है ऐसा दिखलाते हैं;–[हे जीव] हे जीव [यानि] जो पापके उदय [जीवानां] जीवोंको [दुःखानि जनित्वा] दुःख देकर [लघु] शीघ्र ही [शिवमतिं] मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धि [कुर्वंति] कर देवें [तानि पापानि] वे पाप भी [वरं सुंदराणि] बहुत अच्छे है ऐसा [ज्ञानिनः] ज्ञानी [भणंति] कहते है । भावार्थ—कोई जीव पापकरके नरकमें गया वहांपर महान दुःख भोगे उससे कोई समय किसी जीवके सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि उस जगह सम्यक्त्वकी प्राप्तिके तीन कारण है। पहला तो यह है कि तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधनेको (चेतावने को) जाते है सो कभी कोई जीवके धर्म सुननेसे सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण–पूर्व भवका स्मरण और तीसरा नरककी पीडाकरि दुःखी हुआ नरकको महान दुःखका स्थान जान नरकके कारण जो हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह और आरंभादिक है उनको खराब जान पापसे उदास होवे । तीसरे नरकतक ये तीन कारण है । आगेके चौथे पांचवें छठे सातवें नरकमें देवोंका गमन न होनेसे धर्मश्रवण तो है नहीं लेकिन जातिस्मरण है, तथा वेदनाकर दुःखी होके पापसे भयभीत होना–ये दो ही कारण है । इन कारणोंको पाकर किसी जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है । इस नयसे कोई भव्य जीव पापके उदयसे खोटी गतिमें गया और वहां जाकर यदि सुलट जावे तथा सम्यक्त्व पावै तो वह कुगति भी बहुत श्रेष्ठ है । यही श्रीयोगीन्द्राचार्यने मूलमें कहा है–जो पाप जीवोंको दुःख प्राप्त कराके फिर शीघ्र ही मोक्षमार्गमें बुद्धिको लगावें वे अशुभ भी अच्छे । तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञानतपसे देव भी हुआ और देवसे मरके एकेंद्री हुआ तो वह देवपर्याय पाना किस कामका । अज्ञानीके देवपद पाना भी वृथा है । जो कभी ज्ञानके प्रसादसे उत्कृष्ट देव होके बहुत कालतक सुख भोगके देवसे मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्षको पावे तो उसके समान दूसरा क्या होगा "। जो नरकसे भी निकलकर कोई भव्यजीव मनुष्य होके महाव्रत धारण करके मुक्ति पावे तो वोभी अच्छा है । ज्ञानी पुरुष उन पापियोंको भी श्रेष्ठ कहते है, जो पापके प्रभावसे दुःख

अयमत्राभिप्रायः । यत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं श्रीधर्मं लभते जीवस्तत्पापजनितदुक्खमपि श्रेष्ठमिति । कस्मादिति चेत् । "आर्ता नरा धर्मपरा भवंती"ति वचनात् ॥ १८३ ॥

अथ निदानबंधोपार्जितानि पुण्यानि जीवस्य राज्यादिविभूतिं दत्त्वा नारकादिदुःखं जनयंतीति हेतोः समीचीनानि न भवंतीति कथयति,—

मं पुणु पुण्णइ भल्लाइं, णाणिय ताइं भणंति ।
जीवहं रज्जइं देवि लहु, दुक्खइं जाइं जणंति ॥ १८४ ॥

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि ज्ञानिनः तानि भणंति ।
जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु दुःखानि यानि जनयंति ॥ १८४ ॥

मं पुणु इत्यादि । **मं पुणु** मा पुनः न पुनः **पुण्णइं भल्लाइं** पुण्यानि भद्राणि भवंतीति **णाणिय ताइं भणंति** ज्ञानिनः पुरुषास्तानि पुण्यानि कर्मतापन्नानि भणंति । यानि किं कुर्वंति । **जीवहं रज्जइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति** यानि पुण्यकर्माणि जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु शीघ्रं दुःखानि जनयंति । तद्यथा । निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानंदैकरूपसुखानुभवविपरीतेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधपूर्वकज्ञानतपोदानादिना यान्युपार्जितानि पुण्यकर्माणि तानि हेयानि । कस्मादितिचेत् । निदानबंधोपार्जितपुण्येन भवांतरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादि-

---

भोगकर उस दुःखसे डरके दुःखके मूल कारण पापको जानके उस पापसे उदास हों वे प्रशंसा करने योग्य है, और पापी जीव प्रशंसाके योग्य नहीं है क्योंकि पापक्रिया हमेशा निंदनीक है । भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप श्रीवीतरागदेवके धर्मको जो धारण करते है वे श्रेष्ठ है । यदि सुखी धारण करै तोभी ठीक और दुःखी धारण करे तब भी ठीक । क्योंकि शास्त्रका वचन है कि कोई महाभाग दुःखी हुए ही धर्ममें लवलीन होते है ॥ १८३ ॥

आगे निदानबंधसे उपार्जन किये हुए पुण्यकर्म जीवको राज्यादि विभूति देकर नरकादि दुःख उत्पन्न कराते है इसलिये अच्छे नही है;—[**पुनः**] फिर [**तानि पुण्यानि**] वे पुण्य भी [**मा भद्राणि**] अच्छे नही है [**यानि**] जो [**जीवस्य**] जीवको [**राज्यानि दत्त्वा**] राज देकर [**लघु**] शीघ्र ही [**दुःखानि**] नरकादि दुःखोंको [**जनयंति**] उपजाते हैं [**ज्ञानिनः**] ऐसा ज्ञानी पुरुष [**भणंति**] कहते हैं। **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग परमानंद अतींद्रिय सुखका अनुभव उससे विपरीत जो देखे सुने भोगे इन्द्रियोंके भोग उनकी वांछारूप निदानबंधपूर्वक दान तप आदिकसे उपार्जन किये जो पुन्यकर्म हैं वे हेय हैं । क्योंकि वे निदानबंधसे उपार्जनकिये पुन्यकर्म जीवको दूसरे भवमें राजसपदा देते हैं । उस राज्य विभूतिको अज्ञानी जीव पाकर विषय भोगोंको छोड नही सकता उससे नरकादिकके दुःख पाता है रावणकी

दुःखं लभते । रावणादिवत् । तेन कारणेन पुण्यानि हेयानीति । ये पुनर्निदानरहित-पुण्यसहिताः पुरुषास्ते भवांतरे राज्यादिभोगे लब्धेपि भोगांस्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवंति वलदेवादिवदिति भावार्थः । तथा चोक्तं । "ऊर्ध्वगा वलदेवाः स्युर्निर्निदाना भवांतरे" । इत्यादि वचनात् ॥ १८४ ॥

अथ निर्मलसम्यक्त्वाभिमुखानां मरणमपि भद्रं तेन विना पुण्यमपि समीचीनं न भवतीति प्रतिपादयति;—

वर णियदंसणअहिमुहउ, मरणुवि जीव लहेसि ।
मा णियदंसणविम्मुहउ, पुण्णुवि जीव करेसि ॥ १८५ ॥

वरं निजदर्शनाभिमुखः मरणमपि जीव लभस्व ।
मा निजदर्शनविमुखः पुण्यमपि जीव करिष्यसि ॥ १८५ ॥

वर इत्यादि । **वर णियदंसण अहिमुहउ** वरं किंतु निजदर्शनाभिमुखः सन् **मरणुवि जीव लहेसि** मरणमपि हे जीव लभस्व भज **मा णियदंसणविम्मुहउ** मा पुनर्निजदर्शन-विमुखःसन् **पुण्णुवि जीव करेसि** पुण्यमपि हे जीव करिष्यसि । तथा च स्वकीयनिर्दोषिपरमात्मानुभूतिरुचिरूपं त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणनिश्चयचारित्राविनाभूतं वीतरागसंज्ञं निश्चयसम्यक्त्वं भण्यते तदभिमुखःसन् हे जीव मरणमपि लभस्व दोपो नास्ति तेन विना पुण्यं मा

तरह । इसलिये अज्ञानियोंके पुन्य कर्म भी होता है । और जो निदानबंध रहित ज्ञानी पुरुष हैं वे दूसरे भवमें राज्यादि भोगोंको पाते हैं तौभी भोगोंको छोडकर जिनराजकी दीक्षा धारण करते हैं । धर्मको सेवनकर ऊर्ध्वगतिगामी बलदेव आदिककी तरह होते हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि भवांतरमें निदानबंध नही करते हुए जो महामुनि वे महान तपकर स्वर्गलोक जाते हैं । वहांसे चयकर बलभद्र होते हैं । वे देवोंसे अधिक सुख भोगकर राजका त्याग करके मुनिव्रतको धारणकर या तो केवलज्ञान पाके मोक्षको ही पधारते हैं या बड़ी रिद्धिके धारी देव होते हैं, फिर मनुष्य होकर मोक्षको पाते हैं ॥ १८४ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि निर्मल सम्यक्त्वधारी जीवोंको मरण भी सुखकारी है उनका मरना अच्छा है और सम्यक्त्वके विना पुन्यका उदय भी अच्छा नही है;—[**हे जीव**] हे जीव [**निजदर्शनाभिमुखः**] जो अपने सम्यग्दर्शनके सन्मुख होकर [**मरणमपि**] मरणको भी [**लभस्व वरं**] पावे तो अच्छा है परंतु [**जीव**] हे जीव [**निजदर्शनविमुखः**] अपने सम्यग्दर्शनसे विमुख हुआ [**पुण्यमपि**] पुण्य भी [**करिष्यसि**] करै [**मा वरं**] तो अच्छा नही । **भावार्थ**—निर्दोष निज परमात्माकी अनुभूतिकी रुचिरूप तीन गुप्तिमई जो निश्चय चारित्र उससे अविनाभावी (तन्मई) जो वीतरागनिश्चय-

कार्षीरिति । अत्र सम्यक्त्वरहिता जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यंते । सम्यक्त्व-सहिताः पुनः पूर्वभवांतरोपार्जितपापफलं भुंजाना अपि पुण्यजीवा भण्यंते येन कारणेन तेन कारणेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रं । सम्यक्त्वरहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति । कस्मात् । तेन निदानबंधपुण्येन भवांतरे भोगान् लब्ध्वा पश्चान्नरकादिकं गच्छंतीति भावार्थः । तथा चोक्तं । "वरं नरकवासोपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः । न तु सम्यक्त्व-हीनस्य निवासो दिवि राजते" ॥ १८५ ॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि दृढयति,—

जे णियदंसणअहिमुहा, सुक्खु अणंतु लहंति ।
तिं विणु पुण्णु करंतावि दुक्खु अणंतु सहंति ॥ १८६ ॥

ये निजदर्शनाभिमुखाः सौख्यमनंतं लभंते ।
तेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनंतं सहंते ॥ १८६ ॥

जे णिय इत्यादि । जे ये केचन **णियदंसणअहिमुहा** निजदर्शनाभिमुखाः ते पुरुषाः **सोक्खु अणंतु लहंति** सौख्यमनंतं लभंते । अपरे केचन **तिं विणु पुण्णु करंतावि**

सम्यक्त्व उसके सन्मुख हुआ हे जीव जो तू मरण भी पावै तो दोष नहीं और उस सम्यक्त्वके विना मिथ्यात्व अवस्थामें पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है । जो सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य सहित हैं तौ भी पापी ही कहे हैं । तथा जो सम्यक्त्वसहित हैं वे पहले भवमें उपार्जन किये हुए पापके फलसे दुःख दारिद्र भोगते हैं तौभी पुण्याधि-कारी ही कहे है । इसलिये जो सम्यक्त्व सहित है उनका मरना भी अच्छा । मरकर ऊपरको जावेंगे । और जो सम्यक्त्व रहित है उनका पुण्य कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है । वे पुण्यके उदयसे क्षुद्र (नीच) देव तथा क्षुद्र मनुष्य होके संसार वनमें भटकेंगे । यदि पूर्वले पुन्यको यहां भोगते है तो तुच्छ फल भोगके नरकनिगोदमें पड़ेंगे । इसलिये मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य भी भला नहीं है । निदानबंधपुण्यसे भवांतरमें भोगोंको पाकर पीछे नरकमें जावेंगे । सम्यग्दृष्टि प्रथम मिथ्यात्व अवस्थामें किये हुए पापोंके फलसे दुःख भोगते है लेकिन अव सम्यक्त्व मिला है इसलिये सदा सुखी ही होवेंगे । आयुके अंतमें नरकसे निकलके मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पावेंगे, और मिथ्यादृष्टि जो पुण्यके उदयसे देवभी हुए है तोभी देवलोकसे आकर एकेंद्री होवेंगे । ऐसा दूसरी जगह भी "वरं" इत्यादिश्लोकसे कहा है कि सम्यक्त्व सहित नरकमें रहना भी अच्छा और सम्यक्त्व रहितका स्वर्गमें निवास भी नही शोभा देता ॥ १८५ ॥

अव इसी वातको फिर भी दृढ करते है;—[ये] जो [निजदर्शनाभिमुखाः] सम्यग्दर्शनके सन्मुख है वे [अनंतं सुखं] अनंत सुखको [लभंते] पाते है [तेन विना]

तेन सम्यक्त्वेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि **दुक्खु अणंतु सहंति** दुःखमनंतं सहंत इति । तथाहि । निजशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वाभिमुखा ये ते केचनास्मिन्नेव भवे धर्मपुत्रभीमार्जुनादिवदक्षयसुखं लभंते, ये केचन पुनर्नकुलसहदेवादिवत् स्वर्गसुखं लभंते । ये तु सम्यक्त्वरहितास्ते पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनंतमनुभवंतीति तात्पर्यं ॥ १८६ ॥

अथ निश्चयेन पुण्यं निराकरोति;—

पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो ।
मइमोहेण य पावं, ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ १८७ ॥

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मतिमोहः ।
मतिमोहेन च पापं तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भूत् ॥ १८७ ॥

पुण्णेण इत्यादि । **पुण्णेण होइ विहवो** पुण्येन विभवो विभूतिर्भवति **विहवेण मओ** विभवेन मदोऽहंकारो गर्वो भवति **मएण मइमोहो** विज्ञानाद्यष्टविधमदेन मतिमोहो मतिभ्रंशो विवेकमूढत्वं भवति । **मइमोहेण य पावं** मतिमूढत्वेन पापं भवति **ता पुण्णं अम्ह मा होउ** तस्मादित्थंभूतं पुण्यं अस्माकं माभूदिति । तथाच । इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधपरिणामसहितेन जीवेन

और जो जीव सम्यक्त्वरहित हैं वे [**पुण्यं कुर्वाणा अपि**] पुण्य भी करते है तौ भी पुन्यके फलसे अल्प सुख पाके संसारमें [**अनंतं दुःखं**] अनंत दुःख [**सहंते**] भोगते है । **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप निश्चय सम्यक्त्वके सन्मुख हुए जो सत्पुरुष हैं वे इसी भवमें युधिष्ठिर भीम अर्जुनकी तरह अविनाशी सुखको पाते हैं और कितने ही नकुल सहदेवकी तरह अहमिंद्र पदके सुख पाते है । तथा जो सम्यक्त्वसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य भी करते हैं तौभी मोक्षके अधिकारी नही हैं संसारी जीव ही हैं, यह तात्पर्य जानना ॥ १८६ ॥

आगे निश्चयसे मिथ्यादृष्टियोंके पुन्यका निषेध करते हैं;—[**पुण्येन**] पुण्यसे घरमें [**विभवः**] धन [**भवति**] होता है और [**विभवेन**] धनसे [**मदः**] अभिमान [**मदेन**] मानसे [**मतिमोहः**] बुद्धिभ्रम होता है [**मतिमोहेन**] बुद्धिके भ्रम होनेसे (अविवेकसे) [**पापं**] पाप होता है [**तस्मात्**] इसलिये [**पुण्यं**] ऐसा पुन्य [**अस्माकं**] हमारे [**मा भवतु**] न होवै । **भावार्थ**—भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधनासे रहित, देखे सुने अनुभवकिये भोगोंकी वांछारूप निदानबंधके परिणामोंसहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव है उसने पहले उपार्जन किये जो भोगोंकी वांछारूप पुण्य उसके फलसे प्राप्त हुई घरमें संपदा होनेसे अभिमान (घमंड) होता है अभिमानसे बुद्धिभ्रष्ट होती है बुद्धि भ्रष्टकर पाप कमाता है और पापसे भव २ में अनंत दुःख पाता है । इसलिये मिथ्यादृष्टि-

यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपांडवादिपुण्यबंधवत्। यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाःसंतो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गता इति भावार्थः॥ तथा चोक्तं चिरंतनानां निरहंकारत्वं। "सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृतेः। येषां प्रागजनीह तेपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराश्चित्रं संप्रति लेशतोपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः"॥ १८७॥

अथ देवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति,—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं, भत्तिए पुण्णु हवेइ।
कम्मक्खउ पुणु होइ णवि, अज्जउ संति भणेइ॥ १८८॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति।
कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः सांतिः भणति॥ १८८॥

देवहं इत्यादि। **देवहं सत्थहं मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेइ** देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या पुण्यं भवति **कम्मक्खउ पुणु होइ णवि** कर्मक्षयः पुनर्मुख्यवृत्त्या नैव भवति। एवं कोसौ भणति। **अज्जउ** आर्यः। किं नामा। संति नामा **भणेइ** भणति कथयति इति।

योंका पुण्य पापका ही कारण है। जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत सगर राम पाडवादिक विवेकी जीव हैं उनको पुन्यबंध अभिमान नही उत्पन्न करता परंपराय मोक्षका कारण है। जैसे अज्ञानीयोंके पुन्यका फल विभूति गर्वका कारण है वैसे सम्यग्दृष्टियोंके नहीं है। वे सम्यग्दृष्टि पुण्यके पात्र हुए चक्रवर्ती आदिकी विभूति पाकर मद अहंकारादि विकल्पोंको छोडकर मोक्षको गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती बलभद्रपदमें भी निरहंकार रहे। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथमें श्रीगुणभद्राचार्यने किया है। कि, पहले समयमें ऐसे सत्पुरुष होगये हैं कि जिनके वचनमें सत्य, शास्त्रमें बुद्धि, मनमें दया, पराक्रमरूप भुजाओंमें शूर वीरता, याचकोंमें पूर्ण लक्ष्मीका दान और मोक्षमार्गमें गमन है वे निरभिमानी हुए, जिनके किसीगुणका अहंकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं परंतु अव बड़ा अचंभा है कि इस पंचमकालमें लेशमात्र भी गुण नहीं है तौभी उनके उद्धतपना है यानी गुण तो रंचमात्र भी नही और अभिमानमें बुद्धि रहती है१८७

आगे देव गुरु शास्त्रकी भक्तिसे मुख्यतासे तो पुण्य बंध होता है परंपराय मोक्ष होती है साक्षात् मोक्ष नही ऐसा कहते हैं;—[**देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां**] श्री वीतरागदेव, द्वादशाग शास्त्र और दिगंबर साधुओंकी [**भक्त्या**] भक्ति करनेसे [**पुण्यं भवति**] मुख्यतासे पुण्य होता है [**पुनः**] लेकिन [**कर्मक्षयः**] तत्काल कर्मोंका क्षय [**नैव भवति**] नही होता ऐसा [**आर्यः सांतिः**] साति नाम आर्य अथवा कपटरहित सत-

तथाहि । सम्यक्त्वपूर्वकदेवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यमेव भवति न च मोक्षः । अत्राह प्रभाकरभट्टः । यदि पुण्यं मुख्यवृत्त्या मोक्षकारणं न भवत्युपादेयं च न भवति तर्हि भरतसगररामपांडवादयोपि निरंतरं पंचपरमेष्ठिगुणस्मरणदानपूजादिना निर्भरभक्ताः संतः किमर्थं पुण्योपार्जनं कुर्युरिति । भगवानाह । यथा कोपि रामदेवादिपुरुषविशेषो देशांतरस्थितः सीतादिस्त्रीससीपागतानां पुरुषाणां तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेपि महापुरुषाः वीतरागपरमानंदैकरूपमोक्षलक्ष्मीसुखसुधारसपिपासिताः संतः संसारस्थितिछेदकारणं विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठिसंबंधिगुणस्मरण-दानपूजादिकं कुर्युरिति । अयमत्र भावार्थः । तेषां पंचपरमेष्ठिभक्त्यादिपरिणतानां कुटुं-बिनां पलालवदनीहितं पुण्यमास्त्रवतीति ॥ १८८ ॥

अथ देवशास्त्रमुनीनां योसौ निंदां करोति तस्य पापबंधो भवतीति कथयति;—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं, जो विद्देसु करेइ ।
णियमें पाउ हवेइ तसु, जें संसारु भमेइ ॥ १८९ ॥

पुरुष [भणति] कहते हैं । भावार्थ—सम्यक्त्वपूर्वक जो देव गुरु शास्त्रकी भक्ति करता है उसके मुख्य तो पुण्य ही होता है और परंपराय मोक्ष होती है । जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि हैं उनके भावभक्ति तो नहीं है लौकिक बाहिरी भक्ति होती है उससे पुण्यका ही बंध है कर्मका क्षय नहीं है । ऐसा कथन सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेवसे प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया । हे प्रभो जो पुण्य मुख्यतासे मोक्षका कारण नहीं है तो त्यागने योग्य ही है ग्रहण योग्य नहीं है । जो ग्रहण योग्य नहीं है तो भरत सगर राम पांडवादिक महान् पुरुषोंने निरंतर पंच परमेष्ठीके गुणस्मरण क्यों किये और दान पूजादि शुभ क्रियाओंकर पूर्ण हुए क्यों पुण्यका उपार्जन किया । तब श्रीगुरुने उत्तर दिया । कि जैसे परदेशमें स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्रीके पाससे आये हुए किसी मनुष्यसे बहुत बातें करता है, उसका सन्मान करता है और दान करता है ये सब कारण अपनी प्रियाके हैं कुछ उसके प्रसादके कारण नहीं है । उसीतरह वे भरत सगर राम पांडवादि महान पुरुष वीतराग परमानंद रूप मोक्षलक्ष्मीके सुख अमृत रसके प्यासे हुए संसारकी स्थितिके छेदनेकेलिये विषयकषायकर उत्पन्न हुए आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंके नाशका कारण श्रीपंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करते हैं और दानपूजादिक करते हैं परंतु उनकी दृष्टि केवल निज परिणतिपर है पर वस्तुपर नहीं है । पंच परमेष्ठीकी भक्ति आदि शुभक्रियाको परिणत हुए जो भरत आदिक हैं उनके विना चांहा पुण्य प्रकृतिका आस्रव होता है । जैसे किसानकी दृष्टि अन्नपर है तृण भूसादि पर नहीं है । विना चांहा पुण्यका बंध सहजमें ही होजाता है । वह उनको संसारमें नहीं भटकाय सकता है । वे तो शिव-पुरीके ही पात्र हैं ॥ १८८ ॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणा यो विद्वेषं करोति ।
नियमेन पापं भवति तस्य येन ससारं भ्रमति ॥ १८९ ॥

देवहं । इत्यादि । **देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ** देवशास्त्रमुनीनां साक्षात्पुण्यबंधहेतुभूतानां परंपरया मुक्तिकारणभूतानां च योसौ विद्वेषं करोति । तस्य किं भवति । **णियमें पाउ हवेइ तसु** नियमेन पापं भवति तस्य । येन पापबंधेन किं भवति । **जें संसारु भमेइ** येन पापेन संसारं भ्रमतीति । तद्यथा । निजपरमात्मपदार्थोपलंभरुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वकारणस्य तत्त्वार्थश्रद्धानरूपव्यवहारसम्यक्त्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रयतीनां योसौ निंदां करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवति । मिथ्यात्वेन पापं बध्नाति पापेन चतुर्गतिसंसार भ्रमतीति भावार्थः ॥ १८९ ॥

अथ पूर्वसूत्रद्वयोक्तं पुण्यपापफलं दर्शयति,—

पाविं णारउ तिरिउ जिउ, पुण्णिं अमरु वियाणु ।
मिस्सिं माणुसगइ लहइ, दोहिवि खइ णिव्वाणु ॥ १९० ॥

पापेन नारकः तिर्यग् जीवः पुण्येनामरो विजानीहि ।
मिश्रेण मनुष्यगतिं लभते द्वयोरपि क्षये निर्वाणं ॥ १९० ॥

पावे इत्यादि । **पाविं** पापेन **णारउ तिरिउ** नारको भवति तिर्यग्भवति । कोसौ । **जिउ** जीवः **पुण्णे अमरु वियाणु** पुण्येनामरो देवो भवतीति जानीहि **मिस्सिं माणुसगइ लहइ** मिश्रेण पुण्यपापद्वयेन मनुष्यगतिं लभते **दोहिवि खइ णिव्वाणु** द्वयोरपि कर्मक्षयेपि

आगे देव शास्त्र गुरूकी जो निंदा करता है उसके महान पापका बंध होता है, वह पापी पापके प्रभावसे नरकनिगोदादि खोटीगतिमें अनंतकाल तक भटकता है;— [**देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां**] वीतरागदेव जिनसूत्र और निर्ग्रंथमुनियोंसे [**यः**] जो जीव [**विद्वेषं**] द्वेष [**करोति**] करता है [**तस्य**] उसके [**नियमेन**] निश्चयसे [**पापं**] पाप [**भवति**] होता है [**येन**] जिस पापके कारणसे वह जीव [**संसारं**] संसारमें [**भ्रमति**] भ्रमण करता है । अर्थात् परंपराय मोक्षके कारण और साक्षात् पुण्यबंधके कारण जो देवशास्त्रगुरूकी निंदा करता है उसके नियमसे पाप होता है पापसे दुर्गतिमें भटकता है । **भावार्थ**—निजपरमात्मद्रव्यकी प्राप्तिकी रुचि वही निश्चयसम्यक्त्व उसका कारण तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्व उसके मूल अरहंत देव निर्ग्रंथ गुरु और दयामई धर्म इन तीनोंकी जो निंदा करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है । उस मिथ्यात्वसे महान पाप बांधता है । उस पापसे चतुर्गतिससारमें भ्रमता है ॥ १८९ ॥

आगे पहले दो सूत्रोंमें कहे गये पुण्यपापफल हैं उनको दिखाते हैं,—[**जीवः**] यह जीव [**पापेन**] पापके उदयसे [**नारकः तिर्यग्**] नरक गति और तिर्यंचगति पाता

निर्वाणमिति । तद्यथा । सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशाद्विपरीतेन छेदनादिनारकतिर्यग्गतिदुःखदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकतिर्यग्गतिभाजनो भवति जीवः । तस्मादेव शुद्धात्मनो विलक्षणेन पुण्योदयेन देवो भवति । तस्मादेव शुद्धात्मनो विपरीतेन पुण्यपापद्वयेन मनुष्यो भवति । तस्यैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ तथा चोक्तं ॥ "पावेण णरयतिरियं गम्मइ धम्मेण देवलोयम्मि। मिस्सेण माणुसत्तं दोण्हंपि खएण णिव्वाणं"१९०

अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनस्वरूपे स्थित्वा व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनां त्यजंतीति त्रिकलेन कथयति;—

वंदणु णिंदणु पडिकमणु, पुण्णहं कारणु जेण ।
करइ करावइ अणुमणइ, एक्कुवि णाणि ण तेण ॥ १९१ ॥

वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं पुण्यस्य कारणं येन ।
करोति कारयति अनुमन्यते एकमपि ज्ञानी न तेन ॥ १९१ ॥

वंदणु इत्यादि । **वंदणु णिंदणु पडिकमणु** वंदननिंदनप्रतिक्रमणत्रयं । किंविशिष्टं । **पुण्णहं कारणु** पुण्यस्य कारणं **जेण** येन कारणेन **करइ करावइ अणुमणइ** करोति कारयति अनुमोदयति **एक्कुवि** एकमपि **णाणि ण तेण** ज्ञानी पुरुषो न तेन कारणे-

---

है [**पुण्येन**] पुण्यसे [**अमरः**] देव होता है [**मिश्रेण**] पुण्य और पाप दोनोंके मेलसे [**मनुष्यगतिं**] मनुष्य गतिको [**लभते**] पाता है और [**द्वयोरपि क्षये**] पुण्य पाप दोनोंके ही नाश होनेसे [**निर्वाणं**] मोक्षको पाता है ऐसा [**विजानीहि**] जानो । **भावार्थ**—सहज शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव जो परमात्मा है उससे विपरीत जो पापकर्म उसके उदयसे नरक तिर्यंचगतिका पात्र होता है, आत्मस्वरूपसे विपरीत शुभकर्मोंके उदयसे देव होता है, दोनोंके मेलसे मनुष्य होता है और शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत इन दोनों पुण्य पापोंके क्षयसे निर्वाण (मोक्ष) मिलता है । मोक्षका कारण एक शुद्धोपयोग है वह शुद्धोपयोग निजशुद्धात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप है । इसलिये इस शुद्धोपयोगके विना किसी तरह भी मुक्ति नही हो सकती यह सारांश जानो । ऐसा ही सिद्धांतग्रंथोंमें भी हर एक जगह कहागया है। जैसे—यह जीव पापसे नरक तिर्यंच गतिको जाता है और धर्म (पुण्य) से देवलोकमें जाता है, पुण्य पाप दोनोंके मेलसे मनुष्यदेहको पाता है और दोनोंके क्षयसे मोक्ष पाता है ॥ १९० ॥

आगे निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयआलोचनारूप जो शुद्धोपयोग उसमें ठहरकर व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रत्याख्यान और व्यवहार आलोचनारूप शुभोपयोगको छोडै ऐसा कहते हैं;—[**वंदनं**] पंच परमेष्ठीकी वंदना, [**निंदनं**] अपने

नेति । तथाहि । शुद्धनिर्विकल्पपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्मरणरूपाणामतीतरागादिदोषाणां निराकरणं निश्चयप्रतिक्रमणं भवति, वीतरागचिदानंदैकानुभूतिभावनाबलेन भाविभोगाकांक्षारूपाणां रागादीनां त्यजनं निश्चयप्रत्याख्यानं भण्यते, निजशुद्धात्मोपलंभबलेन वर्तमानोदयागतशुभाशुभनिमित्तानां हर्षविषादादिपरिणामानां निजशुद्धात्मद्रव्यात् पृथक्करणं निश्चयालोचनमिति । इत्थंभूते निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रये स्थित्वा योसौ व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तत्रयानुकूलं वंदननिंदनादिशुभोपयोगं च त्यजन् स ज्ञानी भण्यते न चान्य इति भावार्थः ॥ १९१ ॥

अथ;—

वंदणु णिंदणु पडिकमणु, णाणिहुं एहु ण जुत्तु ।
एक्कु जि मिल्लिवि णाणमउ, सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ १९२ ॥

अशुभकर्मकी निंदा और [प्रतिक्रमणं] अपराधोंकी प्रायश्चित्तादि विधिसे निवृत्ति ये सब [येन पुण्यस्य कारणं] जो पुण्यके कारण है मोक्षके कारण नही है [तेन] इसलिये पहली अवस्थामें पापके दूर करनेकेलिये ज्ञानी पुरुष इनको करता है कराता है और करते हुएको भला जानता है तौभी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्थामें [ज्ञानी] ज्ञानी जीव [एकमपि] इन तीनोंमेंसे एक भी [न करोति] न तो करता [कारयति] न कराता है और न [अनुमन्यते] करते हुएको भला जानता है । **भावार्थ—**केवल शुद्धसरूपमें जिसका चित्त लगा हुआ है ऐसा निर्विकल्प परमात्मतत्त्वकी भावनाके बलसे देखे सुने और अनुभव किये भोगोंकी वाछारूप जो भूतकालके रागादिदोष उनका दूर करना वह **निश्चय प्रतिक्रमण,** वीतराग चिदानंद शुद्धात्माकी अनुभूतिकी भावनाके बलसे होनेवाले भोगोंकी वांछारूप रागादिकका त्याग वह **निश्चय प्रत्याख्यान** और निज शुद्धात्माकी प्राप्तिके बलसे वर्तमान उदयमें आये जो शुभ अशुभके कारण हर्षविषादादि अशुद्ध परिणाम उनको निज शुद्धात्मद्रव्यसे जुदा करना वह **निश्चय आलोचना** इस तरह निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचनामें ठहरकर जो कोई व्यवहार प्रतिक्रमण व्यवहार प्रत्याख्यान व्यवहार आलोचना इन तीनके अनुकूल वन्दना निंदा आदि शुभोपयोग हैं उनको छोडता है वही ज्ञानी कहा जाता है अन्य नहीं । सारांश यह है कि ज्ञानी जीव पहले तो अशुभको त्यागकर शुभमें प्रवृत्त होता है वाद शुभको भी छोडके शुद्धमें लग जाता है । पहले किये हुए अशुभ कर्मोंकी निवृत्ति वह **व्यवहार प्रतिक्रमण,** अशुभपरिणाम होनेवाले है उनका रोकना वह व्यवहार **प्रत्याख्यान** और वर्तमानकालमें शुभकी प्रवृत्ति अशुभकी निवृत्ति वह **व्यवहार आलोचना** है । व्यवहारमें तो अशुभका त्याग शुभका अंगीकार होता है और निश्चयमें शुभ अशुभ दोनोंका ही त्याग होता है ॥ १९१ ॥

वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तं ।
एकमेव मुक्त्वा ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रं ॥ १९२ ॥

वंदणु णिंदणु पडिकमणु वंदनानिंदनप्रतिक्रमणत्रयं **णाणिहु एहु ण जुत्तु** ज्ञानिनामिदं न युक्तं । किं कृत्वा । **एक्कु जि मेल्लिवि** एकमेव मुक्त्वा । एकं कं । **णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु** ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति । तथाहि । पंचेंद्रियभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तविभावरहितः शून्यः केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसहजानंदपरमसमरसीभावलक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थो योसौ ज्ञानमयो भावः तं भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तदनुकूलं वंदननिंदनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिनां युक्तं न भवतीति तात्पर्यं ॥ १९२ ॥

अथ,—

वंदउ णिंदउ पडिकमउ, भाउ असुद्धउ जासु ।
पर तसु संजमु अत्थि णवि, जं मणसुद्धि ण तासु ॥ १९३ ॥

वंदतु निंदतु प्रतिक्रामतु भावः अशुद्धो यस्य ।
परं तस्य संयमोस्ति नैव यस्मात् मनःशुद्धिर्न तस्य ॥ १९३ ॥

वंदउ इत्यादि । **वंदउ णिंदउ पडिकमउ** वंदननिंदनप्रतिक्रमणं करोतु **भाउ असुद्धउ जासु** भावः परिणामः न शुद्धो यस्य परं नियमेन **तसु** तस्य पुरुषस्य **संजमु अत्थि णवि** संयमोस्ति नैव । कस्मान्नास्ति । **जं** यस्मात् कारणात् **मणसुद्धि ण तासु** मनःशुद्धिर्न

आगे इसी कथनको दृढ करते हैं;—[**वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं**] वंदना निंदा और प्रतिक्रमण [**इदं**] ये तीनों [**ज्ञानिनां**] पूर्ण ज्ञानियोंको [**युक्तं न**] ठीक नही है [**एकमेव**] एक [**ज्ञानमयं**] ज्ञानमय [**शुद्धं पवित्रं भावं**] पवित्र शुद्धभावको [**मुक्त्वा**] छोडकर अर्थात् इसके सिवाय ज्ञानीको कोई कार्य करना योग्य नही है । **भावार्थ**—पांच इंद्रियोंके भोगोंकी वांछाको आदि लेकर संपूर्ण विभावोंसे रहित जो केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप परमात्मतत्त्व उसके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न जो परमानंद परमसमरसीभाव वो ही हुआ अमृतरस उसके आस्वादसे पूर्ण जो ज्ञानमयीभाव उसे छोडकर अन्य व्यवहार प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचनाके अनुकूल वंदन निंदनादि शुभोपयोग विकल्प जाल है वे पूर्णज्ञानीको करने योग्य नही है । प्रथम अवस्थामें ही हैं आगे नही हैं ॥ १९२ ॥

आगे इसी वातको दृढ करते हैं;—[**वंदतु निंदतु प्रतिक्रामतु**] निःशंक वंदना करो निंदा करो प्रतिक्रमणादि करो लेकिन [**यस्य**] जिसके [**अशुद्धो भावः**] जब तक अशुद्ध परिणाम है [**तस्य**] उसके [**परं**] नियमसे [**संयमः**] संयम [**नैव अस्ति**]

तस्येति । तद्यथा । नित्यानंदैकरूपस्वशुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षैर्विषयकषायाधीनैः ख्याति-पूजालाभादिमनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपंचोत्पन्नैरपध्यानैर्यस्य चित्तं रंजितं वासितं तिष्ठति तस्य द्रव्यरूपं वंदननिंदनप्रतिक्रमणादिकं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नास्ति इत्यभि-प्रायः ॥ १९३ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्च-यनयेन पुण्यपापद्वयं समानमित्यादि व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्दशसूत्रस्थलं समाप्तं । अथानंतरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं व्याख्यानं क-रोति । तत्रांतरस्थलचतुष्टयं भवति । तद्यथा । प्रथमसूत्रपंचकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानं करोति, तदनंतरं पंचदशसूत्रपर्यंतं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, अत ऊर्ध्वं सूत्राष्टकपर्यंतं परिग्रहत्यागमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनंतरं त्रयोदशसूत्रपर्यंतं केवलज्ञानादि-गुणस्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा ।

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादयः सर्वे गुणास्तिष्ठंतीति प्रतिपादयति;—

सुद्धहं संजमु सीलु तउ, सुद्धहं दंसणु णाणु ।
सुद्धहं कम्मक्खउ हवइ, सुद्धउ तेण पहाणु ॥ १९४ ॥

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं ज्ञानं ।
शुद्धानां कर्मक्षयो भवति शुद्धो तेन प्रधानः ॥ १९४ ॥

नहीं होसकता [यत्] क्योंकि [तस्य] उसके [मनःशुद्धिः न] मनकी शुद्धता नहीं है । जिसका मन शुद्ध नही उसके सयम कहांसे होसकता है । भावार्थ—नित्यानंद एकरूप निजशुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिपक्षी (उलटे) जो विषयकषाय उनके आधीन आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंकर जिसका चित्त रंगा हुआ है उसके द्रव्यरूप व्यवहार वंदना निदान प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते है । जो वह बाह्य क्रिया करता है तौभी उसके भावसंयम नहीं है । सिद्धांतमें उसे असंयमी कहते हैं । कैसे हैं वो आर्त रौद्र खरूप खोटे ध्यान । अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा और लाभादि सैंकडों मनोरथोंके विकल्पोंकी मालाके (पंक्तिके) प्रपंचकर उत्पन्न हुए है । जवतक ये चित्तमें है तबतक बाह्यक्रिया क्या करसकती है? कुछ नही करसकती ॥ १९३ ॥

इसतरह मोक्ष मोक्षफल मोक्षमार्गादिका कथन करनेवाले दूसरे महा अधिकारमें निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनों समान हैं इस व्याख्यानकी मुख्यतासे चौदह दोहा कहे । और आगे शुद्धोपयोगके कथनकी मुख्यतासे इकतालीस दोहाओंमें व्याख्यान करते हैं । और आठदोहाओंमें परिग्रहत्यागके व्याख्यानकी मुख्यतासे कहते हैं तथा तेरहदोहाओंमें केवल ज्ञानादिगुणखरूपकर सब जीव समान हैं ऐसा व्याख्यान है ।

अब प्रथम ही रागादि विकल्पकी निवृत्तिरूप शुद्धोपयोगमें संयमादि सब गुण रहते

सुद्धहं इत्यादि । सुद्धहं शुद्धोपयोगिनां संजमु इंद्रियसुखाभिलापनिवृत्तिबलेन षड्जीवनिकायहिंसानिवृत्तिबलेनात्मना आत्मनि संयमनं नियमनं संयमः स पूर्वोक्तः शुद्धोपयोगिनामेव । अथवोपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेपामेव संभवतः । अथवा सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन पंचधा संयमः सोपि लभ्यते तेषामेव । सीलु स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिवृत्तिर्वर्तनं इति निश्चयव्रतं, व्रतस्य रागादिपरिहारेण परिरक्षणं निश्चयशीलं तदपि तेपामेव । तउ द्वादशविधतपश्चरणबलेन परद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा शुद्धात्मनि प्रतपनं विजयनं तप इति । तदपि तेपामेव । सुद्धहं शुद्धोपयोगिनां दंसणु छद्मस्थावस्थायां स्वशुद्धात्मनि रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्यां तस्यैव फलभूतं अनीहितविपरीताभिनिवेशरहितं परिणामलक्षणं क्षायिकसम्यक्त्वं केवलदर्शनं वा । तेपामेव । णाणु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं तस्यैव फलभूतं केवलज्ञानं वा सुद्धहं शुद्धोपयोगिनामेव । कम्मक्खउ परमात्मस्वरूपोपलब्धिलक्षणो द्रव्यभावकर्मक्षयः हवइ तेषामेव भवति सुद्धहु शुद्धोपयोगपरिणामस्तदाधारपुरुषो वा तेण पहाणु येन कारणेन पूर्वोक्ताः संयमादयो गुणाः शुद्धोपयोगे लभ्यंते तेन कारणेन स एव प्रधान

हैं ऐसा वर्णन करते हैं;—[शुद्धानां] शुद्धोपयोगियोंके ही [संयमः शीलं तपः] पांच इन्द्री छठें मनको रोकनेरूप संयम, शील और तप [भवति] होते हैं [शुद्धानां] शुद्धोंके ही [दर्शनं ज्ञानं] सम्यग्दर्शन और वीतरागस्वसंवेदनज्ञान और [शुद्धानां] शुद्धोपयोगियोंके ही [कर्मक्षयः] कर्मोंका नाश होता है [तेन] इसलिये [शुद्धः] शुद्धोपयोग ही [प्रधानः] जगतमें मुख्य है । **भावार्थ**—शुद्धोपयोगियोंके; पांच इंद्री छठे मनका रोकना, विषयाभिलाषकी निवृत्ति और छहकायके जीवोंकी हिंसासे निवृत्ति उसके बलसे आत्मामें निश्चल रहना उसका नाम **संयम** है वह होता है, अथवा उपेक्षा संयम अर्थात् तीनगुप्तिमें आरूढ और अपहृत संयम अर्थात् पांच समितिका पालना, अथवा सराग संयम अर्थात् शुभोपयोगरूपसंयम और वीतरागसंयम अर्थात् शुद्धोपयोगरूप परमसंयम वह उन शुद्ध चेतनोपयोगियोंके ही होता है । **शील** अर्थात् अपनेसे अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना यह निश्चयशील, रागादिके त्यागनेसे शुद्धभावकी रक्षा करना वह भी निश्चय शील है, और देवांगना मनुष्यनी तिर्यंचनी तथा काठ पत्थर चित्रामादि अचेतन स्त्री-ऐसे चार प्रकारकी स्त्री उनका मन वचनकाय कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना वह व्यवहार शील ये दोनों शील शुद्धचित्तवालोंके ही होते हैं । **तप** अर्थात् बारह तरहका तप उसके बलसे भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप सब वस्तुओंमें इच्छा छोडकर शुद्धात्मामें मग्न रहना काम क्रोधादि शत्रुओंके वशमें न होना, प्रतापरूप विजयरूप जितेंद्री रहना है । यह तप शुद्ध चित्तवालोंके ही होता है । **दर्शन** अर्थात् साधक अव-

उपादेयः इति तात्पर्य । तथा चोक्तं शुद्धोपयोगफलं । "सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं । सुद्धस्स य णिव्वाणं सो वि य सुद्धो णमो तस्स ॥" ॥ १९४ ॥

अथ निश्चयेन स्वकीयशुद्धभाव एव धर्म इति कथयति,—

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ, धम्मु भणेविणु लेहु ।
चउगइदुक्खहं जो धरइ, जीउ पडंतउ एहु ॥ १९५ ॥

भावो विशुद्ध आत्मीयः धर्मं भणित्वा गृह्णीथाः ।
चतुर्गतिदुःखेभ्यः यो धरति जीवं पतंतमिमं ॥ १९५ ॥

भाउ इत्यादि । भाउ भावः परिणामः । कथंभूतः । **विसुद्धउ** विशेषेण शुद्धो मिथ्यात्वरागादिरहितः **अप्पणउ** आत्मीयः **धम्मु भणेविणु लेहु** धर्मं भणित्वा मत्वा प्रगृह्णीथाः । यो धर्मः किं करोति । **चउगइ दुक्खहं जो धरइ** चतुर्गतिदुःखेभ्यः सकाशात् उद्धृत्य यः कर्ता धरति । कं धरति । **जीउ पडंतउ एहु** जीवमिमं प्रत्यक्षीभूतं संसारे पतंतमिति । तद्यथा । धर्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते । संसारे पतंतं प्राणिनमुद्धृत्य नरेंद्रनागेंद्रदेवेंद्रवंद्ये मोक्षपदे धरतीति धर्म इति धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव

स्थामें तो शुद्धात्मामें रुचिरूप सम्यग्दर्शन और केवली अवस्थामें उस सम्यग्दर्शनका फलरूप सशय विमोह विभ्रम रहित निजपरिणामरूप क्षायिकसम्यक्त्व केवलदर्शन यह भी शुद्धोंके ही होता है । ज्ञान अर्थात् वीतरागस्वसंवेदनज्ञान और उसका फल केवलज्ञान वह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होता है और कर्मक्षय अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मका नाश तथा परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति वह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होती है । इसलिये शुद्धोपयोग परिणाम और उन परिणामोंका धारण करनेवाला पुरुष ही जगतमें प्रधान है । क्योंकि सयमादि सर्व गुण शुद्धोपयोगमें ही पाये जाते हैं । इसलिये शुद्धोपयोगके समान अन्य नही है ऐसा तात्पर्य जानना । ऐसा ही कथन अन्य ग्रंथोंमें हर एक जगह "सुद्ध" इत्यादिसे कहा गया है । उसका भावार्थ यह है कि शुद्धोपयोगीके ही मुनिपद कहा है और उसीके दर्शन ज्ञान कहे हैं । उसीके निर्वाण है और वही शुद्ध अर्थात् रागादि रहित है । उसीको हमारा नमस्कार है ॥ १९४ ॥

आगे यह कहते हैं कि निश्चयसे अपना शुद्धभाव ही धर्म है;—[**विशुद्धः भावः**] मिथ्यात्वरागादिसे रहित जो शुद्ध परिणाम है वही [**आत्मीयः**] अपना है और अशुद्ध परिणाम अपने नही है सो शुद्ध भावको ही [**धर्मं भणित्वा**] धर्म समझकर [**गृह्णीथाः**] अंगीकार करो । [**यः**] जो आत्मधर्म [**चतुर्गतिदुःखेभ्यः**] चारों गतियोंके दुःखोंसे [**पतंतं**] ससारमें पड़े हुए [**इमं जीवं**] इस जीवको निकालकर [**धरति**] आनंदस्थानमें रखता है ॥ **भावार्थ**—धर्मशब्दका शब्दार्थ ऐसे है कि ससारमें

ग्राह्यः । तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मांतर्भूता लभ्यंते । तथा अहिंसालक्षणो धर्मः सोपि जीवशुद्धभावं विना न संभवति। सागारानगारलक्षणो धर्मः सोपि तथैव । उत्तमक्षमादिदशविधो धर्मः सोपि जीवशुद्धभावमपेक्षते । सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुरित्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि तथैव । रागद्वेषमोहरहितः परिणामो धर्मः सोपि जीवशुद्धभाव एव । वस्तुस्वभावो धर्मः सोपि तथैव । तथा चोक्तं । "धम्मो वत्थुसहावो"इत्यादि । एवं गुणविशिष्टो धर्मश्चतुर्गतिदुःखेषु पतंतं धरतीतिं धर्मः । अत्राह शिष्यः । पूर्वसूत्रे भणितं शुद्धोपयोगमध्ये संयमादयः सर्वे गुणाः लभ्यंते । अत्र तु भणितमात्मनः शुद्धपरिणाम एव धर्मः सूत्रे सर्वे धर्माश्च लभ्यंते । को विशेषः । परिहारमाह । तत्र शुद्धोपयोगसंज्ञा मुख्या अत्र तु धर्मसंज्ञा मुख्यैतावान् विशेषः । तात्पर्यं तदेव । तेन कारणेन सर्वप्रकारेण शुद्धपरिणाम एव कर्तव्य इति भावार्थः ॥ १९५ ॥

पड़ते हुए प्राणियोंको निकालकर मोक्षपदमें रखै वह धर्म है । वह मोक्षपद देवेंद्र नागेन्द्र नरेंद्रोंकर वंदने योग्य है । जो आत्माका निज स्वभाव है वही धर्म है उसीमें जिनभाषित सब धर्म पाये जाते हैं । जो दयास्वरूप धर्म है वह भी जीवके शुद्धभावोंके विना नहीं होता, यति श्रावकका धर्म भी शुद्धभावोंके विना नहीं होता, उत्तम क्षमादि दशलक्षणधर्म भी शुद्धभाव विना नहीं होसकता और रत्नत्रयधर्म भी शुद्धभावोंके विना नही हो सकता । ऐसा ही कथन जगह२ ग्रंथोंमें कहा है "सद्दृष्टि" इत्यादि श्लोकसे । उसका अर्थ यह है कि धर्मके ईश्वर भगवानने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंको धर्म कहा है । जिस धर्मके ये ऊपर कहे गये लक्षण हैं वह रागद्वेष मोह रहित परिणाम धर्म है वह जीवका स्वभाव ही है क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही धर्म है । ऐसा दूसरी जगह भी "धम्मो" इत्यादि गाथासे कहा है कि जो आत्मवस्तुका स्वभाव है वह धर्म है उत्तमक्षमादि भावरूप दस प्रकारका धर्म है रत्नत्रय धर्म है और जीवोंकी रक्षा वह धर्म है । यह जिन भाषित धर्म चतुर्गतिके दुःखोंमें पडते हुए जीवको उद्धारता है । यहां शिष्यने प्रश्न किया कि जो पहले दोहामें तो तुमने शुद्धोपयोगमें संयमादि सब गुण कहे और यहां आत्माका शुद्ध परिणाम ही धर्म कहा है उसमें धर्म पाये जाते हैं सो पहले दोहेमें और इसमें क्या भेद है । उसका समाधान । पहले दोहामें तो शुद्धोपयोग मुख्य कहा था और इस दोहेमें धर्म मुख्य कहा है । शुद्धोपयोगका ही नाम धर्म है तथा धर्मका ही नाम शुद्धोपयोग है । शब्दका भेद है अर्थका भेद नहीं है दोनोंका तात्पर्य एक है । इसलिये सब तरह शुद्ध परिणाम ही कर्तव्य है वही धर्म है ॥ १९५ ॥

अथ विशुद्धभाव एव मोक्षमार्ग इति दर्शयति,—

सिद्धिहिँ केरा, पंथडा, भाउ विसुद्धउ एक्कु ।
जो तसु भावहं मुणि चलइ, सो किम होइ विमुक्कु ॥ १९६ ॥

सिद्धेः संबंधी पंथाः भावो विशुद्ध एकः ।
यः तस्माद्भावात् मुनिश्चलति स कथं भवति विमुक्तः ॥ १९६ ॥

सिद्धिहि इत्यादि । **सिद्धिहिँ केरा** सिद्धेर्मुक्तेः संबंधी **पंथडा** पंथा मार्गः । कोसौ । **भाउ** भावः परिणामः । कथंभूतः । **विसुद्धउ** विशुद्धः **एक्कु** एक एवाद्वितीयः । **जो तसु भावहं मुणि चलइ** यस्तस्माद्भावान्मुनिश्चलति **सो किम होइ विमुक्कु** स मुनिः कथं मुक्तो भवति न कथमपीति । तद्यथा । योसौ समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभावः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः । यस्तस्मात् शुद्धात्मपरिणामान्मुनिश्च्युतो भवति स कथं मोक्षं लभते किं तु नैव । अत्र येन कारणेन निजशुद्धात्मानुभूतिपरिणाम एव मोक्षमार्गस्तेन कारणेन मोक्षार्थिना स एव निरंतरं कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः ॥ १९६ ॥

अथ क्वापि देशे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि चित्तशुद्धिं विना मोक्षो नास्तीति प्रकटयति,—

जहिं भावइ तहिँ जाहि जिय, जं भावइ करि तं जि ।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तहं सुद्धि ण जं जि ॥ १९७ ॥

यत्र भाति तत्र याहि जीव यद् भाति कुरु तदेव ।
कथमपि मोक्षः नास्ति परं चित्तस्य शुद्धिर्न यदेव ॥ १९७ ॥

जहिं भावइ इत्यादि । **जहिं भावइ तहिं** यत्र देशे प्रतिभाति तत्र **जाहि** गच्छ **जिय**

आगे शुद्धभाव ही मोक्षका मार्ग है ऐसा दिखलाते हैं;–[**सिद्धेः संबंधी**] मुक्तिका [**पंथाः**] मार्ग [**एकः विशुद्धः भावः**] एक शुद्ध भाव ही है [**यः मुनिः**] जो मुनि [**तस्मात् भावात्**] उस शुद्ध भावसे [**चलति**] चलायमान होजावे [**सः**] वह [**कथं**] कैसे [**विमुक्तः**] मुक्त [**भवति**] होसकता है किसीप्रकार नही होसकता । **भावार्थ**—जो समस्त शुभाशुभ सकल्प विकल्पोंसे रहित जीवका शुद्ध भाव है वही निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मोक्षका मार्ग है । जो मुनि शुद्धात्मपरिणामसे च्युत होजावे वह किसतरह मोक्षको पासकता है नही पासकता । मोक्षका मार्ग एक शुद्ध भाव ही है, इसलिये मोक्षके इच्छकको वही भाव हमेशा करना चाहिये ॥ १९६ ॥

आगे यह प्रकट करते हैं कि किसी देशमें जावो चाहे जो तप करो तौभी चित्तकी शुद्धिके विना मोक्ष नहीं है;—[**हे जीव**] हे जीव [**यत्र**] जहां [**भाति**] तेरी इच्छा

हे जीव जं भावइ करि तं जि यदनुष्ठानं प्रतिभाति कुरु तदेव केम्वइ मोक्खु ण अत्थि कथमपि केनापि प्रकारेण मोक्षो नास्ति परं नियमेन । कस्मात् । चित्तहं शुद्धि ण चित्तस्य शुद्धिर्न जं जि यस्मादेव कारणात् इति । तथाहि । ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपदुर्ध्यानैः शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतैर्यावत्कालं चित्तं रंजितं मूर्छितं तन्मयं तिष्ठति तावत्कालं हे जीव क्वापि देशांतरे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि मोक्षो नास्तीति । अत्र कामक्रोधादिभिरपध्यानैर्जीवो भोगानुभवं विनापि शुद्धात्मभावनाच्युतः सन् भावेन कर्माणि बध्नाति तेन कारणेन निरंतरं चित्तशुद्धिः कर्तव्येति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं । "कंखिदकलुसिदभूदो हु कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो । णवि भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि" १९७

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयं कथयति;—

सुहपरिणामें धम्मु पर, असुहें होइ अहम्मु ।
दोहिंवि एहिं विवज्जियउ, सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥ १९८ ॥

शुभपरिणामेन धर्मः परं अशुभेन भवति अधर्मः ।
द्वाभ्यामपि एताभ्यां विवर्जितः शुद्धो न बध्नाति कर्म ॥ १९८ ॥

सुह इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । सुहपरिणामें धम्मु पर शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या असुहें होइ अहम्मु अशुभपरिणामेन भवत्यधर्मः

हो [तत्र] उसीदेशमें [याहि] जा और [यत्] जो [भाति] अच्छा लगे [तदेव] वही [कुरु] कर [परं] लेकिन [यदेव] जब तक [चित्तस्य शुद्धिः न] मनकी शुद्धि नहीं है तब तक [कथमपि] किसीतरह [मोक्षो नास्ति] मोक्ष नहीं होसकती । **भावार्थ**—बडाई प्रतिष्ठा परवस्तुका लाभ और देखे सुने भोगे हुए भोगों की वांछारूप खोटे ध्यान 'जो कि शुद्धात्मज्ञानके शत्रु हैं' इनसे जबतक यह चित्त रंगा हुआ है अर्थात् विषयकषायोंसे तन्मई है तबतक हे जीव किसी देशमें जा तीर्थादिकोंमें भ्रमणकर अथवा चाहे जैसा आचरणकर किसीप्रकार मोक्ष नही है । सारांश यह है कि कामक्रोधादि खोटेध्यानसे यह जीव भोगोंके सेवने विना भी शुद्धात्मभावनासे च्युत हुआ अशुद्ध भावों करके कर्मोंको बांधता है । इसलिये हमेशा चित्तकी शुद्धता रखनी चाहिये । ऐसा ही कथन दूसरी जगह भी "कंखिद" इत्यादि गाथासे कहा है । कि इस लोक और परलोकके भोगोंका अभिलाषी और कषायोंसे कालिमारूप हुआ अवर्तमान विषयोंका वांछक और वर्तमान विषयोंमें अत्यंत आसक्त हुआ अति मोहित होनेसे भोगोंको नहीं भोगता हुआ भी अशुद्ध भावोंसे कर्मोंको बांधता है ॥ १९७ ॥

आगे शुभ अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगोंको कहते हैं;—[शुभपरिणामेन] दानपूजादि शुभपरिणामोंसे [धर्मः] पुण्यरूप व्यवहारधर्म [परं] मुख्यतासे [भवति]

पापं **दोहिंवि एहिं विवज्जियउ** द्वाभ्यां एताभ्यां शुभाशुभपरिणामाभ्यां विवार्जितः । कोसौ । **सुद्धु** शुद्धो मिथ्यात्वरागादिरहितपरिणामस्तत्परिणतपुरुषो वा । किंकरोति । **ण बंधइ** न बध्नाति । किं । **कम्मु** ज्ञानावरणादिकर्मेति । तद्यथा । कृष्णोपाधिपीतोपाधिस्फटिकवदयमात्मा क्रमेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण परिणामत्रयं परिणमति । तेन तु मिथ्यात्वविषयकषायाद्यवलंबनेन पापं बध्नाति । अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुगुणस्मरणदानपूजादिना संसारस्थितिछेदपूर्वकं तीर्थकरनाम–कर्मादिविशिष्टगुणपुण्यमनीहितवृत्त्या बध्नाति । शुद्धात्मावलंबनेन शुद्धोपयोगेन तु केवलज्ञानाद्यनंतगुणरूपं मोक्षं च लभते इति । अत्रोपयोगत्रयमध्ये मुख्यवृत्त्या शुद्धोपयोग एवोपादेय इत्यभिप्रायः ॥ १९८ ॥ एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सूत्रपंचकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमांतरस्थलं गतं । अत ऊर्ध्वं तस्मिन्नेव महास्थलमध्ये पंचदशसूत्रपर्यंतं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते ।

तद्यथा,—

दाणिं लब्भइ भोउ पर, इंदत्तणु वि तवेण ।
जम्मणमरणविवज्जियउ, पउ लब्भइ णाणेण ॥ १९९ ॥

होता है [**अशुभेन**] विषय कषायादि अशुभ परिणामोंसे [**अधर्मः**] पाप होता है [**अपि**] और [**एताभ्यां**] इन [**द्वाभ्यां**] दोनोंसे [**विवर्जितः**] रहित [**शुद्धः**] मिथ्यात्वरागादिरहित शुद्ध परिणाम अथवा परिणामधारी पुरुष [**कर्म**] ज्ञानावरणादि कर्मको [**न**] नहीं [**बध्नाति**] बाधता । भावार्थ— जैसे स्फटिकमणि शुद्ध उज्वल है उसके जो काला डंक लगावे तो काली मालूम होती है और पीला डंक लगावें तो पीली भासती है तथा यदि कुछ भी न लगावें तो शुद्ध स्फटिक ही है उसी तरह यह आत्मा क्रमसे अशुभ शुभ शुद्ध इन परिणामोंसे परिणत होता है । उनमेंसे मिथ्यात्व और विषय कषायादि अशुभके अवलंबन (सहायता)से तो पापको ही बाधता है उसके फलसे नरकनिगोदादिके दुःखोंको भोगता है । और अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठियोंके गुणस्मरण और दानपूजादि शुभक्रियाओंसे ससारकी स्थितिका छेदनेवाला जो तीर्थंकर नामकर्म उसको आदिले विशिष्टगुणरूप पुन्यप्रकृतियोंको अवाछीक वृत्तिसे बांधता है तथा केवल शुद्धात्माके अवलंबनरूप शुद्धोपयोगसे उसीभवमें केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्षको पाता है । इन तीन प्रकारके उपयोगोंमेंसे सर्वथा उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है अन्य नहीं है । और शुभ अशुभ इन दोनोंमेंसे अशुभ तो सब प्रकारसे निषिद्ध है नरकनिगोदका कारण है किसीतरह उपादेय नही है हेय है तथा शुभोपयोग प्रथम अवस्थामें उपादेय है और परम अवस्थामें उपादेय नही है हेय है ॥ १९८ ॥

दानेन लभ्यंते भोगाः परं इंद्रत्वमपि तपसा ।
जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥ १९९ ॥

दाणिं इत्यादि । **दाणिं लब्भइ भोउ** दानेन लभ्यंते पंचेंद्रियभोगाः परं नियमेन **इंदत्तणुवि तवेण** इंद्रत्वमपि तपसा लभ्यते **जम्मणमरणविवज्जियउ** जन्ममरणविवर्जितं **पउ** पदं स्थानं **लब्भइ** लभ्यते प्राप्यते । केन । **णाणेण** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेनेति । तथाहि । आहारभयभैषज्यशास्त्रदानेन सम्यक्त्वरहितेन भोगो लभ्यते । सम्यक्त्वसहितेन तु यद्यपि परंपरया निर्वाणं लभ्यते तथापि विविधाभ्युदयरूपः पंचेंद्रियभोग एव । सम्यक्त्वसहितेन तपसा तु यद्यपि निर्वाणं लभ्यते तथापि देवेंद्रचक्रवर्त्यादिविभूतिपूर्वकेणैव । वीतरागस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानेन सविकल्पेन यद्यपि देवेंद्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषो भवति तथापि निर्विकल्पेन मोक्ष एवेति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदंति ज्ञानमात्रादेव मोक्षः तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भणितं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते पानकवदे-कस्यापि मध्ये त्रयमस्ति । तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव । तेन दूषणं भवतीति भावार्थः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार इकतालीस दोहाओंके महास्थलमें पांच दोहाओंमें शुद्धोपयोगका व्याख्यान किया । आगे पंद्रह दोहाओंमें वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं;— **[दानेन]** दानसे **[परं]** नियमकरके **[भोगाः]** पांच इंद्रियोंके भोग **[लभ्यंते]** प्राप्त होते हैं **[अपि]** और **[तपसा]** तपसे **[इंद्रत्वं]** इंद्रपद मिलता है तथा **[ज्ञानेन]** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे **[जन्ममरणविवर्जितं]** जन्म जरा मरणसे रहित **[पदं]** जो मोक्षपद वह **[लभ्यते]** मिलता है ॥ **भावार्थ**—आहार अभय औषध और शास्त्र इन चार तरहके दानोंको यदि सम्यक्त्वरहित करे तो भोगभूमिके सुख पाता है तथा सम्यक्त्वसहित दान करे तो परंपराय मोक्ष पाता है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें देवेंद्रचक्रवर्ती आदिकी विभूति भी पाता है, तौ भी निर्विकल्प स्वसवेदन ज्ञानकर मोक्ष ही है । यहां प्रभाकर भट्टने प्रश्न किया कि हे भगवन् जो ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होती है तो सांख्यादिक भी ऐसे ही कहते हैं कि ज्ञानसे ही मोक्ष है उनको क्यों दूषण देते हो । तब श्रीगुरुने कहा । इस जिनशासनमें वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है सो वीतराग कहनेसे वीतराग चारित्र भी आ जाता है और सम्यक् पदके कह-नेसे सम्यक्त्व भी आ जाता है । जैसे एक चूर्णमें अथवा पाकमें अनेक औषधि आ जाती हैं परंतु वस्तु एक ही कहलाती है उसीतरह वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानके

अथ तमेवार्थं विपक्षदूषणद्वारेण दृढयति,—

देउ णिरंजणु इउं भणइ, णाणिं मुक्खु ण भंति ।
णाणविहीणा जीवडा, चिरु संसारु भमंति ॥ २०० ॥

देवः निरंजन एवं भणति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रांतिः ।
ज्ञानविहीना जीवाः चिरं संसारं भ्रमंति ॥ २०० ॥

देउ इत्यादि । **देउ** देवः । किंविशिष्टः । **णिरंजणु** निरंजनः अनंतज्ञानादिगुणसहितोष्टादशदोपरहितश्च **इउं भणइ** एवं भणति । एवं किं । **णाणिं मुक्खु** वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनरूपेण सम्यग्ज्ञानेन मोक्षो भवति । **ण भंति** न भ्रांतिः संदेहो नास्ति । **णाणविहीणा जीवडा** पूर्वोक्तस्वसंवेदनज्ञानेन विहीना जीवाः **चिरु संसारु भमंति** चिरं बहुतरं कालं संसारं परिभ्रमंति इति । अत्र वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमध्ये यद्यपि सम्यक्त्वादित्रयमस्ति तथापि सम्यग्ज्ञानस्यैव मुख्यता । विवक्षितो मुख्य इति वचनादिति भावार्थः ॥ २०० ॥

अथ पुनरपि तमेवार्थं दृष्टांतदार्ष्टांतिकाभ्यां निश्चिनोति,—

णाणविहीणहं मोक्खपउ, जीव म कासुवि जोइ ।
वहुएं सलिलिविरोलियइं, करु चोप्पडउ ण होइ ॥ २०१ ॥

ज्ञानविहीनस्य मोक्षपदं जीव मा कस्यापि अद्राक्षीः ।
वहुना सलिलविलोडितेन करः चिक्कणो न भवति ॥ २०१ ॥

णाण इत्यादि । **णाणविहीणहं** ख्यातिपूजालाभादिदुष्टभावपरिणतचित्तं मम कोपि न

कहनेसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र-ये तीनों आजाते है । साख्यादिकके मतमें वीतराग विशेषण नहीं है और सम्यक् विशेषण नही है केवल ज्ञानमात्र ही कहते हैं सो वह मिथ्याज्ञान है इसलिये दूषण देते हैं । यह जानना ॥ १९९ ॥

आगे उसी अर्थको विपक्षीको दूषण देकर दृढ करते हैं;—[**निरंजनः**] अनंत ज्ञानादि गुण सहित और अठारह दोष रहित जो [**देवः**] सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं वे [**एवं**] ऐसा [**भणति**] कहते हैं कि [**ज्ञानेन**] वीतरागनिर्विकल्प स्वसवेदनरूप सम्यग्ज्ञानसे ही [**मोक्षः**] मोक्ष है इसमे [**न भ्रांतिः**] इसमें संदेह नही है । और [**ज्ञानविहीनाः**] स्वसवेदनज्ञानकर रहित जो [**जीवाः**] जीव हैं वे [**चिरं**] बहुत काल तक [**संसारं**] संसारमें [**भ्रमंति**] भटकते हैं । भावार्थ—यहा वीतरागस्वेदनज्ञानमें यद्यपि सम्यक्त्वादि तीनों हैं तौभी मुख्यता सम्यग्ज्ञानकी ही है । क्योंकि श्रीजिन वचनमें ऐसा कथन किया है कि जिसका कथन किया जावे वह मुख्य होता है और अन्य गौण होता है । ऐसा जानना ॥ २०० ॥

आगे फिरभी इसी कथनको दृष्टांत और दार्ष्टांतसे निश्चय करते हैं;—[**ज्ञानविही-**

जानातीति मत्वा वीतरागपरमानंदैकसुखरसानुभवरूपं चित्तशुद्धिमकुर्वाणस्य वहिरंगवकवेषेण लोकरंजनं मायास्थानं तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तविकल्पकल्लोलमालात्यागेन निजशुद्धात्मसंवित्तिनिश्चयेन संज्ञासम्यग्ज्ञानेन विना **मोक्खपउ** मोक्षपदं स्वरूपं **जीव** हे जीव **म कासुवि जोइ** मा कस्याप्यद्राक्षीः । दृष्टांतमाह । **वहुयइं सलिलिविलोरियइं** बहुनापि सलिलेन मथितेन **करु** करो हस्तः **चुप्पडउ ण होइ** चिक्कणः स्निग्धो न भवतीति । अत्र यथा बहुतरमपि सलेले मथितेपि हस्तः स्निग्धो न भवतीति तथा वीतरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन ज्ञानेन विना बहुनापि तपसा मोक्षो न भवतीति तात्पर्य ॥ २०१ ॥

अथ निश्चयनयेन निजात्मबोधज्ञानवाह्यं ज्ञानं तेन प्रयोजनं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

जं णियबोहहं वाहिरउ, णाणु जि कज्जु ण तेण ।
दुक्खहं करणु जेण तउ, जीवहं होइ खणेण ॥ २०२ ॥

यत् निजबोधाद्बाह्यं ज्ञानमपि कार्यं न तेन ।
दुःखस्य कारणं येन तपः जीवस्य भवति क्षणेन ॥ २०२ ॥

जं इत्यादि । **जं** यत् **णियबोहहं वाहिरउ** दानपूजातपश्चरणादिकं कृत्वापि दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षावासितचित्तेन रूपलावण्यसौभाग्यवलदेववासुदेवकामदेवेंद्रादिपदप्राप्तिरूपभा-

---

नस्य] जो सम्यग्ज्ञानकर रहित मलिन चित्त है अर्थात् अपनी वड़ाई प्रतिष्ठालाभादि दुष्टभावोंसे जिसका चित्त परिणत हुआहै और मनमें ऐसा जानता है कि हमारी दुष्टताको कोई नही जान सकता ऐसा समझकर वीतराग परमानंदसुखरसके अनुभवरूप चित्तकी शुद्धिको नही करता, तथा वाहरसे वगुलाकासा भेष मायाचाररूप लोकरंजनकेलिये धारण किया है यही सत्य है इसी भेषसे हमारा कल्याण होगा इत्यादि अनेक विकल्पोंकी कल्लोलोंसे अपवित्र है ऐसे [**कस्यापि**] किसी अज्ञानीके [**मोक्षपदं**] मोक्षपदवी [**जीव**] हे जीव [**मा द्राक्षीः**] मत देखै अर्थात् विना सम्यग्ज्ञानके मोक्ष नहीं होती । उसका दृष्टांत कहते हैं [**बहुना**] बहुत [**सलिलविलोडितेन**] पानीके मथनेसे भी [**करः**] हाथ [**चिक्कणः**] चीकना [**न भवति**] नहीं होता । क्योंकि जलमें चिकनापन है ही नही । जैसे जलमें चिकणाई नही है वैसे वाहिरी भेषमें सम्यग्ज्ञान नही है । सम्यग्ज्ञानके विना महान तप करो तौभी मोक्ष नहीं होती । क्योंकि सम्यग्ज्ञानका लक्षण वीतराग शुद्धात्माकी अनुभूति है वही मोक्षका मूल है । वह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनादिसे भिन्न नहीं है, तीनों एक हैं ॥ २०१ ॥

आगे निश्चयकर आत्मज्ञानसे वहिर्मुख वाह्यपदार्थोंका ज्ञान है उससे प्रयोजन नहीं सधता ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर कहते हैं;—[**यत्**] जो [**निजबोधात्**] आत्म-

विभोगाशाकरणं यन्निदानबंधस्तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तमनोरथविकल्पज्वालावलीरहितत्वेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मावबोधो निजबोधः तस्मान्निजबोधाद्बाह्यं यत् **णाणु जि कज्जु ण तेण** शास्त्रादिजनितं ज्ञानमपि यत्तेन कार्यं नास्ति । कस्मादितिचेत् । **दुक्खहं कारणु** दुःखस्य कारणं **जेण** येन कारणेन **तउ** वीतरागस्वसंवेदनरहितं तपः **जीवहं** जीवस्य **होइ** भवति **खणेण** क्षणमात्रेण कालेनेति । अत्र यद्यपि शास्त्रजनितं ज्ञानं स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितं तपश्चरणं च मुख्यवृत्त्या पुण्यकारणं भवति तथापि मुक्तिकारणं न भवतीत्यभिप्रायः ॥ २०२ ॥

अथ येन मिथ्यात्वरागादिवृद्धिर्भवति तदात्मज्ञानं न भवतीति निरूपयति;—

तं णियणाणु जि होइ णवि, जेण पवड्ढइ राउ ।
दिणयरकिरणहं पुरउ जिय, किं विलसइ तमराउ ॥ २०३ ॥

तत् निजज्ञानमेव भवति नापि येन प्रवर्धते रागः ।
दिनकरकिरणानां पुरतः जीव किं विलसति तमोरागः ॥ २०३ ॥

ज्ञानसे [**बाह्यं**] बाहर (रहित) [**ज्ञानमपि**] शास्त्रवगैरः का ज्ञान भी है [**तेन**] उस ज्ञानसे [**कार्यं न**] कुछ काम नहीं [**येन**] क्योंकि [**तपः**] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहित तप [**क्षणेण**] शीघ्र ही [**जीवस्य**] जीवको [**दुःखस्य कारणं**] दुःखका कारण [**भवति**] होता है । **भावार्थ**—निदानबंध आदि तीन शल्योंको आदि ले समस्त विषयाभिलाषरूप मनोरथोंके विकल्पजालरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे रहित जो निज सम्यग्ज्ञान है उससे रहित बाह्यपदार्थोंका शास्त्रद्वारा ज्ञान है उससे कुछ काम नहीं । कार्य तो एक निज आत्माके जाननेसे है । यहां शिष्यने प्रश्न किया कि निदानबंधरहित आत्मज्ञान तुमने बतलाया उसमें निदानबंध किसे कहते हैं । उसका समाधान । जो देखे सुने और भोगे हुए इंद्रियोंके भोगोंसे जिसका चित्त रंग रहा है ऐसा अज्ञानी जीव रूपलावण्य सौभाग्यका अभिलाषी वासुदेव चक्रवर्तीपदके भोगोंकी वांछा करे, दान पूजा तपश्चरणादिकर भोगोंकी अभिलाषा करे वह निदानबंध है सो बडी सल्य (कांटा) है । इस शल्यसे रहित जो आत्मज्ञान उसके विना शब्दशास्त्रादिका ज्ञान मोक्षका कारण नही है । क्योंकि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहित तप भी दुःखका कारण है । ज्ञानरहित तपसे जो ससारकी सपदायें मिलती हैं वे क्षणभंगुर हैं । इसलिये यह निश्चय हुआ कि आत्मज्ञानसे रहित जो शास्त्रका ज्ञान और तपश्चरणादि हैं उनसे मुख्यताकर पुन्यका बंध होता है । उस पुन्यके प्रभावसे जगतकी विभूति पाता है वह क्षणभंगुर है । इसलिये अज्ञानियोंका तप और श्रुत यद्यपि पुन्यका कारण है तौभी मोक्षका कारण नही है ॥ २०२ ॥

आगे जिससे मिथ्यात्वरागादिककी वृद्धि हो वह आत्मज्ञान नही है ऐसा निरूपण

तमित्यादि । तं तत् णियणाणु जि होइ णवि निजज्ञानमेव न भवति वीतरागनित्यानंदैकस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वपरिज्ञानमेव न भवति । येन ज्ञानेन किं भवति । जेण पवड्ढइ येन प्रवर्धते । कोसौ । राउ शुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानंदप्रतिबंधकपंचेंद्रियविषयाभिलाषरागः । अत्र दृष्टांतमाह । दिणयरकिरणहं पुरउ जिय दिनकरकिरणानां पुरतो हे जीव किं विलसइ किं विलसति किं शोभते अपि तु नैव । कोसौ । तमराउ तमोरागस्तमोव्याप्तिरिति । अत्रेदं तात्पर्यं । यस्मिन् शास्त्राभ्यासज्ञाने जातेऽप्यनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखप्रतिपक्षभूता आकुलत्वोत्पादका रागादयो वृद्धिं गच्छंति तन्निश्चयेन ज्ञानं न भवति । कस्मात् । विशिष्टमोक्षफलाभावादिति ॥ २०३ ॥

अथ ज्ञानिनां निजशुद्धात्मस्वरूपं विहाय नान्यत्किमप्युपादेयमिति दर्शयति;—

अप्पा मिल्लिवि णाणियहं, अण्णु ण सुंदरु वत्थु ।
तेण ण विसयहं मणु रमइ, जाणतहं परमत्थु ॥ २०४ ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानिनां अन्यन्न सुंदरं वस्तु ।
तेन न विषयाणां मनो रमते जानतां परमार्थं ॥ २०४ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा मिल्लिवि शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मपदार्थं मुक्त्वा णाणियहं ज्ञानिनां मिथ्यात्वरागादिपरिहारेण निजशुद्धात्मद्रव्यपरिज्ञानपरिणतानां अण्णु ण सुंदरु

करते हैं;—[जीव] हे जीव [तत्] वह [निजज्ञानं एव] वीतरागनित्यानंदअखंडस्वभाव परमात्मतत्त्वका परिज्ञान ही [नापि] नही [भवति] है [येन] जिससे [रागः] परद्रव्यमें प्रीति [प्रवर्धते] वढै [दिनकरकिरणानां पुरतः] सूर्यकी किरणोंके आगे [तमोरागः] अंधकारका फैलाव [किं विलसति] कैसे शोभायमान होसकता है नहीं हो सकता । भावार्थ—शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग परम आनंद उसके शत्रु पंचेन्द्रियोंके विषयोंका अभिलाष जिसमें हो वह निज (आत्म) ज्ञान नही है अज्ञान ही है । जिस जगह वीतराग भाव है वही सम्यग्ज्ञान है । इसी वातको दृष्टांत देकर दृढ करते हैं सो सुनो । हे जीव जैसे सूर्यके प्रकाशके आगे अंधेरा नहीं शोभा देता वैसे ही आत्मज्ञानमें विषयोंकी अभिलाषा (इच्छा) नहीं शोभती । यह निश्चयसे जानना । शास्त्रका ज्ञान होनेपर भी जो निराकुलता न हो और आकुलताके उपजानेवाले आत्मीकसुखके वैरी रागादिक जो वृद्धिको प्राप्त हों तो वह ज्ञान किसकामका । ज्ञान तो वह है जिससे आकुलता मिट जावे । इससे यह निश्चय हुआ कि बाह्य पदार्थोंका ज्ञान मोक्षफलके अभावसे कार्यकारी नहीं है ॥ २०३ ॥

आगे ज्ञानी जीवोंके निजशुद्धात्मभावके विना अन्य कुछ भी आदरने योग्य नहीं है ऐसा दिखलाते हैं;—[आत्मानं] आत्माको [मुक्त्वा] छोडकर [ज्ञानिनां] ज्ञानि-

वत्थु अन्यत्र सुंदरं समीचीनं वस्तु प्रतिभाति येन कारणेन **तेण ण विसयहं मणु रमइ** तेन कारणेन शुद्धात्मोपलब्धिप्रतिपक्षभूतेषु पंचेंद्रियविषयकामभोगेषु मनो न रमते । किं कुर्वतां । **जाणंतहं** जानतां **परमत्थु** वीतरागसहजानंदैकपारमार्थिकसुखाविनाभूतं परमात्मानमेवेति तात्पर्यं ॥ २०४ ॥

अथ तमेवार्थं दृष्टांतेन समर्थयति,—

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ, चित्ति ण लग्गइ अण्णु ।
मरगउ जें परियाणियउ, तहुं कच्चें कउ गण्णु ॥ २०५ ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं चित्ते न लगति अन्यत् ।
मरकतः येन परिज्ञातः तस्य काचेन किं गहनं ॥ २०५ ॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पा मिल्लिवि** आत्मानं मुक्त्वा । कथंभूतं । **णाणमउ** ज्ञानमयं केवलज्ञानांतर्भूतानंतगुणमयं **चित्ते** मनसि **ण लग्गइ** न लगति न रोचते न प्रतिभाति । किं । **अण्णु** निजपरमात्मस्वरूपादन्यत् । अत्रार्थे दृष्टांतमाह । **मरगउ जेण वियाणियउ** मरकतरत्नविशेषो येन परिज्ञातः **तहुं** तस्य रत्नपरीक्षापरिज्ञानसहितस्य पुरुषस्य **कच्चें कउ गण्णु** काचेन किं गहनं किमपेक्षा तस्येत्यभिप्रायः ॥ २०५ ॥

योंको [**अन्यत् वस्तु**] अन्य वस्तु [**सुंदरं न**] अच्छी नही लगती [**तेन**] इसलिये [**परमार्थं जानतां**] परमात्मपदार्थको जाननेवालोंका [**मनः**] मन [**विषयाणां**] विषयोंमें [**न रमते**] नहीं लगता । **भावार्थ**—मिथ्यात्वरागादिकके छोडनेसे निजशुद्धात्मद्रव्यके यथार्थ ज्ञानकर जिनका चित्त परिणत होगया है ऐसे ज्ञानियोंको शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव परमात्माको छोड़के दूसरी कोई भी वस्तु सुंदर नही भासती । इसीलिये उनका मन कभी विषयवासनामें नहीं रमता । वे विषय कैसे हैं । जोकि शुद्धात्माकी प्राप्तिके शत्रु हैं । ऐसे ये भवभ्रमणके कारण काम भोगरूप पाच इंद्रियोंके विषय उनमें मूढ जीवोंका ही मन रमता है सम्यग्दृष्टीका मन नहीं रमता । कैसे हैं सम्यग्दृष्टि, जिन्होंने वीतराग सहजानंद अखंड सुखमें तन्मय परमात्मतत्त्वको जान लिया है । इसलिये यह निश्चय हुआ कि जो विषयवासनाके अनुरागी हैं वे अज्ञानी हैं, और जो ज्ञानीजन हैं वे विषयविकारसे सदा विरक्त ही हैं ॥ २०४ ॥

आगे इसी कथनको दृष्टातसे दृढ करते हैं;—[**ज्ञानमयं आत्मानं**] केवल ज्ञानादि अनंतगुणमई आत्माको [**मुक्त्वा**] छोड़कर [**अन्यत्**] दूसरी वस्तु [**चित्ते**] ज्ञानियोंके मनमें [**न लगति**] नहीं रुचती । उसका दृष्टात यह है कि [**येन**] जिसने [**मरकतः**] मरकतमणि (रत्न) [**परिज्ञातः**] जानलिया [**तस्य**] उसको [**काचेन**] काचसे [**किं गहनं**] क्या प्रयोजन है । **भावार्थ**—जिसने रत्न पा लिया उसको कांचके खंडोंकी

अथ कर्मफलं भुंजानस्सन् योसौ रागद्वेषं करोति स कर्म बध्नातीति कथयति;—

भुंजंतुवि णियकम्मफलु, मोहइं जो जि करेइ ।
भाउ असुंदरु सुंदरुवि, सो पर कम्मु जणेइ ॥ २०६ ॥

भुंजानोपि निजकर्मफलं मोहेन य एव करोति ।
भावं असुंदरं सुंदरमपि स परं कर्म जनयति ॥ २०६ ॥

भुंजंतुवि इत्यादि । भुंजंतुवि भुंजानोपि । किं । णियकम्मफलु वीतरागपरमाह्लादरूपशुद्धात्मानुभूतिविपरीतं निजोपार्जितं शुभाशुभकर्मफलं मोहइं निर्मोहशुद्धात्मप्रतिकूलमोहोदयेन जो जि करेइ य एव पुरुषः करोति । कं । भाउ भावं परिणामं । किं विशिष्टं । असुंदरु सुंदरुवि अशुभं शुभमपि सो पर स एव भावः कम्मु जणेइ शुभाशुभं कर्म जनयति । अयमत्र भावार्थः । उदयागते कर्मणि योसौ स्वस्वभावच्युतः सन् रागद्वेषौ करोति स एव कर्म बध्नाति ॥ २०६ ॥

अथ उदयागते कर्मानुभवे योसौ रागद्वेषौ न करोति न कर्म न बध्नातीति कथयति;—

भुंजंतुवि णियकम्मफलु, जो तहिं राउ ण जाइ ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु, संचिउ जेण विलाइ ॥ २०७ ॥

भुंजानोपि निजकर्मफलं यः तत्र रागं न याति ।
स नैव बध्नाति कर्म पुनः संचितं येन विलीयते ॥ २०७ ॥

भुंजंतुवि इत्यादि । भुंजंतुवि भुंजानोपि । किं । णियकम्मफलु निजकर्मफलं निजशु-

---

क्या जरूरत है उसी तरह जिसका चित्त आत्मामें लग गया उसके दूसरे पदार्थोंकी वांछा नहीं रहती ॥ २०५ ॥

आगे कर्मफलको भोगता हुआ जो राग द्वेष करता है वह कर्मोंको बांधता है;—[य एव] जो जीव [निजकर्मफलं] अपने कर्मोंके फलको [भुंजानोपि] भोगता हुआ भी [मोहेन] मोहसे [असुंदरं सुंदरं अपि] भले और बुरे [भावं] परिणामोंको [करोति] करता है [सः] वह [परं] केवल [कर्म जनयति] कर्मको उपजाता (बांधता) है । भावार्थ—वीतराग परम आह्लादरूप शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो अशुद्धरागादिक विभाव उनसे उपार्जन किये गये शुभ अशुभकर्म उनके फलको भोगता हुआ जो अज्ञानी जीव मोहके उदयसे हर्ष विषाद भाव करता है वह नये कर्मोंका बंध करता है । सारांश यह है कि जो निजस्वभावसे च्युत हुआ उदयमें आये हुए कर्मोंमें राग द्वेष करता है वही कर्मोंको बांधता है ॥ २०६ ॥

आगे जो उदयप्राप्त कर्मोंमें राग द्वेष नहीं करता वह कर्मोंको भी नहीं बांधता ऐसा

द्धात्मोपलंभावावेनोपार्जितं पूर्वं यत् शुभाशुभं कर्म तस्य फलं **जो** यो जीवः **तहिं** तत्र कर्मानुभवप्रस्तावे **राउ ण जाइ** रागं न गच्छति वीतरागचिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृततृप्तः सन् रागद्वेषौ न करोति **सो** स जीवः **णवि बंधइ** नैव बध्नाति । किं न बध्नाति । **कम्मु** ज्ञानावरणादि कर्म **पुणु** पुनरपि । येन कर्मबंधाभावपरिणामेन किं भवति । **संचिउ जेण विलाइ** पूर्वसंचितं कर्म येन वीतरागपरिणामेन विलयं विनाशं गच्छतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । कर्मोदयफलं भुंजानोपि ज्ञानी कर्मणापि न बध्यते इति सांख्यादयोपि वदंति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । ते निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचरित्रनिरपेक्षा वदंति तेन कारणेन तेषां दूषणमिति तात्पर्य ॥ २०७ ॥

अथ यावत्कालमणुमात्रमपि रागं न मुंचति तावत्कालं कर्मणा न मुच्यते इति प्रतिपादयति,—

जो अणुमित्तुवि राउ मणि, जाम ण मिल्लइ एत्थु ।
सो णवि मुचइ ताम जिय, जाणंतुवि परमत्थु ॥ २०८ ॥

कहते हैं;—[**निजकर्मफलं**] अपने बांधे हुए कर्मोंके फलको [**भुंजानोपि**] भोगता हुआ भी [**तत्र**] उस फलके भोगनेमें [**यः**] जो जीव [**रागं**] राग द्वेषको [**न याति**] नही प्राप्त होता [**सः**] वह [**पुनः कर्म**] फिर कर्मको [**नैव**] नहीं [**बध्नाति**] बाधता [**येन**] जिस कर्मबंधाभावपरिणामसे [**संचितं**] पहले बांधे हुए कर्म भी [**विलीयते**] नाश होजाते हैं । **भावार्थ**—निजशुद्धात्माके ज्ञानके अभावसे उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ भी वीतराग चिदानंद परमस्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न अतींद्रियसुखरूप अमृतसे तृप्तहुआ जो रागी द्वेषी नहीं होता वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मोंको नही बाधता है और नवे कर्मोंके बंधका अभाव होनेसे प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा ही होती है । यह सवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षका मूल है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकर भट्टने प्रश्न किया कि हे प्रभो "कर्मके फलको भोगता हुआ भी ज्ञानसे नहीं बंधता" ऐसा साख्य आदिक भी कहते हैं उनको तुम दोष क्यों देते हो । उसका समाधान श्रीगुरु कहते हैं—जो हम तो आत्मज्ञान सयुक्त ज्ञानी जीवोंकी अपेक्षा कहते हैं, वे ज्ञानके प्रभावसे कर्मफल भोगते हुए भी रागद्वेषभाव नहीं करते । इसलिये उनके नवे बंधका अभाव है । और जो मिथ्यादृष्टि ज्ञानभावसे बाह्य पूर्वोपार्जितकर्मफलको भोगते हुए रागी द्वेषी होते हैं उनके अवश्य बंध होता है । इस तरह साख्य नही कहता वह वीतराग चारित्रसे रहित कथन करता है । इसलिये उन साख्यादिकोंको दूषण दिया जाता है । यह तात्पर्य जानना ॥ २०७ ॥

य: अणुमात्रमपि रागं मनसि यावत् न मुंचति अत्र ।
स नैव मुच्यते तावत् जीव जानन्नपि परमार्थं ॥ २०८ ॥

जो इत्यादि । **जो** यः कर्ता **अणुमित्तुवि** अणुमात्रमपि सूक्ष्ममपि **राउ** रागं वीतराग-सदानंदैकशुद्धात्मनो विलक्षणं पंचेंद्रियविषयसुखाभिलापरागं **मणि** मनसि **जाम ण मिल्लइ** यावंतं कालं न मुंचति **एत्थु** अत्र जगति **सो णवि मुच्चइ** स जीवो नैव मुच्यते ज्ञानावरणादिकर्मणा **ताव** तावंतं कालं **जिय** हे जीव । किं कुर्वन्नपि । **जाणंतुवि** वीतरागानुष्ठान-रहितः सन् शब्दमात्रेण जानन्नपि । कं जानन् । **परमत्थु** परमार्थशब्दवाच्यनिजशुद्धात्म-तत्त्वमिति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मस्वभावज्ञातेपि शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणवीतराग-चारित्रभावनां विना मोक्षं न लभत इति ॥ २०८ ॥

अथ निर्विकल्पात्मभावनाशून्यः शास्त्रं पठन्नपि तपश्चरणं कुर्वन्नपि परमार्थं न वेत्तीति कथयति;—

बुज्झइ सत्थइं तउ चरइ, पर परमत्थु ण वेइ ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि, इहु परमत्थु मुणेइ ॥ २०९ ॥

बुध्यते शास्त्राणि तपः चरति परं परमार्थं न वेत्ति ।
तावत् न मुच्यते यावंतं नैव एनं परमार्थं मनुते ॥ २०९ ॥

बुज्झइ इत्यादि । **बुज्झइ** बुध्यते । कानि । **सत्थइं** शास्त्राणि न केवलं शास्त्राणि बुध्यते **तउ चरइ** तपश्चरति **पर** परं किंतु **परमत्थु ण वेइ** परमार्थं न वेत्ति न जानाति । कस्मान्न वेत्ति । यद्यपि व्यवहारेण परमात्मप्रतिपादकशास्त्रेण ज्ञायते तथापि निश्चयेन वीतरागस्वसं-वेदनज्ञानेन परिच्छिद्यते । यद्यप्यनशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन बहिरंगसहकारिकारणभूतेन

आगे जब तक परमाणूमात्र भी रागको नही छोड़ता–धारण करता है तब तक कर्मोंसे नही छूटता ऐसा कथन करते हैं;—[**यः**] जो जीव [**अणुमात्रं अपि**] थोड़ा भी [**रागं**] राग [**मनसि**] मनमेंसे [**यावत्**] जबतक [**अत्र**] इस संसारमें [**न मुंचति**] नहीं छोड़ देता है [**तावत्**] तबतक [**जीव**] हे जीव [**परमार्थं**] निजशु-द्धात्मतत्त्वको [**जानन्नपि**] शब्दसे केवल जानता हुआ भी [**नैव**] नही [**मुच्यते**] मुक्त होता । **भावार्थ**—जो वीतराग सदा आनंदरूप शुद्धात्मभावसे रहित पंचेंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा रखता है मनमें थोड़ासा भी राग रखता है वह आगमज्ञानसे आत्माको शब्दमात्र जानता हुआ भी वीतराग चारित्रकी भावनाके विना मोक्षको नही पाता ॥२०८॥

आगे जो निर्विकल्प आत्मभावनासे शून्य है वह शास्त्रको पढता हुआ भी तथा तपश्च-रण करता हुआ भी परमार्थको नही जानता है ऐसा कहते हैं;—[**शास्त्राणि**] शास्त्रोंको [**बुध्यते**] जानता है [**तपः चरति**] और तपस्या करता है [**परं**] लेकिन [**परमार्थं**]

साध्यते तथापि निश्चयेन निर्विकल्पशुद्धात्मविश्रांतिलक्षणवीतरागचारित्रसाध्यो योसौ परमार्थशब्दवाच्यो निजशुद्धात्मा तत्र निरंतरानुष्ठानाभावात् **ताव ण मुंचइ** तावंतं कालं न मुच्यते । केन । कर्मणा **जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ** यावंतं कालं नैवैनं पूर्वोक्तलक्षणं परमार्थं मनुते जानाति श्रद्धत्ते सम्यगनुभवतीति । इदमत्र तात्पर्यं । यथा प्रदीपेन विवक्षितं वस्तु निरीक्ष्य गृहीत्वा च प्रदीपस्त्यज्यते तथा शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादकशास्त्रेण शुद्धात्मतत्त्वं ज्ञात्वा गृहीत्वा च प्रदीपस्थानीयः शास्त्रविकल्पस्त्याज्यत इति ॥ २०९ ॥

अथ योसौ शास्त्रं पठन्नपि विकल्पं न मुंचति निश्चयेन देहस्थं शुद्धात्मानं न मन्यते स जडो भवतीति प्रतिपादयति,—

सत्थु पढंतुवि होइ जडु, जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहि वसंतुवि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु ॥ २१० ॥

शास्त्रं पठन्नपि भवति जडः यः न हंति विकल्पं ।
देहे वसंतमपि निर्मलं नैव मन्यते परमात्मानं ॥ २१० ॥

परमात्माको [**न वेत्ति**] नही जानता है [**यावत्**] और जवतक [**एवं**] पूर्व कहे हुए [**परमार्थं**] परमात्माको [**नैव मनुते**] नही जानता व श्रद्धान व अच्छीतरह अनुभव करता है [**तावत्**] तवतक [**न मुच्यते**] नही छूटता । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहार नयसे आत्मा अध्यात्मशास्त्रोंसे जाना जाता है तौभी निश्चयनयसे वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानहीसे जानने योग्य है, यद्यपि बाह्य सहकारी कारण अनशनादि बारह प्रकारके तपसे साधा जाता है तौभी निश्चयनयसे निर्विकल्पवीतराग चारित्रहीसे आत्माकी सिद्धि है । जिस वीतरागचारित्रका शुद्धात्मामें विश्राम होना ही लक्षण है । सो विना वीतरागचारित्रके आगमज्ञानसे तथा बाह्य तपसे आत्मज्ञानकी सिद्धि नहीं है । जवतक निजशुद्धात्मतत्त्वके स्वरूपका आचरण नही है तवतक कर्मोंसे नहीं छूट सकता । यह निःसंदेह जानना जवतक परमतत्त्वको न जानें न श्रद्धा करै न अनुभवै तबतक कर्मबंधसे नहीं छूटता । इससे यह निश्चय हुआ कि कर्मबंधसे छूटनेका कारण एक आत्मज्ञान ही है । और शास्त्रका ज्ञान भी आत्मज्ञानकेलिये ही किया जाता है, जैसे दीपकसे वस्तुको देखकर वस्तुको उठा लेते हैं और दीपकको छोड़ देते हैं उसी तरह शुद्धात्मतत्त्वके उपदेश करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्र उनसे शुद्धात्मतत्त्वको जानकर उस शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहिये और शास्त्रका विकल्प छोड़ना चाहिये । शास्त्र तो दीपकके समान है तथा आत्मवस्तु रत्न समान है ॥ २०९ ॥

आगे जो शास्त्रको पढकरके भी विकल्पको नही छोड़ता और निश्चयसे शुद्धात्माको नही मानता जो कि शुद्धात्मदेव देहरूपी देवालेमें मौजूद है उसे न ध्यावता है वह मूर्ख

सत्थु इत्यादि । **सत्थु पढंतुवि** शास्त्रं पठन्नपि **होइ जडु** स जडो भवति । यःकिं करोति । **जो ण हणेइ वियप्पु** यः कर्ता शास्त्राभ्यासफलभूतस्य रागादिविकल्परहितस्य निजशुद्धात्मस्वभावस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वरागादिविकल्पं न हंति । न केवलं विकल्पं न हंति । **देहि वसंतुवि** देहे वसंतमपि **णिम्मलउ** निर्मलं कर्ममलरहितं **णवि मण्णइ** नैव मन्यते न श्रद्धत्ते । कं । **परमप्पु** निजपरमात्मानमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा त्रिगुप्त-समाधिं कृत्वा च स्वयं भावनीयं । यदा तु त्रिगुप्तिगुप्तसमाधिं कर्तुं नायाति तदा विषय-कषायवंचनार्थं शुद्धात्मभावनास्मरणदृढीकरणार्थं च वहिर्विषये व्यवहारज्ञानवृद्ध्यर्थं च परेषां कथनीयं किंतु तथापि परप्रतिपादनव्याजेन मुख्यवृत्त्या स्वकीयजीव एव संबोध-नीयः । कथमिति चेत् । इदमनुपपन्नमिदं व्याख्यानं न भवति मदीयमनसि यदि समी-चीनं न प्रतिभाति तर्हि त्वमेव स्वयं किं न भावयसीति तात्पर्यं ॥ २१० ॥

अथ बोधार्थं शास्त्रं पठन्नपि यस्य विशुद्धात्मप्रतीतिलक्षणो बोधो नास्ति स मूढो भवतीति प्रतिपादयति;—

बोहणिमित्तें सत्थु किल, लोइ पढिज्जइ इत्थु ।
तेणवि बोहु ण जासु वरु, सो किं मूढु ण तत्थु ॥ २११ ॥

बोधनिमित्तेन शास्त्रं किल लोके पठ्यते अत्र ।
तेनैव बोधो न यस्य वरः सः किं मूढो न तथ्यं ॥ २११ ॥

है ऐसा कहते हैं;—[**यः**] जो जीव [**शास्त्रं**] शास्त्रको [**पठन्नपि**] पढता हुआ भी [**विकल्पं**] विकल्पको [**न हंति**] नही दूर करता (मेंटता) वह [**जडो भवति**] मूर्ख है जो विकल्प नही मेंटता वह [**देहे**] शरीरमें [**वसंतमपि**] रहते हुए भी [**निर्मलं परमात्मानं**] निर्मल परमात्माको [**नैव मन्यते**] नही श्रद्धानमें लाता । **भावार्थ**— शास्त्रके अभ्यासका तो फल यह है कि रागादि विकल्पोंको दूर करना और निज शुद्धा-त्माको ध्यावना । इसलिये इस व्याख्यानको जानकर तीनगुप्तिमें अचल हो परम समा-धिमें आरूढ होके निजस्वरूपका ध्यान करना । लेकिन जव तक तीन गुप्ति न हों परमसमाधि न आवे (होसके) तव तक विषयकषायोंके हटानेकेलिये परजीवोंको धर्मोप-देश देना उसमें भी परके उपदेशके वहानेसे मुख्यताकर अपना जीव ही सबोधना । वो इस तरह है कि परको उपदेश देते अपनेको समझावे । जो मार्ग दूसरोंको छुड़ावै वह आप कैसे करे । इससे मुख्य सबोधन अपना ही है । परजीवोंको ऐसा ही उपदेश है जो यह वात मेरे मनमें अच्छी नहीं लगती तो तुमको भी भली नहीं लगती होगी तुम भी अपने मनमें विचार करो ॥ २१० ॥

आगे ज्ञानके लिये शास्त्रको पढते हुए भी जिसके आत्मज्ञान नहीं है वह मूर्ख है ऐसा

बोधनिमित्तेन किल शास्त्रं लोके पठ्यते अत्र तेनैव कारणेन बोधो न यस्य । कथंभूतो, वरो विशिष्टः स किं मूढो न भवति किंतु भवत्येव तथ्यमिति । तद्यथा । अत्र यद्यपि लोकव्यवहारेण कविगमकवादिवाग्मित्वादिलक्षणशास्त्रजनितो बोधो भण्यते तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशकाध्यात्मशास्त्रोत्पन्नो वीतरागस्वसंवेदनरूपः स एव बोधो ग्राह्यो न चान्यः । तेनानुबोधेन विना शास्त्रे पठितेपि मूढो भवतीति । अत्र यः कोपि परमात्मबोधजनकमल्पशास्त्रं ज्ञात्वापि वीतरागभावनां करोति स सिद्ध्यतीति । तथा चोक्तं। "वीरा वेरग्गपरा थोवंपि हु सिक्खिऊण सिज्झंति । ण हु सिज्झंति विरागेण विणा पढिदेसुवि सव्वसत्थेसु" । परं किंतु । "अक्खडा जोयंतु ठिउ अप्पि ण दिण्णउ चित्तु । कणविरहियउ पलालु जिमु पर संगहिउ बहुत्तु" । इत्यादि पाठमात्रं गृहीत्वा परेषां बहुशास्त्रज्ञानिनां दूषणा न कर्तव्या । तैर्बहुश्रुतैरप्यन्येषामल्पश्रुततपोधनानां दूषणा न कर्तव्या । कस्मादिति चेत् । दूषणे कृते सति परस्परं रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तेन ज्ञानतपश्चरणादिकं नश्यतीति भावार्थः ॥ २११ ॥

कथन करते हैं;—[अत्र लोके] इस लोकमें [किल] नियमसे [बोधनिमित्तेन] ज्ञानके निमित्त [शास्त्रं] शास्त्र [पठ्यते] पढे जाते हैं [तेनैव] परंतु शास्त्रके पढनेसे भी [यस्य] जिसको [वरः बोधः न] उत्तमज्ञान नहीं हुआ [सः] वह [किं] क्या [मूढः न] मूर्ख नहीं है [तथ्यं] ठीक मूर्ख ही है इसमें संदेह नहीं । भावार्थ—इस लोकमें यद्यपि लोकव्यवहारसे नवीन कविताका कर्ता कवि, प्राचीनकाव्योंकी टीका कर्ता गमक, जिससे वादमें कोई न जीतसके ऐसा वादित्व, और श्रोताओंके मनको अनुरागी करनेवाला शास्त्रका वक्ता होनारूप वाग्मित्व इत्यादि लक्षणोंवाला शास्त्रजनित ज्ञान होता है तौभी निश्चयनयसे वीतरागस्वसंवेदनरूप ही ज्ञान अध्यात्मशास्त्रोंमें प्रशंसा किया गया है । इसलिये स्वसंवेदन ज्ञानके विना शास्त्रके पढते हुए भी मूर्ख है । और जो कोई परमात्मज्ञानके उत्पन्न करनेवाले छोटे थोड़े शास्त्रको भी जानकर वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकी भावना करते हैं वे मुक्त होजाते हैं । ऐसा ही कथन ग्रंथोंमें हर एक जगह कहा है कि—वैराग्यमें लगे हुए जो मोह शत्रुको जीतनेवाले हैं वे थोड़े शास्त्रको ही पढकर सुधर जाते हैं मुक्त हो जाते हैं और वैराग्यके विना सब शास्त्रोंको पढते हुए भी मुक्त नहीं होते । यह निश्चय जानना परंतु यह कथन अपेक्षासे है । इस बहानेसे शास्त्र पढनेका अभ्यास नहीं छोडना, और जो विशेष शास्त्रके पाठी हैं उनको दूषण न देना ॥ जो शास्त्रके अक्षर बता रहा है और आत्मामें चित्त नहीं लगाया वह ऐसे जानना कि

---

१. वीरा वैराग्यपरा स्तोकमपि हि शिक्षयित्वा सिद्ध्यति । न खलु सिद्ध्यंति विरागेण विना पठितेष्वपि सर्वशास्त्रेषु ॥ २. अक्षराणि पश्यन् स्थित आत्मनि न दत्तं चित्तं । कणविरहित. पलालो यथा पर संगृहीतो बहुतरं ॥

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहितानां तीर्थभ्रमणेन मोक्षो न भवतीति कथयति;—

तित्थइं तित्थु भमंताहं, मूढहं मोक्खु ण होइ ।
णाणविवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइ ण सोइ ॥ २१२ ॥

तीर्थे तीर्थे भ्रमतां मूढानां मोक्षो न भवति ।
ज्ञानविवर्जितो येन जीव मुनिवरो भवति न स एव ॥ २१२ ॥

तीर्थ तीर्थे प्रति भ्रमतां मूढात्मनां मोक्षो न भवति । कस्मादिति चेत् । ज्ञानविवर्जितो येन कारणेन हे जीव मुनिवरो न भवति स एवेति । तथाहि । निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्लादस्पंदिसुंदरानंदरूपनिर्मलनीरपूरप्रवाहनिर्झरज्ञानदर्शनादिगुणसमूहचंदनादिद्रुमवनराजितं देवेन्द्रचक्रवर्तिगणधरादिभव्यजीवतीर्थयात्रिकसमूहश्रवणसुखकरदिव्यध्वनिरूपराजहंसप्रभृतिविविधपक्षिकोलाहलमनोहरं यदर्हद्वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तदेव निश्चयेन गंगादितीर्थं न लोकव्यवहारप्रसिद्धं गंगादिकं । परमनिश्चयेन तु जिनेश्वरपरमतीर्थसदृशं संसारतरणोपायकारणभूतत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिरतानां निजशुद्धात्मतत्त्वस्मरणमेव तीर्थं, व्यवहारेण तु तीर्थंकरपरमदेवादिगुणस्मरणहेतुभूतं मुख्यवृत्त्या पुण्यबंधका-

---

जैसे किसीने कण रहित बहुत भूसेका ढेर कर लिया हो ॥ वह किसी कामका नहीं है । इत्यादि पीठिकामात्र सुनकर जो विशेष शास्त्रज्ञ हैं उनकी निंदा नहीं करनी, और जो बहुश्रुत हैं उनको भी अल्पशास्त्रज्ञोंकी निंदा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि परके दोष ग्रहण करनेसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है उससे ज्ञान और तपका नाश होता है यह निश्चयसे जानना ॥ २११ ॥

आगे वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानसे रहित जीवोंको तीर्थ भ्रमण करनेसे भी मोक्ष नहीं है ऐसा कहते हैं;—[**तीर्थे तीर्थे**] तीर्थ तीर्थ प्रति [**भ्रमतां**] भ्रमण करनेवाले [**मूढानां**] मूर्खोंको [**मोक्षः**] मुक्ति [**न भवति**] नही होती [**जीव**] हे जीव [**येन**] क्योंकि जो [**ज्ञानविवर्जितः**] ज्ञान रहित है [**स एव**] वह [**मुनिवरः न भवति**] मुनीश्वर नहीं है संसारी है । मुनीश्वर तो वे ही हैं जो समस्त विकल्पजालोंसें रहित होके अपने स्वरूपमें रमें, वे ही मोक्ष पाते हैं । **भावार्थ**—निर्दोषपरमात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतरागपरम आनंदरूप निर्मलजल उसके धारण करनेवाले और ज्ञान दर्शनादिगुणोंके समूहरूपी चंदनादि वृक्षोंके वनोंसे शोभित तथा देवेंद्रचक्रवर्ति गणधरादि भव्यजीवरूपी तीर्थयात्रियोंके कानोंको सुखकारी ऐसी दिव्यध्वनिसे शोभायमान और अनेकमुनिजनरूपी राजहंसोंको आदि लेके नाना तरहके पक्षियोंके शब्दोंसे महामनोहर जो अरहंत वीतराग सर्वज्ञ वेही निश्चयसे महातीर्थ हैं, उनके समान अन्य तीरथ नहीं है । वे ही संसारके तरनेके कारण परमतीर्थ हैं । जो परमसमाधिमें लीन महामुनि हैं उनके वे ही

रणं तन्निर्वाणस्थानादिकं च तीर्थमिति । अयमत्र भावार्थः । पूर्वोक्तं निश्चयतीर्थं श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरहितानामज्ञानिनां शेषतीर्थं मुक्तिकारणं न भवतीति ॥ २१२ ॥

अथ ज्ञानिना तथैवाज्ञानिनां च यतीनामंतरं दर्शयति,—

णाणिहिं मूढहं मुणिवरहं, अंतरु होइ महंतु ।
देहु जि मिल्लइ णाणियउ, जीवहं भिण्णु मुणंतु ॥ २१३ ॥

ज्ञानिनां मूढानां मुनिवराणां अंतरं भवति महत् ।
देहमपि मुंचति ज्ञानी जीवाद्भिन्नं मन्यमानः ॥ २१३ ॥

ज्ञानिनां मूढानां च मुनिवराणां अंतरं विशेषो भवति । कथंभूतं । महत् । कस्मादिति चेत् । देहमपि मुंचति । कोसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । जीवात्मकाशाद्भिन्नं मन्यमानो जानन् इति । तथा च । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी पुत्रकलत्रादि बहिर्द्रव्यं तावद्दूरे तिष्ठतु शुद्धबुद्धैकस्वभावान् स्वशुद्धात्मस्वरूपात्मकाशात् पृथग्भूतं जानन् स्वकीयदेहमपि त्यजति । मूढात्मा पुनः स्वीकरोति इति तात्पर्यम् ॥ २१३ ॥ एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये पंचदशसूत्रैर्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन द्वितीयमंतरस्थलं समाप्तम् । तदनंतरं तस्यैव महास्थलमध्ये सूत्राष्टकपर्यंतं परिग्रहत्यागव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयमंतरस्थलं प्रारभ्यते ।

तीर्थ है निश्चयनयसे निजशुद्धात्मतत्त्वके ध्यानके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है और व्यवहारनयसे तीर्थंकरपरमदेवादिके गुणस्मरणके कारण मुख्यतासे शुभबंधके कारण ऐसे जो कैलाश सम्मेदशिखर आदि निर्वाणस्थान है वे भी व्यवहारमात्र तीर्थ कहे हैं । जो तीर्थ तीर्थ प्रति भ्रमण करै और निज तीर्थका जिसके श्रद्धान परिज्ञान आचरण नहीं है वह अज्ञानी है । उसके तीर्थ भ्रमनेसे मोक्ष नहीं होसकती ॥ २१२ ॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी यतियोंमें बहुत बडा भेद दिखलाते हैं,—[ज्ञानिनां] सम्यग्दृष्टी भावलिंगी [मूढानां] मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी [मुनिवराणां] मुनियोंमें [महत् अंतरं] बड़ा भारी भेद [भवति] है । [ज्ञानी] क्योंकि ज्ञानीमुनि तो [देहं अपि] शरीरको भी [जीवाद्भिन्नं] जीवसे जुदा [मन्यमानः] जानकर [मुंचति] छोड देते हैं अर्थात् शरीरका भी ममत्व छोड़ देते हैं तो पुत्र स्त्री आदिका क्या कहना है ये तो प्रत्यक्षसे जुदे हैं और द्रव्यलिंगी मुनि लिंग (भेष) में आत्मबुद्धिको रखता है । भावार्थ—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी महामुनी मनवचनकाय इन तीनोंसे अपनेको भिन्न जानता है द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मादिकसे जिसको ममता नहीं है, पिता माता पुत्र कलत्रादिकी तो वात अलग रहौ जो अपने आत्मस्वभावसे निजदेहको ही जुदा जानता है । जिसके पर वस्तुमें आत्मभाव नहीं है और मूढात्मा परभावोंको अपने जानता है । यही ज्ञानी और अज्ञानीमें अंतर है । परको अपना मानें वह बंधता है और न मानें वह मुक्त

तद्यथा;—

लेणहं इच्छइ मूढु पर, भुवणुवि एहु असेसु ।
बहुविहधम्ममिसेण जिय, दोहिमि एहु विसेसु ॥ २१४ ॥

लातुं इच्छति मूढः परः भुवनमपि एतत् अशेषं ।
बहुविधधर्ममिषेण जीव द्वयोः एष विशेषः ॥ २१४ ॥

लातुं गृहीतुं इच्छति । कोसौ । मूढो वहिरात्मा परः । कोर्थः, नियमेन । किं । भुवनमप्येतत्तु अशेषं समस्तं । केन कृत्वा । बहुविधधर्ममिषेण व्याजेन । हे जीव द्वयोरप्येष विशेषः । कयोर्द्वयोः । पूर्वोक्तसूत्रकथितज्ञानिजीवस्यात्रसूत्रोक्तपुनरज्ञानिजीवस्य च । तथाहि । वीतरागसहजानंदैकसुखास्वादरूपः स्वशुद्धात्मैव उपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तस्यैव परमात्मनः समस्तमिथ्यात्वरागाद्यास्रवेभ्यः पृथग्रूपेण परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, तत्रैव रागादिपरिहाररूपेण निश्चलचित्तवृत्तिः सम्यक्चारित्रं इत्येव निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं तत्त्रयात्मकमात्मानमरोचमानस्तथैवाजानन्नभावयंश्च मूढात्मा । किं करोति । समस्तं जगद्धर्मव्याजेन गृहीतुमिच्छति, पूर्वोक्तज्ञानी तु त्यक्तुमिच्छतीति भावार्थः ॥ २१४ ॥

अथ शिष्यकरणाद्यनुष्ठानेन पुस्तकाद्युपकरणेनाज्ञानी तुष्यति, ज्ञानी पुनर्बंधहेतुं जानन् सन् लज्जां करोतीति प्रकटयति;—

होता है । यह निश्चय जानना ॥ २१३ ॥ इस प्रकार इकतालीस दोहाओंके महास्थलके मध्यमें पंद्रहदोहाओंमें वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यतासे दूसरा अंतरस्थल समाप्त हुआ ।

अब परिग्रहत्यागके व्याख्यानको आठदोहाओंसे कहते हैं;—[द्वयोः] ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनोंमें [एष विशेषः] इतना ही भेद है कि [मूढः] अज्ञानीजन [बहुविधधर्ममिषेण] अनेकतरहके धर्मके बहानेसे [एतत् अशेषं] इस समस्त [भुवनं अपि] जगतको ही [परः] नियमसे [लातुं इच्छति] लेनेकी इच्छा करता है अर्थात् सब ससारके भोगोंकी इच्छा करता है तपश्चरणादिकायक्लेशसे स्वर्गादिके सुखोंको चाहता है और ज्ञानीजन कर्मोंके क्षयकेलिये तपश्चरणादि करता है भोगोंका अभिलाषी नहीं है । भावार्थ—वीतरागसहजानंद अखंडसुखका आस्वादरूप जो शुद्धात्मा वही आराधने योग्य है ऐसी जो रुचि वह सम्यग्दर्शन, समस्तमिथ्यात्वरागादि आस्रवसे भिन्नरूप उसी परमात्माका जो ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान और उसीमें निश्चलचित्तकी वृत्ति वह सम्यक्चारित्र यह निश्चयरत्नत्रयरूप जो शुद्धात्माकी रुचि जिसके नहीं ऐसा मूढजन आत्माको नहीं जानता हुआ और नहीं अनुभवताहुआ जगतके समस्तभोगोंको धर्मके बहानेसे लेना चाहता है तथा ज्ञानीजन समस्तभोगोंसे उदास है जो विद्यमान भोग थे वे सब छोड़ दिये और आगामी वाछा नहीं है ऐसा जानना ॥ २१४ ॥

चिल्लाचिल्लीपुत्थियहिं, तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिं लज्जइ णाणियउ, बंधहं हेउ मुणंतु ॥ २१५ ॥

शिष्यार्जिकापुस्तकैः तुष्यति मूढो निर्भ्रांतः ।
एतैः लज्जते ज्ञानी बंधस्य हेतुं जानन् ॥ २१५ ॥

शिष्यार्जिकादीक्षादानेन पुस्तकप्रभृत्युपकरणैश्च तुष्यति संतोषं करोति । कोसौ । मूढः । कथंभूतो । निर्भ्रांतः । एतैर्बहिर्द्रव्यैर्लज्जां करोति । कोसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन्नपि । पुण्यबंधहेतुं जानन्नपि । तथा च । पूर्वसूत्रोक्तसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं निजशुद्धात्मस्वभावमश्रद्दधानो विशिष्टभेदज्ञानेनाजानंश्च तथैव वीतरागचारित्रेणाभावयंश्च मूढात्मा । किंकरोति । पुण्यबंधकारणमपि जिनदीक्षादानादि शुभानुष्ठानं पुस्तकाद्युपकरणं वा मुक्तिकारणं मन्यते । ज्ञानी तु यद्यपि साक्षात्पुण्यबंधकारणं मन्यते परंपरया मुक्तिकारणं च तथापि निश्चयेन मुक्तिकारणं न मन्यते इति तात्पर्यं ॥ २१५ ॥

अथ चट्टपट्टकुंडिकाद्युपकरणैर्मोहमुत्पाद्य मुनिवराणां उत्पथे पात्यते इति प्रतिपादयति;—

चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं, चेल्लाचेल्लियएहिं ।
मोहु जणेविणु मुणिवरहं, उप्पहिं पाडिय तेहिं ॥ २१६ ॥

चट्टैः पट्टैः कुंडिकाभिः शिष्यार्जिकाभिः ।
मोहं जनयित्वा मुनिवराणा उत्पथे पातितास्तैः ॥ २१६ ॥

आगे शिष्योंका करना पुस्तकादिका सग्रह करना इन बातोंसे अज्ञानी प्रसन्न होता है और ज्ञानीजन इनको बंधके कारण जानता हुआ इनसे रागभाव नहीं करता इनके सग्रहमें लज्जावान् होता है;—[**मूढः**] अज्ञानीजन [**शिष्यार्जिकापुस्तकैः**] चेला चेली पुस्तकादिकसे [**तुष्यति**] हर्षित होता है [**निर्भ्रांतः**] इसमें कुछ सदेह नहीं है [**ज्ञानी**] और ज्ञानीजन [**एतैः**] इन बाह्यपदार्थोंसे [**लज्जते**] शरमाता है क्योंकि इन सवोंको [**बंधस्य हेतुं**] बंधका कारण [**जानन्**] जानता है । **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप जो निजशुद्धात्मा उसको न श्रद्धान करता न जानता और न अनुभवकरता जो मूढात्मा वह पुन्यबंधके कारण जिनदीक्षा दानादि शुभ आचरण और पुस्तकादि उपकरण उनको मुक्तिके कारण मानता है, और ज्ञानीजन इनको साक्षात् पुन्यबंधके कारण जानता है परंपराय मुक्तिके कारण मानता है । यद्यपि व्यवहारनयकर बाह्य सामग्रीको धर्मका साधन जानता है तौभी ऐसा मानता है कि निश्चयनयसे ये मुक्तिके कारण नही हैं ॥ २१५ ॥

आगे कमंडलु पीछी पुस्तकादि उपकरण और शिष्यादिका संघ ये मुनियोंको मोह

चट्टपट्टकुंडिकाद्युपकरणैः शिष्यार्जिकादिपरिवारैश्च कर्तृभूतैर्मोहं जनयित्वा । केषां । मुनिवराणां पश्चादुन्मार्गे पातिता तेस्तु तैः । तथाहि । यथा कश्चिदजीर्णभयेन विशिष्टाहारं त्यक्त्वा लंघनं कुर्वन्नास्ते पश्चादजीर्णप्रतिपक्षभूतं किमपि मिष्टौषधं गृहीत्वा जिह्वालांपट्येनौषधेनापि अजीर्णं करोत्यज्ञानी इति, न च ज्ञानीति, तथा कोपि तपोधनो विनीतवनितादिकं मोहभयेन त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा च शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनीरोगत्वप्रतिपक्षभूतमजीर्णरोगस्थानीयं मोहमुत्पाद्यात्मनः । किंकृत्वा । किमौषधस्थानीयमुपकरणादिकं गृहीत्वा । कोसावज्ञानी न तु ज्ञानीति । इदमत्र तात्पर्यं । परमोपेक्षासंयमधरेण शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतस्सर्वोपि तावत्परिग्रहस्त्याज्यः । परमोपेक्षासंयमाभावे तु वीतरागशुद्धात्मानुभूतिभावसंयमरक्षणार्थं विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोतीति । तथा चोक्तं । "रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो मुह्येद्वृथा किमिति संयमसाधनेषु । धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णं" ॥ २१६ ॥

उत्पन्न कराके खोटे मार्गमें पटक देते हैं;—[चट्टैः पट्टैः कुंडिकाभिः] पीछी कमंडलु पुस्तक और [शिष्यार्जिकाभिः] मुनि श्रावकरूप चेला, अर्जिका श्राविका इत्यादि चेली—ये संघ [मुनिवराणां] मुनिवरोंको [मोहं जनयित्वा] मोह उत्पन्न कराके [तैः] वे [उत्पथे] उन्मार्गमें (खोटेमारगमें) [पातिताः] डाल देते हैं । भावार्थ—जैसे कोई अजीर्णके भयसे मनोज्ञ आहारको छोड़कर लंघन करता है पीछे अजीर्णकी दूर करनेवाली कोई मीठी औषधिको लेकर जिह्वाका लंपटी होके मात्रासे अधिक लेके औषधिका ही अजीर्ण करता है, उसी तरह अज्ञानी कोई द्रव्यलिंगी यती विनयवान पतिव्रतास्त्री आदिको मोहके डरसे छोडकर जिनदीक्षा लेके अजीर्ण समान मोहके दूर करनेकेलिये वैराग्य धारणकरके औषधि समान जो उपकरणादि उनको ही ग्रहणकरके उन्हीका अनुरागी (प्रेमी) होता है, उनकी वृद्धिसे सुख मानता है वह औषधिका ही अजीर्ण करता है । मात्रा प्रमाण औषधि लेवे तो वह रोगको हर सकै । यदि औषधिका ही अजीर्ण करै मात्रासे अधिक लेवै तो रोग नही जाता उलटी रोगकी वृद्धि ही होती है । यह निःसंदेह जानना । इससे यह निश्चय हुआ जो परमोपेक्षासंयम अर्थात् निरविकल्प परमसमाधिरूप तीन गुप्तिमई परम शुद्धोपयोगरूप संयमके धारक हैं उनके शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत सब ही परिग्रह त्यागने योग्य है । शुद्धोपयोगिमुनियोंके कुछ भी परिग्रह नही है । और जिनके परमोपेक्षा संयम नही लेकिन व्यवहारसंयम है उनके भावसंयमकी रक्षाके निमित्त हीनसंहननके होनेपर उत्कृष्ट शक्तिके अभावसे यद्यपि तपका साधन शरीरकी रक्षाके निमित्त अन्न जलका ग्रहण होता है, उस अन्नजलके लेनेसे मल-

अथ केनापि जिनदीक्षां गृहीत्वा शिरोलुंचनं कृत्वापि सर्वसंगपरित्यागमकुर्वतात्मानं वंचितमिति निरूपयति;—

केणवि अप्पउ वंचियउ, सिरुलुंचिवि छारेण।
सयलवि संग ण परिहरिय, जिणवरलिंगधरेण ॥ २१७ ॥

केनापि आत्मा वंचितः शिरो लुंचित्वा क्षारेण।
सकला अपि संगा न परिहृताः जिनवरलिंगधरेण ॥ २१७ ॥

केनाप्यात्मा वंचितः। किंकृत्वा। शिरोलुंचनं कृत्वा। केन। भस्मना। कस्मादितिचेत्। यतः सर्वेपि संगा न परिहृताः। कथंभूतेन भूत्वा। जिनवरलिंगधारकेणेति। तद्यथा। वीतरागनिर्विकल्पनिजानंदैकरूपसुखरसास्वादपरिणतपरमात्मभावनास्वभावेन तीक्ष्णशस्त्रोपकरणेन बाह्याभ्यंतरपरिग्रहकांक्षारूपप्रभृतिसमस्तमनोरथकल्लोलमालात्यागरूपं मनोमुंडनं पूर्वमकृत्वा जिनदीक्षारूपं शिरोमुंडनं कृत्वापि केनाप्यात्मानं वंचितं। कस्मात्। सर्वसंगपरित्यागाभावादिति। अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानंदपरिग्रहं

मूत्रादिकी बाधा भी होती है इसलिये शौचका उपकरण कमंडलु और संयमोपकरण पीछी और ज्ञानोपकरण पुस्तक इनको ग्रहण करते हैं तौभी इनमें ममता नहीं है प्रयोजनमात्र प्रथम अवस्थामें धारते हैं। ऐसा दूसरी जगह "रम्येषु" इत्यादिसे कहा है कि, मनोज्ञ स्त्री आदिक वस्तुओंमें जिसने मोह छोड दिया है ऐसा महामुनि सयमके साधन पुस्तक पीछी कमंडल आदि उपकरणोंमें वृथा मोहको कैसे कर सकता है कभी नही करसकता। जैसे कोई बुद्धिमान पुरुष रोगके भयसे अजीर्णको दूर करना चाहे और अजीर्णके दूर करनेके लिये औषधिका सेवन करे तो क्या मात्रासे अधिक ले सकता है ऐसा कभी नहीं, मात्राप्रमाण ही लेगा ॥ २१६ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जिसने जिनदीक्षा धरके केशोंका लोंच किया और सकल परिग्रहका त्याग नही किया उसने अपना आत्मा ही वंचित किया;—[**केनापि**] जिसकिसीने [**जिनवरलिंगधरेण**] जिनवरका भेष धारण करके [**क्षारेण**] भस्मसे [**शिरः**] शिरके केश [**लुंचित्वा**] लौच किये (उखाड़े) लेकिन [**सकला अपि संगाः**] सब परिग्रह [**न परिहृताः**] नही छोड़े उसने [**आत्मा**] अपना आत्मा [**वंचितः**] ठगलिया। **भावार्थ**—वीतरागनिर्विकल्पनिजानंद अखडरूप सुखरसका जो आस्वाद उसरूप परिणमी जो परमात्माकी भावना वही हुआ तीक्ष्ण शस्त्र उससे बाहिरके और अंतरके परिग्रहोंकी वांच्छा आदि ले समस्त मनोरथ उनकी कल्लोलमालाओंका त्यागरूप मनका मुंडन वह तो नही किया और जिनदीक्षारूप शिरोमुंडनकर भेष रखा सब परिग्रहका त्याग नही किया उसने अपना आत्मा ठगा। ऐसा कथन समझकर

कृत्वा तु जगत्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च दृष्टश्रुतानुभूतनिःपरिग्रहशुद्धात्मानुभूतिविपरीतपरिग्रहकांक्षां त्यजेत्यभिप्रायः ॥ २१७ ॥

अथ ये सर्वसंगपरित्यागरूपं जिनलिंगं गृहीत्वापीष्टपरिग्रहान् गृहंति ते छर्दिं कृत्वा पुनरपि गिलंति तामिति प्रतिपादयति,—

जे जिणलिंगु धरेवि मुणि, इट्ठपरिग्गह लिंति ।
छद्दि करेविणु ते जि जिय, सा पुणु छद्दि गिलंति ॥ २१८ ॥

ये जिनलिंगं धृत्वापि मुनय इष्टपरिग्रहान् लांति ।
छर्दिं कृत्वा ते एव जीव तां पुनः छर्दिं गिलंति ॥ २१८ ॥

ये केचन जिनलिंगं गृहीत्वापि मुनयस्तपोधना इष्टपरिग्रहान् लांति गृहंति । ते किं कुर्वंति । छर्दिं कृत्वा त एव हे जीव तां पुनश्छर्दिं गिलंतीति । तथापि गृहस्थापेक्षया चेतनपरिग्रहः पुत्रकलत्रादिः, सुवर्णादिः पुनरचेतनः, साभरणवनितादि पुनर्मिश्रः । तपोधनापेक्षया छात्रादिः सचित्तः पिच्छकमंडलादिः पुनरचित्तः उपकरणसहितछात्रादिस्तु मिश्रः । अथवा मिथ्यात्वरागादिरूपः सचित्तः द्रव्यकर्मनोकर्मरूपः पुनरचित्तः द्रव्यकर्मभावकर्मरूपस्तु मिश्रः । वीतरागत्रिगुप्तसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सिद्धरूपः सचित्तः पुद्गलादिपंचद्रव्यरूपः पुनरचित्तः गुणस्थानमार्गणास्थानजीवस्थानादिपरिणतः संसारी जीवस्तु मिश्रश्चेति ।

निजशुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनंदस्वरूपको अंगीकार करके तीनों काल तीनों लोकमें मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनाकर देखे सुने अनुभवे जो परिग्रह उनकी वांछा सर्वथा त्यागनी चाहिये । ये परिग्रह शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत हैं ॥ २१७ ॥

आगे जो सर्व संगके त्यागरूप जिनमुद्राको ग्रहणकर फिर परिग्रहको धारण करता है वह वमनकरके पीछे निगलता है ऐसा कथन करते हैं;—[**ये**] जो [**मुनयः**] मुनि [**जिनलिंगं**] जिनलिंगको [**धृत्वापि**] ग्रहणकर [**इष्टपरिग्रहान्**] फिरभी इच्छित परिग्रहोंको [**लांति**] ग्रहण करते हैं [**जीव**] हे जीव [**ते एव**] वे ही [**छर्दिं कृत्वा**] वमन करके [**पुनः**] फिर [**तां छर्दिं**] उस वमनको पीछे [**गिलंति**] निगलते हैं । **भावार्थ**—परिग्रहके तीन भेदोंमें गृहस्थकी अपेक्षा चेतन परिग्रह पुत्र कलत्रादि, अचेतन परिग्रह आभरणादि और मिश्र परिग्रह आभरण सहित स्त्री पुत्रादि; साधुकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह शिष्यादि, अचित्त परिग्रह पीछी कमंडलु पुस्तकादि और मिश्र परिग्रह पीछी कमंडलु पुस्तकादि सहित शिष्यादि अथवा साधुके भावोंकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह मिथ्यात्वरागादि, अचित्त परिग्रह द्रव्यकर्म नोकर्म और मिश्रपरिग्रह द्रव्यकर्म भावकर्म दोनों मिले हुए । अथवा वीतराग त्रिगुप्तिमें लीन ध्यानी पुरुषकी अपेक्षा सचित्त-

एवंविधबाह्याभ्यंतरपरिग्रहरहितं जिनलिंगं गृहीत्वापि ये शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणमिष्टपरिग्रहं गृह्णंति ते छर्दिताहारग्राहकपुरुषसदृशा भवंतीति भावार्थः। तथा चोक्तं । "त्यक्त्वा स्वकीय-पितृमित्रकलत्रपुत्रान् सक्तोन्यगेहवनितादिषु निर्मुमुक्षुः । दोर्भ्यां पयोनिधिसमुद्गतनक्रचक्रं प्रोत्तीर्य गोष्पदजलेषु निमग्नवान् सः" ॥ २१८ ॥

अथ ये ख्यातिपूजालाभनिमित्तं शुद्धात्मानं त्यजंति ते लोहकीलनिमित्तं देवं देवकुलं च दहंतीति कथयति,—

लाहहं कित्तिहि कारणिण, जे सिवसंगु चयंति ।
खीलालग्गिवि तेवि मुणि, देउलु देउ डहंति ॥ २१९ ॥

लाभस्य कीर्तेः कारणेन ये शिवसंगं त्यजंति ।
कीलानिमित्तं तेपि मुनयः देवकुलं देवं दहंति ॥ २१९ ॥

लाभकीर्तिकारणेन ये केचन शिवसंगं शिवशब्दवाच्यं निजपरमात्मध्यानं त्यजंति ते मुनयस्तपोधनाः । किं कुर्वंति । लोहकीलकाप्रायं निःसारेन्द्रियसुखनिमित्तं देवशब्दवाच्यं निजपरमात्मपदार्थं दहंति देवकुलशब्दवाच्यं दिव्यपरमौदारिकशरीरं च दहंतीति ।

परिग्रह सिद्धपरमेष्ठीका ध्यान, अचित्त परिग्रह पुद्गलादि पांच द्रव्यका विचार और मिश्रपरिग्रह गुणस्थान मार्गणास्थान जीवसमासादिरूप संसारी जीवका विचार । इस तरह बाहिरके और अंतरके परिग्रहसे रहित जो जिनलिंग उसे ग्रहण कर जो अज्ञानी शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत परिग्रहको ग्रहण करते हैं वे वमन करके पीछे आहार करनेवालोंके समान निंदाके योग्य होते हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि जो जीव अपने माता पिता पुत्र मित्र कलत्र—इनको छोड़कर परके घर और पुत्रादिकमें मोह करते हैं अर्थात् अपना परिवार छोड़कर शिष्यसाखाओंमें राग करते हैं वे भुजाओंसे समुद्रको तैरके गायके खोदे जलमें डूबते हैं । कैसा है समुद्र , जिसमें जलचरोंके समूह प्रगट हैं ऐसे अथाह समुद्रको तो बाहोंसे तिर जाता है लेकिन गायके खोजके जलमें डूबता है । यह बड़ा अचंभा है । घरका ही संबंध छोडदिया तो पराये पुत्रोंसे क्या राग करना ? नही करना ॥ २१८ ॥

आगे जो अपनी प्रसिद्धि (बडाई) प्रतिष्ठा और पर वस्तुका लाभ इन तीनोंकेलिये आत्मध्यानको छोडते हैं वे लोहके कीलेकेलिये देव तथा देवालयको जलाते हैं;—[ये] जो कोई [**लाभस्य**] लाभ [**कीर्तेः कारणेन**] और कीर्तिके कारण [**शिवसंगं**] परमात्माके ध्यानको [**त्यजंति**] छोड़ देते हैं [**ते अपि मुनयः**] वे ही मुनि [**कीलानिमित्तं**] लोहेके कीलेकेलिये अर्थात् कीलेके समान असार इंद्रियसुखके निमित्त [**देवकुलं**] मुनिपद योग्य शरीररूपी देवस्थानको तथा [**देवं**] आत्मदेवको [**दहंति**]

कथमिति चेत् । यदा ख्यातिपूजालाभार्थं शुद्धात्मभावनां त्यक्त्वा वर्तते तदा ज्ञानावरणादिकर्मबंधो भवति तेन ज्ञानावरणकर्मणा केवलज्ञानं प्रच्छाद्यते केवलदर्शनावरणेन केवलदर्शनं प्रच्छाद्यते वीर्यांतरायेण केवलवीर्यं प्रच्छाद्यते मोहोदयेनानंतसुखं च प्रच्छाद्यत इति । एवंविधानंतचतुष्टयस्यालाभे परमौदारिकशरीरं च न लभंत इति । यदि पुनरनेकभवे परिच्छेद्यं कृत्वा शुद्धात्मभावनां करोति तदा संसारस्थितिं छित्वाऽल्पकालेपि स्वर्गं गत्वागत्य शीघ्रं शास्वतसुखं प्राप्नोतीति तात्पर्यं । तथा चोक्तं । "सग्गो तवेण सव्वो वि पावए किं तु झाणजोएण । जो पावइ सो पावइ परभवे सासयं सोक्खं" ॥ २१९ ॥

अथ यो बाह्याभ्यंतरपरिग्रहेणात्मानं महांतं मन्यते स परमार्थं न जानातीति दर्शयति;—

अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि, गरुयउ गंथहि तत्थु ।
सो परमत्थें जिणु भणइ, णवि बुज्झइ परमत्थु ॥ २२० ॥

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः गुरुकं ग्रंथैः तथ्यं ।
स परमार्थेन जिनो भणति नैव बुध्यते परमार्थं ॥ २२० ॥

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः । कथंभूतं मन्यते । गुरुकं महांतं । कैः । ग्रंथैर्बाह्याभ्यंतर-

---

भवकी आतापसे भस्म कर देते हैं । **भावार्थ**—जिस समय ख्याति पूजा लाभके अर्थ शुद्धात्माकी भावनाको छोडकर अज्ञानभावोंमें प्रवर्त होते हैं उस समय ज्ञानावरणादि कर्मोंका बंध होता है । उस ज्ञानावरणादिके बंधसे ज्ञानादि गुणका आवरण होता है । केवल ज्ञानावरणसे केवल ज्ञान ढका जाता है, मोहके उदयसे अनंतसुख, वीर्यांतरायके उदयसे अनंतबल और केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन आच्छादित होता है । इस प्रकार अनंत चतुष्टयका आवरण होरहा है । उस अनंत चतुष्टयके अलाभमें परमौदारिक शरीरको नही पाता क्योंकि जो उसी भवमें मोक्ष जाता है उसीके परमौदारिक शरीर होता है । इसलिये जो कोई सम भावमें शुद्धात्माकी भावना करे तो अभी स्वर्गमें जाकर पीछे विदेहोंमें मनुष्य होकर मोक्ष पाता है । ऐसा ही कथन दूसरी जगह शास्त्रोंमें लिखा है कि तपसे स्वर्ग तो सभी पाते हैं परंतु जो कोई ध्यानके योगसे स्वर्ग पाता है वह परभवमें सासते (अविनाशी) सुखको (मोक्षको) पाता है । अर्थात् स्वर्गसे आकर मनुष्य होके मोक्ष पाता है उसीका स्वर्ग पाना सफल है और जो कोरे (अकेले) तपसे स्वर्ग पाके फिर संसारमें भ्रमता है उसका स्वर्ग पाना वृथा है ॥ २१९ ॥

आगे जो बाह्य अभ्यंतर परिग्रहसे अपनेको महंत मानता है वह परमार्थको नही जानता ऐसा दिखलाते हैं;—[य एव] जो [मुनिः] मुनि [ग्रंथैः] बाह्य परिग्रहसे [आत्मानं] अपनेको [गुरुकं] महंत (बड़ा) [मन्यते] मानता है अर्थात् परिग्र-

---

१ स्वर्गस्तपसा सर्वोपि प्राप्नोति किंतु ध्यानयोगेन । यः प्राप्नोति स प्राप्नोति परभवे शाश्वतं सौख्यं ॥

परिग्रहैस्तथ्यं सत्यं स पुरुषः परमार्थेन वस्तुवृत्त्या नैव बुध्यते परमार्थमिति जिनो वदति । तथाहि । निर्दोषिपरमात्मविलक्षणैः पूर्वसूत्रोक्तसचित्ताचित्तमिश्रपरिग्रहैर्ग्रंथरचनारूपशब्दशास्त्रैर्वा आत्मानं महांतं मन्यते यः स परमार्थशब्दवाच्यं वीतरागपरमानंदैकस्वभावं परमात्मानं न जानातीति तात्पर्यं ॥ २२० ॥

ग्रंथेनात्मानं महांतं मन्यमानः सन् परमार्थं कस्मान्न जानातीति चेत्;—

बुज्झंतह परमत्थु जिय, गुरु लहु अत्थि ण कोइ ।
जीवा सयलवि बंभु परु, जेण वियाणइं सोइ ॥ २२१ ॥

बुध्यमानानां परमार्थं जीव गुरुः लघुः अस्ति न कोपि ।
जीवाः सकला अपि ब्रह्म परं येन विजानाति सोपि ॥ २२१ ॥

बुध्यमानानां । कं । परमार्थं हे जीव गुरुत्वं लघुत्वं वा नास्ति । कस्मान्नास्ति । जीवाः सर्वेपि परमब्रह्मस्वरूपाः । तदपि कस्मात् । येन कारणेन ब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा केवलज्ञानेन सर्वं जानाति यथा तथा निश्चयनयेन सोप्येको विवक्षितो जीवः संसारी सर्वं जानातीत्यभिप्रायः ॥ २२१ ॥ एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परिग्रहपरित्यागव्याख्या-

---

हसे ही गौरव जानता है [तथ्यं] निश्चयसे [सः] वही पुरुष [परमार्थेन] वास्तवमें [परमार्थं] परमार्थको [नैव बुध्यते] नहीं जानता [जिनः भणति] ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं । भावार्थ—निर्दोषि परमात्मासे परान्मुख जो पूर्वसूत्रमें कहे गये सचित्त अचित्त मिश्र परिग्रह हैं उनसे अपनेको महंत मानता है जो मैं बहुत पढा हूं । ऐसा जिसके अभिमान है वह परमार्थ यानी वीतरागपरमानंदस्वभाव निज आत्माको नहीं जानता । आत्मज्ञानसे रहित है यह निःसंदेह जानो ॥ २२० ॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि जो ग्रंथसे अपनेको महंत मानता है वह परमार्थको क्यों नहीं जानता? इसका समाधान आचार्य कहते हैं;—[हे जीव] हे जीव [परमार्थं] परमार्थको [बुध्यमानानां] समझनेवालोंके [कोपि] कोई जीव [गुरुः लघुः] बडा छोटा [न अस्ति] नही है [सकला अपि] सभी [जीवाः] जीव [परब्रह्म] परम ब्रह्मस्वरूप हैं [येन] क्योंकि निश्चयनयसे [सोपि] वह सम्यग्दृष्टि एक भी जीव [विजानाति] सबको जानता है । भावार्थ—जो परमार्थको नही जानता वह परिग्रहसे तो गुरुता समझता है और परिग्रहके न होनेसे लघुपना जानता है यही भूल है । यद्यपि गुरुता लघुता कर्मके आवरणसे जीवोंमें पायी जाती है तौभी शुद्धनयसे सब समान हैं, तथा ब्रह्म अर्थात् सिद्धपरमेष्ठी केवलज्ञानसे सबको जानते हैं सबको देखते हैं उसीप्रकार निश्चयनयसे सम्यग्दृष्टी सब जीवोंको शुद्धरूप ही देखता है ॥ २२१ ॥ इस तरह इकतालीस दोहाओंके महास्थलमें परिग्रह त्यागके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहा-

नमुख्यतया सूत्राष्टकेन तृतीयमंतरस्थलं समाप्तं । अथ ऊर्ध्वं त्रयोदशसूत्रपर्यंतं शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिगुणैः समानास्तेन कारणेन षोडशवर्णिकासुवर्णवद्भेदो नास्तीति प्रतिपादयति ।

तद्यथा;—

जो भत्तउ रयणत्तयहं, तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अत्थउ कहिवि कुडिल्लियइं, सो तसु करइ ण भेउ ॥ २२२ ॥

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं इदं ।
तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां स तस्य करोति न भेदं ॥ २२२ ॥

जो इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **जो** यः **भत्तउ** भक्तः । कस्य । **रयणत्तयहं** रत्नत्रयस्य **तसु** तस्य पुरुषस्य **मुणि** मन्यस्व जानीहि । किं । **लक्खणु एउ** लक्षणं इदं प्रत्यक्षीभूतं । इदं किं । **अत्थउ कहिवि कुडिल्लियइ** तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां शरीरे **सो तसु करइ ण भेउ** स ज्ञानी तस्य जीवस्य देहभेदेन भेदं न करोति । तथाहि । योसौ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी निश्चयस्य निश्चयरत्नत्रयलक्षणपरमात्मनो वा भक्तः तस्येदं लक्षणं जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । कापि देहे तिष्ठतु जीवस्तथापि शुद्धनिश्चयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणैर्भेदं न करोतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् जीवानां यदि

ओंका तीसरा अंतरस्थल पूर्ण हुआ । आगे तेरह दोहाओंतक शुद्धनिश्चयनयसे सब जीव केवलज्ञानादिगुणसे समान हैं इसलिये सोलह वान (ताव) के सुवर्णकी तरह भेद नहीं है सब जीव समान हैं ऐसा निश्चय करते हैं ।

वह ऐसे है;—[**यः**] जो मुनि [**रत्नत्रयस्य**] रत्नत्रयकी [**भक्तः**] आराधना (सेवा) करनेवाला है [**तस्य**] उसके [**इदं लक्षणं**] यह लक्षण [**मन्यस्व**] जानना कि [**कस्यामपि कुड्यां**] किसी शरीरमें जीव [**तिष्ठतु**] रहे [**सः**] वह ज्ञानी [**तस्य भेदं**] उस जीवका भेद [**न करोति**] नही करता अर्थात् देहके भेदसे गुरुता लघुताका भेद करता है परंतु ज्ञानदृष्टिसे सबको समान देखता है । **भावार्थ**—वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी निश्चयरत्नत्रयका आराधकका ये लक्षण हे प्रभाकरभट्ट तू निःसंदेह जान, जो किसी शरीरमें कर्मके उदयसे जीव रहे परंतु निश्चयसे शुद्ध बुद्ध (ज्ञानी) ही है । जैसे सोनेमें वानभेद है वैसे जीवोंमें वानभेद नही है केवलज्ञानादि अनंतगुणोंसे सब जीव समान हैं । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया । हे भगवन् जो जीवोंमें देहके भेदसे भेद नही हैं सब समान हैं तब जो वेदाती एक ही आत्मा मानते हैं उनको क्यों दोष देते हो । तब श्रीगुरु उसका समाधान करते हैं कि शुद्धसंग्रहनयसे सेना एक ही कही जाती है लेकिन सेनामें अनेक हैं तौभी ऐसे कहते हैं कि सेना आई सेना गई, उसी

देहभेदेन भेदो नास्ति तर्हि यथा केचन वदंत्येक एव जीवस्तन्मतमायातं । भगवानाह । शुद्धसंग्रहनयेन सेनावनादिवज्जात्यपेक्षया भेदो नास्ति व्यवहारनयेन पुनर्व्यक्त्यपेक्षया वने भिन्नभिन्नवृक्षवत् सेनायां भिन्नभिन्नहस्त्यश्वादिवद्भेदोऽस्तीति भावार्थः ॥ २२२ ॥

अथ त्रिभुवनस्थजीवानां मूढा भेदं कुर्वंति ज्ञानिनस्तु भिन्नभिन्नसुवर्णानां षोडशवर्णिकैकत्ववत्केवलज्ञानलक्षणेनैकत्वं जानंतीति दर्शयति,—

जीवहं तिहुयण संठियहं, मूढा भेउ करंति ।
केवलणाणिं णाणि फुडु, सयलुवि एक्कु मुणंति ॥ २२३ ॥

जीवानां त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वंति ।
केवलज्ञानेन ज्ञानिनः स्फुटं सकलमपि एकं मन्यंते ॥ २२३ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं तिहुयण संठियहं** श्वेतकृष्णरक्तादिभिन्नभिन्नवस्त्रैर्वेष्टितानां षोडशवर्णिकानां भिन्नभिन्नसुवर्णानां यथा व्यवहारेण वस्त्रवेष्टनभेदेन भेदः तथा त्रिभुवनसंस्थितानां जीवानां व्यवहारेण भेदं दृष्ट्वा निश्चयनयेनापि **मूढा भेउ करंति** मूढात्मानो भेदं कुर्वंति । **केवलणाणिं** वीतरागसदानंदैकसुखाविनाभूतकेवलज्ञानेन **णाणि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः **फुडु** स्फुटं निश्चितं **सयलुवि** समस्तमपि जीवराशिं **इक्कु मुणंति** संग्रहनयेन समुदायं प्रत्येकं मन्यंत इति अभिप्रायः ॥ २२३ ॥

प्रकार जातिकी अपेक्षासे जीवोंमें भेद नहीं है सब एक जाति हैं और व्यवहारनयसे व्यक्तिकी अपेक्षा भिन्न भिन्न है अनंत जीव हैं एक नहीं है । जैसे वन एक कहा जाता है और वृक्ष जुदे २ हैं उसी तरह जातिसे जीवोंमें एकता है लेकिन द्रव्य जुदे २ हैं तथा जैसे सेना एक है परंतु हाथी घोड़े रथ सुभट अनेक है उसी तरह जीवोंमें जानना ॥ २२२ ॥

आगे तीन लोकमें रहनेवाले जीवोंका अज्ञानी भेद करते हैं सबको समान नहीं जानते और ज्ञानीजन केवलज्ञानलक्षणसे सबको समान जानते हैं । जीवपनेसे कोई कम बढ नहीं है कर्मके उदयसे शरीर भेद है परंतु द्रव्यकर सब समान हैं । जैसे सोनेमें वानभेद है वैसे ही परके संयोगसे भेद माल्म होता है तौभी सुवर्णपनेसे सब समान है ऐसा दिखलाते है;—[**त्रिभुवनसंस्थितानां**] तीन भुवनमें रहनेवाले [**जीवानां**] जीवोंका [**मूढाः**] मूर्ख ही [**भेदं**] भेद [**कुर्वंति**] करते है और [**ज्ञानिनः**] ज्ञानी जीव [**केवलज्ञानेन**] केवलज्ञानसे [**स्फुटं**] प्रगट [**सकलमपि**] सब जीवोंको [**एकं मन्यंते**] समान जानते है । **भावार्थ**—व्यवहारनयकर सोलहवानके सुवर्ण भिन्न २ वस्त्रमें लपेटें तो वस्त्रके भेदसे भेद है परंतु सुवर्णपनेसे भेद नहीं है, उसी प्रकार तीन लोकमें तिष्ठे हुए जीवोंका व्यवहारनयसे शरीरके भेदसे भेद है परंतु जीवपनेसे भेद नहीं

अथ केवलज्ञानादिलक्षणेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वे जीवाः समाना इति कथयति;—

जीवा सयलवि णाणमय, जम्मणमरणविमुक्क ।
जीवपएसहिँ सयल सम, सयलवि सगुणहिँ एक ॥ २२४ ॥

जीवाः सकला अपि ज्ञानमया जन्ममरणविमुक्ताः ।
जीवप्रदेशैः सकलाः समाः सकला अपि स्वगुणैरेके ॥ २२४ ॥

जीवा इत्यादि । **जीवा सयलवि णाणमय** व्यवहारेण लोकालोकप्रकाशकं निश्चयेन स्वशुद्धात्मग्राहकं यत्केवलज्ञानं तज्ज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण केवलज्ञानावरणेन झंपितं तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन तदावरणाभावात् पूर्वोक्तलक्षणकेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात्सर्वेपि जीवा ज्ञानमयाः **जम्मणमरणविमुक्क** व्यवहारनयेन यद्यपि जन्ममरणसहितास्तथापि निश्चयेन वीतरागनिजानंदैकरूपसुखामृतमयत्वादनाद्यनिधनत्वाच्च शुद्धात्मस्वरूपाद्विलक्षणस्य जन्ममरणनिर्वर्तकस्य कर्मण उदयाभावाज्जन्ममरणविमुक्ताः । **जीवपएसहिँ सयल सम** यद्यपि संसारावस्थायां व्यवहारेणोपसंहारविस्तारयुक्तत्वाद्देहमात्रा मुक्तावस्थायां तु किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणास्तथापि निश्चयनयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वहानिवृद्ध्यभावात् स्वकीयस्वकीयजीवप्रदेशैः सर्वे समानाः । **सयलवि सगुणहिँ एक्क** यद्यपि व्यवहारेणाव्याबाधानंतसुखादिगुणाः संसारावस्थायां कर्मझंपितास्तिष्ठंति तथापि निश्चयेन कर्मो-

---

है । देहका भेद देखकर मूढ जीव भेद मानते हैं और वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी जीवपनेसे सब जीवोंको समान मानता है । सभी जीव केवल ज्ञान वेलिके कंद सुख पंक्ति हैं कोई कम बढ नहीं है ॥ २२३ ॥

आगे केवलज्ञानादि लक्षणसे शुद्धसंग्रहनयकर सब जीव एक हैं ऐसा कहते हैं;— [**सकला अपि**] सभी [**जीवाः**] जीव [**ज्ञानमयाः**] ज्ञानमई हैं और [**जन्ममरणविमुक्ताः**] जन्ममरणसे रहित हैं [**जीवप्रदेशैः**] अपने २ प्रदेशोंसे [**सकलाः समाः**] सब समान हैं [**अपि**] और [**सकलाः**] सब जीव [**स्वगुणैः एके**] अपने केवलज्ञानादि गुणोंसे समान हैं । **भावार्थ**—व्यवहारसे लोक अलोकका प्रकाशक और निश्चयनयसे निजशुद्धात्मद्रव्यका ग्रहण करनेवाला जो केवलज्ञान वह यद्यपि व्यवहारनयसे केवलज्ञानावरणकर्मसे ढंका हुआ है तौभी शुद्ध निश्चयसे केवलज्ञानावरणका अभाव होनेसे केवलज्ञानस्वभावसे सभी जीव केवलज्ञानमई हैं । यद्यपि व्यवहारनयकर सब संसारी जीव जन्ममरण सहित हैं तौभी निश्चयनयकर वीतराग निजानंदरूप अतींद्रिय सुखमई हैं जिनकी आदि भी नहीं और अंत भी नहीं ऐसे हैं, शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत जन्ममरणके उत्पन्न करनेवाले जे कर्म उनके उदयके अभावसे जन्ममरणरहित हैं । यद्यपि संसार अवस्थामें व्यवहारनयकर प्रदेशोंका संकोचविस्तारको धारण करते हुए देह प्रमाण हैं

भावात्सर्वेपि स्वगुणैरेकप्रमाणा इति । अत्र यदुक्तं शुद्धात्मनः स्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यं ॥ २२४ ॥

अथ जीवानां ज्ञानदर्शनलक्षणं प्रतिपादयति,—

जीवहं लक्खणु जिणवरहिं, भासिउ दंसणु णाणु ।
तेण ण किज्जइ भेउ तहं, जइ मणि जाउ विहाणु ॥ २२५ ॥

जीवानां लक्षणं जिनवरैः भाषितं दर्शनं ज्ञानं ।
तेन न क्रियते भेदः तेषां यदि मनसि जातो विभातः ॥ २२५ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं लक्खणु जिणवरहिं भासिउ दंसणु णाणु** यद्यपि व्यवहारेण संसारावस्थायां मत्यादि ज्ञानं चक्षुरादि दर्शनं जीवानां लक्षणं भवति तथापि निश्चयेन केवलदर्शनं केवलज्ञानं च लक्षणं भाषितं । कैः । जिनवरैः । **तेण ण किज्जइ भेउ तहं** तेन कारणेन व्यवहारेण देहभेदेपि केवलज्ञानदर्शनरूपनिश्चयलक्षणेन तेषां न क्रियते भेदः । यदि किं । **जइ मणि जाउ विहाणु** यदि चेन्मनसि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानादित्योदयेन जातः । कोसौ । प्रभातसमय इति । अत्र यद्यपि षोडशवर्णिकालक्षणं बहूनां सुवर्णानां मध्ये समानं तथाप्येकस्मिन् सुवर्णे गृहीते शेषसुवर्णानि सहैव नायांति । कस्मात् । भिन्नभिन्नप्रदेशत्वात् । तथा यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षणं समानं सर्वजीवानां तथाप्येकस्मिन् विवक्षितजीवे पृथक्कृते शेषजीवाः सहैव नायांति । कस्मात् । भिन्नप्रदे-

---

और मुक्त अवस्थामें चरम (अंतिम) शरीरसे कुछ कम देह प्रमाण हैं तौभी निश्चयनयकर लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं हानि वृद्धि न होनेसे अपने प्रदेशोंकर सब समान हैं। और यद्यपि व्यवहारनयसे संसारअवस्थामें इन जीवोंके अव्याबाध अनंत सुखादिगुण कर्मोंसे ढके हुए हैं तौभी निश्चयनयकर कर्मके अभावसे सभी जीव गुणोंकर समान हैं। ऐसा जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है वही ध्यान करने योग्य है ॥ २२४ ॥

आगे जीवोंका ज्ञान-दर्शन लक्षण कहते है,—[**जीवानां लक्षणं**] जीवोंका लक्षण [**जिनवरैः**] जिनेंद्रदेवने [**दर्शनं ज्ञानं**] दर्शन और ज्ञान [**भाषितं**] कहा है [**तेन**] इसलिये [**तेषां**] उन जीवोंमें [**भेदः**] भेद [**न क्रियते**] मत कर [**यदि**] अगर [**मनसि**] तेरे मनमें [**विभातः जातः**] ज्ञानरूपसूर्यका उदय होगया है अर्थात् हे शिष्य तू सबको समान जान। भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे संसार-अवस्थामें मत्यादि ज्ञान और चक्षुरादि दर्शन जीवके लक्षण कहे हैं तौभी निश्चयनयकर केवल दर्शन केवलज्ञान येही लक्षण हैं ऐसा जिनेंद्रदेवने वर्णन किया है। इसलिये व्यवहारनयकर देहभेदसे भी भेद नहीं है, केवलज्ञानदर्शनरूप निजलक्षणकर सब समान है कोई भी बड़ा छोटा नहीं है। जो तेरे मनमें वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप

शत्वात् । तेन कारणेन ज्ञायते यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षणं समानं तथापि प्रदेशभेदोस्तीति भावार्थः ॥ २२५ ॥

अथ शुद्धात्मनां जीवजातिरूपेणैकत्वं दर्शयति,—

बंभहं भुवणि वसंताहं, जे णवि भेउ करंति ।
ते परमप्पपयासयर, जोइय विमलु मुणंति ॥ २२६ ॥

ब्रह्मणः भुवने वसतः ये नैव भेदं कुर्वंति ।
ते परमात्मप्रकाशकराः योगिन् विमलं मन्यंते ॥ २२६ ॥

बंभहं इत्यादि । **बंभहं** ब्रह्मणः शुद्धात्मनः । किं कुर्वतः । **भुवणि वसंताहं** भुवने त्रिभुवने वसतः तिष्ठतः **जे णवि भेउ करंति** ये नैव भेदं कुर्वंति । केन । शुद्धसंग्रहनयेन **ते परमप्पपयासयर** ते ज्ञानिनः परमात्मस्वरूपस्य प्रकाशकाः संतः **जोइय** हे योगिन् अथवा बहुवचनेन हे योगिनः । किं कुर्वंति । **विमलु मुणंति** विमलं संशयादिरहितं शुद्धात्मस्वरूपं मन्यंते जानंतीति । तद्यथा । यद्यपि जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वं भण्यते तथापि व्यक्त्यपेक्षया प्रदेशभेदेन भिन्नत्वं नगरस्थ गृहादिपुरुषादिभेदवत् । कश्चिदाह । यथैकोपि चंद्रमा बहुजलघटेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यते तथैकोपि जीवो बहुशरीरेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यत इति । परिहारमाह । बहुषु जलघटेषु चंद्रकिरणोपाधिवशेन जलपुद्गला एव चंद्रा-

---

सूर्यका उदय हुआ है और मोहनिद्राके अभावसे आत्मबोधरूप प्रभात हुआ है तो तू सबोंको समान देख । जैसे यद्यपि सोलहवानीके सोने सब समान वृत्त हैं तौभी उन सुवर्णराशियोंमेंसे एक सुवर्णको ग्रहण किया तो उसके ग्रहणकरनेसे सब सुवर्ण साथ नहीं आते क्योंकि सबके प्रदेश भिन्न है, उसी प्रकार यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षण सब जीव समान है तौभी एक जीवका ग्रहण करनेसे सबका ग्रहण नही होता । क्योंकि प्रदेश सबके भिन्न २ है । इससे यह निश्चय हुआ कि यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षणसे सब जीव समान है तौभी प्रदेश सबके जुदे २ है यह तात्पर्य जानना ॥ २२५ ॥

आगे जातिके कथनसे सब जीवोंकी एक जाति है परंतु द्रव्य अनंत है ऐसा दिखलाते हैं;—[**भुवने**] इस लोकमें [**वसतः**] रहनेवाले [**ब्रह्मणः**] जीवोंका [**भेदं**] भेद [**ये**] जो [**नैव**] नहीं [**कुर्वंति**] करते हैं [**ते**] वे [**परमात्मप्रकाशकराः**] परमात्माके प्रकाशकरनेवाले [**योगिन्**] हे योगी [**विमलं**] अपने निर्मल आत्माको [**मन्यंते**] जानते है । इसमें संदेह नहीं है । **भावार्थ**—यद्यपि जीवराशिकी अपेक्षा जीवोंकी एकता है तौभी प्रदेशभेदसे प्रगटरूप सब जुदे २ है । जैसे वृक्षजातिकर वृक्षोंका एकपना है तौभी सब वृक्ष जुदे २ है और पहाड़जातिसे सब पहाडोंका एकत्व है तौभी सब जुदे २ है तथा रत्नजातिसे रत्नोंका एकत्व है परंतु सब रत्न पृथक् २ है,

कारेण परिणता न चाकाशस्थचंद्रमाः । अत्र दृष्टांतमाह । यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणानां पुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणमंति न च देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणमति । यदि परिणमति तदा दर्पणस्थं मुखप्रतिबिंबं चेतनत्वं प्राप्नोति न च तथा, तथैकचंद्रमा अपि नानारूपेण न परिणमतीति । किं च न चैको ब्रह्मनामा कोपि दृश्यते प्रत्यक्षेण यश्चंद्रवन्नानारूपेण भविष्यति इत्यभिप्रायः ॥ २२६ ॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति,—

रायदोसवे परिहरेवि, जे सम जीव णियंति ।
ते समभावि परिट्ठिया, लहु णिव्वाणु लहंति ॥ २२७ ॥

रागद्वेषौ परिहृत्य ये समा जीवा निर्गच्छंति ।
ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभंते ॥ २२७ ॥

राय इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **रायदोसवे परिहरेवि** वीतराग-निजानंदैकस्वरूपस्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाविलक्षणौ रागद्वेषौ परिहृत्य जे ये केचन सम जीव

घटजातिकी अपेक्षा सब घटोंका एकपना है परंतु सब जुदे २ है और पुरुषजातिकर सबकी एकता है परंतु सब अलग २ है । उसी प्रकार जीवजातिकी अपेक्षासे सब जीवोंका एकपना है तौभी प्रदेशोंके भेदसे सब ही जीव जुदे जुदे हैं । इहा पर कोई पर-वादी प्रश्न करता है कि जैसे एक ही चंद्रमा जलके भरे बहुत घडोंमें जुदा जुदा भासता है उसीप्रकार एक ही जीव बहुत शरीरोंमें भिन्न २ भास रहा है । उसका श्रीगुरु समा-धान करते है—जो बहुत जलके घडोंमें चंद्रमाकी किरणोंकी उपाधिसे जलजातिके पुद्गल ही चंद्रमाके आकार परिणत होगये है लेकिन आकाशमें स्थित चंद्रमा तो एक ही है कुछ चंद्रमा तो बहुत स्वरूप नही होगया । उसका दृष्टात कहते है । जैसे कोई देवदत्त-नामा पुरुष उसके मुखकी उपाधि (निमित्त) से अनेक प्रकारके दर्पणोंसे शोभायमान जो काचका महल उसमें वे काचरूप पुद्गल ही अनेकमुखके आकार परिणत हुए है कुछ देवदत्तका मुख अनेकरूप नही परिणत हुआ है, मुख एक ही है । जो कदाचित देवदत्तका मुख अनेकरूप परिणमन करे तो दर्पणमें तिष्ठते हुए मुखोंके प्रतिबिंब चेतन हो जावें । परंतु चेतन नही होते, जड़ ही रहते है । उसीप्रकार एक चंद्रमा भी अने-करूप नहीं परिणमता । वे जलरूप पुद्गल ही चंद्रमाके आकार परिणत हो जाते है । इसलिये ऐसा निश्चय समझना कि जो कोई ऐसे कहते है कि एक ही ब्रह्म नानारूप दीखता है । यह कहना ठीक नही है । जीव जुदे २ है ॥ २२६ ॥

आगे ऐसा कहते है कि सब ही जीव द्रव्यसे तो जुदे २ है परंतु जातिसे एक हैं और गुणोंकर समान है ऐसी धारणा करना मुक्तिका कारण है;—[ये] जो [रागद्वेषौ]

णियंति सर्वसाधारणकेवलज्ञानदर्शनलक्षणेन समाना सदृशाः जीवा निर्गच्छंति जानंति ते पुरुषाः । कथंभूताः । समभावि परिट्ठिया जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमना-भावनारूपे समभावे प्रतिष्ठिताः संतः लहु णिव्वाणु लहंति लघु शीघ्रं आत्यंतिकस्वभावं-काचिंत्याद्भुतकेवलज्ञानादिगुणास्पदं निर्वाणं लभंत इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषौ त्यक्त्वा च शुद्धात्मानुभूतिरूपा समभावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ २२७ ॥

अथ सर्वजीवसाधारणं केवलज्ञानदर्शनलक्षणं प्रकाशयति;—

जीवहं दंसणु णाणु जिय, लक्खणु जाणइ जो जि ।
देहविभेएं भेउ तहं, णाणि किं मण्णइ सो जि ॥ २२८ ॥

जीवानां दर्शनं ज्ञानं जीव लक्षणं जानाति य एव ।
देहविभेदेन भेदं तेषां ज्ञानी किं मन्यते तमेव ॥ २२८ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां दंसणु णाणु जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुणपर्यायाणां क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन परिछित्तिसमर्थं विशुद्धदर्शनं ज्ञानं च । जिय हे जीव लक्खणु जाणइ जो जि लक्षणं जानाति य एव देह विभेएं भेउ तहं देहविभेदेन भेदं तेषां जीवानां, देहोद्भवविषयसुखरसास्वादविलक्षणशुद्धात्मभावनारहितेन जीवेन यान्युपा-

---

राग और द्वेषको [परिहृत्य] दूर करके [जीवाः समाः] सब जीवोंको समान [निर्गच्छंति] जानते है [ते] वे साधु [समभावे] समभावमें [प्रतिष्ठिताः] विराजमान [लघु] शीघ्र ही [निर्वाणं] मोक्षको [लभंते] पाते है । भावार्थ—वीतराग निजानंदस्वरूप जो निज आत्मद्रव्य उसकी भावनासे विमुख जो राग द्वेष उनको छोड़कर जो महान पुरुष केवलज्ञान दर्शन लक्षणकर सब ही जीवोंको समान गिनते हैं वे पुरुष समभावमें स्थित शीघ्र ही शिवपुरको पाते है । समभावका लक्षण ऐसा है कि जीवित मरण लाभ–अलाभ सुख दुःखादि सबको समान जानें । जो अनंत सिद्ध हुए और होवेंगे यह सब समभाव का प्रभाव है । समभावसे मोक्ष मिलती है । कैसा है वह मोक्षस्थान, जो अत्यंत अद्भुत अचिंत्य केवलज्ञानादि अनंत गुणोंका स्थान है । यहां यह व्याख्यान जानकर राग द्वेषको छोडके शुद्धात्माके अनुभवरूप जो समभाव वे सदा करने चाहिये । यही इस ग्रंथका अभिप्राय है ॥ २२७ ॥

आगे सब जीवोंमें केवलज्ञान और केवल दर्शन साधारण लक्षण हैं इनके विना कोई जीव नहीं है । ये गुण शक्तिरूप सब जीवोंमें पाये जाते हैं ऐसा कहते हैं;—[जीवानां] जीवोंके [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन और ज्ञान [लक्षणं] निज लक्षणको [य एव] जो कोई [जानाति] जानता है [हे जीव] हे जीव [स एव ज्ञानी] वही ज्ञानी [देहविभेदेन] देहके भेदसे [तेषां भेदं] उन जीवोंके भेदको [किं मन्यते] क्या मान

र्जितानि कर्माणि तदुदयेनोत्पन्नेन देहभेदेन जीवानां भेदं णाणि किंमण्णइ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी किं मन्यते । नैव । कं । सो जि तमेव पूर्वोक्तं देहभेदमिति । अत्र ये केचन ब्रह्माद्वैतवादिनो नानाजीवान्न मन्यंते तन्मतेन विवक्षितैकजीवस्य जीवितमरणसुखदुःखादिके जाते सर्वजीवानां तस्मिन्नेव क्षणे जीवितमरणसुखदुःखादिकं प्राप्नोति । कस्मादिति चेत् । एकजीवत्वादिति । न च तथा दृश्यते इति भावार्थः ॥ २२८ ॥

अथ जीवानां निश्चयनयेन योसौ देहभेदेन भेदं करोति स जीवानां दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं न जानातीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति,—

देहविभेयइं जो कुणइ, जीवहं भेउ विचित्तु ।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहं, दंसणु णाणु चरित्तु ॥ २२९ ॥

देहविभेदेन यः करोति जीवानां भेदं विचित्रं ।
स नैव लक्षणं मनुते तेषां दर्शनं ज्ञानं चारित्रं ॥ २२९ ॥

देह इत्यादि । देह विभेयहं देहममत्वमूलभूतानां ख्यातिपूजालाभस्वरूपादीनां अपध्यानानां विपरीतस्य स्वशुद्धात्मध्यानस्याभावे यानि कृतानि कर्माणि तदुदयजनितेन देहभेदेन

सकता है नहीं मानसकता । भावार्थ—तीनलोक और तीन काल वरती समस्त द्रव्य गुण पर्यायोंको एक ही समयमें जानने समर्थ जो केवल दर्शन केवल ज्ञान हैं इन निज लक्षणोंको जो कोई जानता है वही सिद्ध पद पाता है । जो ज्ञानी अच्छीतरह इन निज लक्षणोंको जान लेवै वह देहके भेदसे जीवोंका भेद नही मानसकता । अर्थात् देहसे उत्पन्न जो विषयसुख उनके रसके आस्वादसे विमुख शुद्धात्माकी भावनासे रहित जो जीव उसने उपार्जन किये जो ज्ञानावरणादि कर्म उनके उदयसे उत्पन्न हुए देहादिकके भेदसे जीवोंका भेद वीतरागस्वसवेदन ज्ञानी कदापि नही मानसकता । देहमें भेद हुआ तो क्या, गुणसे सब समान हैं और जीव जातिकर एक हैं । यहां पर जो कोई ब्रह्माद्वैतवादी वेदांती नाना जीवोंको नही मानते हैं, एक ही जीव मानते हैं, ऐसी वात अप्रमाण है । उनके मतमें एक ही जीवके माननेसे बड़ा भारी दोष होता है । वह इस तरह है कि एक जीवके जीने मरने सुख दुःखादिके होनेपर सब जीवोंके उसी समय जीवना मरना सुख दुःखादि होने चाहिये, क्योंकि उनके मतमें वस्तु एक है । परंतु ऐसा देखनेमें नही आता । इसलिये उनका वस्तु एक मानना वृथा है ऐसा जानो ॥ २२८ ॥

आगे जीवहीको जानते हैं परंतु उसके लक्षण नहीं जानते यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं;—[यः] जो [देहविभेदेन] शरीरोंके भेदसे [जीवानां]

जो कुणइ यः करोति । कं । जीवहं भेउ विचित्तु जीवानां भेदं विचित्रं नरनारकादिदेहरूपं सो णवि लक्खणु मुणइ तहं स नैव लक्षणं मनुते तेषां जीवानां । किं लक्षणं । दंसणु णाणु चरित्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमिति । अत्र निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणानां जीवानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यचांडालादिदेहभेदं दृष्ट्वा रागद्वेषौ न कर्तव्याविति तात्पर्य ॥ २२९ ॥

अथ शरीराणि बादरसूक्ष्माणि विधिवशेन भवंति न च जीवा इति दर्शयति;—

अंगइं सुहुमइं बादरइं, विहिवसिं हुंति जि बाल ।
जिय पुणु सयलुवि तित्तडा, सव्वत्थवि सयकाल ॥ २३० ॥

अंगानि सूक्ष्माणि बादराणि विधिवशेन भवंति ये बालाः ।
जीवाः पुनः सकला अपि तावंतः सर्वत्रापि सर्वकाले ॥ २३० ॥

अंगइं इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । अंगइं सुहुमइं बादरइं अंगानि सूक्ष्मबादराणि जीवानां विहिवसि होंति विधिवशाद्भवंति अंगोद्भवपंचेंद्रियविषयकांक्षामूलभूतानि दृष्टश्रुतानुभूतभोगवांछारूपनिदानबंधादीनि यान्यपध्यानानि तद्विलक्षणा यासौ

जीवोंका [विचित्रं] नानारूप [भेदं] भेद [करोति] करता है [सः] वह [तेषां] उन जीवोंका [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्र [लक्षणं] लक्षण [नैव मनुते] नही जानता अर्थात् उसको गुणोंकी परीक्षा (पहचान) नही है । **भावार्थ**—देहके ममत्वके मूल कारण ख्याति (अपनी बड़ाई) पूजा और लाभरूप जो आर्तरौद्रस्वरूप खोटे ध्यान उनसे रहित निज शुद्धात्माका ध्यान उसके अभावसे इस जीवने उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके उदयसे उत्पन्न जो शरीर है उसके भेदसे भेद मानता है उसको दर्शनादि गुणोंकी गम्य नही है । यद्यपि पापके उदयसे नरक योनि, पुन्यके उदयसे देवोंका शरीर और शुभाशुभ मिश्रसे नर देह तथा मायाचारसे पशुका शरीर मिलता है अर्थात् इन शरीरोंके भेदसे जीवोंकी अनेक चेष्टायें देखी जाती हैं परंतु दर्शन ज्ञान लक्षणसे सब तुल्य है । उपयोग लक्षणके विना कोई जीव नहीं है । इसलिये ज्ञानीजन सबको समान जानते हैं । निश्चयनयसे दर्शन ज्ञान चारित्र जीवोंके लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्र चांडालादि देहके भेद देखकर रागद्वेष नहीं करना चाहिये । सब जीवोंसे मैत्री भाव करना यही तात्पर्य है ॥ २२९ ॥

आगे सूक्ष्म बादर शरीर जीवोंके कर्मके संबंधसे होते हैं सो सूक्ष्म बादर स्थावर जंगम ये सब शरीरके भेद हैं जीव तो चिद्रूप है सब भेदोंसे रहित है ऐसा दिखलाते हैं;—[सूक्ष्माणि] सूक्ष्म [बादराणि] और बादर [अंगानि] शरीर [ये] तथा जो [बालाः] बाल वृद्ध तरुणादि अवस्थायें [विधिवशेन] कर्मोंसे [भवंति] होती हैं

स्वशुद्धात्मभावना तद्रहितेन जीवेन यदुपार्जितं विधिसंज्ञं कर्म तद्वशेन भवंत्येव । न केवलमंगानि भवंति जे वाल ये वालवृद्धादिपर्यायाः तेपि विधिवशेनैव । अथवा संबोधनं हे वाल हे अज्ञान जिय पुणु सयलवि तित्तडा जीवाः पुनः सर्वेपि तत् प्रमाणा द्रव्यप्रमाणं प्रत्यनंताः, क्षेत्रापेक्षयापि पुनरेकैकोपि जीवो यद्यपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रस्तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः । मुणि । सव्वत्थवि सर्वत्र लोके । न केवलं लोके सयकाल सर्वत्र कालत्रये तु । अत्र जीवानां वादरसूक्ष्मादिकं व्यवहारेण कर्मकृतभेदं दृष्ट्वा विशुद्धदर्शनज्ञानलक्षणापेक्षया निश्चयनयेन भेदो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ २३० ॥

अथ जीवानां शत्रुमित्रादिभेदं यः न करोति स निश्चयनयेन जीवलक्षणं जानातीति प्रतिपादयति,—

सत्तुवि मित्तुवि अप्पु परु, जीव असेसुवि एइ ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥ २३१ ॥

शत्रुरपि मित्रमपि आत्मा परः जीवा अशेषा अपि एते ।
एकत्वं कृत्वा यो मनुते स आत्मानं जानाति ॥ २३१ ॥

सत्तुवि इत्यादि । सत्तुवि शत्रुरपि मित्तुवि मित्रमपि जीव असेसुवि जीवा अशेषा

[पुनः] और [जीवाः] जीव तो [सकला अपि] सभी [सर्वत्र] सब जगह [सर्वकाले अपि] और सब कालमें [तावंतः] उतने प्रमाण ही अर्थात् असंख्यात प्रदेशी ही हैं । भावार्थ—जीवोंके शरीर व वालवृद्धादि अवस्थाये कर्मोंके उदयसे होती हैं । अर्थात् अंगसे उत्पन्न हुए जो पंचेंद्रियोंके विषय उनकी वाछा जिनका मूल कारण है ऐसे देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वाछारूप निदान बंधादि खोटे ध्यान उनसे विमुख जो शुद्धात्माकी भावना उससे रहित इस जीवने उपार्जन किये शुभाशुभ कर्मोंके योगसे ये चतुर्गतिके शरीर होते हैं और वालवृद्धादि अवस्थायें होती हैं । ये अवस्थायें कर्मजनित हैं जीवकी नहीं है । हे अज्ञानी जीव यह वात तू निःसदेह जान । ये सभी जीव द्रव्यप्रमाणसे अनंत है, क्षेत्रकी अपेक्षा एक एक जीव यद्यपि व्यवहारनयकर अपने मिले हुए देहके प्रमाण है तौभी निश्चयनय कर लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है । सव लोकमें सव कालमें जीवोंका यही स्वरूप जानना । बादर सूक्ष्मादि भेद कर्म जनित होना समझकर (देखकर) जीवोंमें भेद मत जानो । विशुद्ध ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा सब ही जीव समान हैं कोई भी जीव दर्शन ज्ञान रहित नही है ऐसा जानना ॥ २३० ॥

आगे जो जीवोंके शत्रु मित्रादि भेद नही करता है वह निश्चयकर जीवका लक्षण जानता है ऐसा कहते हैं;—[एते अशेषा अपि] ये सभी [जीवाः] जीव हैं उनमेसे [शत्रुरपि] कोई एक किसीका शत्रु भी है [मित्रं अपि] मित्र भी है [आत्मा]

अपि एइ एते प्रत्यक्षीभूताः **एकु करेविणु जो मुणइ** एकत्वं कृत्वा यो मनुते शत्रुमित्रजीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनारूपवीतरागपरमसामायिकं कृत्वा योसौ जीवानां शुद्धसंग्रहनयेनैकत्वं मन्यते **सो अप्पा जाणेइ** स वीतरागसहजानंदैकस्वभावं शत्रुमित्रादिविकल्पकल्लोलमालारहितमात्मानं जानातीति भावार्थः ॥ २३१ ॥

अथ योसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य समभावो नास्तीत्यावेदयति;—

जो ण वि मण्णइ जीव जिय, सयलवि एकसहाव ।
तासु ण थक्कइ भाउ समु, भवसायरि जो णाव ॥ २३२ ॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकस्वभावान् ।
तस्य न तिष्ठति भावः समः भवसागरे यः नौः ॥ २३२ ॥

जो णवि इत्यादि । **जो णवि मण्णइ** यो नैव मन्यते । कान् । **जीव** जीवान् **जिय** हे जीव कतिसंख्योपेतान् । **सयलवि** समस्तानपि । कथंभूतान्न मन्यते । **एकसहाव** वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणैर्निश्चयेनैकस्वभावान् **तासु ण थक्कइ भाउ समु** तस्य न तिष्ठति समभावः । कथंभूतः । **भवसायरि जो णाव** संसारसमुद्रे यो

अपना है और [**परः**] दूसरा है । ऐसा व्यवहारसे जानकर [**यः**] जो ज्ञानी [**एकत्वं कृत्वा**] निश्चयसे एकपना करके अर्थात् सबमें समदृष्टि रखकर [**मनुते**] समान मानता है [**सः**] वही [**आत्मानं**] आत्माके स्वरूपको [**जानाति**] जानता है । **भावार्थ**—इन संसारी जीवोंमें शत्रु आदि अनेक भेद दीखते हैं परंतु जो ज्ञानी सबको एक दृष्टिसे देखता है समान जानता है । शत्रु मित्र जीवित मरण लाभ अलाभ आदि सबोंमें समभावरूप जो वीतराग परमसामायिक चारित्र उसके प्रभावसे जो जीवोंको शुद्ध संग्रह नयकर एक जानता है सबको समान मानता है वही अपने निज स्वरूपको जानता है । जो निजस्वरूप, वीतराग सहजानंद एक स्वभाव तथा शत्रु मित्र आदि विकल्प जालसे रहित है । ऐसे निजस्वरूपको समता भावके विना नही जान सकता ॥२३१॥

आगे जो सब जीवोंको समान नहीं मानता उसके समभाव नहीं होसकते ऐसा कहते हैं;—[**जीव**] हे जीव [**यः**] जो [**सकलानपि**] सभी [**जीवान्**] जीवोंको [**एकस्वभावान्**] एक स्वभाववाले [**नैव मन्यते**] नही जानता [**तस्य**] उस अज्ञानीके [**समः भावः**] समभाव [**न तिष्ठति**] नही रहता [**यः**] जो समभाव [**भवसागरे**] ससार समुद्रके तैरनेको [**नौः**] नावके समान है । **भावार्थ**—जो अज्ञानी सब जीवोंको समान नहीं मानता अर्थात् वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर सबको समान दृष्टिसे नहीं देखता । सकल ज्ञायक परमनिर्मलकेवल ज्ञानादि गुणोंकर निश्चयनयसे सब जीव

नावस्तरणोपायभूता नौरिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषमोहान् मुक्त्वा च परमोपशमभावरूपे शुद्धात्मनि स्थातव्यमित्यभिप्रायः ॥ २३२ ॥

अथ जीवानां योसौ भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति;—

जीवहं भेउ जि कम्मकिउ, कम्मुवि जीउ ण होइ ।
जेण विभिण्णउ होइ तहं, कालु लहेविणु कोइ ॥ २३३ ॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्मैव जीवो न भवति ।
येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥ २३३ ॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां **भेउ जि** भेद एव **कम्मकिउ** निर्भेदशुद्धात्मविलक्षणेन कर्मणा कृतः **कम्मुवि जीउ ण होइ** ज्ञानावरणादि कर्मैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं जीवस्वरूपं न भवति । कस्मान्न भवतीति चेत् । **जेण विभिण्णउ होइ तहं** येन कारणेन विभिन्नो भवति तेभ्यः कर्मभ्यः । किंकृत्वा । **कालु लहेविणु कोइ** वीतरागपरमात्मानुभूतिसहकारिकारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति । अयमत्र भावार्थः । टंकोत्कीर्णज्ञायकैकशुद्धजीवस्वभावाद्विलक्षणं मनोज्ञामनोज्ञस्त्रीपुरुषादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपध्यानं न कर्तव्यमिति ॥ २३३ ॥

एकसे हैं ऐसी जिसके श्रद्धा नहीं है उसके समभाव नहीं उत्पन्न होसकता । ऐसा निस्सदेह जानो । कैसा है समभाव, जो ससार समुद्रसे तारनेकेलिये जहाज समान है । यहां ऐसा व्याख्यान जानकर राग द्वेष मोहको तजकर परमशांत भावरूप शुद्धात्मामें लीन होना योग्य है ॥ २३२ ॥

आगे जीवोंमें जो भेद है वह सब कर्मजनित है ऐसा प्रगट करते हैं;—[**जीवानां**] जीवोंमें [**भेदः**] नर नारकादि भेद [**कर्मकृत एव**] कर्मोंसे ही किया गया है और [**कर्म एव**] कर्म ही [**जीवः**] जीव [**न भवति**] नहीं होसकता । [**येन**] क्योंकि वह जीव [**कमपि**] किसी [**कालं**] समयको [**लब्ध्वा**] पाकर [**तेभ्यः**] उन कर्मोंसे [**विभिन्नः**] जुदा [**भवति**] होजाता है । **भावार्थ**—कर्म शुद्धात्मासे जुदे हैं, शुद्धात्मा भेदकल्पनासे रहित है । ये शुभाशुभकर्म जीवका स्वरूप नहीं हैं जीवका स्वरूप तो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव है । अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको भूल रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोगसे कर्मको बांधता है । सो कर्मका बंध अनादिकालका है । इस कर्मबंधसे कोई एक जीव वीतराग परमात्माकी अनुभूतिके सहकारी कारणरूप जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका समय उसकों पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है । कर्मोंसे छूटनेका यही उपाय है जो जीवके भवस्थिति समीप (थोड़ी) रही हो जभी सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और सम्यक्त्व उत्पन्न होजावे तभी कर्मकलंकसे छूट सकता है ।

अतः कारणात् शुद्धसंग्रहेण भेदं मा कार्षीरिति निरूपयति;—

एक्कु करे मण बिण्णि करि, मं करि वण्णविसेसु ।
इक्कइं देवइं जिं वसइ, तिहुयणु एहु असेसु ॥ २३४ ॥

एकं कुरु मा द्वौ कार्षीः मा कार्षीः वर्णविशेषं ।
एकेन देवेन येन वसति त्रिभुवनं एतत् अशेषं ॥ २३४ ॥

एक्कु करे इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । एक्कु करे सेनावनादिवज्जीवजात्यपेक्षया सर्वमेकं कुरु **मण विण्णि करि** मा द्वौ कार्षीः **मं करि वण्णविसेसु** मनुष्यजात्यपेक्षया ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिवर्णभेदं मा कार्षीः, यतः कारणात् इक्कइं देवइं एकेन देवेन अभेदनयापेक्षया शुद्धैकजीवद्रव्येण जें येन कारणेन वसइ वसति । किं कर्तृ । तिहुयणु त्रिभुवनं त्रिभुवनस्थो जीवराशिः एहु एषः प्रत्यक्षीभूतः । कति संख्योपेतः । असेसु अशेषं समस्त इति । तथाहि । लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवैर्निरंतरं भृतस्तिष्ठति । बादरैश्चाधारवशेन क्वचिदेव त्रसैः क्वचिदपि । तथा ते जीवाः शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्त्यपेक्षया केवलज्ञानादिगुणरूपास्तेन कारणेन स एव जीवराशिः यद्यपि व्यवहारेण कर्मकृतस्तिष्ठति तथापि निश्चयनयेन शक्तिरूपेण परमब्रह्मस्वरूपमिति भण्यते, परमविष्णुरिति भण्यते परम शिव इति च । तेनैव कारणेन स एव जीवराशिः केचन परमब्रह्ममयं जगद्वदंति, केचन परमविष्णुमयं वदंति, केचन पुनः

तात्पर्य यह है कि जो टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक शुद्धस्वभाव उससे विलक्षण जो स्त्री पुरुषादि शरीरके भेद उनको देखकर रागादि खोटे ध्यान नहीं करने चाहिये ॥ २३३ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जो तू शुद्धसंग्रहनयकर जीवोंमें भेद मत कर;—[एकं कुरु] हे आत्मन् तू जातिकी अपेक्षा सब जीवोंको एक जान [मा द्वौ कार्षीः] इसलिये राग और द्वेष मत कर [वर्णविशेषं] मनुष्यजातिकी अपेक्षा ब्राह्मणादि वर्णभेदको भी [मा कार्षीः] मत कर [येन] क्योंकि [एकेन देवेन] अभेदनयसे शुद्ध आत्माके समान [एतत् अशेषं] ये सब [त्रिभुवनं] तीनलोकमें रहनेवाली जीवराशि [वसति] ठहरी हुई है अर्थात् जीवपनेसे सब एक हैं । **भावार्थ**—सबजीवोंकी एक जाति है। जैसे सेना और वन एक वैसे जातिकी अपेक्षा सब जीव एक हैं । नर नारकादि भेद और ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्रादि वर्ण भेद सब कर्मजनित हैं अभेद नयसे सब जीवोंको एक जानो । अनंत जीवोंकर ये लोक भरा हुआ है । उस जीवराशिमें भेद ऐसे है—जो पृथ्वीकायसूक्ष्म जलकायसूक्ष्म अग्निकायसूक्ष्म वायुकायसूक्ष्म नित्यनिगोदसूक्ष्म इतर निगोदसूक्ष्म—ये छह तरहके सूक्ष्मजीवोंकर तो यह लोक निरंतर भरा हुआ है, सब जगह इस लोकमें सूक्ष्म जीव हैं । और पृथ्वीकायवादर जलकायवादर अग्निकायवादर वायुकायवादर नित्य-

परमशिवमयमिति च । अत्राह शिष्यः । यद्येवंभूतं जगत्संमतं भवतां तर्हि परेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिः । परिहारमाह । यदि पूर्वोक्तनयविभागेन केवलज्ञानादिगुणापेक्षया वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण मन्यंते तदा तेषां दूषणं नास्ति, यदि पुनरेकः पुरुषविशेषो व्यापी जगत्कर्ता ब्रह्मादि नामास्तीति मन्यंते तदा तेषां दूषणं । कस्माद्‌ दूषणमिति चेत्‌ । प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितत्वात्‌ साधकप्रमाणप्रमेयचिंता तर्के विचारिता तिष्ठत्यत्र तु नोच्यते, अध्यात्मशास्त्रत्वादित्यभिप्रायः ॥ २३४ ॥ इति षोडशवर्णिकासुवर्णदृष्टांतेन केवलज्ञानादिलक्षणेन सर्वे जीवाः समाना भवंतीति व्याख्यानमुख्यतया त्रयोदशसूत्रैरंतरस्थलं गतं । एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये चतुर्भिरंतरस्थलैः शुद्धोपयोगवीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिग्रहत्यागसर्वजीवसमानताप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकचत्वारिंशत्सूत्रैर्महास्थलं समाप्तं ।

निगोदबादर इतरनिगोदबादर और प्रत्येक वनस्पति—ये जहां आधार है वहां है। सो कहीं पाये जाते है कही नही पाये जाते परंतु येभी बहुत जगह है। इस प्रकार स्थावर तौ तीनोंलोकमें पाये जाते है और दो इंद्री तेइंद्री चौ इद्री पंचेंद्री तिर्यंच ये मध्यलोकमें ही पाये जाते है अधोलोक, ऊर्ध्वलोकमें नहीं। उनमेंसे दो इंद्री तेइंद्री चौ इंद्री जीव कर्म भूमिमें ही पाये जाते है भोगभूमिमें नहीं। भोगभूमिमें गर्भज पंचेद्री सैनी थलचर या नभचर ये दोनों जाति तिर्यंच है। तथा मनुष्य मध्यलोकमें ढाई द्वीपमें पाये जाते है अन्य जगह नही, देवलोकमें स्वर्गवासी देव देवी पाये जाते है अन्य पंचेंद्री नही, पाताललोकमें ऊपरके भागमे भवनवासी देव तथा व्यंतरदेव और नीचे भागमें सात नरकोंके नारकी पंचेंद्री है अन्य कोई नही और मध्यलोकमें भवनवासी व्यंतरदेव तथा ज्योतिषीदेव ये तीन जातिके देव और सब जातिके तिर्यंच पाये जाते हैं। इस प्रकार त्रस जीव किसी जगह है किसी जगह नही है। इसतरह यह लोक जीवोंसें भरा हुआ है। सूक्ष्मस्थावरके विना तो लोकका कोई भाग खाली नही है सब जगह सूक्ष्म स्थावर भरे हुए है। ये सभी जीव शुद्ध परिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकर शक्तिकी अपेक्षा केवलज्ञानादिगुणरूप है। इसलिये यद्यपि यह जीवराशि व्यवहारनयकर कर्माधीन है तौभी निश्चयनयकर शक्तिरूप परब्रह्मस्वरूप है। इन जीवोंको ही परमविष्णु कहना, परम शिव कहना चाहिये। यही अभिप्राय लेकर कोई एक ब्रह्ममई जगत्‌ कहते हैं, कोई एक विष्णुमई कहते हैं, कोई एक शिवमई कहते हैं। यहां पर शिष्यने प्रश्न किया कि तुम भी जीवोंको परब्रह्म मानते हो तथा परम विष्णु परम शिव मानते हो तो अन्यमतवालोंको क्यों दूषण देते हो। उसका समाधान। हम तो पूर्वोक्त नयविभागकर केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा वीतरागसर्वज्ञप्रणीत मार्गसे जीवोंको ऐसा मानते हैं तो

अत ऊर्ध्वं "परु जाणंतु वि" इत्यादि सप्ताधिकशतसूत्रपर्यंतं स्थलसंख्यावहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चूलिकाव्याख्यानं करोति इति;—

परु जाणंतु वि परममुणि, परसंसग्गु चयंति ।
परसंसग्गइं परमप्पयहं, लक्खहं जेण चलंति ॥ २३५ ॥

परं जानंतोपि परममुनयः परसंसर्गं त्यजंति ।
परसंसर्गेण परमात्मनः लक्ष्यस्य येन चलंति ॥ २३५ ॥

परु जाणंतुवि इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **परु जाणंतुवि** परद्रव्यं जानंतोपि । के ते । **परममुणि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरताः परममुनयः । किं कुर्वंति । **परसंसग्गु चयंति** परसंसर्गं त्यजंति निश्चयेनाभ्यंतरे रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मशरीरादि-नोकर्म च वहिर्विषये मिथ्यात्वरागादिपरिणतासंवृतजनोपि परद्रव्यं भण्यते । तत्संसर्गं परिहरंति । यतः कारणात् **परसंसग्गइं** पूर्वोक्तवाह्याभ्यंतरपरद्रव्यसंसर्गेण **परमप्पयहं** वीतरागनित्यानंदैकस्वभावपरमसमरसीभावपरिणतपरमात्मतत्त्वस्य । कथंभूतस्य । **लक्खहं** लक्ष्यस्य

दूषण नही है । सो इस तरह वे नही मानते हैं । वे एक कोई पुरुष जगतका कर्ता हर्ता मानते हैं । इसलिये उनको दूषण दिया जाता है, क्योंकि जो कोई एक शुद्धबुद्ध नित्य मुक्त है उस शुद्ध बुद्धको कर्ता हर्तापना नही संभवता । इच्छा विना कर्ता हर्तापना हो ही नही सकता और इच्छा है वह मोहकी प्रकृति है । भगवान मोहसे रहित है इसलिये कर्ता हर्ता नही हो सकता । कर्ता हर्ता मानना प्रत्यक्ष विरोध है । हम तो जीवराशिको परम ब्रह्म मानते हैं उसी जीवराशिसे लोक भरा हुआ है । वे अन्यमती ऐसा मानते हैं कि एक ही ब्रह्म अनंतरूप होरहा है । जो वही एक सवरूप हो रहा होवे तो नरक निगोद स्थानको कोंन भोगे । इसलिये जीव अनंत हैं । इन जीवोंको ही परमब्रह्म परम शिव कहते हैं ऐसा तू निश्चयसे जान ॥ २३४ ॥ इस प्रकार सोलह वानीके सोंनेके दृष्टांतद्वारा केवल ज्ञानादिलक्षणसे सब जीव समान हैं इस व्याख्यानकी मुख्यताकर तेरह दोहासूत्र कहे । इसतरह मोक्षमार्ग मोक्षफल और मोक्ष इन तीनोंका कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें चार अंतरस्थलोंकर इकतालीस दोहाओंसे महास्थल समाप्त हुआ । इनमें शुद्धोपयोग वीतराग स्वसवेदन ज्ञान, परिग्रह त्याग और सब जीव समान ये कथन किया ।

आगे 'पर जाणंतुवि' इत्यादि एकसौ सात दोहा पर्यंत तीसरा महाधिकार कहते हैं उसीमें ग्रथको समाप्त करते हैं;—[**परममुनयः**] परममुनि [**परं जानंतोपि**] उत्कृष्ट आत्मद्रव्यको जानते हुए भी [**परसंसर्गं**] परद्रव्य जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म उसके संबंधको, [**त्यजंति**] छोड़ देते है । [**येन**] क्योंकि [**परसंसर्गेण**] परद्रव्यके संबंधसे

ध्येयभूतस्य धनुर्विद्याभ्यासप्रस्तावे लक्ष्यरूपस्यैव जेण चलंति येन कारणेन चलंति त्रिगुप्तिसमाधेः सकाशात् च्युता भवंतीति। अत्र परमध्यानविघातकत्वान्मिथ्यात्वरागादिपरिणामस्तत्परिणतः पुरुपरूपो वा परसंसर्गस्त्यजनीय इति भावार्थः ॥ २३५ ॥

अथ तमेव परद्रव्यसंसर्गत्यागं कथयति;—

जो समभावहं बाहिरउ, तिं सहु मं करि संगु।
चिंतासायरि पडहिं पर, अण्णुवि डज्झइ अंगु॥ २३६॥

यः समभावात् बाह्यः तेन सह मा कुरु संगं।
चिंतासागरे पतसि परं अन्यदपि दह्यते अंगः॥ २३६॥

जो इत्यादि। **जो** यः कोपि **समभावहं बाहिरउ** जीवितमरणलाभालाभादिसमभावानुकूलविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपसमभावबाह्यः **तिं सहु मं करि संगु** तेन सह संसर्गं मा कुरु हे आत्मन्। यतः किं। **चिंतासायरि पडहिं** रागद्वेषादिकल्लोलरूपे चिंतासमुद्रे पतसि परं नियमेन **अण्णुवि** अन्यदपि दूषणं भवति। कि। **डज्झइ** दह्यते व्याकुलं भवति। किं दह्यते। **अंगु** शरीरं इति। अयमत्र भावार्थः। वीतरागनिर्विकल्पसमाधिभावनाप्रतिपक्षभूतरागादिस्वकीयपरिणाम एव निश्चयेन पर

[**लक्ष्यस्य**] ध्यानकरने योग्य जो [**परमात्मनः**] परमपद उससे [**चलंति**] चलायमान हो जाते हैं। **भावार्थ**—शुद्धोपयोगी मुनि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानमें लीन हुए परद्रव्योंके साथ संबंध छोड़ देते है। अंदरके विकार रागादि भावकर्म और बाहरके शरीरादि ये सब परद्रव्य कहे जाते हैं। वे मुनिराज एक आत्मभावके सिवाय सब परद्रव्यका संसर्ग (संबंध) छोड़ देते हैं। तथा रागी द्वेषी मिथ्यात्वी असंजमी जीवोंका संबंध छोड़ देते है। इनके संसर्गसे परमपद जो वीतरागनित्यानंद अमूर्तस्वभाव परमसमरसीभावरूप जो परमात्मतत्त्व ध्यावने योग्य है उससे चलायमान होजाते हैं अर्थात् तीन गुप्तिरूप परमसमाधिसे रहित हो जाते है। यहांपर परमध्यानके घातक जो मिथ्यात्वरागादि अशुद्धपरिणाम तथा रागी द्वेषी पुरुप इनका संसर्ग सर्वथा त्यागना यह साराश है॥ २३५॥

आगे उन्हीं परद्रव्योंके संबंधको फिर छुड़ानेका कथन करते हैं;—[**यः**] जो कोई [**समभावात्**] समभाव अर्थात् निजभावसे [**बाह्यः**] बाह्य पदार्थ हैं [**तेन सह**] उनके साथ [**संगं**] संग [**मा कुरु**] मत करै। क्योंकि उनके साथ संग करनेसे [**चिंतासागरे**] चिंतारूपी समुद्रमें [**पतसि**] पड़ेगा [**परं**] केवल [**अन्यदपि**] और भी [**अंगः**] शरीर [**दह्यते**] दाहको प्राप्त होगा अर्थात् अंदरसे जलता रहेगा। **भावार्थ**—जो कोई जीवित मरण लाभ अलाभादिमें तुल्यभाव उसके संमुख जो निर्मलज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्म द्रव्य उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निजभाव उसरूप समभावसे जो जुदे पदार्थ हैं

इत्युच्यते । व्यवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणतपुरुषः सोपि कथंचित्, नियमो नास्तीति ॥ २३६ ॥

अथ तदेव परसंसर्गदूषणं दृष्टांतेन समर्थयति;—

भल्लाहं वि णासंति गुण, जहं संसग्गु खलेहिं ।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ, तें पिट्टियइ घणेहिं ॥ २३७ ॥

भद्राणामपि नश्यंति गुणाः येषां संसर्गः खलैः ।
वैश्वानरो लोहेन मिलितः तेन पिट्यते घनैः ॥ २३७ ॥

भल्लाहि वि इत्यादि । **भल्लाहंवि** भद्राणामपि स्वस्वभावसहितानामपि **णासंति** **गुण** नश्यंति परमात्मोपलब्धिलक्षणगुणाः । येषां किं । **जहं संसग्गु** येषां संसर्गः । कैः सह । **खलेहिं** परमात्मपदार्थप्रतिपक्षभूतैर्निश्चयनयेन स्वकीयबुद्धिदोषरूपैः रागद्वेषादिपरिणामैः खलैर्दुष्टैर्व्यवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणतपुरुषैः । अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाह । **वइसाणरु लोहहं मिलिउ** वैश्वानरो लोहमिलितः **तें** तेन कारणेन **पिट्टियइ घणेहि** पिट्टनक्रियां लभते । कैः । घनैरिति । अत्रानाकुलत्वसौख्यविघातको येन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूप-

---

उनका संग छोड़ दे । क्योंकि उनके संगसे चिंतारूपी समुद्रमें गिरपड़ेगा । जो समुद्र राग द्वेषकल्लोलोंसे व्याकुल है । उनके संगसे मनमें चिंता उत्पन्न होगी और शरीरमें दाह होगा । यहां तात्पर्य यह है कि वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिकी भावनासे विपरीत जो रागादि अशुद्ध परिणाम वे ही परद्रव्य कहे जाते हैं । और व्यवहारनयकर मिथ्यात्वी रागी द्वेषी पुरुष पर कहे गये हैं । इन सबकी संगति सर्वदा दुःख देनेवाली है किसी प्रकार सुखदाई नही है ऐसा निश्चय है ॥ २३६ ॥

आगे परद्रव्यका प्रसंग महान् दुःखरूप है यह कथन दृष्टांतसे दृढ करते हैं;—[**खलैः सह**] दुष्टोंके साथ [**येषां**] जिनका [**संसर्गः**] संबंध है वह [**भद्राणां अपि**] उन विवेकी जीवोंके भी [**गुणान्**] सत्यशीलादि गुणोंको [**नाशयति**] नाश कर देता है (?) जैसे [**वैश्वानरः**] आग [**लोहेन**] लोहेसे [**मिलितः**] मिलजाती है [**तेन**] तभी [**घनैः**] घनोंसे [**पिट्यते**] कूटी जाती है । **भावार्थ**—विवेकी जीवोंके शीलादि गुण मिथ्यादृष्टी रागी द्वेषी अविवेकी जीवोंकी संगतिसे नाश हो जाते हैं । अथवा आत्माके निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध भावोंके संबंधसे मलिन हो जाते हैं । जैसे अग्नि लोहेके संगसे कूटी जाती है । यद्यपि आगको घन कूट नही सकता परंतु लोहेकी संगतिसे अग्नि-भी कूटनेमें आती है, उसीतरह दोषोंके संगसे गुण भी मलिन हो जाते हैं । यह कथन जानकर आकुलतारहित सुखके घातक जो देखे सुने अनुभव किये भोगोंकी वाछारूप

निदानबंधाद्यपध्यानपरिणाम एव परसंसर्गस्त्याज्यः । व्यवहारेण तु परपरिणतपुरुष इत्यभिप्रायः ॥ २३७ ॥

अथ मोहपरित्यागं दर्शयति;—

जोइय मोहु परिच्चयहि, मोहु ण भल्लउ होइ ।
मोहासत्तउ सयलु जगु, दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ २३८ ॥

योगिन् मोहं परित्यज मोहो न भद्रो भवति ।
मोहासक्तः सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥ २३८ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **मोहु परिच्चयहि** निर्मोहपरमात्मस्वरूपभावनाप्रतिपक्षभूतं मोहं त्यज । कस्मात् । **मोहु ण भल्लउ होइ** मोहो भद्रः समीचीनो न भवति । तदपि कस्मात् । **मोहासत्तउ सयलु जगु** मोहासक्तं समस्तं जगत् निर्मोहशुद्धात्मभावनारहितं **दुक्खु सहंतउ जोइ** अन्याकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःखं सहमानं पश्येति । अत्रास्तां तावद्बहिरंगपुत्रकलत्रादौ पूर्वं परित्यक्तेन पुनर्वासनावसेन स्मरणरूपो मोहो न कर्तव्यः । शुद्धात्मभावनास्वरूपं तपश्चरणं तत्साधकभूतशरीरं तस्यापि स्थित्यर्थमशनपानादिकं यद्गृह्यमाणं तत्रापि मोहो न कर्तव्यः इति भावार्थः ॥ २३८ ॥

अथ स्थलसंख्याबहिर्भूतमाहारमोहविषयनिराकरणसमर्थनार्थं प्रक्षेपकत्रयमाह तद्यथा;—

काऊण णग्गरूवं, वीभस्सं दड्ढमडयसारिच्छं ।
अहिलससि किं ण लज्जसि, भिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥ २३९ ॥ (क्षे०)

निदान बंध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्टोंकी सगति नही करना अथवा अनेक दोषोंकर सहित रागी द्वेषी जीवोंकी भी संगति कभी नही करना, यह तात्पर्य है ॥ २३७ ॥

आगे मोहका त्याग करना दिखलाते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी तू [**मोहं**] मोहको [**परित्यज**] विलकुल छोड़ दे क्योंकि [**मोहः**] मोह [**भद्रः न भवति**] अच्छा नहीं होता है [**मोहासक्तः**] मोहसे आसक्त [**सकलं जगत्**] सब जगतजीवोंको [**दुःखं सहमानं**] क्लेश भोगते हुए [**पश्य**] देख । **भावार्थ**—जो आकुलता रहित है वह दुःखका मूल मोह है । मोही जीवोंको दुःख सहित देखो । वह मोह परमात्मस्वरूपकी भावनाका प्रतिपक्षी दर्शनमोह चारित्रमोहरूप है । इसलिये तू उसको छोड़ । पुत्र स्त्री आदिकमें तो मोहकी वात दूर रहे यह तो प्रत्यक्षमें त्यागने योग्य ही है । और विषय-वासनाके वश देह आदिक पर वस्तुओंका रागरूप मोहजाल है वह भी सर्वथा त्यागना चाहिये । अंतर वाह्य मोहका त्यागकर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना । शुद्धात्माकी भावनारूप जो तपश्चरण उसका साधक जो शरीर उसकी स्थितिकेलिये अन्न जलादिक लिये जाते हैं तौभी विशेष राग न करना, रागरहित नीरस आहार लेना चाहिये ॥ २३८ ॥

कृत्वा नग्नरूपं वीभत्सं दग्धमृतकसदृशं ।
अभिलषसि किं न लज्जसे भिक्षायां भोजनं मिष्टं ॥ २३९ ॥

काऊण इत्यादि । काऊण कृत्वा । किं । णग्गरूवं नग्नरूपं निर्ग्रंथं जिनरूपं । कथंभूतं । वीभत्थं भयानकं । पुनरपि कथंभूतं । दड्ढमडयसारित्थं दग्धमृतकसदृशं । एवंविधं रूपं धृत्वा हे तपोधन अहिलससि अभिलाषं करोषि किं न लज्जसे लज्जां किं न करोषि । किं कुर्वाणः सन् । भिक्खाए भोयणं मिट्ठं भिक्षायां भोजनं मृष्टं इति मन्यमानः सन्निति । श्रावकेण तावदाहाराभयभैषज्यशास्त्रदानं तात्पर्येण दातव्यं । आहारदानं येन दत्तं तेन शुद्धात्मानुभूतिसाधकं वाह्याभ्यंतरभेदभिन्नं द्वादशविधं तपश्चरणं दत्तं भवति । शुद्धात्मभावनालक्षणसंयमसाधकस्य देहस्यापि स्थितिः कृता भवति । शुद्धात्मोपलंभप्राप्तिरूपा भवांतरगतिरपि दत्ता भवति । यद्यप्येवमादिगुणविशिष्टं चतुर्विधदानं श्रावकाः प्रयच्छंति तथापि निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकतपोधनेन वहिरंगसाधनीभूतमाहारादिकं किमपि गृह्णतापि स्वस्वभावप्रतिपक्षभूतो मोहो न कर्तव्यः इति तात्पर्यम् ॥ २३९ ॥

आगे स्थलसंख्याके सिवाय जो प्रक्षेपक दोहे हैं उनके द्वारा आहारका मोह निवारण करते हैं;—[वीभत्सं] भयानक देहके मैलसे युक्त [दग्धमृतकसदृशं] जले हुए मुरदेके समान रूप रहित ऐसे [नग्नरूपं] वस्त्ररहित नग्नरूपको [कृत्वा] धारण करके हे साधु तू [भिक्षायां] परके घर भिक्षाको भ्रमता हुआ उस भिक्षामें [मिष्टं] स्वादयुक्त [भोजनं] आहारकी [अभिलषसि] इच्छा करता है तो तू [किं न लज्जसे] क्यों नहीं शरमाता यह बड़ा आश्चर्य है । भावार्थ—पराये घर भिक्षाको जाते मिष्ट आहारकी इच्छा धारण करता है सो तुझे लाज नहीं आती । इसलिये आहारका राग छोड़ अल्प और नीरस आहार उत्तम कुली श्रावकके घर साधूको लेना योग्य है । मुनिको रागभाव रहित आहार लेना चाहिये । स्वादिष्ट सुंदर आहारका राग नहीं करना योग्य है । और श्रावकको भी यही उचित है कि भक्ति भावसे मुनिको निर्दोष आहार देवै जिसमें अशुभका दोष न लगे । और आहारके समय ही आहारमें मिली हुई निर्दोष औषधि दे, शास्त्रदान करे, मुनियोंका भय दूर करे उपसर्ग निवारण करे । यही गृहस्थको योग्य है । जिस गृहस्थने यतीको आहार दिया उसने तपश्चरण दिया, क्योंकि संयमका साधन शरीर है और शरीरकी स्थिति अन्न जलसे है । आहारके ग्रहण करनेसे तपस्याकी वढवारी होती है । इसलिये आहारका दान तपका दान है । यह तप-संयम शुद्धात्माकी भावनारूप है और ये अंतर वाह्य वारहप्रकारका तप शुद्धात्माकी अनुभूतिका साधक है । तपसंयमका साधन दिगंवरका शरीर है । इसलिये आहारके देनेवालेने यतीके देहकी रक्षा की और आहारके देनेवालेने शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष दी । क्योंकि मोक्षका

अथ;—

जइ इच्छसि भो साहू, बारहविहतवहलं महाविउलं ।
तो मणवयणे काए, भोयणगिद्धी विवज्जेसु ॥ २४० ॥ (क्षे०)

यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलं महद्विपुलं ।
ततः मनोवचनयोः काये भोजनगृद्धिं विवर्जयस्व ॥ २४० ॥

जइ इच्छसि यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलं । कथंभूतं । महद्विपुलं स्वर्गापवर्गरूपं ततः कारणात् वीतरागनिजानंदैकसुखरसास्वादानुभवेन तृप्तो भूत्वा मनोवचनकायेषु भोजनगृद्धिं वर्जय इति तात्पर्य ॥ २४० ॥

उक्तं च;—

जे सरसिं संतुट्ठमण, विरसि कसाउ वहंति ।
ते मुणि भोयण घार गणि, णवि परमत्थु मुणंति ॥ २४१ ॥ (क्षे०)

ये सरसेन सतुष्टमनसः विरसे कषायं वहंति ।
ते मुनयः भोजने गृद्धा गणय नैव परमार्थ मन्यंते ॥ २४१ ॥

जे इत्यादि । जे **सरसिं संतुट्ठमण** ये केचन सरसेन सरसाहारेण संतुष्टमनसः **विरसि कसाउ वहंति** विरसे विरसाहारे सति कपायं वहंति कुर्वंति ते ते पूर्वोक्ताः **मुणि** मुनयस्तपोधनाः **भोयण घार गणि** भोजनविपये गृद्धसदृशान् गणय मन्यस्व जानीहि । इत्थंभूताः

साधन मुनिव्रत है और मुनिव्रतका साधन शरीर है तथा शरीरका साधन आहार है । इस प्रकार अनेक गुणोंको उत्पन्न करनेवाला आहारादि चार प्रकारका दान उसको श्रावक भक्तिसे देता है तौभी निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक योगीश्वर महातपोधन आहारको ग्रहण करते हुए भी राग नही करते है । राग द्वेष मोहादि परिणाम निजभावके शत्रु है यह सारांश हुआ ॥ २३९ ॥

आगे फिर भी भोजनकी लालसाको त्याग कराते हैं;—[**भो साधो**] हे योगी [**यदि**] जो तू [**द्वादशविधतपःफलं**] बारहप्रकार तपका फल [**महद्विपुलं**] बड़ा भारी स्वर्ग मोक्ष [**इच्छसि**] चाहता है [**ततः**] तो वीतराग निजानंद एक सुखरसका आस्वाद उसके अनुभवसे तृप्त हुआ [**मनोवचनयोः**] मन वचन और [**काये**] कायसे [**भोजनगृद्धिं**] भोजनकी लोलुपताको [**विवर्जयस्व**] त्याग दे । यह सारांश है ॥ २४० ॥

और भी कहा है;—[**ये**] जो योगी [**सरसेन**] स्वादिष्ट आहारसे [**संतुष्टमनसः**] हर्षित होते हैं और [**विरसे**] नीरस आहारमें [**कषायं**] क्रोधादिकषाय [**वहंति**] करते हैं [**ते मुनयः**] वे मुनि [**भोजने गृद्धाः**] भोजनके विषयमें गृद्धपक्षीके समान है

संतः णवि परमत्थु मुणंति नैव परमार्थं मन्यंते जानंतीति । अयमत्र भावार्थः । गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभंते । कस्मात् एव परमो धर्म इति चेत्, निरंतरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति । शुद्धोपयोगपरमधर्मरतैस्तपोधनैस्त्वन्नपानादिविषये मानापमानसमतां कृत्वा यथालाभेन संतोषः कर्तव्य इति ॥ २४१ ॥

अथ शुद्धात्मोपलंभाभावे सति पंचेंद्रियविषयासक्तजीवानां विनाशं दर्शयति;—

रूवि पयंगा सद्दि मय, गय फासइ णासंति ।
अलिउल गंधइ मच्छ रसि, किम अणुराउ करंति ॥ २४२ ॥

रूपे पतंगाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः नश्यंति ।
अलिकुलानि गंधेन मत्स्याः रसे किं अनुराग कुर्वंति ॥ २४२ ॥

रूपे समासक्ताः पतंगाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः गंधेनालिकुलानि मत्स्या रसासक्ता

ऐसा तू [गणय] समझ । वे [परमार्थं] परमतत्त्वको [नैव मन्यंते] नहीं समझते हैं । भावार्थ—जो कोई वीतरागके मारगसे विमुख हुए योगी रस सहित स्वादिष्ट आहारसे खुश होते हैं, कभी किसीके घर छह रस युक्त आहार पावें तो मनमें हर्ष करें आहारके देनेवालेसे प्रसन्न होते हैं । यदि किसीके घर रसरहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं उस गृहस्थको बुरा समझते हैं वे तपोधन नहीं हैं भोजनके लोलुपी हैं । गृद्धपक्षी समान है । ऐसे लोलुपी यती देहमें अनुरागी होते है परमात्मपदार्थको नहीं जानते । गृहस्थोंके तो दानादिकही बड़े धर्म हैं । जो सम्यक्त्वसहित दानादि करें तो परंपरया मोक्ष पावे । क्योंकि श्रावकका दानादिक ही परमधर्म है । वह ऐसे है कि ये गृहस्थलोक हमेशा विषयकषायके आधीन हैं इससे इनके आर्त रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं इस कारण निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परमधर्मका तो इनके ठिकाना ही नहीं है, अर्थात् गृहस्थोंके शुभोपयोगकी ही मुख्यता है । और शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवें तो इसके समान अन्य क्या । श्रावकका तो यही बड़ा धरम है जोकि यती अर्जिका श्रावक श्राविका इन सबको विनय पूर्वक आहार दे। और यतीका यही धर्म है जो अन्न जलादिमें राग न करे और मान अपमानमे समताभाव रक्खे । गृहस्थके घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवै चाहे चावल मिले चाहे अन्य कुछ मिले । जो मिले उसमें हर्ष विषाद न करे । दूध दही घी मिष्टान्न इनमें इच्छा न करे । यही जिनमार्गमें यतीकी रीति है ॥ २४१ ॥

आगे शुद्धात्माकी प्राप्तिके अभावमें जो विषयी जीव पांच इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं उनका अकाज (विनाश) होता है ऐसा दिखलाते हैं;—[रूपे] रूपमें लीन हुए

नश्यंति यतः कारणात् ततः कारणात्कथं तेषु विषयेष्वनुरागं कुर्वंतीति । तथाहि । पंचेंद्रियविषयाकांक्षाप्रभृतिसमस्तापध्यानविकल्पैः रहितः शून्यः स्पर्शनादींद्रियकषायातीतनिर्दोषिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकः शुद्धोपयोगस्वभावो योसावेवंभूतः कारणसमयसारः तद्भावनारहिता जीवाः पंचेंद्रियविषयाभिलापवशीकृता नश्यंतीति ज्ञात्वा कथं तत्रासक्तिं गच्छंति ते विवेकिन इति । अत्र पतंगादय एकैकं विषयासक्ता नष्टा, ये तु पंचेंद्रियविषयमोहितास्ते विशेषेण नश्यंतीति भावार्थः ॥ २४२ ॥

[**पतंगाः**] पतंग जीव दीपकमें जलकर मर जाते हैं [**शब्दे**] शब्दविषयमें लीन [**मृगाः**] हिरण व्याधाके वाणसे मारे जाते हैं [**गजाः**] हाथी [**स्पर्शैः**] स्पर्शविषयके कारण गड्ढेमें पड़कर बांधे जाते हैं [**गंधेन**] सुगंधकी लोलुपतासे [**अलिकुलानि**] भौंरे कांटोंमें या कमलमें दबकर प्राण छोड़देते हैं और [**रसे**] रसके लोभी [**मत्स्याः**] मच्छ [**नश्यंति**] धीवरके जालमें पड़कर मारे जाते हैं । एक एक विषय कषायकर आसक्त हुए जीव नाशको प्राप्त होते हैं तो पंचेंद्रीका कहना ही क्या है । ऐसा जानकर विवेकी जीव विषयोंमें [**किं**] क्या [**अनुरागं**] प्रीति [**कुर्वंति**] करते हैं, कभी नही करते । **भावार्थ**—पंचेंद्रीके विषयोंकी इच्छा आदि जो सब खोटे ध्यान वेही हुए विकल्प उनसे रहित विषय कषाय रहित जो निर्दोषपरमात्मा उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न वीतराग परम आह्लादरूप सुख अमृत उसके रसके स्वादकर पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्य समयसार उसका उत्पन्न करनेवाला जो शुद्धोपयोगरूप कारणसमयसार उसकी भावनासे रहित ससारी जीव विषयोंके अनुरागी पांच इन्द्रियोंके लोलुपी भव भवमें नाश पाते हैं । ऐसा जानकर इन विषयोंमें विवेकी कैसे रागको प्राप्त होवें कभी विषयाभिलाषी नहीं होते । पतंगादिक एक एक विषयमें लीन हुए नष्ट हो जाते हैं लेकिन जो पांच इंद्रियोंके विषयोंमें मोहित हैं वे वीतरागचिदानंदस्वभाव परमात्मतत्त्व उसको न सेवते हुए न जानते हुए और न भावते हुए अज्ञानी जीव मिथ्यामार्गको वांछते कुमार्गकी रुचि करते हुए नारकादि गतिमें घानीमें पिलना करोंतसे विदारना और शूलीपर चढना इत्यादि अनेक दुःखोंको देहादिककी प्रीतिसे भोगते है । ये अज्ञानी जीव वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधिसे परान्मुख हैं जिनके चित्त चंचल है कभी निश्चलचित्तकर निजरूपको नहीं ध्यावते है । और जो पुरुष स्नेहसे रहित हैं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लीन है वे ही लीलामात्रमें ससारको तैर जाते है ॥ २४२ ॥

अथ लोभकषायदोषं दर्शयति;—

जोइय लोहु परिच्चयहि, लोहु ण भल्लउ होइ ।
लोहासत्तउ सयलु जगु, दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ २४३ ॥

योगिन् लोभं परित्यज लोभो न भद्रः भवति ।
लोभासक्तं सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥ २४३ ॥

हे योगिन् लोभं परित्यज । कस्मात् । लोभो भद्रो समीचीनो न भवति । लोभासक्तं समस्तं जगत् दुःखं सहमानं पश्येति । तथाहि—लोभकषायविपरीतात् परमात्मस्वभावाद्विपरीतं लोभं त्यज हे प्रभाकरभट्ट । यतः कारणात् निर्लोभपरमात्मभावनारहिता जीवा दुःखमुपभुंजानास्तिष्ठंतीति तात्पर्य ॥ २४३ ॥

अथामुमेव लोभकषायदोषं दृष्टांतेन समर्थयति;—

तलि अहिरणि वरि घणवडणु, संडस्सयलुंचोडु ।
लोहहं लग्गिवि हुयवहहं, पिक्खु पडंतउ तोडु ॥ २४४ ॥

तले अधिकरणे उपरि घनपातनं संडसकलुंचनं ।
लोहं लगित्वा हुतवहं पश्य पिट्टंतं त्रोटनं ॥ २४४ ॥

तले अधस्तनभागेऽधिकरणसंज्ञोपकरणं उपरितनभागे घनघातपातनं तथैव संडसकसंज्ञेनोपकरणेन लुंचनमाकर्षणं । केन । लोहपिंडनिमित्तेन । कस्य । हुतभुजोऽग्नेः त्रोटनं खंडनं पश्येति । अयमत्र भावार्थः । यथा लोहपिंडसंसर्गादग्निरज्ञानिलोकपूज्यः प्रसिद्धः

आगे लोभकषायका दोष कहते हैं;–[**योगिन्**] हे योगी तू [**लोभं**] लोभको [**परित्यज**] छोड़ [**लोभः**] ये लोभ [**भद्रो न भवति**] अच्छा नही है क्योंकि [**लोभासक्तं**] लोभमें लगे हुए [**सकलं जगत्**] इस संपूर्ण जगतको [**दुःखं सहमानं**] दुःख सहते हुए [**पश्य**] देख । **भावार्थ**—लोभकषायसे रहित जो परमात्मस्वभाव उससे विपरीत जो इस भव परभवका लोभ, धनधान्यादिका लोभ उसे तू छोड । क्योंकि लोभी जीव भवभवमें दुःख भोगते हैं ऐसा तू देख रहा है ॥ २४३ ॥

आगे लोभकषायके दोषको दृष्टांतसे पुष्ट करते हैं;—[**लोहं लगित्वा**] जैसे लोहेका संबंध पाकर [**हुतवहं**] अग्नि [**तले**] नीचे रक्खे हुए [**अधिकरणे उपरि**] अहरनके ऊपर [**घनपातनं**] घनकी चोट [**संडसकलुंचनं**] सिंडासीसे खेंचना [**पिट्टंतं त्रोटनं**] चोट लगने से टूटना इत्यादि दुःखोंको सहती है ऐसा [**पश्य**] देख । **भावार्थ**—लोहकी संगतिसे लोक प्रसिद्ध देवता अग्नि दुःख भोगती है यदि लोहेका संबंध न करे तो इतने दुःख क्यों भोगे अर्थात् जैसे अग्नि लोहपिंडके सबंधसे दुःख भोगती है उसी

देवता पितृनक्रियां लभते तथा लोभादिकषायपरिणतिकारणभूतेन पंचेंद्रियशरीरसंबंधेन निर्लोभपरमात्मतत्त्वभावनारहितो जीवो घनघातस्थानीयानि नारकादिदुःखानि बहुकालं सहत इति ॥ २४४ ॥

अथ स्नेहपरित्यागं कथयति,—

जोइय णेहु परिच्चयहि, णेहु ण भल्लउ होइ ।
णेहासत्तउ सयलु जगु, दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ २४५ ॥

योगिन् स्नेहं परित्यज स्नेहो न भद्रो भवति ।
स्नेहासक्तं सकलं जगत् दुःख सहमानं पश्य ॥ २४५ ॥

रागादिस्नेहप्रतिपक्षभूते वीतरागपरमात्मपदार्थध्याने स्थित्वा शुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं हे योगिन् स्नेहं परित्यज । कस्मात् । स्नेहो भद्रः समीचीनो न भवति । तेन स्नेहेनासक्तं सकलं जगन्निःस्नेहशुद्धात्मभावनारहितं विविधशरीरमानसरूपं बहुदुःखं सहमानं पश्येति । अत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गं मुक्त्वा तत्प्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ स्नेहो न कर्तव्य इति तात्पर्य । उक्तं च । "तावदेव सुखी जीवो यावन्न स्निह्यते क्वचित् । स्नेहानुविद्धहृदयं दुःखमेव पदे पदे" ॥ २४५ ॥

अथ स्नेहदोषं दृष्टांतेन द्रढयति,—

जलसिंचणु पयणिद्दलणु, पुणु पुणु पीलणदुक्खु ।
णेहहं लग्गिवि तिलणियरु, जंति सहंतउ पिक्खु ॥ २४६ ॥

तरह लोह अर्थात् लोभके कारणसे परमात्मतत्त्वकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव घनघातके समान नरकादि दुःखोंको बहुतकालतक भोगता है ॥ २४४ ॥

आगे स्नेहका त्याग दिखलाते हैं;—[योगिन्] हे योगी रागादिरहितवीतराग परमात्मपदार्थके ध्यानमें ठहरकर ज्ञानका वैरी [स्नेहं] स्नेह (प्रेम) को [परित्यज] छोड [स्नेहः] क्योंकि स्नेह [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं है [स्नेहासक्तं] स्नेहमे लगाहुआ [सकलं जगत्] समस्त ससारी जीव [दुःखं सहमानं] अनेक प्रकार शरीर और मनके दुःख सह रहा है उसको तू [पश्य] देख । ये ससारी जीव स्नेहरहित शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित हैं, इसलिये नानाप्रकारके दुःख भोगते हैं । दु.खका मूल एक देहादिकका स्नेह ही है । भावार्थ—यहा भेदाभेदरत्नत्रयरूप मोक्षके मार्गसे विमुख होकर मिथ्यात्वरागादिमें स्नेह नही करना यह सारांश है । क्योंकि ऐसा कहा भी है कि जब तक यह जीव जगतसे स्नेह न करे तबतक सुखी है और जो स्नेहसहित है जिनका मन स्नेहसे बँध रहा है उनको हर जगह दु.ख ही है ॥ २४५ ॥

जलसिंचनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखं ।
स्नेहं लग्नेन तिलनिकरं यंत्रेण सहमानं पश्य ॥ २४६ ॥

जलसिंचनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखं स्नेहनिमित्तं तिलनिकरं यंत्रेण सहमानं पश्येति । अत्र वीतरागचिदानंदैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमसेवमाना अजानंतो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन निश्चलचित्तेनाभावयंतश्च जीवा मिथ्यामार्गं रोचमानाः पंचेंद्रियविषयासक्ताः संतो नरनारकादिगतिषु यंत्रपीडनक्रकचविदारणं शूलारोहणादि नाना दुःखं सहंत इति भावार्थः ॥ २४६ ॥

उक्तं चः—

ते च्चिय धण्णा ते च्चिय, सप्पुरिसा ते जियंतु जियलोए ।
वोद्दहदहम्मि पडिया, तरंति जे चेव लीलाए ॥ २४७ ॥

ते चैव धन्याः ते चैव सत्पुरुषाः ते जीवंतु जीवलोके ।
यौवनद्रहे पतिताः तरंति ये चैव लीलया ॥ २४७ ॥

ते चैव धन्यास्ते चैव सत्पुरुषास्ते जीवंतु जीवलोके । ते के । वोद्दहशब्देन यौवनं स एव द्रहो महाह्रदस्तत्र पतिताः संतस्तरंति ये चैव । कया । लीलयेति । अत्र विषयाकांक्षारूपस्नेहजलप्रवेशरहितेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रामूल्यरत्नभांडपूर्णेन निजशुद्धात्मभावनापोतेन यौवनमहाह्रदं ये तरंति त एव धन्यास्त एव सत्पुरुषा इति तात्पर्यं ॥ २४७ ॥

आगे स्नेहका दोष दृष्टांतकर दृढ करते हैं;—[**तिलनिकरं**] जैसे तिलोंका समूह [**स्नेहं लग्नेन**] स्नेह (चिकनाई) के संबंधसे [**जलसिंचनं**] जलसे भीगना [**पादनिर्दलनं**] पैरोंसे खुंदना [**यंत्रेण**] घानीमें [**पुनः पुनः**] वार वार [**पीडनदुःखं**] पिलनेका दुःख [**सहमानं**] सहता है उसे [**पश्य**] देखो । **भावार्थ**—जैसे स्नेह (चिकनाई–तेल)के सबंध होने से तिल घानीमें पीडे जाते हैं उसीतरह जो पंचेद्रीके विषयोंमें आसक्त हैं मोहित हैं वे नाशको प्राप्त होते हैं इसमें कुछ संदेह नही है ॥ २४६ ॥

इस विषयमें कहा भी है;—[**ते चैव धन्याः**] वे ही धन्य हैं [**ते चैव सत्पुरुषाः**] वे ही सज्जन हैं और [**ते**] वेही जीव [**जीवलोके**] इस जीवलोकमें [**जीवंतु**] जीवते हैं [**ये चैव**] जो [**यौवनद्रहे**] जवान अवस्थारूपी वड़े भारी तालावमें [**पतिताः**] पड़े हुए विषयरसमें नही डूवते [**लीलया**] लीला (खेल) मात्रमें ही [**तरंति**] तैर जाते हैं । वे ही प्रशंसा योग्य हैं । **भावार्थ**—यहां विषयवांछारूप जो स्नेहजल उसके प्रवेशसे रहित जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नोंसे भरा निज शुद्धात्मभावनारूपी जिहाज उससे यौवन अवस्थारूपी महान तालावको तैर जाते हैं वे ही सत्पुरुष हैं वे ही धन्य हैं यह सारांश जानना बहुत विस्तारसे क्या लाभ है ॥ २४७ ॥

किं बहुना विस्तरेण;—

मोक्खु जि साहिउ जिणवरहिं, छंडिवि बहुविहु रज्जु ।
भिक्खभरोडा जीव तुहुं, करहि ण अप्पउ कज्जु ॥ २४८ ॥

मोक्षः एव साधितः जिनवरैः त्यक्त्वा बहुविधं राज्यं ।
भिक्षाभोजन जीव त्वं करोषि न आत्मीयं कार्यं ॥ २४८ ॥

मुक्खु जि इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **मोक्खु जि साहिउ** मोक्ष एव साधितः निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्यात्मन आत्यंतिकस्वाभाविकज्ञानादिगुणास्पदमवस्थांतरं मोक्षः स साधितः । कैः । **जिणवरहिं** जिनवरैः । किं कृत्वा । **छंडिवि** त्यक्त्वा । किं । **बहुविहु रज्जु** सप्तांगं राज्यं । केन । भेदाभेदरत्नत्रयभावनाबलेन । एवं ज्ञात्वा **भिक्खभरोडा जीव** भिक्षाभोजन हे जीव **तुहुं** त्वं **करहि ण अप्पउ कज्जु** कि न करोपि आत्मीयं कार्यमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा बाह्याभ्यंतरपरिग्रहं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २४८ ॥

अथ हे जीव त्वमपि जिनभट्टारकवदष्टकर्मनिर्मूलनं कृत्वा मोक्षं गच्छेति संबोधयति,—

पावहि दुक्खु महंतु तुहु, जिय संसारि भमंतु ।
अट्ठवि कम्मइ णिद्दलिवि, वचहि मुक्खु महंतु ॥ २४९ ॥

आगे मोक्षका कारण वैराग्यको दृढ करते हैं,—[**जिनवरैः**] जिनेश्वरदेवने [**बहुविधं**] अनेक प्रकारका [**राज्यं**] राज्यका विभव [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**मोक्ष एव**] मोक्षको ही [**साधितः**] साधन किया परंतु [**जीव**] हे जीव [**भिक्षाभोजन**] भिक्षासे भोजनकरनेवाला [**त्वं**] तू [**आत्मीयं कार्यं**] अपने आत्माका कल्याण भी [**न करोपि**] नहीं करता । **भावार्थ**—समस्त कर्ममलकलंकसे रहित जो आत्मा उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंका स्थान तथा ससार अवस्थासे अन्य अवस्थाका होना वह मोक्ष कही जाती है उसी मोक्षको वीतरागदेवने राज्यविभूति छोड़कर सिद्ध किया । राज्यके सात अंग हैं राजा मंत्री सेना वगैरः । ये जहा पूर्ण हों वह उत्कृष्ट राज्य कहलाता है वह राज्य तीर्थंकरदेवका है उसको छोड़नेमें वे तीर्थंकर देरी नही करते । लेकिन तू निरधन होकर आत्मकल्याण नहीं करता । तू माया जालको छोड़कर महान पुरुषोंकी तरह आत्मकार्य कर । उन महान पुरुषोंने भेदाभेद रत्नत्रयकी भावनाके बलसे निजस्वरूपको जानकर विनाशीक राज्य छोड़ा, अविनाशीराज्यकेलिये उद्यमी हुए । यहापर ऐसा व्याख्यान समझकर बाह्याभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना तथा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर दुर्धर तप करना यह सारांश हुआ ॥ २४८ ॥

प्राप्नोषि दुःखं महत् त्वं जीव संसारे भ्रमन् ।
अष्टापि कर्माणि निर्दल्य व्रज मोक्षं महांतं ॥ २४९ ॥

पावहि इत्यादि । **पावहि दुक्खु महंतु** प्राप्नोषि दुःखं महद्रूपं **तुहुं** त्वं **जिय** हे जीव । किंकुर्वन् । **संसारि भमंतु** निश्चयेन संसारे विपरीतशुद्धात्मविलक्षणं द्रव्यक्षेत्रकालभवभाव-पंचभेदभिन्नं संसारं भ्रमन् । तस्मात्कुरु **अट्ठवि कम्मइं णिद्दलिवि** शुद्धात्मोपलंभवलेनाष्टापि कर्माणि निर्मूल्य **वच्चहि** व्रज । कं । **मुक्खु** स्वात्मोपलब्धिलक्षणं मोक्षं । तथा चोक्तं । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः । कथंभूतं मोक्षं । **महंतु** केवलज्ञानादिमहागुणयुक्तत्वान्महांत-मित्यभिप्रायः ॥ २४९ ॥

अथ यद्यप्यल्पमपि दुःखं सोढुमसमर्थस्तथापि कर्माणि किमिति करोपीति शिक्षां प्रयच्छति;—

जिय अणुमित्तुवि दुक्खडा, सहण ण सक्कहि जोइ ।
चउगइदुक्खहं कारणइं, कम्मइं कुणहि किं तोइ ॥ २५० ॥

जीव अणुमात्राण्यपि दुःखानि सोढुं न शक्नोषि पश्य ।
चतुर्गतिदुःखानां कारणानि करोषि किं तथापि ॥ २५० ॥

जिय इत्यादि । **जिय** हे मूढ जीव **अणुमित्तुवि** अणुमात्राण्यपि । कानि । **दुक्खडा** दुःखानि **सहण ण सक्कहि** सोढुं न शक्नोपि **जोइ** पश्य यद्यपि **चउगइदुक्खहं कारणइं**

आगे हे जीव तू भी श्रीजिनराजकी तरह आठ कर्मोंका नाशकर मोक्षको जा ऐसे समझाते हैं;—[**जीव**] हे जीव [**त्वं**] तू [**संसारे**] संसार वनमें [**भ्रमन्**] भटकता हुआ [**महत् दुःखं**] महान् दुःख [**प्राप्नोषि**] पावेगा इसलिये [**अष्टापि कर्माणि**] ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मोंको [**निर्दल्य**] नाशकर [**महांतं मोक्षं**] सबमें श्रेष्ठ मोक्षको [**व्रज**] जा । **भावार्थ**—निश्चयकर संसारसे रहित जो शुद्धात्मा उससे जुदा जो द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप पांच तरहके परावर्तनस्वरूप संसार उसमें भटकता हुआ चार गतियोंके दुःख पावेगा, निगोदराशिमें अनंतकाल तक रुलेगा । इसलिये आठ कर्मोंका क्षय करके शुद्धात्माकी प्राप्तिके बलसे रागादिकका नाशकर निर्वाणको जा । कैसा है वह निर्वाण, जो निजस्वरूपकी प्राप्ति वही जिसका स्वरूप है और जो सबमें श्रेष्ठ है । केवलज्ञानादि महान् गुणोंकर सहित है । जिसके समान दूसरा कोई नहीं ॥ २४९ ॥

आगे जो थोड़े दुःखको भी सहनेको असमर्थ है तो ऐसे काम क्यों करता है कि जिन्होंसे अनंतकाल तक दुःख भोगै ऐसी शिक्षा देते हैं;—[**जीव**] हे मूढजीव तू [**अणुमात्राण्यपि**] परमाणुमात्र (थोड़े) भी [**दुःखानि**] दुःख [**सोढुं**] सहनेको [**न शक्नोषि**] नहीं समर्थ है [**पश्य** रे] देख [**तथापि**] तो फिर [**चतुर्गतिदुःखानां**] चार

परमात्मभावनोत्पन्नतात्त्विकवीतरागनित्यानंदैकविलक्षणानां नारकादिदुःखानां कारणभूतानि कम्मइं कुणहि किं कर्माणि करोपि किमर्थं तोइ यद्यपि दुःखानीष्टानि न भवंति तथापि इति। अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा कर्मास्रवप्रतिपक्षभूतरागादिविकल्परहिता निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यं ॥ २५० ॥

अथ वहिर्व्यासंगासक्तं जगत् क्षणमप्यात्मानं न चिंतयतीति प्रतिपादयति,—

धंधइ पडियउ सयलु जगु, कम्मइं करइ अयाणु।
मोक्खहं कारणु एक्कु खणु, णवि चिंतइ अप्पाणु ॥ २५१ ॥

धांधे पतित सकलं जगत् कर्माणि करोति अज्ञानि।
मोक्षस्य कारणं एकं क्षणं नैव चिंतयति आत्मानं ॥ २५१ ॥

धंधइ इत्यादि। धंधइ धांधे मिथ्यात्वविषयकषायनिमित्तोत्पन्ने दुर्ध्यानार्तरौद्रव्यासंगे पडियउ पतितं व्यासक्तं। किं। सयलु जगु समस्तं जगत् शुद्धात्मभावनापराङ्मुखो मूढप्राणिगणः कम्मइं करइ कर्माणि करोति। कथंभूतं जगत्। अयाणु विशिष्टभेदज्ञानरहितं मोक्खहं कारणु अनंतज्ञानादिस्वरूपमोक्षकारणं एक्कु खणु एकक्षणमपि णवि चिंतइ नैव ध्यायति। कं। अप्पाणु वीतरागपरमाह्लादरसास्वादपरिणतं स्वशुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥ २५१ ॥

गतियोंके दुःखके [कारणानि] कारण जो कर्म हैं [किं करोपि] उनको क्यों करता है। भावार्थ—परमात्मकी भावनासे उत्पन्न तत्त्वरूप वीतराग नित्यानंद परम स्वभाव उससे भिन्न जो नरकादिकके दुःख उनके कारण कर्म ही हैं। जो दुःख तुझे अच्छे नही लगते दुःखोंको अनिष्ट जानता है तो दुःखके कारण कर्मोंको क्यों उपार्जन करता है, मत करे। यहांपर ऐसा व्याख्यान जानकर कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रागादिक विकल्पजालोंसे रहित जो निज शुद्धात्माकी भावना वही करनी चाहिये ऐसा तात्पर्य जानना ॥ २५० ॥

आगे वाहरके परिग्रहमें लीन हुए जगतके प्राणी क्षणमात्र भी आत्माका चिंतवन नहीं करते ऐसा कहते हैं;—[धांधे पतितं] जगतके धंधेमें पड़ा हुआ [सकलं जगत्] सब जगत् [अज्ञानि] अज्ञानी हुआ [कर्माणि] ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंको [करोति] करता है परंतु [मोक्षस्य कारणं] मोक्षके कारण [आत्मानं] शुद्ध आत्माको [एकं क्षणं] एक क्षण भी [नैव चिंतयति] नही चिंतवन करता। भावार्थ—भेदविज्ञानसे रहित यह मूढ प्राणी शुद्धात्माकी भावनासे पराङ्मुख है इसलिये शुभाशुभ कर्मोंका ही बंध करता है और अनंतज्ञानादिस्वरूप मोक्षका कारण जो वीतराग परमानंदरूप निजशुद्धात्मा उसका एक क्षण भी विचार नही करता। सदा ही आर्त रौद्र ध्यानमें लग रहा है ऐसा सारांश है ॥ २५१ ॥

अथ तमेवार्थं दृढयति,—

जोणिलक्खइं परिभमइ, अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्तुकलत्तें मोहियउ, जाम ण णाणु महंतु ॥ २५२ ॥

योनिलक्षाणि परिभ्रमति आत्मा दुःखं सहमानः ।
पुत्रकलत्रैः मोहितः यावन्न ज्ञानं महत् ॥ २५२ ॥

जोणिं इत्यादि । **जोणिलक्खइं परिभमइ** चतुरशीतियोनिलक्षाणि परिभ्रमति । कोसौ । **अप्पा** बहिरात्मा । किं कुर्वन् । **दुक्खु सहंतु** निजपरमात्मतत्त्वध्यानोत्पन्नवीतरागसदानंदैकरूपाव्याकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं शारीरमानसदुःखं सहमानः । कथंभूतः सन् । **पुत्तकलत्तइं मोहियउ** निजपरमात्मभावनाप्रतिपक्षभूतैः पुत्रकलत्रैः मोहितः । किंपर्यंतं । **जाव ण** यावत्कालं न । किं । **णाणु** ज्ञानं । किंविशिष्टं । **महंतु** महतो मोक्षलक्षणस्यार्थस्य साधकत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं महदित्युच्यते । तेन कारणेन तदेव निरंतरं भावनीयमित्यभिप्रायः ॥ २५२ ॥

अथ हे जीव गृहपरिजनशरीरादिममत्वं मा कुर्विति संबोधयति;—

जीव म जाणहिं अप्पणउं, घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ, आगमि जोइहिं दिट्ठु ॥ २५३ ॥

जीव मा जानीहि आत्मीयं गृहं परिजनं तनुः इष्टं ।
कर्मायत्तं कृत्रिमं आगमे योगिभिः दृष्टं ॥ २५३ ॥

आगे उसी बातको दृढ करते हैं;—[**यावत्**] जबतक [**महत् ज्ञानं न**] सबमें श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है तबतक [**आत्मा**] यह जीव [**पुत्रकलत्रैः मोहितः**] पुत्र स्त्री आदिकोंसे मोहित हुआ [**दुःखं सहमानः**] अनेक दुःखोंको सहता हुआ [**योनिलक्षाणि**] चौरासी लाख योनियोंमें [**परिभ्रमति**] भटकता फिरता है । **भावार्थ**—यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें अनेक तरहके ताप सहता हुआ भटक रहा है निजपरमात्मतत्वके ध्यानसे उत्पन्न वीतराग परम आनंदरूप निर्व्याकुल अतींद्रिय सुखसे विमुख जो शरीरके तथा मनके नाना तरहके सुखदुःखोंको सहता हुआ भ्रमण करता है । निज परमात्माकी भावनाके शत्रु जो देहसंबंधी माता पिता भ्राता मित्र पुत्र कलत्रादि उनसे मोहित है तब तक अज्ञानी है वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानसे रहित है वह ज्ञान मोक्षका साधन है ज्ञानहीसे मोक्षकी सिद्धि होती है । इसलिये हमेशा ज्ञानकी ही भावना करनी चाहिये ॥ २५२ ॥

आगे हे जीव तू घर परिवार और शरीरादिका ममत्व मत कर ऐसा समझाते

जीव इत्यादि । जीव म जाणहिं हे जीव मा जानीहि अप्पणउ आत्मीयं । किं । घरु परियणु तणु इट्ठु गृहं परिजनं शरीरमिष्टमित्रादिकं । कथंभूतमेतत् । कम्मायत्तउ शुद्धचेतनास्वभावादमूर्तात्परमात्मनःसकाशाद्विलक्षणं यत्कर्म तदुदयेन निर्मितत्वात् कर्मायत्तं । पुनरपि कथंभूतं । कारिमउ अकृत्रिमात् टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतत्वात् कृत्रिमं विनश्वरं । इत्थंभूतं दिट्ठु दृष्टं । कैः । जोइहिं परमज्ञानसंपन्नदिव्ययोगिभिः । क्व दृष्टं । आगमि वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमे इति ।

अत्रेदमध्रुवव्याख्यानं ज्ञात्वा ध्रुवे स्वशुद्धात्मस्वभावे स्थित्वा गृहादिपरद्रव्ये ममत्वं न कर्तव्यमिति भावार्थः ॥ २५३ ॥

अथ गृहपरिवारादिचिंतया मोक्षो न लभ्यत इति निश्चिनोति,—

मुक्खु ण पावहि जीव तुहुं, घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिंतहि तउ जि तउ, पावहि मोक्खु महंतु ॥ २५४ ॥

मोक्षं न प्राप्नोषि जीव त्वं गृहं परिजनं चिंतयन् ।
ततः वरं चिंतय तप एव तपसा प्राप्नोषि मोक्ष महांतं ॥ २५४ ॥

मुक्खु इत्यादि । मुक्खु कर्ममलकलंकरहितकेवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितं मोक्षं ण पावहि न प्राप्नोषि न केवलं मोक्षं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च जीव हे मूढ जीव तुहुं त्वं । किं कुर्वन् सन् । घरु परियणु चिंतंतु गृहपरिवारादिकं परद्रव्यं चिंतयन्

हैं;—[जीव] हे जीव तू [गृहं] घर [परिजनं] परिवार [तनुः] शरीर [इष्टं] और मित्रादिकोंको [आत्मीयं मा जानीहि] अपने मत जान क्योंकि [आगमे] परमागममें [योगिभिः] योगियोंने [दृष्टं] ऐसा दिखलाया है कि ये [कर्मायत्तं] कर्मोंके आधीन हैं और [कृत्रिमं] विनाशीक है । भावार्थ—ये घर वगैरह शुद्ध चेतनस्वभाव अमूर्तीक निज आत्मासे भिन्न जो शुभाशुभ कर्म उसके उदयसे उत्पन्न हुए हैं इसलिये कर्माधीन हैं और विनश्वर होनेसे शुद्धात्मद्रव्यसे विपरीत है । शुद्धात्मद्रव्य किसीका वनाया हुआ नही है इसलिये अकृत्रिम है अनादि सिद्ध है टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है । जो टांचीसे गढा हुआ न हो विना ही गढी पुरुषाकार अमूर्तीक मूर्ति है । ऐसे आत्मस्वरूपसे ये देहादिक भिन्न हैं ऐसा सर्वज्ञकथित परमागममें परमज्ञानके धारी योगीश्वरोंने देखा है । यहांपर पुत्र मित्र स्त्री शरीर आदि सबको अनित्य जानकर नित्यानंदरूप निज शुद्धात्मस्वभावमें ठहरकर गृहादिक परद्रव्यमें ममता नहीं करना ॥ २५३ ॥

आगे घर परिवारादिककी चिंतासे मोक्ष नहीं मिलती ऐसा निश्चय करते हैं;—[जीव] हे जीव [त्वं] तू [गृहं परिजनं] घर परिवार वगैरः की [चिंतयन्] चिंता

सन् तो ततः कारणात् वरि वरं किंतु चिंतहि चिंतय ध्याय । किं । तउ जि तउ तपस्तप एव विचिंतय नान्यत् । तपश्चरणचिंतनात् किं फलं भवति । पावहि प्राप्नोषि । कं । मोक्खु पूर्वोक्तलक्षणं मोक्षं । कथंभूतं । महंतु तीर्थकरपरमदेवादिमहापुरुषैराश्रितत्वान्महांतमिति । अत्र बहिर्द्रव्येच्छानिरोधेन वीतरागतात्त्विकानंदपरमात्मस्वरूपे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा गृहादिममत्वं त्यक्त्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्य ॥ २५४ ॥

अथ जीवहिंसादोषं दर्शयति;—

मारिवि जीवहं लक्खडा, जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्तकलत्तहं कारणइं, तं तुहुं एक्कु सहीसि ॥ २५५ ॥

मारयित्वा जीवानां लक्षाणि यत् जीव पापं करिष्यसि ।
पुत्रकलत्राणां कारणेन तत् त्वं एकः सहिष्यसे ॥ २५५ ॥

मारिवि इत्यादि । **मारिवि जीवहं लक्खडा** रागादिविकल्परहितस्य स्वस्वभावनालक्षणस्य शुद्धचैतन्यप्राणस्य निश्चयेनाभ्यंतरे बधं कृत्वा वहिर्भागे चानेकजीवलक्षाणां तेन हिंसोपकरणेन **पुत्तकलत्तहं कारणइं** पुत्रकलत्रममत्वनिमित्तोत्पन्नदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्वरूपतीक्ष्णशस्त्रेण **जं जिय पाउ करीसि** हे जीव यत्पापं करिष्यसि **तं तुहुं एक्कु सहीसि** तत्पापफलं त्वं कर्ता नरकादिगतिष्वेकाकी सन् सहिष्यसे हि । अत्र रागाद्यभावो

करता हुआ [मोक्षं] मोक्ष [न प्राप्नोषि] कभी नहीं पासकता [ततः] इसलिये [वरं] उत्तम [तप एव] तपका ही [चिंतय] चिंतवनकर क्योंकि [तपसा] तपसे ही [महांतं मोक्षं] श्रेष्ठ मोक्ष सुखको [प्राप्नोषि] पासकेगा । **भावार्थ**—तू गृहादि परवस्तुओंको चिंतवन करता हुआ कर्मकलंक रहित केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित मोक्षको नही पायेगा और मोक्षका मार्ग जो निश्चयव्यवहाररत्नत्रय उसको भी नहीं पायेगा । इन गृहादिके चिंतवनसे भववनमें भ्रमण करेगा । इसलिये इनका चिंतवन तो मत कर लेकिन बारहप्रकारके तपका चिंतवनकर । इसीसे मोक्ष पायेगा । वह मोक्ष तीर्थंकर परमदेवाधिदेव महापुरुषोंसे आश्रित है इसलिये सबसे उत्कृष्ट है । मोक्षके समान अन्य पदार्थ नही । यहां परद्रव्यकी इच्छाको रोककर वीतराग परम आनंदरूप जो परमात्मस्वरूप उसके ध्यानमें ठहरकर घर परिवारादिकका ममत्व छोड एक केवल निजस्वरूपकी भावना करना यह तात्पर्य है । आत्मभावनाके सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नही है ॥ २५४ ॥

आगे जीवहिसाका दोष दिखलाते हैं;—[जीवानां लक्षाणि] लाखों जीवोंको [मारयित्वा] मारकर [जीव] हे जीव [यत्] जो तू [पापं करिष्यसि] पाप करता है [पुत्रकलत्राणां] पुत्र स्त्री वगैरहके [कारणेन] कारण [तत् त्वं] उसके फलको

निश्चयेनाहिंसा भण्यते । कस्मात् । निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणत्वात्, रागाद्युत्पत्तिस्तु निश्चयहिंसा । तदपि कस्मात् । निश्चयशुद्धप्राणस्य हिंसाकारणात् । इति ज्ञात्वा रागादिपरिणामरूपा निश्चयहिंसा त्याज्येति भावार्थः । तथा चोक्तं निश्चयहिंसालक्षणं । "रागादीण मणुप्पा अहिंसगत्तेत्ति देसिदं समए । तेसिं चेव उपत्ती हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठं" ॥ २५५ ॥

अथ तमेव हिंसादोषं दृढयति;—

मारिवि चूरिवि जीवडा, जं तुहुं दुक्खु करीसि ।
तं तह पासि अणंतगुणु, अवसइ जीव लहेसि ॥ २५६ ॥

तू [एकः] अकेला [सहिष्यसे] सहेगा । भावार्थ—हे जीव तू पुत्रादि कुटुंबकेलिये हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रहादि अनेक प्रकारके पाप करता है तथा अंतरंगमें रागादि विकल्प रहित ज्ञानादि शुद्ध चैतन्य प्राणोंका घात करता है अपने प्राण रागादिकमैलसे मैले करता है और बाह्यमें अनेक जीवोंकी हिंसाकरके अशुभकर्मोंको उपार्जन करता है उनका फल तू नरकादि गतिमें अकेला सहेगा । कुटुंबके लोक कोई भी तेरे दुःखके बटानेवाले नहीं हैं तू ही सहेगा । श्री जिनशासनमें हिंसा दोतरहकी है । एक आत्मघात दूसरी परघात । उनमेंसे जो मिथ्यात्वरागादिकके निमित्तसे देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप जो तीक्ष्ण शस्त्र उससे अपने ज्ञानादि प्राणोंको हतना वह निश्चय हिंसा है रागादिककी उत्पत्ति वह निश्चय हिंसा है । क्योंकि इन विभावोंसे निज भाव घाते जाते हैं । ऐसा जानकर रागादि परिणामरूप निश्चयहिसा त्यागना । यही निश्चयहिंसा आत्मघात है । और प्रमादके योगसे अविवेकी होकर एकेंद्री दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्री पंचेंद्री जीवोंका घात करना वह परघात है । जब इसने पर जीवका घात विचारा तब इसके परिणाम मलिन हुए और भावोंकी मलिनता ही निश्चयहिसा है इसलिये परघातरूप हिंसा आत्मघातका कारण है । जो हिंसक जीव है वह पर जीवोंका घातकर अपना घात करता है । यह स्वदया पर दयाका स्वरूप जानकर हिंसा सर्वथा त्यागना । हिंसाके समान अन्य पाप नही है । निश्चय हिंसाका स्वरूप सिद्धातमें दूसरी जगह ऐसा कहा है—जो रागादिकका अभाव वही शास्त्रमें अहिंसा कही है और रागादिककी उत्पत्ति वही हिसा है ऐसा कथन जिनशासनमें जिनेश्वरदेवने दिखलाया है । अर्थात् जो रागादिकका अभाव वह स्वदया और जो प्रमादरहित विवेकरूप करुणाभाव वह परदया है । यह स्वदया परदया धर्मका मूल कारण है । जो पापी हिसक होगा उसके परिणाम निर्मल नहीं होसकते ऐसा निश्चय है, पर जीव घात तो उसकी आयुके अनुसार है परंतु इसने जब परघात विचारा तब आत्मघाती हो चुका ॥ २५५ ॥

मारयित्वा चूरयित्वा जीवान् यत् त्वं दुःखं करोषि ।
तत्तदपेक्षया अनंतगुणं अवश्यमेव जीव लभसे ॥ २५६ ॥

मारिवि इत्यादि । **मारिवि** वहिर्विषये अन्यजीवान् प्राणिप्राणवियोगलक्षणेन मारयित्वा **चूरिवि** हस्तपादाद्येकदेशच्छेदरूपेण चूरयित्वा । कान् । **जीवडा** जीवान् निश्चयेनाभ्यंतरे तु मिथ्यात्वरागादिरूपतीक्ष्णशस्त्रेण शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयप्राणांश्च **जं तुहुं दुक्खु करीसि** यद्दुःखं त्वं कर्ता करिष्यसि तेषु पूर्वोक्तस्वपरजीवेषु **तं तह पासि अणंतगुणु** तद्दुःखं तदपेक्षया अनंतगुणं **अवसइं** अवश्यमेव **जीव** हे मूढजीव **लहीसि** प्राप्नोषीति । अत्रायं जीवो मिथ्यात्वरागादिपरिणतः पूर्वं स्वयमेव निजशुद्धात्मप्राणं हिनस्ति वहिर्विषये अन्यजीवानां प्राणघातो भवतु मा भवतु नियमो नास्ति । परघातार्थं तप्तायःपिंडग्रहणेन स्वहस्तदाहवत् इति भावार्थः । तथाचोक्तं । "स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कपायवान् । पूर्वं प्राण्यंतराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः" ॥ २५६ ॥

आगे उसी हिंसाके दोषको फिर निंदते हैं और दयाधर्मको दृढ करते हैं;—[**जीव**] हे जीव [**यत् त्वं**] जो तू [**जीवान्**] परजीवोंको [**मारयित्वा**] मारकर [**चूरयित्वा**] चूरकर [**दुःखं करोषि**] दुःखी करता है [**तत्**] उसका फल [**तदपेक्षया**] उसकी अपेक्षा [**अनंतगुणं**] अनंतगुणा [**अवश्यमेव**] निश्चयसे [**लभसे**] पावेगा । **भावार्थ**—निर्दई होकर अन्य जीवोंके प्राण हरना पर जीवको शस्त्रादिकसे घात करना वह मारना है और हाथ पैर आदिकसे तथा लाठी आदिसे पर जीवोंको काटना एकदेश मारना वह चूरना है यह हिंसा ही महा पापका मूल है । निश्चयनयसे अभ्यंतरमें मिथ्यात्व रागादिरूप तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शुद्धात्मानुभूतिरूप अपने निश्चयप्राणोंको हत रहा है क्लेशरूप करता है उसका फल अनंत दुःख अवश्य सहेगा । इसलिये हे मूढ जीव परजीवोंको मत मारे और मत चूरे तथा अपने भाव हिंसारूप मत करे उज्वल भाव रख जो तू जीवोंको दुःख देगा तो निश्चयसे अनंतगुणा दुःख पावेगा । यहां सारांश यह है—जो यह जीव मिथ्यात्वरागादिरूप परिणत हुआ पहले तो अपने भावप्राणोंका नाश करता है परजीवका घात हो या न हो परजीवका घात तो उसकी आयु पूर्ण होगई हो तव होता है अन्यथा नही परंतु इसने जब परका घात विचारा तब यह आत्मघाती हो चुका । जैसे गरम लोहेका गोला पकड़नेसे अपने हाथ तो निस्संदेह जलजाते हैं । इससे यह निश्चय हुआ कि जो परजीवोंपर खोटे भाव करता है वह आत्मघाती है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि जो आत्मा कषायवाला है निर्दयी है वह पहले तो आप ही अपनेसे अपना घात करता है इसलिये आत्मघाती है पीछे परजीवका घात होवे या न होवे । जीवकी आयु वाकी रही हो तो यह नही मारसकता परंतु इसने मारनेके भाव किये

अथ जीववधेन नरकगतिस्तद्रक्षणे स्वर्गो भवतीति निश्चिनोति;—

जीव वधंतहं णरयगइ, अभयपदाणें सग्गु ।
वे पह जवला दरिसिया, जहिं भावइ तहिं लग्गु ॥ २५७ ॥

जीवं वध्नतां नरकगतिः अभयप्रदानेन स्वर्गः ।
द्वौ पंथानौ समीपे दर्शितौ यत्र रोचते तत्र लग ॥ २५७ ॥

जीव वहंतहं इत्यादि । जीव वहंतहं निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणामरूपं बधं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेणेंद्रियचलायुःप्राणापानविनाशरूपमन्यजीवानां च बधं कुर्वतां **णरयगइ** नरकगतिर्भवति **अभयपदाणें** निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवानां च कुर्वतां **सग्गु** स्वस्याभयप्रदानेन मोक्षो भवत्यन्यजीवानामभयप्रदानेन स्वर्गश्चेति **वे पह जवला दरिसिया** एवं द्वौ पंथानौ समीपे दर्शितौ **जहिं रुच्चइ तहिं लग्गु** हे जीव यत्र रोचते तत्र लग्नो भव त्वमिति । कश्चिदज्ञानी प्राह । प्राणा जीवादभिन्ना भिन्ना वा यद्यभिन्नाः तर्हि जीववत्प्राणानां विनाशो नास्ति, अथ भिन्नास्तर्हि प्राणवधेपि जीवस्य वधो नास्त्यनेन प्रकारेण जीवहिंसैव नास्ति कथं जीववधे पापबंधो भविष्यतीति । परिहारमाह । कथंचिद्भेदाभेदः । तथाहि—स्वकायप्राणे हते सति दुःखोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेदः सैव दुःखो-

---

इसकारण निस्संदेह हिंसक हो चुका और जब हिंसाके भाव हुए तब ये कषायवान् हुआ । कषायवान होना ही आत्मघात है ॥ २५६ ॥

आगे जीवहिंसाका फल नरकगति है और रक्षाकर स्वर्ग होता है ऐसा निश्चय करते हैं;—[**जीवं वध्नतां**] जीवोंको मारनेवालोंकी [**नरकगतिः**] नरकगति होती है [**अभयप्रदानेन**] अभयदान देनेसे [**स्वर्गः**] स्वर्ग होता है [**द्वौ पंथानौ**] ये दोनों मार्ग [**समीपे**] अपने पास [**दर्शिता**] दिखलाये हैं [**यत्र**] जिसमें [**रोचते**] तेरी रुचि हो [**तत्र**] उसीमें [**लग**] तू लग जा । **भावार्थ**—निश्चयकर मिथ्यात्वविषयकषाय परिणामरूप निजघात और व्यवहारनयकर परजीवोंके इंद्री बल आयु श्वासोच्छ्वासरूप प्राणोंका विनाश उसरूप परप्राणघात सो प्राणघातियोंके नरकगति होती है । हिंसक जीव नरकहीके पात्र हैं । निश्चयनयकर वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन परिणामरूप जो निजभावोंका अभयदान निज जीवकी रक्षा और व्यवहारनयकर पर प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षारूप अभयदान यह स्वदया परदयास्वरूप **अभयदान** है उसके करनेवालोंके स्वर्ग मोक्ष होती है इसमें संदेह नहीं है । इनमेंसे जो अच्छा मालूम पडै उसे करो । ऐसी श्रीगुरुने आज्ञा की । ऐसा कथन सुनकर कोई अज्ञानी जीव तर्क करता है कि, जो ये प्राण जीवसे जुदे हैं कि नहीं? यदि जीवसे जुदे नहीं हैं तो जैसे जीवका नाश

त्पत्तिस्तु हिंसा भण्यते ततश्च पापबंधः । यदि पुनरेकांतेन देहात्मनोर्भेद एव तर्हि परकीयदेहघाते दुःखं न भवति तथा स्वदेहघातेपि दुःखं न स्यान्न च तथा । निश्चयेन पुनर्जीवे गतेपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता पापबंधोपि न च निश्चयेन इति । सत्यमुक्तं त्वया, व्यवहारेण पापं तथैव नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेति । तदिष्टं भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूयमिति ॥ २५७ ॥

अथ मोक्षमार्गे रतिं कुर्विति शिक्षां ददाति;—

मूढा सयलुवि कारिमउ, भुल्लउ मं तुस कंडि ।
सिवपहि णिम्मलि करहि रइ, घरु परियणु लहु छंडि ॥ २५८ ॥

मूढ सकलमपि कृत्रिमं भ्रांत्वा मा तुषं कंडय ।
शिवपथे निर्मले कुरु रतिं गृहं परिजनं लघु त्यज ॥ २५८ ॥

नहीं है वैसे प्राणोंका भी नाश नही होसकता । अगर जुदे हैं अर्थात् जीवसे सर्वथा भिन्न हैं तो इन प्राणोंका नाश नही होसकता । इस प्रकारसे जीवहिंसा है ही नहीं तुम जीवहिंसामें पाप क्यों मानते हो । उसका समाधान । जो ये इंद्रिय बल आयु श्वासोच्छ्वास प्राण जीवसे किसी नयकर अभिन्न हैं भिन्न नही हैं किसी नयसे भिन्न हैं । ये दोनों नय प्रमाणीक हैं । अब अभेद कहते हैं सो सुनो । अपने प्राणोंके होनेपर जो व्यवहार नयकर दुःखकी उत्पत्ति वह हिंसा है उसीसे पापका बंध होता है । और जो इन प्राणोंको सर्वथा जुदे ही मानें देह और आत्माका सर्वथा भेद ही जानें तो जैसे परके शरीरका घात होनेपर दुःख नहीं होता है वैसे अपने देहके घातमें भी दुःख न होना चाहिये इसलिये व्यवहारनयकर जीवका और देहका एकत्व दीखता है परंतु निश्चयसे एकत्व नहीं है । यदि निश्चयसे एकपना होवे तो देहके विनाश होनेसे जीवका विनाश हो जावे सो जीव अविनाशी है । जीव इस देहको छोड़कर परभवको जाता है तब देह नहीं जाती है । इसलिये जीव और देहमें भेद भी है । यद्यपि निश्चयनयकर भेद है तौभी व्यवहारनयकर प्राणोंके चले जानेसे जीव दुःखी होता है सो जीवको दुःखी करना यही हिंसा है और हिंसासे पापका बंध होता है । निश्चयनयकर जीवका घात नहीं होता यह तूने कहा वह सत्य है परंतु व्यवहारनयकर प्राणवियोगरूप हिंसा है ही और व्यवहारनयकर ही पाप है और पापका फल नरकादिकके दुःख हैं वे भी व्यवहारनयकर ही है । यदि तुझे नरकके दुःख अच्छे लगते हैं तो हिंसा कर और नरकका भय है तो हिंसा मत कर । ऐसे व्याख्यानसे अज्ञानी जीवोंका संशय मेटा ॥ २५७ ॥

मूढा इत्यादि । मूढा सयलुवि कारिमउ हे मूढजीव शुद्धात्मानं विहायान्यत् पंचेंद्रियविषयरूपं समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं भुल्लउं मं तुस कंडि भ्रांतो भूत्वा तुषकंडनं मा कुरु एवं विनश्वरं ज्ञात्वा सिवपहि णिम्मलि शिवशब्दवाच्यविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो मुक्तात्मा तस्य प्राप्त्युपायः पंथा निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपः स च रागादिरहितत्वेन निर्मलः करहि रइ इत्थंभूते मोक्षे मोक्षमार्गे च रतिं प्रीतिं कुरु घरु परियणु लहु छंडि पूर्वोक्तमोक्षमार्गप्रतिपक्षभूतं गृहं परिजनादिकं शीघ्रं त्यजेति तात्पर्यं ॥ २५८ ॥

अथ पुनरप्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति,-

जोइय सयलुवि कारिमउ, णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीविं जंतिं कुडि ण गय, इहु पडिछंदा जोइ ॥ २५९ ॥

योगिन् सकलमपि कृत्रिमं निःकृत्रिमं न किमपि ।
जीवेन याता देहो न गतः इमं दृष्टांतं पश्य ॥ २५९ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् सयलुवि कारिमउ टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावादकृत्रिमाद्वीतरागनित्यानंदैकस्वरूपात् परमात्मनः सकाशात् यदन्यन्मनोवाक्कायव्यापाररूपं तत्समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं णिक्कारिमउ ण कोइ अकृत्रिमं नित्यं पूर्वोक्तपरमात्मसदृशं संसारे किमपि नास्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाह । जीविं जंतिं कुडि ण गय शुद्धात्मतत्त्वभावनारहितेन मिथ्यात्वविषयकषायासक्तेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तत्कर्मसहितेन जीवेन

आगे श्रीगुरु यह शिक्षा देते हैं कि तू मोक्षमार्गमें प्रीति कर,—[मूढ] हे मूढ जीव [सकलमपि] शुद्धात्माके सिवाय अन्य सब विषयादिक [कृत्रिमं] विनाशवाले हैं तू [भ्रांत्वा] भ्रम (भूल) से [तुषं मा कंडय] भूसेका खंडन मत कर । तू [निर्मले] परमपवित्र [शिवपथे] मोक्षमार्गमें [रतिं] प्रीति [कुरु] कर [गृहं परिजनं] और मोक्षमार्गका उद्यमी होके घर परिवार आदिको [लघु] शीघ्र ही [त्यज] छोड़ । **भावार्थ**—हे मूढ शुद्धात्मस्वरूपके सिवाय अन्य सब पंचेंद्रीविषयरूप पदार्थ नाशवान् हैं तू भ्रमसे भूला हुआ असार भूसेके कूटनेकी तरह कार्य न कर इस सामग्रीको विनाशीक जानकर शीघ्र ही मोक्षमार्गके घातक घर परिवार आदिकको छोड़कर मोक्षमार्गका उद्यमी होके ज्ञानदर्शनस्वभावको रखनेवाले शुद्धात्माकी प्राप्तिका उपाय जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप मोक्षका मार्ग उसमें प्रीतिकर । जो मोक्षमार्ग रागादिकसे रहित होनेकर महा निर्मल है ॥ २५८ ॥

आगे फिर भी अनित्यानुप्रेक्षाका व्याख्यान करते हैं,—[योगिन्] हे योगी [सकलमपि] सभी] कृत्रिमं] विनश्वर हैं [निःकृत्रिमं] अकृत्रिम [किमपि] कोई भी वस्तु [न] नहीं है [जीवेन याता] जीवके जानेपर उसके साथ [देहो न गतः]

भवांतरं प्रति गच्छतापि कुडिशब्दवाच्यो देहः सहैव न गत इति हे जीव इहु पडिछंदा जोइ इमं दृष्टांतं पश्येति । अत्रेदमध्रुवं ज्ञात्वा देहममत्वप्रभृतिविभावरहितं निजशुद्धात्मपदार्थभावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः ॥ २५९ ॥

अथ तपोधनं प्रत्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति,—

देउलु देउवि सत्थु गुरु, तित्थु वि वेउवि कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ, इंधणु होसइ सव्वु ॥ २६० ॥

देवकुलं देवोपि शास्त्रं गुरुः तीर्थमपि वेदोपि काव्यं ।
वृक्षः यत् दृश्यते कुसुमितं इंधनं भविष्यति सर्वं ॥ २६० ॥

देउलु इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । देउलु निर्दोषिपरमात्मस्थापनाप्रतिमाया रक्षणार्थं देवकुलं मिथ्यात्वदेवकुलं वा देउवि तस्यैव परमात्मनोऽनंतज्ञानादिगुणस्मरणार्थं धर्मप्रभावनार्थं वा प्रतिमास्थापनारूपो देवः रागादिपरिणतदेवताप्रतिमारूपो वा सत्थु वीतरागनिर्विकल्पात्मतत्त्वप्रभृतिपदार्थप्रतिपादकं शास्त्रं मिथ्याशास्त्रं वा गुरु लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानादिगुणसमृद्धस्य परमात्मनः प्रच्छादको मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपो महाऽज्ञानांधकारदर्पो तद्व्यापि यद्वचनदिनकरकिरणविदारितः सन् क्षणमात्रेण च विलयं गतः स च जिनदीक्षादायकः श्रीगुरुः तद्विपरीतो मिथ्यागुरुर्वा तित्थुवि संसारतरणोपायभूतनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारूपनिश्चयतीर्थं तत्स्वरूपरतः परमतपोधनानां आवा-

---

शरीर भी नहीं जाता [इमं दृष्टांतं] इस दृष्टांतको [पश्य] प्रत्यक्ष देखो । **भावार्थ—** हे योगी टंकोत्कीर्ण (अघटित घाट–विना टांचीका गढा) अमूर्तीक पुरुषाकार आत्मा केवल ज्ञायक स्वभाव अकृत्रिम वीतराग परमानंद स्वरूप उससे जुदे जो मन वचन कायके व्यापार उनको आदि ले सभी कार्य पदार्थ विनश्वर हैं । इस संसारमें देहादि समस्त सामग्री अविनाशी नहीं है जैसा शुद्ध बुद्ध परमात्मा अकृत्रिम है वैसा देहादिमेंसे कोई भी नही है सब क्षण भंगुर हैं । शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित जो मिथ्यात्व विषयकषाय हैं उनसे आसक्त होके जीवने जो कर्म उपार्जन किये हैं उन कर्मोंसे जब यह जीव परभवमें गमन करता है तब शरीर भी साथ नही जाता । इसलिये इस लोकमें इन देहादिक सबको विनश्वर जानकर देहादिकी ममता छोड़ना चाहिये और सकल विभाव रहित निज शुद्धात्मपदार्थकी भावना करनी चाहिये ॥ २५९ ॥

आगे मुनिराजोंको देवल आदि सभी सामग्री अनित्य दिखलाते हुए अध्रुवानुप्रेक्षाको कहते हैं;—[**देवकुलं**] अरहंतदेवकी प्रतिमाका स्थान जिनालय [**देवोपि**] श्री जिनेंद्रदेव [**शास्त्रं**] जैन शास्त्र [**गुरुः**] दीक्षा देनेवाले गुरू [**तीर्थमपि**] संसारसागरसे

सभूतं तीर्थकदंवकमपि मिथ्यातीर्थसमूहो वा वेउवि निर्दोपपरमात्मोपदिष्टवेदशब्दवाच्यः सिद्धांतोपि परकल्पितवेदो वा कव्वु शुद्धजीवपदार्थादीनां गद्यपद्याकारेण वर्णकं काव्यं लोकप्रसिद्धविचित्रकथाकाव्यं वा वत्थु परमात्मभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं वनस्पतिनाम कर्म तदुदयजनितं वृक्षकदंवकं जो दीसइ कुसुमियउ यत् दृश्यते कुसुमितं पुष्पितं इंधणु होसइ सव्वु तत्सर्वं कालाग्नेरिंधनं भविष्यति विनाशं यास्यतीत्यर्थः । अत्र तथा तावत्पंचेंद्रियविपये मोहो न कर्तव्यः प्राथमिकानां यानि धर्मतीर्थवर्तनानिमित्तानि देवकुलदेवप्रतिमादीनि तत्रापि शुद्धात्मभावना कालेन कर्तव्येति संबंधः ॥ २६० ॥

तैरनेके कारण परमतपस्वियोंके स्थान सम्मेदसिखर आदि [वेदोपि] द्वादशांगरूप सिद्धांत [काव्यं] गद्यपद्यरूप रचना इत्यादि [यद् वस्तु कुसुमितं] जो वस्तु अच्छी या वुरी दीखनेमें आतीं हैं वे [सर्वं] सब [इंधनं] कालरूपी अग्निका ईंधन [भविष्यति] हो जावेंगी । भावार्थ—निर्दोष परमात्मा श्री अरहंत देव उनकी प्रतिमाके पधारनेकेलिये जो गृहस्थोंने देवालय (जैनमंदिर) वनाया है वह विनाशीक है; अनंत ज्ञानादिगुणरूप श्री जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा धर्मकी प्रभावनाके अर्थ भव्यजीवोंने देवालयमें स्थापन की है उसे देव कहते है वह भी विनश्वर है । यह तो जिनमंदिर और जिन प्रतिमाका निरूपण किया, इसके सिवाय अन्यदेवोंके मंदिर और अन्यदेवकी प्रतिमा ये सव ही विनश्वर है; वीतराग निर्विकल्प जो आत्मतत्त्व उसको आदि ले जीव अजीवादि सकल पदार्थ उनका निरूपण करनेवाला जो जैनशास्त्र वह भी यद्यपि अनादि प्रवृत्तिकी अपेक्षा नित्य है तौभी वक्ता श्रोता पुस्तकादिककी अपेक्षा विनश्वर ही है, और जैनसिवाय जो सांख्यपातंजलादि परशास्त्र है वे भी सव विनाशीक हैं । जिनदीक्षाके देनेवाले लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानादिगुणोंकर पूर्ण परमात्माके रोकनेवाला जो मिथ्यात्वरागादि परिणत महा अज्ञानरूप अंधकार उसके दूर करनेकेलिये सूर्यके समान जिनके वचनरूप किरणोंसे मोहांधकार दूर होगया है ऐसे महामुनि गुरु हैं वे भी विनश्वर हैं, और उनके आचरणसे विपरीत विपरीत जो अज्ञान तापस मिथ्यागुरु वे भी क्षणभंगुर हैं । संसार समुद्रके तरनेका कारण जो निज शुद्धात्मतत्व उसकी भावनारूप जो निश्चयतीर्थ उसमें लीन परमतपोधनका निवास स्थान संमेद सिखर गिरनार आदिक वे तीर्थ हैं वे भी विनश्वर हैं, और जिन तीर्थके सिवाय जो पर यतियोंके निवास वे परतीर्थ वे भी विनाशीक हैं । निर्दोष परमात्मा जो सर्वज्ञ वीतरागदेव उनकर उपदेश किया गया जो द्वादशांग सिद्धांत वह वेद है वह यद्यपि सदा सनातन है तौभी क्षेत्रकी अपेक्षा विनश्वर है किसी समय किसी क्षेत्रमें पाया जाता है किसी समय नहीं पाया जाता, भरत क्षेत्र ऐरावत क्षेत्रमें कभी प्रगट हो जाता है कभी

अथ शुद्धात्मद्रव्यादन्यत्सर्वमध्रुवमिति प्रकटयति;—

एक्कु जि मिल्लिवि बंभु परु, भुवणुवि एहु असेसु ।
पुहविहिं णिम्मिउ भंगुरउ, एहउ बुज्झि विसेसु ॥ २६१ ॥

एकमेव मुक्त्वा ब्रह्म परं भुवनमपि इदं अशेषं ।
पृथिव्यां निर्मापितं भंगुरं इमं बुध्यस्व विशेषं ॥ २६१ ॥

एक्कु जि इत्यादि । एक्कु जि एकमेव **मिल्लिवि** मुक्त्वा । किं । **बंभु परु** परमब्रह्मशब्द-वाच्यं नानावृक्षभेदभिन्नवनमिव नानाजीवजातिभेदभिन्नं शुद्धसंग्रहनयेन शुद्धजीवद्रव्यं **भुवणुवि** भुवनमपि **एहु** इदं प्रत्यक्षीभूतं । कतिसंख्योपेतं । **असेसु** अशेषं समस्तमपि । कथंभूतमिदं सर्वं **पुहविहिं णिम्मिउ** पृथिव्यां लोके निर्मापितं **भंगुरउ** विनश्वरं **एहउं बुज्झि विसेसु** इमं विशेषं बुध्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट । अयमत्र भावार्थः ।

विलय हो जाता है और महा विदेह क्षेत्रमें यद्यपि प्रवाहकर सदा शाश्वता है तौभी वक्ता श्रोता व्याख्यानकी अपेक्षा विनश्वर है वे ही वक्ता श्रोता हमेशा नहीं पाये जाते इसलिये विनश्वर है, और परमतियोंकर कहा गया जो हिंसारूप वेद वह भी विनश्वर है । शुद्धजीवादिपदार्थोंका वर्णन करनेवाली संस्कृत प्राकृत छटा रूप गद्य व छंदबंधरूप पद्य उस स्वरूप और जिसमें विचित्र कथाये हैं ऐसे सुंदर काव्य कहे जाते हैं वे भी विनश्वर हैं, और खोटे कवियोंकर प्रकाशित खोटे काव्य वे भी विनश्वर हैं । इत्यादि जो जो वस्तु सुंदर और असुंदर दीखती हैं वे सब कालरूपी अग्निका ईंधन हो जावेंगीं । तात्पर्य यह है कि सब भसम हो जावेंगी और परमात्माकी भावनासे रहित जो जीव उसने उपार्जन किया जो वनस्पति नाम कर्म उसके उदयसे वृक्ष हुआ सो वृक्षोंके समूह जो फूले फले दीखते हैं वे सब ईंधन हो जावेंगे । ससारका सब ठाठ क्षणभंगुर है ऐसा जानकर पंचेंद्रियोंके विषयोंमें मोह नही करना, विषयका राग सर्वथा त्यागना योग्य है । प्रथम अवस्थामें यद्यपि धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिका निमित्त जिनमंदिर जिनप्रतिमा जिनधर्म तथा जैनधर्मी इनमें प्रेम करना योग्य है तौभी शुद्धात्माकी भावनाके समय यह धर्मानुराग भी नीचे दरजेका गिना जाता है वहां पर केवल वीतरागभाव ही है ॥ २६० ॥

आगे शुद्धात्मस्वरूपसे अन्य जो सामग्री है वह सभी विनश्वर है ऐसा व्याख्यान करते हैं;—[**एकं परं ब्रह्म एव**] एक शुद्ध जीवद्रव्यरूप पर ब्रह्मको [**मुक्त्वा**] छोड-कर [**पृथिव्यां**] इस लोकमें [**इदं अशेषं भुवनमपि निर्मापितं**] इस समस्त लोकके पदार्थोंकी रचना है वह सब [**भंगुरं**] विनाशीक है [**इमं विशेषं**] इस विशेष वातको तू [**बुध्यस्व**] जान । **भावार्थ**—शुद्ध संग्रहनयकर समस्त जीवराशि एक है । जैसे नाना-प्रकारके वृक्षोंकर भरा हुआ वन एक कहा जाता है उसीतरह नानाप्रकारके जीव जाति

विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धजीवत्वं मुक्त्वान्यत्पंचेंद्रियविषयभूतं विनश्वरमिति ॥ २६१ ॥

अथ पूर्वोक्तमध्रुवत्वं ज्ञात्वा धनयौवने तृष्णा न कर्तव्येति कथयति,—

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि, ते अत्थवणि ण दिट्ठ ।
तें कारणिं वढ धम्मु करि, धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥ २६२ ॥

ये दृष्टाः सूर्योद्गमने ते अस्तमने न दृष्टाः ।
तेन कारणेन वत्स धर्मं कुरु धने यौवने का तृष्णा ॥ २६२ ॥

जे दिट्ठा इत्यादि । **जे दिट्ठा** ये केचन दृष्टाः । क । **सूरुग्गमणि** सूर्योदये ते **अत्थवणि ण दिट्ठ** ते पुरुषा गृहधनधान्यादिपदार्था वा अस्तमने न दृष्टाः एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा **तें कारणि वढ धम्मु करि** तेन कारणेन वत्स पुत्र सागारानागारधर्मं कुरु **धणि जोवणि कउ तिट्ठ** धने यौवने वा का तृष्णा न कापीति । तद्यथा । गृहस्थेन धने तृष्णा न कर्तव्या तर्हि किं कर्तव्यं । भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानां सर्वतात्पर्येणाहारादिचतुर्विधं दानं दातव्यं ।

करके एक कहे जाते हैं। वे सब जीव अविनाशी हैं और सब देहादिकी रचना विनाशीक दीखती है । शुभ अशुभकर्मकर जो देहादिक इस जगतमें रची गई है वह सब विनाशीक है हे प्रभाकर भट्ट ऐसा विशेष तू जान देहादिकको अनित्य जान और जीवोंको नित्य जान । निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव पर ब्रह्म (शुद्ध जीवतत्त्व) उससे भिन्न जो पाच इंद्रियोंका विषय वन वह क्षणभंगुर जानो ॥ २६१ ॥

आगे पूर्वोक्त विषयसामग्रीको अनित्य जानकर धन यौवन और विषयोंमें तृष्णा नही करनी चाहिये ऐसा कहते हैं;—[**वत्स**] हे शिष्य [**ये**] जो कुछ पदार्थ [**सूर्योद्गमने**] सूर्यके उदय होनेपर [**दृष्टाः**] देखे थे [**ते**] वे [**अस्तमने**] सूर्यके अस्त होनेके समय [**न दृष्टाः**] नहीं देखे जाते नष्ट हो जाते हैं [**तेन कारणेन**] इस कारण तू [**धर्मं**] धर्मको [**कुरु**] पालनकर [**धने यौवने**] धन और यौवनअवस्थामें [**का तृष्णा**] क्या तृष्णा कर रहा है । **भावार्थ**—धन धान्य घर मनुष्य पशु आदिक पदार्थ जो सवेरेके समय देखे थे वे सांझके समयमें नही दीखते नष्ट हो जाते हैं ऐसा जगतका ठाठ विनाशीक जानकर इन पदार्थोंकी तृष्णा छोड़ और श्रावकका तथा यतीका धर्म स्वीकार कर धन योवनमें क्या तृष्णा कर रहा है । ये तो जलके ववूलेके समान क्षणभंगुर हैं । यहा कोई प्रश्न करे कि गृहस्थी धनकी तृष्णा न करे तो क्या करे । उसका उत्तर । निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक जो यती उनकी सब तरह गृहस्थको सेवा करनी चाहिये चार प्रकारका दान देना धर्मकी इच्छा रखनी धनकी

नो चेत् सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पपरमसमाधौ स्थातव्यं । यौवनेपि तृष्णा न कर्तव्या यौवनावस्थायां यौवनोद्रेकजनितविषयरागं त्यक्त्वा विषयप्रतिपक्षभूते वीतरागचिदानंदैकस्वभावे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा च निरंतरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥ २६२ ॥

अथ धर्मतपश्चरणरहितानां मनुष्यजन्म वृथेति प्रतिपादयति;—

धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ, रुक्खें चम्ममएण ।
खज्जिवि जरउद्देहियए, णरइ पडिव्वउ तेण ॥ २६३ ॥

धर्मो न संचितः तपो न कृतं वृक्षेण चर्ममयेन ।
खादयित्वा जरोद्रेहिकया नरके पतितव्यं तेन ॥ २६३ ॥

धम्मु इत्यादि । **धम्मु ण संचिउ** धर्मसंचयो न कृतः गृहस्थावस्थायां दानशीलपूजोपवासादिरूपसम्यक्त्वपूर्वको गृहिधर्मो न कृतः । दर्शनिकव्रतिकाद्येकादशश्रावकधर्मरूपो वा **तउ ण किउ** तपश्चरणं न कृतं तपोधनेन तु समस्तबहिर्द्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा अनशनादिद्वादशविधतपश्चरणबलेन निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा निरंतरं भावना न कृता । केन कृत्वा । **रुक्खें चम्ममएण** वृक्षेण मनुष्यशरीरचर्मनिवृत्तेन । येनैवं न कृतं गृहस्थेन तपोधनेन वा **णरइ पडिव्वउ तेण** नरके पतितव्यं तेन । किंकृत्वा । **खज्जिवि** भक्षयित्वा । कया कर्तृभूतया । **जरउद्देहियइ** जरोद्रेहिकया । इदमत्र तात्पर्यं । गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेयं

इच्छा नहीं करनी । जो किसी दिन प्रत्याख्यानकी चौकड़ीके उदयसे श्रावकके व्रतमें भी रहे तो देव पूजा गुरुकी सेवा स्वाध्याय दान शील उपवासादि अणुव्रतरूप धर्म करे और जो बड़ी शक्ति होवे तो सब परिग्रहका त्यागकर यतीके व्रत धारण करके निर्विकल्पपरमसमाधिमें रहे । यतीको तो सर्वथा धनका त्याग और गृहस्थको धनका प्रमाण करना योग्य है । विवेकी गृहस्थ धनकी तृष्णा न करें । धन योवन असार है, योवन अवस्थामें विषय तृष्णा न करें विषयका राग छोडकर विषयोंसे परान्मुख जो वीतराग निजानंद एक अखंड स्वभावरूप शुद्धात्मा उसमें लीन होकर हमेशा भावना करनी चाहिये ॥ २६२ ॥

आगे जो धर्मसे रहित हैं और तपश्चरण भी नहीं करते हैं उनका मनुष्य जन्म वृथा है ऐसा कहते हैं;—[**येन**] जिसने [**चर्ममयेन वृक्षेण**] मनुष्यशरीररूपी चर्मिमई वृक्षको पाकर उससे [**धर्मः न कृतः**] धर्म नही किया [**तपो न कृतं**] और तप भी नही किया उसका शरीर [**जरोद्रेहिकया खादयित्वा**] बुढापारूपी दीमक कीड़ेकर खाया जायगा फिर [**तेन**] उसको मरणकर [**नरके**] नरकमें [**पतितव्यं**] पड़ना पड़ेगा । **भावार्थ—**गृहस्थ अवस्थामें जिसने सम्यक्त्वपूर्वक दान शील पूजा उपवासादिरूप गृहस्थका धर्म नही किया, दर्शनप्रतिमा व्रतप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाके भेदरूप श्रावकका

कृत्वा भेदरत्नत्रयात्मकः श्रावकधर्मः कर्तव्यः, यतिना तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यं नोचेत् दुर्लभपरंपरया प्राप्तमनुष्यजन्म निष्फलमिति ॥ २६३ ॥

अथ हे जीव जिनेश्वरपदे परमभक्तिं कुर्विति शिक्षां ददाति,—

अरि जिय जिणपइ भत्ति करि, सुहि सज्जणु अवहेरि ।
तिं वप्पेणवि कज्जु णवि, जो पाडइ संसारि ॥ २६४ ॥

अहो जीव जिनपदे भक्तिं कुरु सुखे स्वजनं अपहर ।
तेन पित्रापि कार्यं नैव यः पातयति संसारे ॥ २६४ ॥

अरि जिय इत्यादि । **अरि जिय** अहो भव्यजीव **जिणपइ भत्ति करि** जिनपदे भक्तिं कुरु गुणानुरागवचननिमित्तं जिनेश्वरेण प्रणीतश्रीधर्मे रतिं कुरु **सुहि सज्जणु अवहेरि** संसारसुखसहकारिकारणभूतं स्वजनं गोत्रमप्यपहर त्यज । कस्मात् । **तिं वप्पेणवि** तेन स्नेहितपित्रापि **कज्जु णवि** कार्यं नैव । यः किं करोति । **जो पाडइ** यः पातयति । क्व । **संसारि** संसारसमुद्रे । तथाच । हे आत्मन् अनादिकाले दुर्लभे वीतरागसर्वज्ञप्रणीते रागद्वेषमोहरहिते जीवपरिणामलक्षणे शुद्धोपयोगरूपे निश्चयधर्मे व्यवहारधर्मे च पुनः षडावश्यकादिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रतिं कुरु ।

धर्म नही धारण किया तथा मुनि होकर सब पदार्थोंकी इच्छाका निरोध कर अनशन वगैरः बारह प्रकारका तप नहीं किया तपश्चरणके बलसे शुद्धात्माके ध्यानमें ठहरकर निरंतर भावना नही की मनुष्यके शरीररूप चर्ममयी वृक्षको पाकर यतीका व श्रावकका धर्म नही किया उनका शरीर वृद्धावस्थारूप दीमक कीड़े खावेंगे फिर वह नरकमें जावेगा । इसलिये गृहस्थको तो यह योग्य है कि निश्चयरत्नत्रयकी श्रद्धाकर निजस्वरूप उपादेय जान व्यवहार रत्नत्रयरूप श्रावकका धर्म पालना । और यतीको यह योग्य है कि निश्चय रत्नत्रयमें ठहरकर व्यवहार रत्नत्रयके बलसे महा तप करना । अगर यतीका व श्रावकका धर्म नही बना अणुव्रत महाव्रत नही पाले तो महा दुर्लभ मनुष्यदेहका पाना निष्फल है उससे कुछ फायदा नही ॥ २६३ ॥

आगे श्रीगुरु शिष्यको यह शिक्षा देते हैं कि तू मुनिराजके चरणारविंदोंकी परमभक्ति कर [**अहो जीव**] हे भव्य जीव तू [**जिनपदे**] जिनपदमें [**भक्तिं कुरु**] भक्ति कर और जिनेश्वरके कहे हुए जिनधर्ममें प्रीति कर [**सुखे**] संसार सुखके निमित्तकारण [**स्वजनं**] जो अपने कुटुंबके जन उनको [**परिहर**] त्याग अन्यकी तो बात क्या है [**तेन पित्रापि नैव कार्यं**] उस महास्नेहरूप पितासे भी कुछ काम नही है [**यः**] जो [**संसारे**] ससारसमुद्रमें इस जीवको [**पातयति**] पटक देवे । भावार्थ—हे आत्माराम

इत्थंभूते धर्मे प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोत्रजमपि त्यज तदनुकूलं परगोत्रजमपि स्वीकुर्विति । अत्रायं भावार्थः । विषयसुखनिमित्तं यथानुरागं करोति जीवस्तथा जिनधर्मे करोति तर्हि संसारे न पततीति । तथा चोक्तं । "विसयहं कारणि सव्वु जणु जिम अणुराउ करेइ । तिम जिणभासिए धम्मि जइ ण उ संसारि पडेइ" ॥ २६४ ॥

अथ येन चित्तशुद्धिं कृत्वा तपश्चरणं न कृतं तेनात्मानं वंचितमित्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

जेण ण चिण्णउ तपयरणु, णिम्मलु चित्तु करेवि ।
अप्पा वंचिउ तेण पर, माणुसजम्मु लहेवि ॥ २६५ ॥

येन न चीर्णं तपश्चरणं निर्मलं चित्तं कृत्वा ।
आत्मा वंचितः तेन परं मनुष्यजन्म लब्ध्वा ॥ २६५ ॥

जेण इत्यादि । **जेण** येन जीवेन **ण चिण्णउ** न चीर्णं न चरितं न कृतं । किं । **तवयरणु** बाह्याभ्यंतरतपश्चरणं । किं कृत्वा । **णिम्मलु चित्तु करेवि** कामक्रोधादिरहितं वीतरागचिदानंदैकसुखामृततृप्तं निर्मलं चित्तं कृत्वा **अप्पा वंचिउ तेण** आत्मानं वंचितं तेन नियमेन । किं कृत्वा । **लहेवि** लब्ध्वा । किं । **माणुसजम्मु** मनुष्यजन्मेति । तथाहि । दुर्लभपरंपरारूपेण मनुष्यभवे लब्धे तपश्चरणेपि च निर्विकल्पसमाधिबलेन रागादिपरिहारेण चित्तशुद्धिः कर्तव्येति । येन चित्तशुद्धिर्न कृता स आत्मवंचक इति भावार्थः । तथा चोक्तं।

अनादिकालसे दुर्लभ जो वीतराग सर्वज्ञका कहा हुआ रागद्वेष मोह रहित शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म उसमें भी छह आवश्यकरूप यतीका धर्म तथा दान पूजादि श्रावकका धर्म, यह शुभाचाररूप दो प्रकार धर्म उसमें प्रीति कर । इस धर्मसे विमुख जो अपने कुलका मनुष्य उसे छोड और इस धर्मके सन्मुख जो पर कुटुंबका भी मनुष्य हो उससे प्रीति कर । तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसे विषयसुखसे प्रीति करता है वैसे जो जिनधर्मसे करे तो संसारमें नही भटके । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि जैसे विषयोंके कारण यह जीव वारंवार प्रेम करता है वैसे जो जिनधर्ममें करे तो संसारमें भ्रमण न करे ॥ २६४ ॥

आगे जिसने चित्तकी शुद्धता करके तपश्चरण नहीं किया उसने अपना आत्मा ठग लिया यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं;—[**येन**] जिस जीवने [**तपश्चरणं**] बाह्याभ्यंतर तप [**न चीर्णं**] नहीं किया [**निर्मलं चित्तं**] महा निर्मल चित्त [**कृत्वा**] करके [**तेन**] उसने [**मनुष्यजन्म**] मनुष्यजन्मको [**लब्ध्वा**] पाकर [**परं**] केवल [**आत्मा वंचितः**] अपना आत्मा ठग लिया । **भावार्थ**—महान दुर्लभ इस मनुष्यदेहको पाकर जिसने विषयकषाय सेवन किये और क्रोधादि रहित वीतराग चिदानंद

"चित्ते वद्धे वद्धो मुक्के मुक्कोत्ति णत्थि संदेहो । अप्पा विमलसहावो मइलिज्जइ मइलिए चित्ते" ॥ २६५ ॥

अथ पंचेंद्रियविजयं दर्शयति;—

ए पंचिंदियकरहडा, जिय मोक्कला म चारि ।
चरिवि असेसु वि विसयवणु, पुणु पाडहिं संसारि ॥ २६६ ॥

एते पंचेंद्रियकरहटा जीव स्वेच्छया मा चारय ।
चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पातयंति संसारे ॥ २६६ ॥

ए इत्यादि । **ए** एते प्रत्यक्षीभूताः **पंचिंदियकरहडा** अतींद्रियसुखास्वादरूपात्परमात्मनः सकाशात् प्रतिपक्षभूताः पंचेद्रियकरहटा उष्ट्राः **जिय** हे मूढजीव **मोक्कला म चारि** स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानंदैकरूपसुखपराङ्मुखो भूत्वा स्वेच्छया मा चारय व्याघुट्य । यतः किं कुर्वंति । **पाडहिं** पातयंति । कं । जीवं । क । संसारे निःसंसारशुद्धात्मप्रतिपक्षभूते पंचप्रकारसंसारे **पुणु** पश्चात् । किं कृत्वा पूर्वं । **चरिवि** चरित्वा भक्षणं कृत्वा । किं । **विसयवणु** पंचेंद्रियविषयवनमित्यभिप्रायः ॥ २६६ ॥

सुखरूपी अमृतकर प्राप्त अपना निर्मल चित्त करके अनशनादि तप न किया वह आत्मघाती है अपने आत्माका ठगनेवाला है । एकेंद्री पर्यायसे विकलत्रय होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे असेनी पंचेंद्री होना, असेनी पंचेद्रियसे सेनी होना, सेनी तिर्यंचसे मनुष्य होना दुर्लभ है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र उत्तमकुल दीर्घ आयु सतसग धर्मश्रवण धर्मका धारण और उसे जन्मपर्यंत निवाहना ये सब वाते दुर्लभ हैं सबमें दुर्लभ (कठिन) आत्मज्ञान है जिससे कि चित्त शुद्ध होता है । ऐसा महादुर्लभ मनुष्यदेह पाकर तपश्चरण अंगीकार करके निर्विकल्प समाधिके वलसे रागादिका त्यागकर परिणाम निर्मल करने चाहिये । जिन्होंने चित्तको निर्मल नही किया वे आत्माको ठगनेवाले हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि चित्तके बंधनेसे यह जीव कर्मोंसे बंधता है । जिनका चित्त धन धान्यादिकसे आसक्त हुआ वे ही कर्मबंधसे बंधते हैं और जिनका चित्त परिग्रहसे छूटा आशा (तृष्णा) से अलग हुआ वेही मुक्त हुए । इसमें सदेह नही है । यह आत्मा निर्मलस्वभाव है सो चित्तके मैले होनेसे मैला होता है ॥ २६५ ॥

आगे पांच इंद्रियोंका जीतना दिखलाते हैं;—[एते] ये प्रत्यक्ष [पंचेंद्रियकरहटाः] पांचइंद्रीरूपी ऊंट है उनको [स्वेच्छया] अपनी इच्छासे [मा चारय] मत चरने दे क्योंकि [अशेषं] संपूर्ण [विषयवनं] विषयवनको [चरित्वा] चरके [पुनः] फिर ये [संसारे] ससारमें ही [पातयंति] पटक देंगे । भावार्थ—ये पाच इंद्री अतींद्रियसुखके आस्वादनरूप परमात्मामें परान्मुख है उनको हे मूढजीव तू शुद्धात्माकी

अथ ध्यानवैषम्यं कथयति;—

जोइय विसमी जोयगइ, मणु संठवण ण जाइ ।
इंदियविसय जि सुक्खडा, तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥ २६७ ॥

योगिन् विषमा योगगतिः मनः संस्थापयितुं न याति ।
इंद्रियविषयेषु एव सुखानि तत्र एव पुनः पुनः याति ॥ २६७ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **विसमी जोयगइ** विषमा योगगतिः । कस्मात् । **मणु संठवण ण जाइ** निजशुद्धात्मन्यतिचपलं मर्कटप्रायं मनो धर्तुं न याति । तदपि कस्मात् । **इंदियविसय जि सुक्खडा** इंद्रियविषयेषु यानि सुखानि **वलि वलि तित्थु जि जाइ** वीतरागपरमाह्लादसमरसीभावपरमसुखरहितानां अनादिवासनावासितपंचेंद्रियविषयसुखास्वादासक्तानां जीवानां पुनः पुनः तत्रैव गच्छतीति भावार्थः ॥ २६७ ॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति,—

सो जोइउ जो जोगवइ, दंसणु णाणु चरित्तु ।
होयवि पंचहं बाहिरउ, झायंतउ परमत्थु ॥ २६८ ॥

स योगी यः पालयति दर्शनं ज्ञानं चारित्रं ।
भूत्वा पंचभ्यः बाह्यः ध्यायन् परमार्थं ॥ २६८ ॥

भावनासे परान्मुख होकर इनको स्वच्छंद मतकर अपने वशमें रख, ये तुझे ससारमें पटकदेंगे इसलिये इनको विषयोंसे पीछे लौटा । संसारसे रहित जो शुद्ध आत्मा उससे उलटा जो द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप पांच प्रकारका संसार उसमें ये पंचेन्द्रीरूपी ऊंट स्वच्छंद हुए विषयवनको चरके जगतके जीवोंको जगतमें ही पटकदेंगे यह तात्पर्य जानना ॥ २६६ ॥

आगे ध्यानकी कठिनता दिखलाते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी [**योगगतिः**] ध्यानकी गति [**विषमा**] महाविषम है क्योंकि [**मनः**] चित्तरूपी वंदर चपल होनेसे [**संस्थापयितुं न याति**] निजशुद्धात्मामें स्थिरताको नही प्राप्त होता । क्योंकि [**इंद्रियविषयेषु एव**] इंद्रियके विषयोंमें ही [**सुखानि**] सुख मान रहा है इसलिये [**तत्र एव**] उन्ही विषयोमें [**पुनः पुनः**] फिर फिर अर्थात् वार वार [**याति**] जाता है । **भावार्थ**—वीतराग परम आनंद समरसीभावरूप अतीद्रियसुखसे रहित जो यह संसारी जीव है उसका मन अनादिकालकी अविद्याकी वासनामें वस रहा है इसलिये पंचेंद्रियोंके विषयसुखोंमें आसक्त है इन जगतके जीवोंका मन वारंवार विषयसुखोंमें जाता है और निजस्वरूपमें नही लगता है इसलिये ध्यानकी गति विषम (कठिन) है ॥ २६७ ॥

सो इत्यादि । **सो जोइउ** स योगी ध्यानी भण्यते । यः किं करोति । **जो जोगवइ** यः कर्ता प्रतिपालयति रक्षति । किं । **दंसणु णाणु चरित्तु** निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयं । किं कृत्वा । **होयवि** भूत्वा । कथंभूतं । **बाहिरउ** बाह्यः । केभ्यः । **पंचहं** परमेष्ठिभावनाप्रतिपक्षभूतेभ्यः पंचमगतिसुखविनाशकेभ्यः पंचेंद्रियेभ्यः । किं कुर्वाणः । **झायंतउ** ध्यायन् सन् । कं । **परमत्थु** परमार्थशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानमिति तात्पर्य । योगशब्दस्यार्थः कथ्यते—'युज' समाधौ धातुरिति निष्पन्नेन योगशब्देन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरुच्यते । अथवानंतज्ञानादिरूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः स इत्थंभूतो योगो यस्यास्तीति स तु योगी ध्यानी तपोधन इत्यर्थः ॥ २६८ ॥

अथ पंचेंद्रियसुखस्यानित्यत्वं दर्शयति;—

विसयसुहइं बे दिवहडा, पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं, अप्पण खंधि कुहाडि ॥ २६९ ॥

विषयसुखानि द्वे दिवसके पुनः दुःखानां परिपाटी ।
भ्रांत जीव मा वाहय त्वं आत्मनः स्कंधे कुठारं ॥ २६९ ॥

विसय इत्यादि । **विसयसुहइं** निर्विषयान्नित्याद्वीतरागपरमानंदैकस्वभावात् परमात्मसुखात्प्रतिकूलानि विषयसुखानि **बे दिवहडा** दिनद्वयस्थायीनि भवंति **पुणु** पुनः पश्चाद्दिनद्वयानंतरं **दुक्खहं परिवाडि** आत्मसुखबहिर्मुखेन विषयासक्तेन जीवेन यान्युपार्जितानि पापानि तदुदयजनितानां नारकादिदुःखानां परिपाटि प्रस्तावः एवं ज्ञात्वा **भुल्लउ जीव**

आगे स्थलसंख्याके बाह्य जो प्रक्षेपक दोहा है उसको कहते हैं;—[**स योगी**] वही ध्यानी है [**य**] जो [**पंचभ्यः बाह्यः**] पंचेंद्रियोंसे बाहर (अलग) [**भूत्वा**] होकर [**परमार्थं**] निज परमात्माका [**ध्यायन्**] ध्यान करता हुआ [**दर्शनं ज्ञानं चारित्रं**] दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नत्रयको [**पालयति**] पालता है रक्षा करता है । **भावार्थ—** जिसके परिणाम निज शुद्धात्मद्रव्यका सम्यक्श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निश्चयरत्नत्रयमें ही लीन हैं, जो पंचमगतिरूपी मोक्षके सुखको विनाश करनेवालीं और पांचपरमेष्ठीकी भावनासे रहित ऐसी पंचेंद्रियोंसे जुदा होगया है वही योगी है । योग शब्दका अर्थ ऐसा है कि अपना मन चेतनमें लगाना वह योग जिसके हो वही योगी है वही ध्यानी है वही तपोधन है यह निःसदेह जानना ॥ २६८ ॥

आगे पंचेंद्रियोंके सुखको विनाशीक बतलाते हैं,—[**विषयसुखानि**] विषयोंके सुख [**द्वे दिवसके**] दो दिनके हैं [**पुनः**] फिर बादमें [**दुःखानां परिपाटी**] ये विषय

हे भ्रांत जीव मं वाहि तुहुं मा निक्षिप त्वं । कं । कुहाडि कुठारं । क । अप्पणखंधि आत्मीयस्कंधे । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा विषयसुखं त्यक्त्वा वीतरागपरमात्मसुखे च स्थित्वा निरंतरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥ २६९ ॥

अथात्मभावनार्थं योसौ विद्यमानविषयान् त्यजति तस्य प्रशंसां करोति;—

संता विसय जु परिहरइ, वलि किज्जउं हउं तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ, सीसु खडिल्लउ जासु ॥ २७० ॥

सतः विषयान् यः परिहरति बलिं करोमि अहं तस्य ।
स दैवेन एव मुंडितः शीर्षं खल्वाटं यस्य ॥ २७० ॥

संता इत्यादि । **संता विसय** कटुकविषप्रख्यान् किंपाकफलोपमानलब्धपूर्वनिरुपरागशुद्धात्मतत्त्वोपलंभरूपनिश्चयधर्मचौरान् विद्यमानविषयान् **जो परिहरइ** यः परिहरति **वलि किज्जउं हउं तासु** बलिं पूजां करोमि तस्याहमिति । श्रीयोगींद्रदेवाः स्वकीयगुणानुरागं प्रकटयंति । विद्यमाने विषयत्यागे दृष्टांतमाह । **सो दइवेण जि मुंडियउ** स दैवेन मुंडितः । स कः । **सीसु खडिल्लउ जासु** शिरः खल्वाटं यस्येति । अत्र पूर्वकाले देवागमनं दृष्ट्वा सप्तर्द्धिरूपं धर्मातिशयं दृष्ट्वा अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानोत्पत्तिं दृष्ट्वा भरतसगररामपां-

---

दुःखकी परिपाटी हैं ऐसा जानकर [**भ्रांत जीव**] हे भोले जीव [**त्वं**] तू [**आत्मनः स्कंधे**] अपने कंधेपर [**कुठारं**] आप ही कुल्हाड़ीको [**मा वाहय**] मत चलावै । **भावार्थ**—ये विषय क्षणभंगुर हैं वारंवार दुर्गतिके दुःखके देनेवाले हैं इसलिये विषयोंका सेवना अपने कंधेपर कुल्हाड़ीका मारना है अर्थात् नरकमें अपनेको डवोना है ऐसा व्याख्यान जानकर विषयसुखोंको छोड वीतराग परमात्मसुखमें ठहर कर निरंतर शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये ॥ २६९ ॥

आगे आत्मभावनाकेलिये जो विद्यमान विषयोंको छोड़ता है उसकी प्रशंसा करते हैं;—[**यः**] जो कोई ज्ञानी [**सतः विषयान्**] विद्यमान विषयोंको [**परिहरति**] छोड़ देता है [**तस्य**] उसकी [**अहं**] मैं [**बलिं**] पूजा [**करोमि**] करता हूं क्योंकि [**यस्य शीर्षं**] जिसका शिर [**खल्वाटं**] गंजा है [**सः**] वह तो [**दैवेन एव**] दैवकर ही [**मुंडितः**] मूड़ा हुआ है वह मुंडित नही कहा जा सकता । **भावार्थ**—जो देखनेमें मनोज्ञ ऐसा इंद्राइनिका विषफल उसके समान ये मौजूद विषय हैं वे वीतराग शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप निश्चयधर्मस्वरूप रत्नके चोर हैं उनको जो ज्ञानी छोडते हैं उनकी वलिहारी श्रीयोगींद्रदेव करते हैं अर्थात् अपना गुणानुराग प्रगट करते है जो वर्तमान विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनको छोडते है वे महापुरुषोंकर प्रशंसा योग्य है

इवादिकमनेकराजाधिराजमणिमुकुटकिरणकलापचुंबितपादारविंदजिनधर्मरतं दृष्ट्वा च परमात्मभावनार्थं केचन विद्यमानविषयत्यागं कुर्वंति तद्भावनारतानां दानपूजादिकं च कुर्वंति तत्राश्चर्यं नास्ति । इदानीं पुनः । "देवागमपरिहीणे कालेतिशयवर्जिते । केवलोत्पत्तिहीने तु हलचक्रधरोज्झिते" इति श्लोककथितलक्षणे दुष्षमकाले यत्कुर्वंति तदाश्चर्यमिति भावार्थः ॥ २७० ॥

अथ मनोजये कृते सतींद्रियजयः कृतो भवतीति प्रकटयति,—

पंचहं णायकु वसि करहु, जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरुवरहं, अवसइं सुक्कहिं पण्ण ॥ २७१ ॥

पंचानां नायकं वशं कुरुत येन भवंति वशीनि अन्यानि ।
मूले विनष्टे तरुवरस्य अवश्यं शुष्यंति पर्णानि ॥ २७१ ॥

अर्थात् जिनके सपदा मौजूद है वे सव त्यागकर वीतरागके मारगको आराधें वे तो सत्पुरुषोंसे सदा ही प्रशंसाके योग्य है और जिसके कुछ भी तो सामग्री नहीं है परंतु तृष्णासे दुःखी होरहा है अर्थात् जिसके विषय तो विद्यमान नही है तौभी अभिलाषी है वह महा निंद्य है । जो चतुर्थकालमें तो इस क्षेत्रमें देवोंका आगमन था उनको देखकर धर्मकी रुचि होती थी और नानाप्रकारकी ऋद्धियोंके धारी महामुनियोंका अतिशय देखकर ज्ञानकी प्राप्ति होती थी तथा अन्य जीवोंको अवधि मनःपर्यय केवलज्ञानकी उत्पत्ति देखकर सम्यक्त्वकी सिद्धि होती थी । जिनके चरणारविंदोंको वड़े २ मुकुटधारी राजा नमस्कार करते है ऐसे बडे २ राजाओंकर सेवनीक भरत सगर राम पाडवादि अनेक चक्रवर्ति बलभद्र नारायण तथा मंडलीकराजाओंको जिनधर्ममें लीन देखकर भव्य जीवोंको जिनधर्मकी रुचि उपजती थी तब परमात्मभावनाकेलिये विद्यमान विषयोंका त्याग करते थे । और जवतक गृहस्थपनेमें रहते थे तवतक दानपूजादि शुभ क्रियायें करते थे चारप्रकारके सघकी सेवा करते थे । इसलिये पहले समयमें तो ज्ञानोत्पत्तिके अनेक कारण थे ज्ञान उत्पन्न होनेका अचंभा नही था । लेकिन अब इस पंचमकालमें इतनी सामग्री नही है । ऐसा कहा भी है कि इस पंचमकालमें देवोंका आगमन तो बंद होगयाहै और कोई अतिशय नही देखा जाता । यह काल धर्मके अतिशयसे रहित है और केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे रहित है तथा हलधर चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषोंसे रहित है ऐसे दुःषमकालमें जो भव्य जीव धर्मको धारण करते है यती श्रावकके व्रत आचरते है यह अचंभा है । वे पुरुष धन्य हैं सदा प्रशंसा योग्य है ॥ २७० ॥

आगे मनके जीतनेसे इंद्रियोंका जय होता है जिसने मनको जीता उसने सब

पंचहं इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । पंचहं पंचज्ञानप्रतिपक्षभूतानां पंचेंद्रियाणां णायकु रागादिविकल्परहितपरमात्मभावनाप्रतिकूलं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षा-रूपप्रभृतिसमस्तापध्यानजनितविकल्पजालरूपं मनो नायकं हे भव्याः वसि करहु विशिष्ट-भेदभावनांकुशबलेन स्वाधीनं कुरुत । येन स्वाधीनेन किं भवति । जेण हुंति वसि अण्ण येन वशीकृतेनान्यानींद्रियाणि वशीभवंति । दृष्टांतमाह । मूल विणट्टइ तरुवरहं मूले विनष्टे तरोर्वृक्षस्य अवसइं सुक्कहिं पण्ण अवश्यं नियमेन शुष्यंति पर्णानि इति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मतत्त्वभावनार्थं येन केनचित्प्रकारेण मनोजयः कर्तव्यः तस्मिन् कृते जितेंद्रियो भवति । तथा चोक्तं । "येनोपायेन शक्येत सन्नियंतुं चलं मनः । स एवोपास-नीयोत्र न चैव विरमे ततः" ॥ २७१ ॥

अथ हे जीव विषयासक्तः सन् कियंतं कालं गमिष्यसीति संबोधयति,—

विसयासत्तउ जीव तुहुं, कित्तिउ कालु गमीसि ।
सिवसंगमु करि णिच्चलउ, अवसिं मुक्खु लहीसि ॥ २७२ ॥

विषयासक्तः जीव त्वं कियंतं कालं गमिष्यसि ।
शिवसंगमं कुरु निश्चलं अवश्यं मोक्षं लभसे ॥ २७२ ॥

इन्द्रियोंको जीतलिया ऐसा व्याख्यान करते हैं;—[**पंचानां नायकं**] पांच इंद्रियोंके स्वामी मनको [**वशं कुरुत**] तुम वशमें करो [**येन**] जिस मनके वश होनेसे [**अन्यानि वशीनि भवंति**] अन्य पांच इंद्रियें वशमें हो जाती हैं । जैसे कि [**तरुवरस्य**] वृक्षकी [**मूले विनष्टे**] जड़के नाश होजानेसे [**पर्णानि**] पत्ते [**अवश्यं शुष्यंति**] निश्चयसे सूख जाते हैं । **भावार्थ**—पांचवां ज्ञान जो केवलज्ञान उससे परान्मुख स्पर्श रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र इन पांच इंद्रियोंका स्वामी मन है जो कि रागादि विकल्परहित परमात्माकी भावनासे विमुख और देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछा रूप आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंको आदि लेकर अनेक विकल्पजालमई मन है । ऐसा यह चंचलमनरूपी हस्ती उसको भेद विज्ञानकी भावनारूप अंकुशके बलसे वशमें करो अपने आधीन करो । जिसके वश करनेसे सब इंद्रियें वशमें होसकती हैं जैसे जडके टूट जानेसे वृक्षके पत्ते आप ही सूख जाते हैं । इसलिये निज शुद्धात्मकी भावनाकेलिये जिस तिस तरह मनको जीतना चाहिये । ऐसा ही अन्य जगह भी कहा है कि, जिस उपायसे चंचल मन वश होसकै वही उपाय सर्वथा स्वीकार करना चाहिये उस उपायसे उदास नहीं होना । जगतसे उदास होकर मन जीतनेका उपाय करना ॥ २७१ ॥

आगे जीवको उपदेश देते हैं कि हे जीव तू विषयोंमें लीन होकर अनंतकाल तक भटका और अब भी विषयासक्त है सो विषयासक्त हुआ कितने कालतक भटकेगा अब

विसय इत्यादि । विसयासत्तउ शुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानंदस्यंदिपारमार्थिकसुखानुभवरहितत्वेन विषयासक्तो भूत्वा जीव हे अज्ञानजीव तुहुं त्वं किंत्तिउ कालु गमीसि कियंतं कालं गमिष्यसि वहिर्मुखभावेन नयसि । तर्हि किं करोमीति प्रत्युत्तरमाह । सिवसंगमु करि शिवशब्दवाच्यो योसौ केवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वकीयशुद्धात्मा तत्र संगमं संसर्गं कुरु । कथंभूतं । णिच्चलउ घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेपि मेरुवन्निश्चलं तेन निश्चलात्मध्यानेन अवसइ मुक्खु लहीसि नियमेनानंतज्ञानादिगुणास्पदं मोक्षं लभसे त्वमिति तात्पर्यम् ॥ २७२ ॥

अथ शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मसंसर्गत्यागं मा कार्षीस्त्वमिति पुनरपि संबोधयति,—

इहु सिवसंगमु परिहरिवि, गुरुवड कहिं वि म जाहि ।
जे सिवसंगमि लीण णवि दुक्खु सहंता वाहि ॥ २७३ ॥

इमं शिवसंगमं परिहृत्य गुरुवर क्वापि मा गच्छ ।
ये शिवसंगमे लीना नैव दुःखं सहमानाः पश्य ॥ २७३ ॥

इहु इत्यादि । इहु इमं प्रत्यक्षीभूतं शिवसंगमं शिवसंसर्गं शिवशब्दवाच्योऽनंतज्ञानादिस्वभावः स्वशुद्धात्मा तस्य रागादिरहितं संबंधं परिहरिवि परिहृत्य त्यक्त्वा गुरुवड हे तपोधन कहिंवि म जाहि शुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ क्वापि गमनं

तो मोक्षका साधन कर ऐसा संबोधन करते हैं;—[जीव] हे अज्ञानी जीव [त्वं] तू [विषयासक्तः] विषयोंमें आसक्त होके [कियंतं कालं] कितना काल [गमिष्यसि] वितायेगा [शिवसंगमं] अब तो शुद्धात्माका अनुभव [निश्चलं] निश्चलरूप [कुरु] कर, जिससे कि [अवश्यं] अवश्य [मोक्षं] मोक्षको [लभसे] पावेगा । भावार्थ— हे अज्ञानी तू शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनंदरूप अविनाशी सुखके अनुभवसे रहित हुआ विषयोंमें लीन होकर कितने कालतक भटकेगा । पहले तो अनंतकाल तक भ्रमा अब भी भ्रमणसे नही थका सो वहिर्मुखपरिणामकरके कब तक भटकेगा । अब तो केवलज्ञान दर्शनरूप अपने शुद्धात्माका अनुभवकर निज भावोंका संबंध कर । घोर उपसर्ग और बाईस परीसहकी उत्पत्तिमें भी सुमेरुके समान निश्चल जो आत्मध्यान उसको धारण कर । उसके प्रसादसे निःसंदेह मोक्ष पावेगा । जो मोक्ष पदार्थ अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंत सुख अनंत वीर्यादि अनंत गुणोंका ठिकाना है सो विषयके त्यागसे अवश्य मोक्ष पावेगा ॥ २७२ ॥

आगे निजस्वरूपका संसर्ग तू मत छोडै निजस्वरूप ही उपादेय है ऐसा ही वार २ उपदेश करते हैं;—[गुरुवर] हे तपोधन [शिवसंगं] आत्मकल्याणको [परिहृत्य] छोडकर [क्वापि] तू कही भी [मा गच्छ] मत जा [ये] जो कोई अज्ञानी जीव

मा कार्षीः जें सिवसंगमु लीण णवि ये केचन विषयकषायाधीनतया शिवशब्दवाच्ये स्वशुद्धात्मनि लीनास्तन्मया न भवंति दुक्खु सहंता वाहि व्याकुलत्वलक्षणं दुक्खं सहमानास्त्वंतः पश्येति । अत्र स्वकीयदेहे निश्चयनयेन तिष्ठति योसौ केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितः परमात्मा स एव शिवशब्दत्वेन सर्वत्र ज्ञातव्यो नान्यः कोपि शिवनामा व्याप्येको जगत्कर्तेति भावार्थः ॥ २७३ ॥

अथ सम्यक्त्वदुर्लभत्वं दर्शयति;—

कालु अणाइ अणाइ जिउ, भवसायरुवि अणंतु ।
जीविं विण्णि ण पत्ताइं, जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥ २७४ ॥

कालः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरोपि अनंतः ।
जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनः स्वामी सम्यक्त्वं ॥ २७४ ॥

कालु इत्यादि । **कालु अणाइ** गतकालो अनादिः **अणाइ जिउ** जीवोप्यनादिः **भवसायरुवि अणंतु** भवः संसारस्स एव समुद्रः सोप्यनादिरनंतश्च **जीविं विण्णि ण पत्ताइं** एवमनादिकाले मिथ्यात्वरागाद्यधीनतया निजशुद्धात्मभावनाच्युतेन जीवेन द्वयं न लब्धं । द्वयं किं । **जिणु सामिउं सम्मत्तु** अनंतज्ञानादिचतुष्टयसहितः क्षुधाद्यष्टादशदोष-

---

[**शिवसंगमे**] निजभावमें [**नैव लीनाः**] नहीं लीन होते हैं वे सब [**दुःखं**] दुःखको [**सहमानाः**] सहते हैं ऐसा तू [**पश्य**] देख । **भावार्थ**—यह आत्मकल्याण प्रत्यक्षमें संसार सागरके तैरनेका उपाय है उसको छोड़कर हे तपोधन तू शुद्धात्माकी भावनाके शत्रु जो मिथ्यात्वरागादि हैं उनमें कभी गमन मत कर केवल आत्मस्वरूपमें मगन रह । जो कोई अज्ञानी विषयकषायके वश होकर शिवसंगम (निजभाव) में लीन नही रहते उनको व्याकुलतारूप दुःख भववनमें सहता देख । संसारी जीव सभी व्याकुल हैं दुःख रूप हैं कोई सुखी नहीं है एक शिवपद ही परम आनंदका धाम है । जो अपने स्वभावमें निश्चयनयकर ठहरनेवाला केवल ज्ञानादि अनंतगुण सहित परमात्मा उसीका नाम **शिव** है ऐसा सब जगह जानना । अथवा निर्वाणका नाम शिव है अन्य कोई शिव नामका पदार्थ नही है, जैसा कि नैयायिक वैशेषिकोंने जगतका कर्ता हर्ता कोई शिव माना है ऐसा तू मत मानें । तू अपने स्वरूपको अथवा केवलज्ञानियोंको अथवा, मोक्षपदको शिव समझ । यहीं श्री वीतरागदेवकी आज्ञा है ॥ २७३ ॥

आगे सम्यग्दर्शनको दुर्लभ दिखलाते हैं;—[**कालः अनादिः**] काल भी अनादि है [**जीवो अनादिः**] जीव भी अनादि है और [**भवसागरोपि**] संसारसमुद्र भी [**अनंतः**] अनादि अनंत है। लेकिन [**जीवेन**] इस जीवने [**जिनः स्वामी सम्यक्त्वं**]

रहितो जिनस्वामी परमाराध्यः । "सिवसंगमु सम्मत्तु" इति पाठांतरे स एव शिवशब्दवाच्यो न चान्यः पुरुषविशेषः । सम्यक्त्वशब्देन तु निश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वं व्यवहारेण तु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसद्द्रव्यादिश्रद्धानरूपं सरागसम्यक्त्वं चेति भावार्थः ॥ २७४ ॥

जिनराज स्वामी और सम्यक्त्व [द्वे] ये दो [न प्राप्ते] नही पाये । भावार्थ— काल जीव संसार ये तीनों अनादि हैं उसमें अनादिकालसे भटकते हुए इस जीवने मिथ्यात्वरागादिकके वश होकर शुद्धात्मस्वरूप अपना न देखा न जाना । यह ससारी जीव अनादिकालसे आत्मज्ञानकी भावनासे रहित है । इस जीवने स्वर्ग नरक राज्यादि सव पाये परंतु ये दो वस्तु न मिलीं एक तो सम्यग्दर्शन न पाया दूसरे श्रीजिनराज स्वामी न पाया । यह जीव अनादिका मिथ्यादृष्टि है और क्षुद्र देवोंका उपासक है । श्रीजिनराज भगवानकी भक्ति इसके कभी नहीं हुई अन्य देवोंका उपासक हुआ सम्यग्दर्शन नही हुआ । यहा कोई प्रश्न करे कि अनादिका मिथ्यादृष्टि होनेसे सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ यह तो ठीक है परंतु जिनराजस्वामी न पाये ऐसा नही होसकता क्योंकि "भवि भवि जिण पुज्जिउ गुरु वंदिउ" ऐसा शास्त्रका वचन है अर्थात् भव भवमें इस जीवने जिनवर पूजे और गुरू वंदे । परंतु तुम कहते हो कि इस जीवने भववनमें भ्रमते जिनराजस्वामी नही पाये ॥ उसका समाधान ॥ जो भावभक्ति इसके कभी न हुई भावभक्ति तो सम्यग्दृष्टीके ही होती है और बाह्यलौकिक भक्ति इसके संसारके प्रयोजनकेलिये हुई वह गिनतीमें नही । ऊपरकी सबवात निःसार (थोथी) है भाव ही कारण होते है सो भावभक्ति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती । ज्ञानी जीव ही जिनराजके दास है सो सम्यक्त्व विना भावभक्तिके अभावसे जिनस्वामी नहीं पाया इसमें सदेह नहीं है । जो जिनवर स्वामीको पाते तो उसीके समान होते ऊपरली लोगदिखावारूप भक्ति हुई तो किस कामकी, यह जानना । अब श्री जिनदेवका और सम्यग्दर्शनका स्वरूप सुनो । अनंत ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित हैं वे जिनस्वामी हैं वे ही परम आराधने योग्य है तथा शुद्धात्मज्ञानरूप निश्चयसम्यक्त्व (वीतराग सम्यक्त्व) अथवा वीतराग सर्वज्ञदेवके उपदेशे हुए षट् द्रव्य सात तत्त्व नौ पदार्थ और पाच अस्तिकाय उनका श्रद्धानरूप सराग सम्यक्त्व ये निश्चय व्यवहार दो प्रकारका सम्यक्त्व है । निश्चयका नाम वीतराग है व्यवहारका नाम सराग है । एक तो चौथे पदका यह अर्थ है और दूसरे ऐसा पाठ है "सिवसगम सम्मत्त" इसका अर्थ ऐसे है कि शिव जो श्री जिनेंद्रदेव उनका सगम अर्थात् भावसेवन इस जीवके नहीं हुआ और सम्यक्त्व नही उत्पन्न हुआ । सम्यक्त्व होवे तो परमात्माका भी परिचय होवे ॥२७४॥

अथ शुद्धात्मसंवित्तिसाधकतपश्चरणप्रतिपक्षभूतं गृहवासं दूषयति;—

घरवासउ मा जाणि जिय, दुक्कियवासउ एहु ।
पासु कयंतें मंडियउ, अविचलु णिस्संदेहु ॥ २७५ ॥

गृहवासं मा जानीहि जीव दुष्कृतवास एषः ।
पाशः कृतांतेन मंडितः अविचलः निस्संदेहं ॥ २७५ ॥

घर वासउ इत्यादि । **घरवासउ** गृहवासं अत्र गृहशब्देन वासमुख्यभूता स्त्री ग्राह्या । तथाचोक्तं । "न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते" । **मा जाणि जिय** हे जीव त्वमात्महितं मा जानीहि । कथंभूतो गृहवासः । **दुक्कियवासउ एहु** समस्तदुःकृतानां पापानां वासः स्थानमेषः **पासु कयंतें मंडियउ** अज्ञानिजीवबंधनार्थं पाशो मंडितः । केन । कृतांतनाम्ना कर्मणा । कथंभूतं । **अविचलु** शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतेन मोहबंधनेनाबंधत्वादचलः **णिस्संदेहु** संदेहो न कर्तव्य इति । अयमत्र भावार्थः । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मपदार्थभावनाप्रतिपक्षभूतैः कषायेन्द्रियैः व्याकुलीक्रियते मनः मनःशुद्ध्यभावे गृहस्थानां तपोधनवत् शुद्धात्मभावना कर्तुं नायातीति । तथा चोक्तं । "कषायैरिंद्रियैर्दुष्टैः व्याकुलीक्रियते मनः । यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिभिः" ॥ २७५ ॥

आगे शुद्धात्मज्ञानका साधक जो तपश्चरण उसके शत्रुरूप गृहवासको दोष देते हैं;—[**जीव**] हे जीव तू इसको [**गृहवासं**] घर वास [**मा जानीहि**] मत जाने [**एषः**] यह [**दुष्कृतवासः**] पापका निवासस्थान है [**कृतांतेन**] यमराजने (कालने) अज्ञानी जीवोंको बाधनेकेलिये यह [**पाशः मंडितः**] अनेक फांसोंसे मंडित [**अविचलं**] बहुत मजबूत बंदीखाना बनाया है इसमें [**निस्संदेहं**] संदेह नहीं है । **भावार्थ**—यहां घर शब्दसे मुख्यरूप स्त्री जानना स्त्री ही घरका मूल है स्त्री विना गृह वास नही कहलाता । ऐसा ही दूसरे शास्त्रोंमें भी कहा है कि घरको घर मत जानो स्त्री ही घर है जिन पुरुषोंने स्त्रीका त्याग किया उन्होंने घरका त्याग किया । यह घर मोहके बंधनकर अति दृढ बंधा हुआ है इसमे संदेह नहीं है । यहां तात्पर्य ऐसा है कि शुद्धात्म ज्ञान दर्शन शुद्ध भावरूप जो परमात्म पदार्थ उसकी भावनासे विमुख जो विषय कषाय हैं उनसे यह मन व्याकुल होता है । इसलिये मनकी शुद्धिके विना गृहस्थके यतीकी तरह शुद्धात्माका ध्यान नही होता । इसकारण घरका त्याग करना योग्य है घरके विना त्यागे मन शुद्ध नहीं होता । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि कषायोंसे और इन दुष्ट इंद्रियोंसे मन व्याकुल होता है इसलिये गृहस्थ लोग आत्मभावना कर नही सकते ॥ २७५ ॥

अथ गृहममत्वत्यागानंतरं देहममत्वत्यागं दर्शयति;—

देहुवि जित्थु ण अप्पणउ, तहिं अप्पणउ किं अण्णु ।
परकारणि मण गुरुव तुहुं, सिवसंगमु अवगण्णु ॥ २७६ ॥

देहोपि यत्र नात्मीयः तत्रात्मीयः किमन्ये ।
परकारणे मा मुह्य त्वं शिवसंगमं अवगण्य ॥ २७६ ॥

देहुवि इत्यादि । **देहुवि जित्थु ण अप्पणउं** देहोपि यत्र नात्मीयः **तहिं अप्पणउ किं अण्णु** तत्रात्मीयः किमन्ये पदार्था भवंति किं तु नैव । एवं ज्ञात्वा **परकारणि** परस्य देहस्य बहिर्भूतस्य स्त्रीवस्त्राभरणोपकरणादिपरिग्रहनिमित्तेन **मण गुरुव तुहुं सिवसंगमु अवगण्णु** हे तपोधन शिवशब्दवाच्यशुद्धात्मभावनात्यागं मा कार्षीरिति । तथाहि । अमूर्तेन वीतरागस्वभावेन निजशुद्धात्मना सह व्यवहारेण क्षीरनीरवदेकीभूत्वा तिष्ठति योसौ देहः सोपि जीवस्वरूपं न भवति इति ज्ञात्वा बहिःपदार्थे ममत्वं त्यक्त्वा शुद्धात्मानुभूतिलक्षण-वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ २७६ ॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि प्रकारांतरेण व्यक्तिं करोति;—

करि सिवसंगमु एक्कु पर, जहिं पाविज्जइ सुक्खु ।
जोइय अण्णु म चिंति तुहुं, जेण ण लब्भइ मुक्खु ॥ २७७ ॥

कुरु शिवसंगमं एकं परं यत्र प्राप्यते सुखं ।
योगिन् अन्यं मा चिंतय त्वं येन न लभ्यते मोक्षः ॥ २७७ ॥

करि इत्यादि । **करि** कुरु । कं । **सिवसंगमु** शिवशब्दवाच्यशुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशु-

---

आगे घरकी ममता छुड़ाकर शरीरका ममत्व छुडाते हैं;—[**यत्र**] जिस संसारमें [**देहोपि**] शरीर भी [**आत्मीयः न**] अपना नहीं है [**तत्र**] उसमें [**अन्ये**] अन्य [**आत्मीयः किं**] कौन अपना होसकता है [**त्वं**] इसकारण तू [**शिवसंगमं**] मोक्षका संगम [**अवगण्य**] छोड़कर [**परकारणे**] पुत्र स्त्री वस्त्र आभूषण आदि उपकरणोंमें [**मा मुह्य**] ममत्व मत कर । **भावार्थ**—अमूर्त वीतराग भावरूप जो निजशुद्धात्मा उससे व्यवहार नयकर दूधपानीकी तरह यह देह एकमेक हो रहा है ऐसा देह, जीवका स्वरूप नहीं है तो पुत्र कलत्रादि धन धान्यादि अपने किस तरह हो सकेंगे । ऐसा जानकर बाह्यपदार्थोंमें ममता छोडकर शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप जो वीतराग निर्विकल्प समाधि उसमें ठहर कर सब प्रकारसे शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये ॥ २७६ ॥

आगे इसी अर्थको फिर भी दूसरी तरह प्रगट करते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी हंस [**त्वं**] तू [**एकं शिवसंगमं**] एक निजशुद्धात्माकी ही भावना [**परं**] केवल

द्धात्मभावनासंसर्गं **एक्कु पर** तमेवैकं **जहिं पाविज्जइ सोक्खु** यत्र स्वशुद्धात्मसंसर्गे प्राप्यते । किं । अक्षयानंतसुखं **जोइय अण्णु म चिंति तुहुं** हे योगिन् स्वभावत्वादन्यचिंतां मा कार्षीस्त्वं **जेण ण लब्भइ** येन कारणेन वहिश्चिंतया न लभ्यते । कोसौ । **मुक्खु** अव्यावाधसुखादिलक्षणो मोक्ष इति तात्पर्य ॥ २७७ ॥

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहितं मनुष्यजन्म निस्सारमिति निश्चिनोति;—

बलि किउ माणुसजम्मडा, देक्खंतहं पर सारु ।
जइ उट्टब्भइ तो कुहइ, अह डज्झइ तो छारु ॥ २७८ ॥

बलिः क्रियते मनुष्यजन्म पश्यतां परं सारं ।
यदि अवष्टभ्यते ततः कुत्सयते अथ दह्यते तर्हि क्षारः ॥ २७८ ॥

वलि किउ इत्यादि । **वलि किउ** वलिः क्रियते मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियते । किं । **माणुसजम्मडा** मनुष्यजन्म । किं विशिष्टं । **देखंतहं पर सारु** वहिर्भागे व्यवहारेण पश्यतामेव सारभूतं । कस्मात् । **जइ उट्टब्भइ तो कुहइ** यद्यवष्टभ्यते भूमौ निक्षिप्यते ततः कुत्सितरूपेण परिणमति **अह डज्झइ तो छारु** अथवा दह्यते तर्हि भस्म भवति । तद्यथा । हस्तिशरीरे दंताश्चमरीशरीरे केशा इत्यादि सारत्वं तिर्यक् शरीरे दृश्यते, मनुष्यशरीरे किमपि सारत्वं नास्तीति ज्ञात्वा घुणभक्षितेक्षुदंडवत्परलोकवीजं कृत्वा निस्सारमपि सारं क्रियते । कथमिति चेत् । यथा घुणभक्षितेक्षुदंडे वीते कृते सति विशिष्टेक्षूणां

[कुरु] कर [यत्र] जिसमें कि [**सुखं प्राप्येत**] अतींद्रिय सुख पावै [**अन्यं मा**] अन्य कुछ भी मत [**चिंतय**] चिंतवन कर [**येन**] जिससे कि [**मोक्षः न लभ्यते**] मोक्ष न मिले । **भावार्थ**—हे जीव तू शुद्धबुद्ध अखंड स्वभाव निज शुद्धात्माका चिंतवन कर यदि तू शिवसंग करेगा तो अतीद्रिय सुख पायेगा । जो अनंतसुखको प्राप्त हुए वे केवल आत्मध्यानसे ही प्राप्त हुए दूसरा कोई उपाय नही है । इसलिये हे योगी तू अन्य कुछ भी चिंतवन मत कर परके चिंतवनसे अव्यावाध अनंतसुखरूप मोक्षको नही पावेगा इसलिये निज स्वरूपका ही चिंतन कर ॥ २७७ ॥

आगे भेदाभेद रत्नत्रयकी भावनासे रहित जीवका मनुष्यजन्म निष्फल है ऐसा कहते हैं;—[**मनुष्यजन्म**] इस मनुष्यजन्मको [**वलिः क्रियते**] मस्तकके ऊपर वार डालो जो कि [**पश्यतां परं सारं**] देखनेमें केवल सार दीखता है [**यदि अवष्टभ्यते**] जो इस मनुष्यदेहको भूमिमें गाढ दिया जावे [**ततः**] तो [**कुत्सयते**] सड़कर दुर्गंधरूप परिणवे [**अथ**] और जो [**दह्यते**] जलाइये [**तर्हि**] तो [**क्षारः**] राख हो जाता है । **भावार्थ**—इस मनुष्यकदेहको व्यवहार नयसे वाहरसे देखो तो सार माळ्म

लाभो भवति तथा निःसारशरीराधारेण वीतरागसहजानंदैकस्वशुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयभावनाबलेन तत्साधकव्यवहाररत्नत्रयभावनाबलेन स्वर्गापवर्गफलं गृह्यत इति तात्पर्य ॥ २७८ ॥

अथ देहस्याशुचित्वानित्यत्वादिप्रतिपादनरूपेण व्याख्यानं करोति षट्कलेन तथाहि;—

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि, देहि सुमिट्ठाहार ।
देहहं सयल णिरत्थ गय, जिमु दुज्जणि उवयार ॥ २७९ ॥

उद्वर्तय म्रक्षय चेष्टां कुरु देहि सुमृष्टाहारान् ।
देहस्य सकलं निरर्था गताः यथा दुर्जने उपकाराः ॥ २७९ ॥

उव्वलि इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **उव्वलि** उद्वर्तनं कुरु **चोप्पडि** तैलादिम्रक्षणं कुरु **चिट्ठ करि** मंडनरूपां चेष्टां कुरु **देहि सुमिट्ठाहार** देहि सुमृष्टाहारान् । कस्य । **देहहं** देहस्य **सयल णिरत्थ गय** सकलमपि विशिष्टाहारादयो निरर्थका गताः । केन दृष्टांतेन । **जिमु दुज्जणि उवयार** दुर्जने यथोपकारा इति । तद्यथा । यद्यप्ययं कायः खलस्तथापि किमपि ग्रासादिकं दत्वा अस्थिरेणापि स्थिरं मोक्षसौख्यं

होता है यदि विचार करो तो कुछ भी सार नही है । तिर्यंचोंके शरीरमें तो कुछ सार भी दीखता है जैसे हाथीके शरीरमें दांत सार है सुरह गौके शरीरमें बाल सार हैं इत्यादि । परंतु मनुष्यदेहमें सार नही है घुणसे खाये हुए गन्नेकी तरह मनुष्यदेहको असार जानकर परलोकका बीज करके सार करना चाहिये । जैसे घुणोंका खाया हुआ ईख किसी कामका नही है एक बीजके कामका है सो उसको वोकर असारसे सार किया जाता है उसी प्रकार मनुष्यदेह किसी कामका नही परंतु परलोकका बीजकर असारको सार करना चाहिये । इस देहसे परलोक सुधारना ही श्रेष्ठ है । जैसे घुणसे खाये गये ईखको वोनेसे अनेक ईखोंका लाभ होता है वैसे ही इस असार शरीरके आधारसे वीतराग परमानंद शुद्धात्मस्वभावका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निश्चयरत्नत्रयकी भावनाके वलसे मोक्ष प्राप्त की जाती है और निश्चयरत्नत्रयका साधक जो व्यवहार रत्नत्रय उसकी भावनाके बलसे स्वर्ग मिलता है तथा परंपरासे मोक्ष होती है । यह मनुष्यशरीर परलोक सुधारनेकेलिये होवे तभी सार है नहीं तो सर्वथा असार है ॥ २७८ ॥

आगे देहको अशुचि अनित्य आदि दिखानेका छह गाथाओंसे व्याख्यान करते हैं;— [**देहस्य**] इस देहका [**उद्वर्तय**] उवटना करो [**म्रक्षय**] तैलादिकका मर्दन करो [**चेष्टां कुरु**] शृंगार आदिसे अनेक प्रकार सजाओ [**सुमृष्टाहारान्**] अच्छे २ मिष्ट आहार [**देहि**] दे लेकिन [**सकलं**] ये सब [**निरर्था गताः**] यत्न व्यर्थ हैं [**यथा**] जैसे [**दुर्जने**] दुर्जनोंका [**उपकाराः**] उपकार करना वृथा है । **भावार्थ**—जैसे

गृह्यते । सप्तधातुमयत्वेनाशुचिभूतेनापि शुचिभूतं शुद्धात्मस्वरूपं गृह्यते निर्गुणेनापि केवलज्ञानादिगुणसमूहः साध्यत इति भावार्थः । तथा चोक्तं । "अथिरेण थिरा मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारं । काएण जावि ढप्पइ सा किरिया किण्ण कायव्वा" ॥

अथ;—

जेहउ जज्जरु णरय घरु, तेहउ जोइय काउ ।
णरइ णिरंतरु पूरियउ, किम किज्जइ अणुराउ ॥ २८० ॥

यथा जर्जरं नरकगृहं तथा योगिन् कायः ।
नरके निरंतरं पूरितं किं क्रियते अनुरागः ॥ २८० ॥

जेहउ इत्यादि । **जेहउ जज्जरु** यथा जर्जरं शतजीर्णं **णरयघरु** नरकगृहं **तेहउ जोइय काउ** तथा हे योगिन् कायः । यतः किं । **णरइ णिरंतरु पूरियउ** नरके निरंतरं पूरितं एवं ज्ञात्वा **किम किज्जइ अणुराउ** कथं क्रियते अनुरागो न कथमपीति । तद्यथा—यथा नरकगृहं शतजीर्णं तथा कायगृहमपि नवद्वारछिद्रितत्वात् शतजीर्णं, परमात्मा तु जन्मजरामरणादिछिद्रदोषरहितः । कायस्तु गूथमूत्रादिनरकपूरितः, भगवान् शुद्धात्मा तु भावकर्म-

---

दुर्जनपर अनेक उपकार करो वे सब वृथा जाते हैं दुर्जनसे कुछ फायदा नहीं उसीतरह शरीरके अनेक यत्न करो इसको अनेक तरहसे पोषण करो परंतु यह अपना नहीं हो सकता । इसलिये यही सार है कि इसको अधिक पुष्ट नहीं करना । कुछ थोड़ासा ग्रासादि देकर स्थिर करके मोक्ष साधन करना, सात धातुमई यह अशुचि शरीर है इससे पवित्र शुद्धात्मस्वरूपका आराधन करना । इस महानिर्गुण शरीरसे केवलज्ञानादि गुणोंका समूह साधना चाहिये । यह शरीर भोगकेलिये नहीं है इससे योगका साधनकर अविनाशीपदकी सिद्धि करनी । ऐसा कहा भी है कि इस क्षणभंगुर शरीरसे स्थिरपद मोक्षकी सिद्धि करनी चाहिये, यह शरीर मलीन है इससे निर्मल वीतरागकी सिद्धि करना और यह शरीर ज्ञानादिगुणोंसे रहित है इसके निमित्तसे सारभूत ज्ञानादिगुण सिद्ध करने योग्य हैं । इस शरीरसे तपसंयमादिका साधन होता है और तप संयमादि क्रियासे सार भूत गुणोंकी सिद्धि होती है । जिस क्रियासे ऐसे गुण सिद्ध हों वह क्रिया क्यों नहीं करना, अवश्य करनी चाहिये ॥ २७९ ॥

आगे शरीरको अशुचि दिखलाकर ममत्व छुडाते हैं;—[**हे योगिन्**] हे योगी [**यथा**] जैसा [**जर्जरं**] सैंकड़ों छेदोंवाला [**नरकगृहं**] नरकघर है [**तथा**] वैसा यह [**कायः**] शरीर [**नरके**] मलमूत्रादिसे [**निरंतरं**] हमेशा [**पूरितं**] भरा हुआ है । ऐसे शरीरसे [**अनुरागः**] प्रीति [**किं क्रियते**] कैसे की जावे किसी तरह भी यह प्रीतिके योग्य नहीं है । **भावार्थ**—जैसे नरकका घर अति जीर्ण जिसके सैकडों छिद्र हैं

द्रव्यकर्मनोकर्ममलरहित इति । अयमत्र भावार्थः । एवं देहात्मनोः भेदं ज्ञात्वा देहममत्वं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च निरंतरं भावना कर्तव्येति ॥ २८० ॥

अथ,—

दुक्खइं पावइं असुचियइं, तिहुयणि सयलइ लेवि ।
एयहिं देहु विणिम्मियउ, विहिणा वइरु मुणेवि ॥ २८१ ॥

दुःखानि पापानि अशुचीनि त्रिभुवने सकलानि लात्वा ।
एतैः देहः विनिर्मितः विधिना वैरं मत्वा ॥ २८१ ॥

दुक्खइं इत्यादि । **दुक्खइं** दुःखानि **पावइं** पापानि **असुचियइं** अशुचिद्रव्याणि **तिहुयणि सयलइ लेवि** भुवनत्रयमध्ये समस्तानि गृहीत्वा **एयहिं देहु विणिम्मियउ** एतैर्देहो विनिर्मितः । केन कर्तृभूतेन । **विहिणा** विधिशब्दवाच्येन कर्मणा । कस्मादेवभूतो देहः कृतः । **वइरु मुणेवि** वैरं मत्वेति । तथाहि । त्रिभुवनस्थदुःखैर्निर्मितत्वात् दुःखरूपोऽयं देहः, परमात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वादनाकुलत्वलक्षणसुखस्वभावः । त्रिभुवनस्थपापैर्निर्मितत्वात् पापरूपोऽयं देहः शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोपि निश्चयेन पापरूपदेहाद्भिन्नत्वादत्यंतपवित्रः । त्रिभुवनस्थाशुचिद्रव्यैर्निर्मितत्वादशुचिरूपोऽयं देहः

वैसे यह कायरूपी घर साक्षात् नरकका मंदिर है नवद्वारोंसे अशुचि वस्तु झरती है । और आत्माराम जन्म मरणादि छिद्रदोष रहित है भगवान शुद्धात्मा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्ममलसे रहित है, यह शरीर मलमूत्रादि नरकसे भरा हुआ है । ऐसा शरीरका और जीवका भेद जानकर देहसे ममता छोड़के वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरके निरंतर भावना करनी चाहिये ॥ २८० ॥

आगे फिर भी देहकी मलीनता दिखलाते हैं;—[**त्रिभुवने**] तीन लोकमें [**दुःखानि पापानि अशुचीनि**] जितने दुःख हैं पाप हैं और अशुचिवस्तुयें हैं [**सकलानि**] उन सबको [**लात्वा**] लेकर [**एतैः**] इन मिले हुओंसे [**विधिना**] विधाताने [**वैरं**] वैर [**मत्वा**] मानकर [**देहः**] शरीर [**निर्मितः**] बनाया है । **भावार्थ**—तीन लोकमें जितने दुःख हैं उनसे यह देह रचा गया है इससे दुःखरूप है और आत्मद्रव्य व्यवहारनयकर देहमें स्थित है तौभी निश्चयनयकर देहसे भिन्न निराकुलस्वरूप सुखरूप है, तीन लोकमें जितने पाप हैं उन पापोंसे यह शरीर बनाया गया है इसलिये यह देह पापरूप ही है इससे पाप ही उत्पन्न होता है और चिदानंद चिद्रूप जीव पदार्थ व्यवहार नयसे देहमें स्थित है तौभी देहसे भिन्न अत्यंत पवित्र है, तीन जगतमें जितने अशुचि पदार्थ हैं उनको इकट्ठेकर यह शरीर निर्माण किया है इसलिये महा अशुचिरूप है और आत्मा व्यवहारनयकर देहमें विराजमान है तौभी देहसे जुदा

शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोपि निश्चयेन देहात्पृथग्भूतत्वादत्यंतनिर्मल इति । अत्रैवं देहेन सह शुद्धात्मनो भेदं ज्ञात्वा निरंतरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यं ॥ २८१ ॥

अथ,—

जोइय देहु घिणावणउ, लज्जहि किं ण रमंतु ।
णाणिय धम्मिं रइ करहि, अप्पा विमलु करंतु ॥ २८२ ॥

योगिन् देहः घृणास्पदः लज्जसे किं न रममाणः ।
ज्ञानिन् धर्मेण रतिं कुरु आत्मानं विमलं कुर्वन् ॥ २८२ ॥

जोइय इत्यादि । **जोयइ** ये योगिन् **देहु घिणावणउ** देहो घृणया दुगुंछया सहितः **लज्जहि किं ण रमंतु** दुगुंछारहितं परमात्मानं मुक्त्वा देहं रम्यमाणो लज्जां किं न करोषि । तर्हि किं करोमीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति । **णाणिय** हे विशिष्टभेदज्ञानिन् **धम्मइं** निश्चयधर्मशब्दवाच्येन वीतरागचारित्रेण कृत्वा **रइ करहि** रतिं प्रीतिं कुरु । किंकुर्वन् सन् । **अप्पा** वीतरागसदानंदैकस्वभावपरमात्मानं **विमलु करंतु** आर्तरौद्रादिसमस्तविकल्पत्यागेन विमलं निर्मलं कुर्वन्निति तात्पर्यम् ॥ २८२ ॥

अथ,—

जोइय देहु परिच्चयहि, देहु ण भल्लउ होइ ।
देहविभिण्णउ णाणमउ, सो तुहुं अप्पा जोइ ॥ २८३ ॥

योगिन् देहं परित्यज देहो न भद्रः भवति ।
देहविभिन्नं ज्ञानमयं तं त्वं आत्मानं पश्य ॥ २८३ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **देहु परिच्चयहि** शुचिदेहान्नित्यानंदैकस्वभावात्

परम पवित्र है । इस प्रकार देहका और जीवका अत्यंत भेद जानकर निरंतर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥ २८१ ॥

आगे फिर भी देहको अपवित्र दिखलाते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी [**देहः**] यह शरीर [**घृणास्पदं**] घिनावना है [**रममाणः**] इस देहसे रमता हुआ तू [**किं न लज्जसे**] क्यों नही शरमाता । [**ज्ञानिन्**] हे ज्ञानी तू [**आत्मानं**] आत्माको [**विमलं कुर्वन्**] निर्मल करता हुआ [**धर्मेण**] धर्मसे [**रतिं**] प्रीति [**कुरु**] कर । **भावार्थ—** हे जीव तू सब विकल्प छोड़कर वीतरागचारित्ररूप निश्चयधर्ममें प्रीतिकर । आर्तरौद्र आदि समस्त विकल्पोंको छोड़कर आत्माको निर्मल करता हुआ वीतरागभावोंसे प्रीति कर ॥ २८२ ॥

आगे देहसे स्नेह छुड़ाते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी [**देहं**] इस शरीरसे [**परि-**

शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणं देहं परित्यज । कस्मात् । देहु ण भल्लउ होइ देहो भद्रः समीचीनो न भवति । तर्हि किं करोमीति प्रश्ने कृते प्रत्युत्तरं ददाति । देहविभिण्णउ देहविभिन्नं णाणमउ ज्ञानेन निर्वृत्तं ज्ञानमयं केवलज्ञानाविनाभूतानंतगुणमयं सो तुहुं अप्पा जोइ तं पूर्वोक्तलक्षणमात्मानं त्वं कर्ता पश्येति । अयमत्र भावार्थः । "चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ । दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स" इति गाथाकथितलक्षणा कृष्णलेश्या, धनधान्यादितीव्रमूर्छाविषयाकांक्षादिरूपा नीललेश्या, रणे मरणं प्रार्थयति स्तूयमानः संतोषं करोतीत्यादि लक्षणा कापोतलेश्या चैवं लेश्यात्रयप्रभृतिसमस्तविभावत्यागेन देहाद्भिन्नमात्मानं भावय इति ॥ २८३ ॥

अथ,—

दुक्खहं कारणु मुणिवि मणि, देहु वि एहु चयंति ।
जित्थु ण पावहिं परमसुहु, तित्थु किं संत वसंति ॥ २८४ ॥

दुःखस्य कारणं मत्वा मनसि देहमपि इमं त्यजंति ।
यत्र न प्राप्नुवंति परमसुखं तत्र किं सतः वसंति ॥ २८४ ॥

त्यज] प्रीति छोड क्योंकि [देहः] यह देह [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं है इसलिये [देहविभिन्नं] देहसे भिन्न [ज्ञानमयं] ज्ञानादि गुणमई [तं आत्मानं] ऐसे आत्माको [त्वं] तू [पश्य] देख । भावार्थ—नित्यानंद अखंडस्वभाव जो शुद्धात्मा उससे जुदा और दुःखका मूल तथा महान अशुद्ध जो शरीर उससे भिन्न आत्माको पहचान और कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभलेश्याओंको आदि लेकर सब विभावभावोंको त्यागकर निजस्वरूपका ध्यानकर । ऐसा कथन सुनकर शिष्यने पूछा कि हे प्रभो इन खोटी लेश्याओंका क्या स्वरूप है । तब श्रीगुरु कहते हैं । कृष्ण लेश्याका धारक वह है जो अधिक क्रोधी होवे कभी वैर न छोडै उसका वैर पत्थरकी लकीरकी तरह हो, महा विषयी हो, पर जीवोंकी हंसी उड़ानेमें जिसके शंका न हो अपनी हंसी होनेका जिसको भय न हो जिसका स्वभाव लज्जारहित हो दया धर्मसे रहित हो और अपनेसे बलवानके वशमें हो गरीबको सतानेवाला हो, ऐसा कृष्णलेश्यावालेका लक्षण कहा । नीललेश्यावालेके लक्षण कहते हैं वो सुनों—जिसके धनधान्यादिककी अति ममता हो और सदा विषयाभिलाषी हो इंद्रियोंके विषय सेवता हुआ तृप्त न हो । कापोतलेश्याका धारक रणमें मरना चाहता है स्तुति करनेसे अति प्रसन्न होता है । ये तीनों कुलेश्याके लक्षण कहे गये हैं इनको छोडकर पवित्र भावोंसे देहसे जुदे जीवको जानकर अपने स्वरूपका ध्यान कर । यही कल्याणका कारण है ॥ २८३ ॥

दुक्खहं इत्यादि । **दुक्खहं कारणु** वीतरागतात्त्विकानंदरूपात् शुद्धात्मसुखाद्विलक्षणस्य नारकादिदुःखस्य कारणं **मुणिवि** मत्वा । क । **मणि** मनसि । कं । **देहुवि** देहमपि **एहु** इमं प्रत्यक्षीभूतं **चयंति** देहममत्वं त्यजंति शुद्धात्मनि स्थित्वा **जित्थु ण पावहिं** यत्र देहे न प्राप्नुवंति । किं । **परमसुहु** पंचेद्रियविषयातीतं शुद्धात्मानुभूतिसंपन्नं परमसुखं **तित्थु किं संत वसंति** तत्र देहे संतः सत्पुरुषाः किं वसंति शुद्धात्मसुखसंतोषं मुक्त्वा तत्र किं रतिं कुर्वंति इति भावार्थः ॥ २८४ ॥

अथात्मायत्तसुखे रतिं कुर्विंति दर्शयति;—

अप्पायत्तउ जं जि सुहु, तेण जि करि संतोसु ।
पर सुहु वढ चिंतंताहं, हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥ २८५ ॥

आत्मायत्तं यदेव सुखं तेनैव कुरु संतोषम् ।
परं सुख वत्स चिंतयतां हृदये न नश्यति शोषः ॥ २८५ ॥

अप्पायत्तउ इत्यादि । **अप्पायत्तउ** अन्यद्रव्यनिरपेक्षत्वेनात्माधीनं **जं जि सुहु** यदेव शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नं सुखं **तेण जि करि संतोसु** तेनैव तदनुभवेनैव संतोषं कुरु **पर**

आगे फिर भी देहको दुःखका कारण दिखलाते हैं;—[**दुःखस्य कारणं**] नरकादि-दुःखका कारण [**इमं देहमपि**] इस देहको [**मनसि**] मनमें [**मत्वा**] जानकर ज्ञानी जीव [**त्यजंति**] इसका ममत्व छोड देते हैं क्योंकि [**यत्र**] जिस देहमें [**परमसुखं**] उत्तमसुख [**न प्राप्नुवंति**] नही पाते [**तत्र**] उसमें [**संतः**] सत्पुरुष [**किं वसंति**] कैसे रह सकते हैं । **भावार्थ**—वीतराग परमानंदरूप जो आत्मसुख उससे विपरीत नरकादिके दुःख उनका कारण यह शरीर उसको बुरा समझकर ज्ञानी जीव देहकी ममता छोड़ देते हैं और शुद्धात्म स्वरूपका सेवन करते हैं निज स्वरूपमें ठहर कर देहादि पदार्थोंमें प्रीति छोड़ देते हैं । इस देहमें कभी सुख नहीं पाते सदा आधि व्याधिसे पीडित ही रहते हैं । पंचेद्रियोंके विषयसे रहित जो शुद्धात्मानुभूतिरूप परमसुख वह देहके ममत्व करनेसे कभी नही मिलसकता । महा दुःखके कारण इस शरीरमें सत्पुरुष कभी नही रहसकते । देहसे उदास होके संसारकी आशा छोड़ सुखका निवास जो सिद्धपद उसको प्राप्त होते हैं । और जो आत्म भावनाको छोड़कर संतोषसे रहित होके देहादिकमें राग करते हैं वे अनंत भव धारण करते हैं संसारमें भटकते फिरते हैं ॥ २८४ ॥

आगे यह उपदेश करते हैं कि तू आत्मसुखमें प्रीतिकर;—[**वत्स**] हे शिष्य [**यदेव**] जो [**आत्मायत्तं सुखं**] पर द्रव्यसे रहित आत्माधीन सुख है [**तेनैव**]

सुहु वढ चिंतंताहं इंद्रियाधीनं परमसुखं चिंतयंतं वत्स मित्र हियइ ण फिट्टइ सोसु हृदये न नश्यति शोपोन्तर्दाह इति । अत्राध्यात्मरतिस्वाधीनाविच्छेदविघ्नौघरहिता च, भोगरतिस्तु पराधीना वह्नेरिंधनैरिव समुद्रस्य नदीसहस्रैरिवातृप्तिकरा च । एवं ज्ञात्वा भोगसुखं त्यक्त्वा "एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होदि णिच्चमेदह्मि । एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सुक्खं" इति गाथाकथितलक्षणे अध्यात्मसुखे स्थित्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यं । तथा चोक्तं । "तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं । ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं"॥ अध्यात्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते—मिथ्यात्वविषयकषायादि-बहिर्द्रव्ये निरालंबनत्वेनात्मन्यनुष्ठानमध्यात्मं ॥ २८५ ॥

अथात्मनो ज्ञानस्वभावं दर्शयति,—

अप्पहं णाणु परिच्चयवि, अण्णु ण अत्थि सहाउ ।
इउ जाणेविणु जोइयहु, परहं म बंधउ राउ ॥ २८६ ॥

आत्मनः ज्ञानं परित्यज्य अन्यो न अस्ति स्वभावः ।
इदं ज्ञात्वा योगिन् परस्मिन् मा बधान रागम् ॥ २८६ ॥

उसीमें [संतोषं] सतोप [कुरु] कर [परं सुखं] इंद्रियाधीन सुखको [चिंतयतां] चिंतवन करनेवालोंके [हृदये] चित्तका [शोषः] दाह [न नश्यति] नहीं मिटता । **भावार्थ**—आत्माधीन सुख आत्माके जाननेसे उत्पन्न होता है इसलिये तू आत्माके अनुभवसे सतोप कर भोगोंकी वाछा करनेसे चित्त शात नही होता । जो अध्यात्मकी प्रीति है वह स्वाधीनता है इसमें कोई विघ्न नही है और भोगोंका अनुराग वह पराधीनता है । भोगोको भोगते कभी तृप्ति नही होती । जैसे अग्नि ईंधनसे तृप्त नही होती और सैकडों नदियोंसे समुद्र तृप्त नहीं होता उसीतरह इंद्रियसुखोंसे कभी तृप्ति नही होती एक आत्मसुखसे ही तृप्ति होती है । ऐसा ही समयसारमें कहा है कि हंस (जीव) तू इस आत्मस्वरूपमें ही सदा लीन हो और सदा इसीमें सतुष्ट हो । इसीसे तू तृप्त होगा और इसीसे ही तुझे उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी । इस कथनसे अध्यात्मसुखमें ठहरकर निजस्वरूपकी भावना करनी चाहिये और कामभोगोंसे कभी तृप्ति नहीं हो सकती । ऐसा कहा भी है कि जैसे तृण काठ आदि ईंधनसे अग्नि तृप्त नहीं होती और हजारों नदियोंसे लवणसमुद्र तृप्त नही होता उसीतरह यह जीव काम भोगोंसे तृप्त नहीं होता । इसलिये विषयसुखोंको छोड़कर अध्यात्मसुखका सेवन करना चाहिये । आत्मसुखका शब्दार्थ करते हैं—मिथ्यात्वविषय कषाय आदि बाह्य पदार्थोंका अवलंबन (सहारा) छोड़ना और आत्मामें तल्लीन होना वह अध्यात्म है ॥ २८५ ॥

अप्पहं इत्यादि । अप्पहं शुद्धात्मनः णाणु परिच्चयवि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं त्यक्त्वा अण्णु ण अत्थि सहाउ अन्यो ज्ञानाद्भिन्नः स्वभावो नास्ति इउ जाणेविणु इदमात्मनः शुद्धात्मज्ञानं स्वभावं ज्ञात्वा जोइयहु योगिन् परहं म बंधउ राउ परस्मिन् शुद्धात्मनो विलक्षणे देहे रागादिकं मा कुरु तस्मात् । अत्रात्मनः शुद्धात्मनः शुद्धात्मज्ञानस्वरूपं ज्ञात्वा रागादिकं त्यक्त्वा च निरंतरं भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ २८६ ॥

अथ स्वात्मोपलंभनिमित्तं चित्तस्थितीकरणरूपेण परमोपदेशं पंचकलेन दर्शयति;—

विसयकसायहि मण सलिलु, ण वि डहुलिज्जइ जासु ।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु, वढ पच्चक्खु वि तासु ॥ २८७ ॥

विषयकषायैः मनःसलिलं नैव क्षुभ्यते यस्य ।
आत्मा निर्मलो भवति लघु वत्स प्रत्यक्षोपि तस्य ॥ २८७ ॥

विसय इत्यादि । विसयकसायहिं मण सलिलु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मजलचराकीर्णसंसाररसागरे निर्विषयकषायरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतैर्विषयकषायमहावातैर्मनःप्रचुरसलिलं णवि डहुलिज्जइ नैव क्षुभ्यते जासु यस्य भव्यवरपुंडरीकस्य अप्पा णिम्मलु होइ लहु आत्मा रत्नविशेषो अनादिकालरूपमहापाताले पतितः सन् रागादिमलपरिहारेण लघु शीघ्रं निर्मलो भवति वढ वत्स । न केवलं निर्मलो भवति पच्चक्खुवि शुद्धात्मा परम इत्युच्यते तस्य परमस्य कला अनुभूतिः परमकला एव दृष्टिः परमकलादृष्टिः तया परम-

---

आगे आत्माका ज्ञानस्वभाव दिखलाते हैं;—[आत्मनः] आत्माका निजस्वभाव [ज्ञानं परित्यज्य] वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानके सिवाय [अन्यः स्वभावः] दूसरा स्वभाव [न अस्ति] नहीं है आत्मा केवलज्ञानस्वभाव है [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [योगिन्] हे योगी [परस्मिन्] पर वस्तुसे [रागं] प्रीति [मा बधान] मत बांधै मतकर । भावार्थ—पर जो शुद्धात्मासे भिन्न देहादिक उनमें राग मतकर आत्माका ज्ञानस्वरूप जानकर रागादिक छोडके निरंतर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥ २८६ ॥

आगे आत्माकी प्राप्तिकेलिये चित्तको स्थिर करना ऐसा परम उपदेश श्रीगुरु दिखलाते हैं;—[यस्य] जिसका [मनःसलिलं] मनरूपी जल [विषयकषायैः] विषयकषायरूप प्रचंडपवनसे [नैव क्षुभ्यते] नहीं चलायमान होता है [तस्य] उसी भव्य जीवका [आत्मा] आत्मा [वत्स] हे वच्चे [निर्मलो भवति] निर्मल होता है और [लघु] शीघ्र ही [प्रत्यक्षोपि] प्रत्यक्ष हो जाता है । भावार्थ—ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूपी जलचर मगरमच्छादि जलके जीव उनसे भरा जो संसारसागर उसमें विषयकषायरूप प्रचंड पवन जो कि शुद्धात्मतत्त्वसे सदा पराङ्मुख है उस प्रचंड पवनसे जिसका चित्त चलायमान नही हुआ उसीका आत्मा निर्मल होता है । आत्मा रत्नके

कलादृष्टया यावदवलोकनं सूक्ष्मनिरीक्षणं तेन प्रत्यक्षोपि स्वसंवेदनग्राह्योपि भवति । कस्य । तासु यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण निर्मलं मनस्तस्येति भावार्थः ॥ २८७ ॥

अथ; —

अप्पा परहं ण मेलयउ, मणु मारिवि सहसत्ति ।
सो वढ जोएं किं करइ, जासु ण एही सत्ति ॥ २८८ ॥

आत्मा परस्य न मेलितः मनो मारयित्वा सहसेति ।
स वत्स योगेन किं करोति यस्य न ईदृशी शक्तिः ॥ २८८ ॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पा** अयं प्रत्यक्षीभूतः सविकल्प आत्मा **परहं** ख्यातिपूजालाभप्रभृतिसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालरहितस्य विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनः **ण मेलविउ** न योजितः । किं कृत्वा । **मणु मारिवि** मिथ्यात्वविषयकषायादिविकल्पसमूहपरिणतं मनो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिशस्त्रेण मारयित्वा **सहसत्ति** झटिति **सो वढ जोएं किं करइ** स पुरुषः वत्स योगेन किं करोति । स कः । **जासु ण एही सत्ति** यस्येदृशी मनोमारणशक्तिर्नास्तीति तात्पर्यम् ॥ २८८ ॥

समान है अनादिकालका अज्ञानरूपी पातालमें पड़ा है सो रागादिमलके छोडनेसे शीघ्र ही निर्मल हो जाता है हे बच्चे आत्मा उन भव्य जीवोंका निर्मल होता है और प्रत्यक्ष उनको आत्माका दर्शन होता है । परमकला जो आत्माकी अनुभूति वही हुई निश्चयदृष्टि उससे आत्मस्वरूपका अवलोकन होता है । आत्मा स्वसवेदन ज्ञान करके ही ग्रहण करने योग्य है । जिसका मन विषयसे चंचल न हो उसीको आत्माका दर्शन होता है ॥ २८७ ॥

आगे यह कहते हैं कि जिसने शीघ्र ही मनको वसकर आत्माको परमात्मासे नहीं मिलाया जिसमें ऐसी शक्ति नही है वह योगसे क्या करसकता है कुछ भी नही करसकता;—[**सहसा मनो मारयित्वा**] जिसने शीघ्र ही मनको वशमें करके [**आत्मा**] यह आत्मा [**परस्य न मेलितः**] परमात्मामें नही मिलाया [**वत्स**] हे शिष्य [**यस्य**] जिसकी [**ईदृशी**] ऐसी [**शक्तिः**] शक्ति [**न**] नही है [**सः**] वह [**योगेन**] योगसे [**किं करोति**] क्या करसकता है । **भावार्थ**—यह प्रत्यक्षरूप संसारी जीव विकल्पसहित है दशा जिसकी उसको समस्त विकल्पजाल रहित निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मासे नही मिलाया । मिथ्यात्व विषय कषायादि विकल्पोंके समूहकर परिणत हुआ जो मन उसको वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूपशस्त्रसे शीघ्र ही मारकर आत्माको परमात्मासे नही मिलाया वह योगी योगसे क्या करसकता है कुछ भी नहीं करसकता । जिसमे मन मारनेकी शक्ति नही हैं वह योगी कैसा । योगी तो उसे कहते हैं कि जो वड़ाई, पूजा (अपनी महिमा) और लाभ आदि सब मनोरथरूप विकल्पजा-

अथ;—

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ, अण्णु जि झायहि झाणु ।
वढ अण्णाणवियंभियहं, कउ तहं केवलणाणु ॥ २८९ ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यदेव ध्यायंति ध्यानं ।
वत्स अज्ञानविजृंभितानां कथं तेषां केवलज्ञानम् ॥ २८९ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा स्वशुद्धात्मानं **मिल्लिवि** मुक्त्वा । कथंभूतमात्मानं । **णाणमउ** सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनंतगुणनिर्वृत्तं **अण्णु** अन्यद्बहिर्द्रव्यालंबनं जे ये केचन **झायहिं** ध्यायंति । किं । **झाणु** ध्यानं **वढ** वत्स मित्र **अण्णाणवियंभियहं** शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणाज्ञानविजृंभितानां परिणतानां **कउ तहं केवलणाणु** कथं तेषां केवलज्ञानं किं तु नैवेति। अत्र यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकषायरूपदुर्ध्यानवंचनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति तथापि निश्चयध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव इति भावार्थः ॥ २८९ ॥

अथ;—

सुण्णउं पउं झायंताहं, वलि वलि जोइयडाहँ ।
समरसिभाउ परेण सहु, पुण्णुवि पाउ ण जाहँ ॥ २९० ॥

शून्यं पदं ध्यायतां वलिं वलिं योगिनाम् ।
समरसीभावं परेण सह पुण्यमपि पापं न येषां ॥ २९० ॥

लोंसे रहित निर्मल ज्ञान दर्शनमई परमात्माको देखै जानें अनुभव करै । सो ऐसा मनके मारे विना नही होसकता यह निश्चय जानना ॥ २८८ ॥

आगे ज्ञानमई आत्माको छोड़कर जो अन्य पदार्थका ध्यान करते हैं वे अज्ञानी हैं उनको केवलज्ञान कैसे उत्पन्न होसकता है ऐसा निरूपण करते हैं;—[**ज्ञानमयं**] जो महा निर्मल केवल ज्ञानादि अनंतगुणरूप [**आत्मानं**] आत्मद्रव्यको [**मुक्त्वा**] छोड़कर [**अन्यदेव**] जड़ पदार्थ परद्रव्य उनका [**ध्यानं ध्यायंति**] ध्यान लगाते हैं [**वत्स**] हे वत्स वे अज्ञानी हैं [**तेषां अज्ञानविजृंभितानां**] उन शुद्धात्माके ज्ञानसे विमुख कुमति कुश्रुत कुअवधिरूप अज्ञानसे परिणत हुए जीवोंको [**केवलज्ञानं कथं**] केवल ज्ञानकी प्राप्ति कैसे होसकती है कभी नही होसकती । **भावार्थ**—यद्यपि विकल्प सहित अवस्थामें शुभोपयोगियोंको चित्तकी स्थिरताकेलिये और विषयकषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेकेलिये जिनप्रतिमा तथा नमोकार मंत्रके अक्षर ध्यावने योग्य हैं तौभी निश्चयध्यानके समय शुद्ध आत्मा ही ध्यावने योग्य है अन्य नही ॥ २८९ ॥

सुण्णउं पउं इत्यादि । सुण्णउं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैः शून्यं पउं वीतरागपरमानंदैकसुखामृतरसास्वादरूपा स्वसंवित्तिमयी या सा परमकला तया भरितावस्थपदं निजशुद्धात्मस्वरूपं झायंताहं वीतरागत्रिगुप्तिसमाधिबलेन ध्यायतां वलि वलि जोइयडाहं श्रीयोगींद्रदेवाः स्वकीयाभ्यंतरगुणानुरागं प्रकटयंति, वलि क्रियेऽहमिति परमयोगिनां प्रशंसां कुर्वंति । येषां किं । समरस भाउ वीतरागपरमाह्लादसुखेन परमसमरसीभावं । केन सह । परेण सहु स्वसंवेद्यमानपरमात्मना सह । पुनरपि किं येषां । पुण्णुवि पाउ ण जाहं शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनो विलक्षणं पुण्यपापद्वयमिति न येषामित्यभिप्रायः ॥२९०॥

अथ;—

उव्वस वसिया जो करइ, वसिया करइ जु सुण्णु ।
वलि किज्जउं तसु जोइयहिं, जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥ २९१ ॥

उद्वसान् वसितान् यः करोति वसितान् करोति यः शून्यान् ।
वलिं कुर्वेऽहं तस्य योगिनः यस्य न पापं न पुण्यम् ॥ २९१ ॥

आगे शुभाशुभविकल्पसे रहित जो निर्विकल्प(शून्य) ध्यान उसको जो ध्याते हैं उन योगियोंकी मैं वलिहारी करता हूं ऐसा कहते हैं;—[शून्यं पदं ध्यायतां] विकल्प रहित ब्रह्मपदको ध्यावनेवाले [योगिनां] योगियोंकी मैं [बलिं बलिं] वार वार मस्तक नमाकर पूजा करता हूं [येषां] जिन योगियोंके [परेण सह] अन्यपदार्थोंके साथ [समरसीभावं] समरसीभाव है और [पुण्यं पापं अपि न] जिनके पुण्य और पाप दोनों ही उपादेय नहीं हैं । भावार्थ—शुभ अशुभ मनवचनकायके व्यापार रहित जो वीतराग परमआनंदमई सुखामृत रसका आस्वाद वही जिसका स्वरूप है ऐसी आत्मज्ञानमई परमकलाकर भरपूर जो ब्रह्मपद-शून्यपद-निजशुद्धात्मस्वरूप उसको ध्यानी रागरहित तीन गुप्तिरूप समाधिके बलसे ध्यावते हैं उन ध्यानी योगियोंकी मैं वार वार बलिहारी करता हूं ऐसे श्रीयोगीद्रदेव अपना अंतरंगका धर्मानुराग प्रगट करते हैं और परम योगीश्वरोंकी प्रशंसा करते हैं । जिन योगीश्वरोंके परम स्वसवेदन ज्ञानसहित महा समरसीभाव है । समरसी भावका लक्षण ऐसा है कि जिनके इंद्र और कीट दोनों समान, चिंतामणिरत्न और कंकड़ दोनों समान हों । अथवा ज्ञानादि गुण और गुणी निज शुद्धात्मद्रव्य इन दोनोंका एकीभावरूप परिणमन वह समरसीभाव है उसकर सहित हैं । जिनके पुण्य पाप दोनों ही नही हैं । ये दोनों शुद्धबुद्ध चैतन्य स्वभाव परमात्मासे भिन्न हैं सो जिन मुनियोंने दोनोंको हेय समझलिया है परमध्यानमें आरूढ हैं उनकी मैं बार वार बलिहारी जाता हूं ॥ २९० ॥

उव्वस इत्यादि । उव्वस उद्वसान् शून्यान् । कान् । वीतरागतात्त्विकचिदानंदोच्छल-ननिर्भरानंदशुद्धात्मानुभूतिपरिणामान् परमानंदनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेनेदानीं विशिष्ट-ज्ञानकाले वसिया करइ तेनैव स्वसंवेदनज्ञानेन वसितान् भरितावस्थान् करोति जो यः परमयोगी सुण्णु निश्चयनयेन शुद्धचैतन्यनिश्चयप्राणस्य हिंसकत्वान्मिथ्यात्वविकल्पजालमेव निश्चयहिंसा तत्प्रभृतिसमस्तविभावपरिणामान् स्वसंवेदनज्ञानालाभात्पूर्वं वसितानिदानीं शून्यान् करोतीति बलि किज्जउं तसु जोइयहिं बलिर्मस्तकस्योपरेणावतारणं क्रियेऽहमिति तस्य योगिनः । एवं श्रीयोगींद्रदेवाः गुणप्रशंसां कुर्वंति । पुनरपि किं यस्य योगिनः । जासु ण यस्य न । किं । पाउ ण पुण्णु वीतरागशुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं पुण्यपापद्वयमिति तात्पर्यं ॥ २९१ ॥

अथैकसूत्रेण प्रश्नं कृत्वा सूत्रचतुष्टयेनोत्तरं दत्वा च तमेव पूर्वसूत्रपंचकेनोक्तं निर्विकल्प-समाधिरूपं परमोपदेशं पुनरपि विवृणोति पंचकलेनः—

तुट्टइ मोहु तडित्ति जहिं, मणु अत्थवणहं जाइ ।
सो सामिय उवएसु कहि, अण्णें देविं काइं ॥ २९२ ॥

त्रुट्यति मोहः झटिति यत्र मनः अस्तमनं याति ।
तं स्वामिन् उपदेशं कथय अन्येन देवेन किं ॥ २९२ ॥

आगे फिर भी योगीश्वरोंकी प्रशंसा करते हैं;—[यः] जो [उद्वसान्] ऊजड हैं अर्थात् पहले कभी नहीं हुए ऐसे शुद्धोपयोगरूप परिणामोंको [वसितान्] स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे वसाता है अर्थात् अपने हृदयमें स्थापन करता है और [यः] जो [वसि-तान्] पहलेके वसे हुए मिथ्यात्वादि परिणाम हैं उनको [शून्यान्] ऊजड करता है उनको निकाल देता है [तस्य योगिनः] उस योगीकी [अहं] मैं [बलिं] पूजा [कुर्वे] करता हूं [यस्य] जिसके [न पापं न पुण्यं] न तो पाप है और न पुण्य है । भावार्थ—जो प्रगटरूप नहीं वसते हैं अनादिकालके वीतरागचिदानंदस्वरूप शुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोगपरिणाम उनको अब निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानके बलसे वसाता है निज स्वादनरूप स्वाभाविक ज्ञानकर शुद्धपरिणामोंकी बस्ती निजघटरूपी नगरमें भर पूर करता है । और अनादिकालके जो शुद्धचैतन्यरूप निश्चयप्राणोंके घातक ऐसे मिथ्यात्वरागादिरूप विकल्पजाल हैं उनको निजस्वरूप नगरसे काढ देता है उनको ऊजड़ करदेता है ऐसे परमयोगीकी मैं बलिहारी अर्थात् उसके मस्तकपर मैं अपनेको वारता हूं । इस प्रकार श्री योगींद्रदेव परमयोगियोंकी प्रशंसा करते हैं । जिन योगियोंके वीतरागशुद्धात्मतत्त्वसे विपरीत पुण्य पाप दोनों ही नहीं हैं ॥ २९१ ॥

तुट्टइ इत्यादि। तुट्टइ नश्यति। कोसौ। मोहु निर्मोहशुद्धात्मद्रव्यप्रतिपक्षभूतो मोहः तडित्ति झटिति जहिँ मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्परहिते यत्र परमात्मपदार्थे। पुनरपि किं यत्र। मणु अत्थवणहं जाइ निर्विकल्पात् शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतं नानाविकल्पजालरूपं मनो वास्तं गच्छति सो सामिय उवएसु कहि हे स्वामिन् तदुपदेशं कथयेति प्रभाकरभट्टः श्रीयोगींद्रदेवान् पृच्छति अण्णें देविं काइ निर्दोषिपरमात्मनः परमाराध्यात्सकाशादन्येन देवेन किं प्रयोजनमित्यर्थः॥ २९२॥ इति प्रभाकरभट्टप्रश्नसूत्रमेकं गतं।

अथोत्तरं,—

णासविणिग्गउ सासडा, अंबरि जेत्थु विलाइ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिं, मणु अत्थवणहं जाइ॥ २९३॥

नासाविनिर्गतः उच्छ्वासः अंबरे यत्र विलीयते।
त्रुट्यति मोहः झटिति तत्र मनः अस्तं याति॥ २९३॥

णासविणिग्गउ इत्यादि। णासविणिग्गउ नासिकाविनिर्गतः सासडा उच्छ्वासः अंबरि मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहिते शून्ये अंबरशब्दवाच्ये जित्थु यत्र तात्त्विकपरमानंदभरितावस्थेति निर्विकल्पसमाधौ विलाइ पूर्वोक्तः श्वासो विलयं गच्छति नासिकाद्वारं विहाय तालुरंध्रेण गच्छतीत्यर्थः। तुट्टइ त्रुट्यति नश्यति। कोसौ। मोहु मोहो-

---

आगे एक दोहामें शिष्यका प्रश्न और चार दोहाओंमें प्रश्नका उत्तर देकर निर्विकल्प समाधिरूप परम उपदेश फिर भी विस्तारसे करते हैं;—[स्वामिन्] हे स्वामी मुझे [तं उपदेशं] उस उपदेशको [कथय] कहो [यत्र] जिससे [मोहः] मोह [झटिति] शीघ्र [त्रुट्यति] छूट जावे [मनः] और चंचल मन [अस्तमनं] स्थिरताको [याति] प्राप्त हो जावे [अन्येन देवेन किं] दूसरे देवतासे क्या प्रयोजन है। भावार्थ—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगींद्रदेवसे प्रश्न करता है कि हे स्वामी वह उपदेश कहो कि जिससे निर्मोह शुद्धात्मद्रव्यसे पराङ्मुख मोह शीघ्र जुदा हो जावे अर्थात् मोहके उदयसे उत्पन्न समस्त विकल्पजालोंसे रहित जो परमात्मपदार्थ उसमें मोहजालका लेश भी न रहे और निर्विकल्प शुद्धात्मभावनासे विपरीत नाना विकल्प जालरूपी चंचल मन वह अस्त हो जावे। हे स्वामी निर्दोष परमाराध्य जो परमात्मा उससे अन्य जो मिथ्याती देव उनसे मेरा क्या मतलब है। ऐसा शिष्यने श्री गुरूसे प्रश्न किया उसका एक दोहासूत्र कहा॥ २९२॥

आगे श्रीगुरू उत्तर देते हैं;—[नासाविनिर्गतः] नाकसे निकला जो श्वास वह [यत्र] जिस [अंबरे] निर्विकल्प समाधिमें [विलीयते] मिल जावे [तत्र] उसी जगह [मोहः] मोह [झटिति] शीघ्र [त्रुट्यति] नष्ट होजाता है [मनः] और मन

दयेनोत्पन्नरागादिविकल्पजालः तडत्ति झटिति तर्हि तत्र बहिर्बोधशून्ये निर्विकल्पसमाधौ मणु मनः पूर्वोक्तरागादिविकल्पाधारभूतं तन्मयं वा अत्थवणहं जाइ अस्तं विनाशं गच्छति स्वस्वभावेन तिष्ठति इति । अत्र यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्पसमाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् शेपाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनंतरं क्षणमात्रं नासिकया तदनंतरं कृत्वा रंध्रेण निर्गच्छतीति । न च परकल्पितवायुधारणारूपेण श्वासनाशो ग्राह्यः । कस्मादिति चेत् । वायुधारणा तावदीहापूर्विका ईहा च मोहकार्यरूपो विकल्पः । स च मोहकारणं न भवतीति इति न च परकल्पितवायुः । किं च । कुंभकपूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किं तु अभ्यासवशेनं घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देहारोगत्वलघुत्वादिकं न च मुक्तिरिति । यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणाकारकाणामिदानींतनपुरुषाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थः ॥ २९३ ॥

[अस्तं याति] स्थिर होजाता है । भावार्थ—नासिकासे निकले जो श्वासोच्छ्वास हैं वे अंबर अर्थात् आकाश समान निर्मल मिथ्यात्वविकल्पजालरहित शुद्धभावोंमें विलीन हो जाते हैं अर्थात् तत्त्वस्वरूप परमानंदकर पूर्ण निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर चित्त हो जाता है तब श्वासोच्छ्वासरूप पवन रुक जाती है नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुवारंध्ररूपी दशवें द्वारमें होके निकले तब मोह टूटता है उसी समय मोहके उदयकर उत्पन्न हुए रागादिविकल्पजाल नाश हो जाते हैं बाह्य ज्ञानसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें विकल्पोंका आधारभूत जो मन वह अस्त हो जाता है अर्थात् निज स्वभावमें मनकी चंचलता नही रहती । जब यह जीव रागादि परभावोंसे शून्य निर्विकल्प समाधिमें होता है तब यह श्वासोछ्वासरूप पवन नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर स्वयमेव अवांछीक वृत्तिसे तालुवाके बालकी अनीके आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्रमें (दशवें द्वारमें) होकर बारीक निकलती है नासाके छेदको छोडकर तालुरंध्रमें (छेदमें) होकर निकलती है । और पातंजलमतवाले वायुधारणारूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं वह ठीक नहीं हैं क्योंकि वायुधारणा वाछांपूर्वक होती है और वांछा है वह मोहसे उत्पन्न विकल्परूप है वांछाका कारण मोह है । वह संयमीके वायुका निरोध वाछापूर्वक नही होता है स्वाभाविक ही होता है। जिनशासनमें ऐसा कहा है कि कुंभक (पवनको खेंचना) पूरक (पवनको थांभना) रेचक (पवनको निकालना) ये तीन भेद प्राणायामके हैं इसीको वायुधारणा कहते हैं । यह क्षणमात्र होती है परंतु अभ्यासके वशसे घड़ी पहर दिवस आदितक भी होती है । उस वायुधारणाका फल ऐसा कहा है कि देहकी आरोग्या होती है देहके सब रोग मिट

अथ,—

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ, तुट्टइ सासुणिसासु ।
केवलणाणुवि परिणवइ, अंवरि जाहं णिवासु ॥ २९४ ॥

मोहो विलीयते मनो म्रियते त्रुट्यति श्वासोच्छ्वासः ।
केवलज्ञानमपि परिणमति अंवरे येषां निवासः ॥ २९४ ॥

मोहु विलिज्जइ इत्यादि । **मोहु** मोहो ममत्वादिविकल्पजालं **विलिज्जइ** विलयं गच्छति **मणु मरइ** इहलोकपरलोकाशाप्रभृतिविकल्पजालरूपं मनो म्रियते **तुट्टइ** नश्यति । कोसौ । **सासुणिसासु** अनीहितवृत्त्या नासिकाद्वारं विहाय क्षणमात्रं तालुरंध्रेण गच्छति पुनरप्यंतरं कृत्वा नासिकया निर्गच्छति पुनरपि रंध्रेणेत्युच्छ्वासनिःश्वासलक्षणो वायुः । पुनरपि किं भवति । **केवलणाणुवि परिणमइ** केवलज्ञानमपि परिणमति समुत्पद्यते । येषां किं । **अंवरि जाहं णिवासु** रागद्वेषमोहरूपविकल्पजालशून्यं अंवरे अंवरशब्दवाच्ये शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपे निर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ येषां निवास इति । अयमत्र

जाते हैं शरीर हलका हो जाता है परंतु मुक्ति इस वायुधारणासे नहीं होती, क्योंकि वायुधारणा शरीरका धर्म है आत्माका स्वभाव नही है । शुद्धोपयोगियोंके सहज ही विना यत्नके मन भी रुक जाता है और श्वास भी स्थिर हो जाते हैं । शुभोपयोगियोंके मनके रोकनेकेलिये प्राणायामका अभ्यास है मनके अचल होनेपर कुछ प्रयोजन नही है । जो आत्मस्वरूप है वह केवल चेतनामई ज्ञान दर्शनस्वरूप है सो शुद्धोपयोगी तो स्वरूपमें अतिलीन हैं और शुभोपयोगी कुछ एक मनकी चपलतासे आनंदघनमें अडोल अवस्थाको नही पाते तवतक मनके वश करनेकेलिये श्री पंच परमेष्ठीका ध्यान स्मरण करते हैं और ओंकारादि मंत्रोंका ध्यान करते हैं । और प्राणायामका अभ्यास कर मनको रोकके चिद्रूपमें लगाते है जब वह लगगया तव मन और पवन सब स्थिर हो जाते हैं । शुभोपयोगियोंकी दृष्टि एक शुद्धोपयोगपर है पातंजलिमतकी तरह थोथी वायुधारणा नहीं है । जो वायुधारणाकर ही मुक्ति होवे तो वायुधारणाके करनेवालोंको इस दुःषमकालमें मोक्ष क्यों न होवे कभी नही होती । मोक्ष तो केवल स्वभावमई है ॥ २९३ ॥

आगे फिर भी परमसमाधिका कथन करते हैं;—[येषां] जिन मुनीश्वरोंका [अंवरे] परमसमाधिमें [निवासः] निवास है उनका [मोहः] मोह [विलीयते] नाशको प्राप्त हो जाता है [मनः] मन [म्रियते] मरजाता है [श्वासोच्छ्वासः] श्वासोच्छ्वास [त्रुट्यति] रुक जाता है [अपि] और [केवलज्ञानं] केवलज्ञान [परिणमति] उत्पन्न होता है । **भावार्थ—**दर्शनमोह और चारित्रमोह आदि कल्पनाजाल सव विलय हो जाता है, इस लोक परलोक आदिकी वांछा आदि विकल्प जालरूप मन स्थिर हो

भावार्थः । अंबरशब्देन शुद्धाकाशं न ग्राह्यं किंतु विपयकपायविकल्पशून्यः परमसमाधिर्ग्राह्यः, वायुशब्देन च कुंभकरेचकपूरकादिरूपो वायुनिरोधो न ग्राह्यः किं तु स्वयमनीहितवृत्त्या निर्विकल्पसमाधिबलेन दशमद्वारसंज्ञेन ब्रह्मरंध्रसंज्ञेन सूक्ष्माभिधानरूपेण च तालुरंध्रेण योसौ गच्छति स एव ग्राह्यः तत्र । यदुक्तं केनापि । "मणु मरइ पवणु जहिं खयहं जाइ । सव्वंगइ तिहुवणु तहि जे ठाइ मूढा अंतरालु परियाणहिं तुट्टइ मोहजालु जइ जाणहि" । अत्र पूर्वोक्तलक्षणमेव मनोमरणं ग्राह्यं पवनक्षयोपि पूर्वोक्तलक्षण एव त्रिभुवनप्रकाशक आत्मा तत्रैव निर्विकल्पसमाधौ तिष्ठतीत्यर्थः । अंतरालशब्देन तु रागादिपरभावशून्यत्वं ग्राह्यं न चाकाशे ज्ञाते सति मोहजालं नश्यति न चान्यादृशं परिकल्पितं ग्राह्यमित्यभिप्रायः ॥ २९४ ॥

जाता है और श्वासोच्छ्वासरूप वायु रुक जाती है श्वासोच्छ्वास अवांछीकपनेसे नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुछिद्रमें होके निकलते हैं तथा कुछ देरके बाद नासिकासे निकलते हैं । इस प्रकार श्वासोच्छ्वासरूप पवन वश हो जाता है । चाहे जिस द्वारसे निकालो । केवलज्ञान भी शीघ्र ही उन ध्यानी मुनियोंके उत्पन्न होता है कि जिन मुनियोंका रागद्वेषमोहरूप विकल्पजालसे रहित शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प त्रिगुप्तिमई परमसमाधिमें निवास है । यहां अंबर नाम आकाशका अर्थ नही समझना किंतु समस्तविषयकषायरूप विकल्पजालोंसे शून्य परमसमाधि लेना । और यहां वायु शब्दसे कुंभक पूरक रेचकादिरूप वांछापूर्वक वायुनिरोध न लेना किंतु स्वयमेव अवांछीक वृत्तिकर निर्विकल्पसमाधिके बलसे ब्रह्मद्वार नामा सूक्ष्म छिद्र जिसको तालुवेका रंध्र कहते हैं उसके द्वारा अवांछीक वृत्तिसे पवन निकलता है वह लेना । ध्यानी मुनियोंके पवन रोकनेका यत्न नही होता है विना ही यत्नके सहज ही पवन रुक जाता है और मन भी अचल हो जाता है ऐसा समाधिका प्रभाव है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि, जो मूढ हैं वे तो अंबरका अर्थ आकाशको जानते हैं और जो ज्ञानी जन हैं वे अंबरका अर्थ परमसमाधिरूप निर्विकल्प जानते हैं । सो निर्विकल्प ध्यानमें मन मरजाता है पवनका सहज ही निरोध होता है और सब अंग तीन भुवनके समान हो जाता है । जो परम समाधिको जानै तो मोह टूट जावे । मनके विकल्पोंका मिटना वही मनका मरना है और वही श्वासका रुकना है जो कि सब द्वारोंसे रुककर दशवें द्वारमेंसे होकर निकले । तीन लोकका प्रकाशक आत्माको निर्विकल्प समाधिमें स्थापित करता है । अंतराल शब्दका अर्थ रागादि भावोंसे शून्य दशा लेना आकाशका अर्थ न लेना । आकाशके जाननेसे मोहजाल नहीं मिटता आत्मस्वरूपके जाननेसे मोहजाल मिटता है । जो पातंजलि आदि परमसमयमें शून्यरूप समाधि कही है वह अभिप्राय नही लेना, क्योंकि जब विभावोंकी शून्यता हो जावेगी तब वस्तुका ही अभाव हो जाइगा ॥ २९४ ॥

अथ,—

जो आयासइं मणु धरइ, लोयालोयपमाणु।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु, पावइ परह पवाणु ॥ २९५ ॥

यः आकाशे मनो धरति लोकालोकप्रमाणम् ।
त्रुट्यति मोहो झटिति तस्य प्राप्नोति परस्य प्रमाणम् ॥ २९५ ॥

जो इत्यादि । **जो** यो ध्याता पुरुषः **आयासइं मणु धरइ** यथा परद्रव्यसंबंधरहितत्वेनाकाशमंबरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते तथा वीतरागचिदानंदैकस्वभावेन भरितावस्थोपि मिथ्यात्वरागादिपरभावरहितत्वान्निर्विकल्पसमाधिराकाशमंबरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते । तत्राकाशसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ मनो धरति स्थिरं करोति । कथंभूतं मनः । **लोयालोयपमाणु** लोकालोकप्रमाणं लोकालोकव्याप्तिरूपं अथवा प्रसिद्धलोकालोकाकाशे व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया न च प्रदेशापेक्षया लोकालोकप्रमाणं मनो मानसं ज्ञानं धरति **तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु** त्रुट्यति नश्यति । कोसौ । **मोहु** मोहः । कथं । झटिति तस्य ध्यानात् । न केवलं मोहो नश्यति । **पावइ** प्राप्नोति । किं । **परहं पवाणु** परस्य परमात्मस्वरूपस्य प्रमाणं । कीदृशं तत्प्रमाणमितिचेत् । व्यवहारेण रूपग्रहणविषये चक्षुरिव सर्वगतः । यदि पुनर्निश्चयेन सर्वगतो भवति तर्हि चक्षुषो अग्निस्पर्शदाहः प्राप्नोति न च तथा, । तथात्मनोपि परकीयसुखदुःखविषये तन्मयपरिणामत्वेन परकीयसुखदुःखानुभवं प्राप्नोति न च तथा ।

आगे फिर भी निर्विकल्पसमाधिका कथन करते हैं,—[**यः**] जो ध्यानी पुरुष [**आकाशे**] निर्विकल्पसमाधिमें [**मनः**] मन [**धरति**] स्थिर करता है [**तस्य**] उसीका [**मोहः**] मोह [**झटिति**] शीघ्र [**त्रुट्यति**] टूट जाता है और ज्ञानकरके [**परस्य प्रमाणं**] लोकालोकप्रमाण आत्माको [**प्राप्नोति**] प्राप्त होजाता है । भावार्थ— आकाश अर्थात् वीतरागचिदानंद स्वभाव अनंत गुणरूप और मिथ्यात्वरागादिपरभावरहितस्वरूप निर्विकल्पसमाधि यहा समझना । जैसे आकाशद्रव्य सब द्रव्योंसे भरा हुआ है परंतु सबसे शून्य अपने स्वरूप है उसीप्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियोंसे रहित है शून्यरूप है इसलिये आकाश शब्दका अर्थ यहां शुद्धात्मस्वरूप लेना । व्यवहारनयकर ज्ञान लोकालोकका प्रकाशक है और निश्चयनयकर अपने स्वरूपका प्रकाशक है । आत्माका केवलज्ञान लोकालोकको जानता है इसकारण ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकप्रमाण कहा जाता है प्रदेशोंकी अपेक्षा लोकालोकप्रमाण नहीं है । ज्ञानगुण लोकालोकमें व्याप्त है परंतु परद्रव्योंसे भिन्न है । परवस्तुसे जो तन्मयी हो जावे तो वस्तुका अभाव हो जावे । इसलिये यह निश्चय हुआ कि ज्ञानगुणकर लोकालोकप्रमाण जो आत्मा उसे आकाश भी कहते हैं उसमें जो मन लगावे तब जगतसे मोह दूर हो और परमात्माको पावे ।

निश्चयेन पुनर्लोकमात्रासंख्येयप्रदेशोपि सन् व्यवहारेण पुनः शरीरकृतोपसंहारविस्तारवशाद्विवक्षितभाजनस्थप्रदीपवत् देहमात्र इति भावार्थः ॥ २९५ ॥

अथ;—

देहि वसंतुवि णवि मुणिउ, अप्पा देउ अणंतु ।
अंबरि समरसि मणु धरिवि, सामिय णट्ठु णिभंतु ॥ २९६ ॥

देहे वसन्नपि नैव मतः आत्मा देवः अनंतः ।
अंबरे समरसे मनः धृत्वा स्वामिन् नष्टो निर्भ्रांतः ॥ २९६ ॥

देहि वसंतुवि इत्यादि । **देहि वसंतुवि** व्यवहारेण देहे वसन्नपि **णवि मुणिउ** नैव ज्ञातः । कोसौ । **अप्पा** निजशुद्धात्मा । किं विशिष्टः । **देउ** आराधनायोग्यः केवलज्ञानाद्यनंतगुणाधारत्वेन देवः परमाराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । **अणंतु** अनंतपदार्थपरिच्छित्तिकारणत्वादविनश्वरत्वादनंतः । किं कृत्वा । **मणु धरिवि** मनो धृत्वा । क । **अंबरि** अंबरशब्दवाच्ये पूर्वोक्तलक्षणे रागादिशून्ये निर्विकल्पसमाधौ । कथंभूते । **समरसि** वीतरागतात्त्विकमनोहरानंदस्यंदिनि समरसीभावे साध्ये **सामिय** हे स्वामिन् । प्रभाकरभट्टः पश्चात्तापमनुशयं कुर्वन्नाह । किं ब्रूते । **णट्ठु णिभंतु** इयंतं कालमित्थंभूतं परमात्मोपदेश-

---

व्यवहारनयकर आत्मा ज्ञानकर सबको जानता है इसलिये सब जगतमें हैं । जैसे व्यवहारनयकर नेत्र रूपीपदार्थको जानता है परंतु उन पदार्थोंसे भिन्न है । जो निश्चयकर सर्वगत होवे तो परपदार्थोंसे तन्मयी हो जावे जो उनसे तन्मयी होवे तो नेत्रोंको अग्निका दाह होना चाहिये इसकारण तन्मयी नही है । उसीप्रकार आत्मा जो पदार्थोंको तन्मयी होके जाने तो परके सुख दुःखसे तन्मई होनेसे इसको भी दूसरेका सुख दुःख मालूम होना चाहिये ऐसा होता नहीं है । इसलिये निश्चयसे आत्मा असर्वगत है और व्यवहारनयसे सर्वगत है प्रदेशोंकी अपेक्षा निश्चयसे लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है और व्यवहारनयकर पात्रमें रखे हुए दीपककी तरह देह प्रमाण है जैसा शरीर धारणकरे वैसा प्रदेशोंका संकोच विस्तार हो जाता है ॥ २९५ ॥

आगे फिर भी शिष्य प्रश्न करता है;—[**स्वामिन्**] हे स्वामी [**देहे वसन्नपि**] व्यवहारनयकर देहमें रहता हुआ भी [**आत्मा देवः**] आराधने योग्य आत्मा [**अनंतः**] अनंत गुणोंका आधार [**नैव मतः**] मैने अज्ञानतासे नही जाना । क्या करके । [**समरसे**] समानभावरूप [**अंबरे**] निर्विकल्प समाधिमें [**मनः धृत्वा**] मन लगाकर । इसलिये अब तक [**नष्टो निर्भ्रांतः**] निस्संदेह नष्ट हुआ । **भावार्थ**—प्रभाकरभट्ट पछताता हुआ श्री योगींद्रदेवसे वीनती करता है कि हे स्वामिन् मैने अबतक रागादि विभावरहित निर्विकल्पसमाधिमें मन लगाकर आत्म देव नहीं जाना इसीलिये इतने

मलभमानःसन् निर्भ्रांतो नष्टोऽहमित्यभिप्रायः ॥ २९६ ॥ एवं परमोपदेशकथनमुख्यत्वेन सूत्रदशकं गतं ।

अथ परमोपशमभावसहितेन सर्वसंगपरित्यागेन संसारविच्छेदं भवतीति युग्मेन निश्चिनोति;—

सयलवि संग ण मिल्लिया, णवि किउ उवसमभाउ ।
सिवपयमग्गुवि मुणिउ णवि, जहिं जोइहिं अणुराउ ॥ २९७ ॥
घोरु ण चिण्णउ तवचरणु, जं णियबोहहं सारु ।
पुण्णुवि पाउवि दड्ढु णवि, किमु छिज्जइ संसारु ॥ २९८ ॥

सकला अपि संगा न मुक्ताः नैव कृत उपशमभावः ।
शिवपदमार्गोपि मतो नैव यत्र योगिनां अनुरागः ॥ २९७ ॥
घोरं न चीर्णं तपश्चरणं यत् निजबोधेन सारम् ।
पुण्यमपि पापमपि दग्धं नैव किं छिद्यते संसारः ॥ २९८ ॥

सयलवि इत्यादि । **सयलवि** समस्ता अपि **संग** मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्ना अभ्यंतराः क्षेत्रवास्त्वादिबहुभेदभिन्ना बाह्या अपि संगाः परिग्रहा **ण मिल्लिया** न मुक्ताः । पुनरपि किं न कृतं । **णवि किउ उवसमभाउ** जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमताभावलक्षणो नैव कृतः उपशमभावः । पुनश्च किं न कृतं । **सिवपयमग्गुवि मुणिउ णवि** "शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शांतमक्षयं । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः" इति वचनात् शिवशब्दवाच्यो योसौ मोक्षस्तस्य मार्गोपि न ज्ञातः । कथंभूतो मार्गः । स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः । यत्र मार्गे किं । **जहिं जोइहिं अणुराउ** यत्र निश्चयमोक्षमार्गे परमयोगिनामनुरागस्तात्पर्यं । न केवलं मोक्षमार्गोपि न ज्ञातः । **घोरु ण चिण्णउ तवचरणु** घोरं दुर्धरं परीषहोपसर्गजयरूपं नैव चीर्णं न कृतं । किं तत् । अनशनादिद्वाद-

---

कालतक संसारमें भटका । निजस्वरूपकी प्राप्तिके विना मैं नष्ट हुआ । अब ऐसा उपदेश कहो कि जिससे भ्रम मिट जावे ॥ २९६ ॥ इस प्रकार परमोपदेशके कथनकी मुख्यतासे दस दोहा कहे हैं ।

आगे परमोपदेश भाव सहित सब परिग्रहका त्याग करनेसे संसारका विच्छेद होता है ऐसा दो दोहाओंमें निश्चय करते हैं;—[**सकला अपि संगाः**] सब परिग्रह भी [**न मुक्ताः**] नहीं छोड़े [**उपशमभावः नैव कृतः**] समभाव भी नहीं किया [**यत्र योगिनां अनुरागः**] और जहां योगीश्वरोंका प्रेम है ऐसा [**शिवमार्गोपि**] मोक्ष पद भी [**नैव मतः**] नहीं जाना [**घोरं तपश्चरणं**] महा दुर्धर तप [**न चीर्णं**] नहीं

शविधं तपश्चरणं । यत्कथंभूतं । जं णियबोहहं सारु यत्तपश्चरणं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनलक्षणेन निजबोधेन सारभूतं । पुनश्च किं न कृतं । पुण्णुवि पाउवि निश्चयनयेन शुभाशुभनिगलद्वयरहितस्य संसारिजीवस्य व्यवहारेण सुवर्णलोहनिगलद्वयसदृशं पुण्यपापद्वयमपि दड्ढ णवि शुद्धात्मद्रव्यानुभवरूपेण ध्यानाग्निना दग्धं नैव किमु छिज्जइ संसारु कथं छिद्यते संसार इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निरंतरं शुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति तात्पर्यं ॥ २९७ ॥ २९८ ॥

अथ दानपूजापंचपरमेष्टिवंदनादिरूपं परंपरया मुक्तिकारणं श्रावकधर्मं कथयति;—

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहं, णवि पुज्जिउ जिणणाहु ।
पंच ण वंदिय परमगुरु, किमु होसइ सिवलाहु ॥ २९९ ॥

दानं न दत्तं मुनिवराणां नापि पूजितः जिननाथः ।
पंच न वंदिता परमगुरवः किं भविष्यति शिवलाभः ॥ २९९ ॥

किया [यत्] जो कि [निजबोधेन सारं] आत्मज्ञानकर शोभायमान है [पुण्यमपि पापमपि] और पुण्य तथा पाप ये दोनों [नैव दग्धं] नहीं भस्म किये तो [संसारः] संसार [किं छिद्यते] कैसे छूट सकता है । भावार्थ—मिथ्यात्व (अतत्वश्रद्धा) राग (प्रीतिभाव) दोष (वैरभाव) वेद (स्त्री पुरुष नपुंसक) क्रोध मान माया लोभरूप चार कषाय और हास्य रति अरति शोक भय ग्लानि–ये चौदह अंतरंग परिग्रह, क्षेत्र (ग्रामादिक) वास्तु (गृहादिक) हिरण्य (रुपय्या मौहर आदि) सुवर्ण (गहने आदि) धन (हाथी घोड़ा आदि) धान्य (अन्नादि) दासीदास, कुप्य (वस्त्र तथा सुगंधादिक) भांड (वर्तन आदि) ये दस तरहके बाहरके परिग्रह, इस प्रकार बाह्य अभ्यंतर परिग्रहके चौवीस भेद हुए इनको नहीं छोड़ा । जीवित मरण सुख दुःख लाभ अलाभादिमें समान भाव कभी नहीं किया कल्याणरूप मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र भी नही जाने । निजस्वरूपका श्रद्धान निजस्वरूपका ज्ञान और निजस्वरूपका आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय तथा नव पदार्थोंका श्रद्धान नव पदार्थोंका ज्ञान और अशुभक्रियाका त्यागरूप व्यवहाररत्नत्रय-ये दोनों ही मोक्षके मार्ग हैं इन दोनोंमेंसे निश्चयरत्नत्रय तो साक्षात् मोक्षका मारग है और व्यवहाररत्नत्रय परंपराय मोक्षका मार्ग है । ये दोनों मैने कभी नहीं जाने संसारका ही मार्ग जाना । अनशनादि बारहप्रकारका तप नहीं किया बाईस परीषह नहीं सहन कीं । तथा पुण्य सुवर्णकी वेड़ी पाप लोहेकी वेड़ी सो ये दोनों बंधन निर्मल आत्मध्यानरूपी अग्निसे भस्म नहीं किये । इन वातोंके विना किये संसारका विच्छेद नहीं होता संसारसे मुक्त होनेके येही कारण है । ऐसा व्याख्यान जानकर हमेशां शुद्धात्मस्वरूपकी भावना करनी चाहिये ॥ २९७ ॥ २९८ ॥

दाणु इत्यादि । **दाणु ण दिण्णउ** आहाराभयभैषज्यशास्त्रभेदेन चतुर्विधदानं भक्तिपूर्वकं न दत्तं । केषां । **मुणिवरहं** निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकानां मुनिवरादिचतुर्विधसंघस्थितानां पात्राणां **णवि पुज्जिउ** जलधारया सह गंधाक्षतपुष्पाद्यष्टविधपूजया न पूजितः । कोसौ । **जिणणाहु** देवेंद्रधरणेंद्रनरेंद्रपूजितः केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरिपूर्णः पूज्यपदस्थितो जिननाथः **पंच ण वंदिय** पंच न वंदिताः । के ते । **परमगुरु** त्रिभुवनाधीशवंद्यपदस्थिता अर्हत्सिद्धाः त्रिभुवनेशवंद्यमोक्षपदाराधकाः आचार्योपाध्यायसाधवश्चेति पंचगुरवः **किमु होसइ सिवलाहु** शिवशब्दवाच्यमोक्षपदस्थितानां तदाराधकानामाचार्यादीनां च यथायोग्यं दानपूजावंदनादिकं न कृतं कथं शिवशब्दवाच्यमोक्षसुखस्य लाभो भविष्यति न कथमपीति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा उपासकाध्ययनशास्त्रकथितमार्गेण विधिद्रव्यदातृपात्रलक्षणविधानेन दातव्यं पूजावंदनादिकं च कर्तव्यमिति भावार्थः ॥ २९९ ॥

अथ निश्चयेन चितारहितध्यानमेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेन,—

अद्धुम्मीलियलोयणिहिं, जोउ किं झंपियएहिं ।
एमुइ लब्भइ परमगइ, णिच्चिंतिं ठियएहिं ॥ ३०० ॥

आगे दानपूजा और पंच परमेष्ठीकी वंदना आदि परंपरा मुक्तिका कारण जो श्रावकधर्म उसे कहते हैं;—[**दानं**] आहारादि दान [**मुनिवराणां**] मुनीश्वर आदि पात्रोंको [**न दत्तं**] नही दिया [**जिननाथः**] जिनेन्द्र भगवानको भी [**नापि पूजितः**] नही पूजा [**पंच परमगुरवः**] अरहंत आदिक पाच परमेष्ठी [**न वंदिताः**] भी नहीं पूजे तब [**शिवलाभः**] मोक्षकी प्राप्ति [**किं भविष्यति**] कैसे हो सकती है । **भावार्थ**— आहार औषध शास्त्र और अभयदान—ये चार प्रकारके दान भक्तिपूर्वक पात्रोंको नहीं दिये अर्थात् निश्चय व्यवहाररत्नत्रयके आराधक जो यती आदि चार प्रकार संघ उनको चार प्रकारका दान भक्तिकर नही दिया, और दुःखी भूंखे जीवोंको करुणाभावसे दान नही दिया । इंद्र नागेंद्र नरेन्द्र आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकर पूर्ण जिननाथकी पूजा नहीं की—जल चंदन अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप फलसे पूजा नही की और तीनलोककर वंदने योग्य ऐसे अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पाच परमेष्ठियोंकी आराधना नही की । सो हे जीव इन कार्योंके विना तुझे मुक्तिका लाभ कैसे होगा । क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिके ये ही उपाय हैं कि जिन पूजा पंचपरमेष्ठीकी वंदना और चारसंघको चारप्रकार दान इन विना मुक्ति नही हो सकती । ऐसा व्याख्यान जानकर सातवें उपासकाध्ययन अंगमें कही गई जो दान पूजा वंदनादिककी विधि वही करनी योग्य है । शुभविधीसे न्यायकर उपार्जन किया अच्छा द्रव्य वह दातारके अच्छे गुणोंको धारणकर विधिसे पात्रको देना, जिनराजकी पूजा करना और पंच परमेष्ठीकी वंदना करना, ये ही व्यवहारनयकर कल्याणका उपाय है ॥ २९९ ॥

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं झंपिताभ्याम् ।
एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चिंतं स्थितैः ॥ ३०० ॥

अद्धुम्मीलिय लोयणिहिं अर्धोन्मीलितलोचनपुटाभ्यां **जोउ किं** योगो ध्यानं किं भवति अपि तु नैव । न केवलमर्धोन्मीलिताभ्यां । **झंपियएहिं** झंपिताभ्यामपि लोचनाभ्यां नैवेति । तर्हि कथं लभ्यते । **एमुइ लब्भइ** एवमेव लभ्यते लोचनपुटनिमीलनोन्मीलननिरपेक्षैः । का लभ्यते । **परमगइ** केवलज्ञानादिपरमगुणयोगात्परमगतिर्मोक्षगतिः । कैः लभ्यते । **णिच्चिंतिं ठियएहिं** ख्यातिपूजालाभप्रभृतिसमस्तचिंताजालरहितैः पुरुषैश्चिंतारहितैः स्वशुद्धात्मरूपस्थितैश्चेत्यभिप्रायः ॥ ३०० ॥

अथ;—

जोइय मिल्लहि चिंत जइ, तो तुट्टइ संसारु ।
चिंतासत्तउ जिणवरुवि, लहइ ण हंसाचारु ॥ ३०१ ॥

योगिन् मुंचसि चिंतां यदि ततः त्रुट्यति संसारः ।
चिंतासक्तो जिनवरोपि लभते न हंसचारं ॥ ३०१ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **मिल्लहि** मुंचसि । कां । चिंतारहिताद्विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विलक्षणां चिंतां **जइ** यदि चेत् **तो** ततश्चिंताभावात् । किं भवति । **तुट्टइ** नश्यति । स कः । **संसारु** निःसंसारात् शुद्धात्मद्रव्यात् विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालादिभेदभिन्नः पंचप्रकारः संसारः । यतः कारणात् **चिंतासत्तउ जिणवरुवि** छद्मस्थावस्थायां शुभाशुभचिंतासक्तो जिनवरोपि **लहइ ण** लभते न । कं । **हंसाचारु** संशयवि-

---

आगे निश्चयसे चिंतारहित ध्यान ही मुक्तिका कारण है ऐसा कहते हैं;—[**अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां**] आधे उघड़े हुए नेत्रोंसे अथवा [**झंपिताभ्यां**] वंद हुए नेत्रोंसे [**किं**] क्या [**योगः**] ध्यानकी सिद्धि होती है कभी नही । [**निश्चिंतं स्थितैः**] जो चिंता रहित एकाग्रमें स्थित हैं उनको [**एवमेव**] इसीतरह [**लभ्यते परमगतिः**] स्वयमेव परमगति (मोक्ष) मिलती है । **भावार्थ**—ख्याति (वड़ाई) पूजा (अपनी प्रतिष्ठा) और लाभ इनको आदि लेकर समस्त चिंताओंसे रहित जो निश्चित पुरुष हैं वे ही शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिरता पाते है उनहीके ध्यानकी सिद्धि है और वे ही परमगतिके पात्र है ॥ ३०० ॥

आगे फिर भी चिंताका ही त्याग वतलाते हैं;—[**योगिन्**] हे योगी [**यदि**] जो तू [**चिंतां मुंचसि**] चिंताओंको छोडेगा [**ततः**] तो [**संसारः**] संसारका भ्रमण [**त्रुट्यति**] छूट जायगा क्योंकि [**चिंतासक्तः**] चिंतामें लगे हुए [**जिनवरोपि**] छद्मस्थ अवस्थावाले तीर्थंकर देव भी [**हंसचारं न लभते**] परमात्माका आचरणरूप

भ्रमविमोहरहितानंतज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन हंस इव हंसः परमात्मा तस्य चारं रागादिरहितं शुद्धात्मपरिणाममिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तचिंताजालं त्यक्त्वापि चिंतारहिते शुद्धात्मतत्त्वे सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येति तात्पर्यं ॥

अथ,—

जोइय दुम्मइ कवुण तुह, भवकारणि ववहारि ।
बंभु पवंचहिं जो रहिउ, सो जाणिवि मणु मारि ॥ ३०२ ॥

योगिन् दुर्मतिः का तव भवकारणे व्यवहारे ।
ब्रह्म प्रपंचैर्यत् रहितं तत् ज्ञात्वा मनो मारय ॥ ३०२ ॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **दुम्मइ कवुण तुह** दुर्मतिः का तवेयं **भवकारणि ववहारि** भवरहितात् शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपव्यवहारविलक्षणाच्च स्वशुद्धात्मद्रव्यात्प्रतिपक्षभूते पंचप्रकारसंसारकारणे व्यवहारे । तर्हि किं करोमीति चेत् । **बंभु** ब्रह्मशब्दवाच्यं स्वशुद्धात्मानं ज्ञात्वा । कथंभूतं यत् । **पवंचहिं जो रहिउ** यत्प्रपंचरहितं । पश्चात्किं कुरु । **सो जाणिवि** तं निजशुद्धात्मानं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा । पश्चात्किं कुरु । **मणु मारि** अनेकमानसविकल्पजालरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभविकल्पजालरूपं मनो मारय विनाशयेति भावार्थः ॥ ३०२ ॥

शुद्ध भावोंको नही पाते । भावार्थ—हे योगी निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मपदार्थसे पराङ्मुख जो चिंताजाल उसे छोडेगा तभी चिंताके अभावसे संसार भ्रमण छूटेगा । शुद्धात्म द्रव्यसे विमुख जो द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप पांचप्रकारके ससारसे तू मुक्त होगा । जवतक चिंतावान है तवतक निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती । दूसरोंकी तो क्या वात है जो तीर्थंकरदेव भी केवल अवस्थाके पहले जवतक कुछ शुभाशुभ चिंताकर सहित हैं तवतक वे भी रागादिरहित शुद्धोपयोगपरिणामोंको नही पासकते । सशय विमोह विभ्रमरहित अनंत ज्ञानादि निर्मलगुण सहित हंसके समान उज्वल परमात्माके शुद्ध भाव हैं वे चिंताके विना छोड़े नहीं होते । तीर्थंकर देव भी मुनि होके निश्चित व्रत धारण करते हैं तभी परमहंस दशा पाते हैं ऐसा व्याख्यान जानकर देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछा आदि समस्तचिंताजालको छोड़कर परम निश्चित हो शुद्धात्माकी भावना करना योग्य है ॥ ३०१ ॥

आगे श्रीगुरु मुनियोंको उपदेश देते हैं कि मनको मारकर परमब्रह्मका ध्यान करो;— [योगिन्] हे योगी [तव का दुर्मतिः] तेरी क्या खोटी वुद्धि है जो तू [भवकारणे व्यवहारे] ससारके कारण उद्यमरूप व्यवहार करता है । अब तू [प्रपंचैः रहितं] मायाजालरूप पाखंडोंसे रहित [यत् ब्रह्म] जो शुद्धात्मा है [तत् ज्ञात्वा] उसको

अथ;—

सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं, पंचहिं रूवहिं जंतु ।
चित्तु णिवारिवि झाइ तुहुं, अप्पा देउ अणंतु ॥ ३०३ ॥

सर्वैः रागैः षड्भिः रसैः पंचभिः रूपैः गच्छत् ।
चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनंतम् ॥ ३०३ ॥

सव्वहिं इत्यादि । झाइ ध्याय चिंतय तुहुं त्वं हे प्रभाकरभट्ट । कं । अप्पा स्वशुद्धात्मानं । कथंभूतं । देउ वीतरागपरमानंदसुखेन दीव्यति क्रीडति इति देवस्तं देवं । पुनरपि कथंभूतं । अणंतु केवलज्ञानाद्यनंतगुणाधारत्वादनंतसुखास्पदत्वादविनश्वरत्वाच्चानंतस्तमनंतं । किं कृत्वा पूर्वं । चित्तु णिवारिवि चित्तं निवार्य व्यावृत्य । किं कुर्वन् सन् । जंतु गच्छत्परिणममानं सत् । कैः करणभूतैः । सव्वहिं रायहिं वीतरागात्स्वशुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणैः सर्वशुभाशुभरागैः । न केवलं रागैः । छहिं रसहिं रसनारहिताद्वीतरागसदानंदैकरसपरिणतादात्मनो विपरीतैः गुडलवणदधिदुग्धतैलघृतषड्रसैः । पुनरपि कैः । पंचहिं रूवहिं अरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूतैः कृष्णनीलरक्तश्वेतपीतपंचरूपैरिति तात्पर्यं ॥ ३०३ ॥

अथ येन स्वरूपेण चिंत्यते परमात्मा तेनैव परिणमतीति निश्चिनोति;—

जेण सरूविं झाइयइ, अप्पा एहु अणंतु ।
तेण सरूविं परिणवइ, जिमु फलिहउमणि मंतु ॥ ३०४ ॥

जानकर [मनो मारय] विकल्पजालरूपी मनको मार । भावार्थ—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्माको जानकर शुभाशुभविकल्पजालरूप मनको मारो । मनके विना वश किये निर्विकल्पध्यानकी सिद्धि नहीं होती । मनके अनेकविकल्पजालोंसे जो शुद्ध आत्मा उसमें निश्चलता तभी होती है जब कि मनको मारके निर्विकल्प दशाको प्राप्त होवे । इसलिये सकल शुभाशुभ व्यवहारको छोड़के शुद्धात्माको जानो ॥ ३०२ ॥

आगे यही कहते हैं कि सब विषयोंको छोडकर आत्मदेवको ध्यावो;—हे प्रभाकर भट्ट [त्वं] तू [सर्वैः रागैः] सब शुभाशुभरागोंसे [षड्भिः रसैः] छहों रसोंसे [पंचभिः रूपैः] पांच रूपोंसे [गच्छत् चित्तं] चलायमान चित्तको [निवार्य] रोककर [अनंतं] अनंतगुणवाले [आत्मानं देवं] आत्मदेवका [ध्याय] चिंतवनकर । भावार्थ—वीतराग परम आनंद सुखमें क्रीडा करने वाले केवलज्ञानादि अनंतगुणवाले अविनाशी शुद्ध आत्माका एकाग्रचित्त होकर ध्यान कर । क्या करके? वीतराग शुद्धात्मद्रव्यसे विमुख जो समस्त शुभाशुभराग, निजरससे विपरीत जो दधि दुग्ध तेल घी नोंन मिश्री ये छहरस और जो अरूप शुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न काले सफेद हरे पीले लाल

येन स्वरूपेण ध्यायते आत्मा एषः अनंतः ।
तेन स्वरूपेण परिणमति यथा स्फटिकमणिः मंत्रः ॥ ३०४ ॥

जेण इत्यादि । **तेण सरूविं परिणवइ** तेन स्वरूपेण परिणमति । कोसौ कर्ता । **अप्पा** आत्मा **एहु** एष प्रत्यक्षीभूतः । पुनरपि किंविशिष्टः । **अणंतु** वीतरागानाकुलत्वलक्षणानंतशक्तिपरिणतत्वादनंतः । तेन केन । **जेण सरूवें झाइयइ** येन शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण ध्यायते चिन्त्यते । दृष्टांतमाह । **जह फलिहउमणि मंतु** यथा स्फटिकमणिः जपापुष्पाद्युपाधिपरिणतः गारुडादिमंत्रो वेति । अत्र विशेषव्याख्यानं तु "येन येन स्वरूपेण युज्यते यंत्रवाहकः । तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा" इति श्लोकार्थकथितदृष्टांतेन ध्यातव्यः । इदमत्र तात्पर्य । अयमात्मा येन येन स्वरूपेण चिन्त्यते तेन तेन परिणमतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मपदप्राप्त्यर्थिभिः समस्तरागादिविकल्पसमूहं त्यक्त्वा शुद्धरूपेणैव ध्यातव्य इति ॥ ३०४ ॥

पाचतरहके रूप—इनमें निरंतर चित्त जाता है उसको रोककर आत्मदेवकी आराधना कर ॥ ३०३ ॥

आगे आत्माको जिसरूपसे ध्यावो उसीरूप परिणमता है जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक दिया जाये वैसा ही रंग भासता है ऐसा कहते हैं;—[**एषः**] यह प्रत्यक्षरूप [**अनंतः**] अविनाशी [**आत्मा**] आत्मा [**येन स्वरूपेण**] जिस स्वरूपसे [**ध्यायते**] ध्याया जाता है [**तेन स्वरूपेण**] उसी स्वरूप [**परिणमति**] परिणमता है [**यथा स्फटिकमणिः मंत्रः**] जैसे स्फटिकमणि और गारुडी आदि मंत्र हैं । **भावार्थ**—यह आत्मा शुभ अशुभ शुद्ध इन तीन उपयोगरूप परिणमता है । जो अशुभोपयोगका ध्यान करे तो पापरूप परिणवे, शुभोपयोगका ध्यान करे तो पुण्यरूप परिणवे और जो शुद्धोपयोगको ध्यावे तो परमशुद्धरूप परिणमन करता है । जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक लगाओ अर्थात् श्याम हरा पीला लालमेंसे जैसा लगाओ उसीरूप स्फटिक मणि परिणमता है हरे डंकसे हरा और लालसे लाल भासता है । उसीतरह जीवद्रव्य जिस उपयोगरूप परिणमता है उसीरूप भासता है । और गारुडी आदि मंत्रोंमेंसे गारुडीमंत्र गरुडरूप भासता है जिससे कि सर्प डर जाता है । ऐसा ही कथन अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है कि जिस २ रूपसे आत्मा परिणमता है उस २ रूपसे आत्मा तन्मयी हो जाता है जैसे स्फटिकमणि उज्वल है उसके नीचे जैसा डंक लगाओ वैसा ही भासता है । ऐसा जानकर आत्माका स्वरूप जानना चाहिये । जो शुद्धात्मपदकी प्राप्तिके चाहनेवाले हैं उनको यही योग्य है कि समस्त रागादिक विकल्पोंके समूहको छोडकर आत्माके शुद्धरूपको ध्यावें और विकारोंपर दृष्टि न रक्खें ॥ ३०४ ॥

अथ चतुष्पादिकां कथयति;—

एहु जु अप्पा सो परमप्पा, कम्मविसेसें जायउ जप्पा ।
जामइ जाणइ अप्पें अप्पा, तामइं सो जि देउ परमप्पा ॥ ३०५ ॥

एष य आत्मा स परमात्मा कर्मविशेषेण जातः जाप्यः ।
यदा जानाति आत्मना आत्मानं तदा स एव परमात्मा ॥ ३०५ ॥

एहु जु एष यः प्रत्यक्षीभूतः **अप्पा** स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा । स कथंभूतः । **सो परमप्पा** शुद्धनिश्चयेनानंतचतुष्टयस्वरूपः क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः स निर्दोषिपरमात्मा **कम्मविसेसें जायउ जप्पा** व्यवहारनयेनानादिकर्मबंधनविशेषेण स्वकीयबुद्धिदोषेण जात उत्पन्नः । कथंभूतो जातः । जाप्यः पराधीनः **जामइ जाणइ** यदा काले जानाति । केन कं । **अप्पें अप्पा** वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनात्मना निजशुद्धात्मानं **तावइ** तस्मिन् स्वशुद्धात्मानुभूतिकाले **सो जि** स एवात्मा **देउ** निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानुभवेन दीव्यति क्रीडतीति देवः परमाराध्यः । किं विशिष्टो देवः । **परमप्पा** शुद्धनिश्चयेन मुक्तिगतपरमात्मसमानः । अयमत्र भावार्थः । यद्येवंभूतः परमात्मा शक्तिरूपेण देहमध्ये नास्ति तर्हि केवलज्ञानोत्पत्तिकाले कथं व्यक्तिर्भविष्यतीति ॥ ३०५ ॥

अथ तमेवार्थं व्यक्तिं करोति,—

जो परमप्पा णाणमउ, सो हउं देउ अणंतु ।
जो हउं सो परमप्पु परु, एहउ भावि णिभंतु ॥ ३०६ ॥

यः परमात्मा ज्ञानमयः सः अहं देवः अनंतः ।
यः अहं स परमात्मा परः इत्थं भावय निर्भ्रांतः ॥ ३०६ ॥

आगे चतुष्पदछंदमें आत्माके शुद्ध स्वरूपको कहते हैं;—[**एष य आत्मा**] यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदन ज्ञानकर प्रत्यक्ष जो आत्मा [**स परमात्मा**] वही शुद्ध निश्चयनयकर अनंत चतुष्टयस्वरूप क्षुधादि अठारहदोष रहित निर्दोष परमात्मा है वह व्यवहारनयकर [**कर्मविशेषेण**] अनादिकर्मबंधके विशेषसे [**जाप्यः जातः**] पराधीन हुआ दूसरेका जाप करता है परंतु [**यदा**] जिस समय [**आत्मना**] वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानकर [**आत्मानं**] अपनेको [**जानाति**] जानता है [**तदा**] उस समय [**स एव**] यह आत्मा ही [**परमात्मा**] परमात्मा देव है । **भावार्थ**—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो परम आनंद उसके अनुभवमें क्रीडा करनेसे देव कहा जाता है यही आराधने योग्य है । जो आत्मदेव शुद्ध निश्चयनयकर भगवान् केवलीके समान है । ऐसा परमात्मदेव शक्तिरूपसे देहमें है जो देहमें न होवे तो केवलज्ञानके कैसे प्रगट होवे ॥ ३०५ ॥

जो परमप्पा इत्यादि । **जो परमप्पा** यःकश्चित् प्रसिद्धपरमात्मा सर्वोत्कृष्टानंतज्ञानादिरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमश्चासावात्मा च परमात्मा **णाणमउ** ज्ञानेन निर्वृतो ज्ञानमयः **सो हउं** यद्यपि व्यवहारेण कर्मावृतस्तिष्ठामि तथापि निश्चयेन स एवाहं पूर्वोक्तः परमात्मा । कथंभूतः । **देउ** परमाराध्यः । पुनरपि कथंभूतः । **अणंतु** अनंतसुखादिगुणास्पदत्वादनंतः । **जो हउं सो परमप्पु** योऽहं स्वदेहस्थो निश्चयेन परमात्मा स एव तत्सदृश एव मुक्तिगतपरमात्मा । कथंभूतः । **परु** परमगुणयोगात् पर उत्कृष्टः **एहउ भावि** इत्थंभूतं परमात्मानं भावय हे प्रभाकरभट्ट । कथंभूतः सन् । **णिभंतु** भ्रांतिरहितः संशयरहितः सन्निति । अत्र स्वदेहेपि शुद्धात्मास्तीति निश्चयं कृत्वा मिथ्यात्वाद्युपशमवशेन केवलज्ञानाद्युत्पत्तिवीजभूतां कारणसमयसाराख्यामागमभाषया वीतरागसम्यक्त्वादिरूपां शुद्धात्मैकदेशव्यक्तिं लब्ध्वा सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ ३०६ ॥

अथामुमेवार्थं दृष्टांतदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति,—

णिम्मलफलिहहं जेम जिय, भिण्णउ परकियभाउ ।
अप्पसहावहं तेम मुणि, सयलुवि कम्मसहाउ ॥ ३०७ ॥

आगे इसी अर्थको प्रगटपनेसे दृढ करते हैं;—[**यः परमात्मा**] जो परमात्मा [**ज्ञानमयः**] ज्ञानस्वरूप है [**स अहं**] वह मैं ही हूं जो कि [**अनंतः देवः**] अविनाशी देवस्वरूप हूं [**य अहं**] जो मैं हूं [**स परः परमात्मा**] वही उत्कृष्ट परमात्मा है [**इत्थं**] इस प्रकार [**निर्भ्रांतः**] निस्संदेह [**भावय**] तू भावना कर । **भावार्थ**—जो कोई एक परमात्मा परम प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट अनंतज्ञानादिरूप लक्ष्मीका निवास है ज्ञानमई है वैसाही मैं हूं । यद्यपि व्यवहारनयकर मैं कर्मोंसे बंधा हुआ हूं तौभी निश्चयनयकर मेरे बंध मोक्ष नहीं हैं, जैसा भगवानका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है । जो आत्मदेव महामुनियोंकर परम आराधने योग्य है और अनंत सुख आदि गुणोंका निवास है । इससे यह निश्चय हुआ कि जैसा परमात्मा वैसा यह आत्मा और जैसा यह आत्मा है वैसा ही परमात्मा है । जो परमात्मा है वो मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है । अहं यह शब्द देहमें स्थित आत्माको कहता है और सो यह शब्द मुक्ति प्राप्त परमात्मामें लगाना । जो परमात्मा वह मैं हूं और मैं हूं सो परमात्मा—यही ध्यान हमेशा करना । वह परमात्मा परमगुणके संबंधसे उत्कृष्ट है । श्रीयोगींद्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं कि हे प्रभाकर भट्ट तू सब विकल्पोंको छोड़कर केवल परमात्माका ध्यानकर । निस्सदेह होके इस देहमें शुद्धात्मा है ऐसा निश्चयकर । मिथ्यात्वादि सब विभावोंकी उपशमताके वशसे केवलज्ञानादि उत्पत्तिका जो कारण समयसार (निज आत्मा) उसीकी नि-

निर्मलस्फटिकात् यथा जीव भिन्नः परकृतभावः ।

आत्मस्वभावात् तथा मन्यस्व सकलमपि कर्मस्वभावम् ॥ ३०७ ॥

भिण्णउ भिन्नो भवति **जिय** हे जीव **जेम** यथा । कोसौ कर्ता । **परकियभाउ** जपापुष्पाद्युपाधिरूपः परकृतभावः । कस्मात्सकाशात् । **णिम्मलफलिहहं** निर्मलस्फटिकात् **तेम** तथा भिन्नं **मुणि** मन्यस्व जानीहि । कं । **सयलुवि कम्मसहाउ** समस्तमपि भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मस्वभावं । कस्मात् सकाशात् । **अप्पसहावहं** अनंतज्ञानादिगुणस्वभावात् परमात्मन इति भावार्थः ॥ ३०७ ॥

अथ तामेव देहात्मनोर्भेदभावनां दृढयति,—

जेम सहावि णिम्मलउ, फलिहउ तेम सहाउ ।
भंतिए मइलु म मण्णि जिय, मइलउ देक्खवि काउ ॥ ३०८ ॥

यथा स्वभावेन निर्मलः स्फटिकः तथा स्वभावः ।

भ्रांत्या मलिनं मा मन्यस्व जीव मलिनं दृष्ट्वा कायम् ॥ ३०८ ॥

जेम इत्यादि । **जेमु सहाविं णिम्मलउ** यथा स्वभावेन निर्मलो भवति । कोसौ । **फलिहउ** स्फटिकमणिः **तेम** तथा निर्मलो भवति । कोसौ कर्ता । **सहाउ** विशुद्धज्ञानरूपस्य परमात्मनः स्वभावः **भंतिए मइलु म मण्णि** पूर्वोक्तमात्मस्वभावं कर्मतापन्नं भ्रांत्या मलिनं मा मन्यस्व **जिय** हे जीव । किं कृत्वा । **मइलउ दिक्खिवि** मलिनं दृष्ट्वा । कं । **काउ** निर्मलशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मपदार्थाद्विलक्षणं कायमित्यभिप्रायः ॥ ३०८ ॥

रंतर भावना करनी चाहिये । वीतरागसम्यक्त्वादिरूप शुद्ध आत्माका एकदेश प्रगटपनेको पाकर सब तरहसे ज्ञानकी भावना करना योग्य है ॥ ३०६ ॥

आगे इसी अर्थको दृष्टांत दार्ष्टांतसे पुष्ट करते हैं;—[**जीव**] हे जीव [**यथा**] जैसे [**परकृतभावः**] नीचेके सब डंक [**निर्मलस्फटिकात्**] महा निर्मल स्फटिकमणिसे [**भिन्नः**] जुदे हैं [**तथा**] उसीतरह [**आत्मस्वभावात्**] आत्मस्वभावसे [**सकलमपि**] सब [**कर्मस्वभावं**] शुभाशुभकर्म [**मन्यस्व**] भिन्न जानो । **भावार्थ**—आत्मस्वभाव महानिर्मल है भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म ये सब जड़ हैं आत्मा चिद्रूप है । अनंत ज्ञानादि गुणरूप जो चिदानंद उससे तू सकल प्रपंच भिन्न मान ॥ ३०७ ॥

आगे देह और आत्मा जुदे २ हैं यह भेद भावना दृढ करते हैं;—[**यथा**] जैसे [**स्फटिकः**] स्फटिकमणि [**स्वभावेन**] स्वभावसे [**निर्मलः**] निर्मल है [**तथा**] उसीतरह [**स्वभावः**] आत्मा ज्ञान दर्शनरूप निर्मल है । ऐसे आत्मस्वभावको [**जीव**] हे जीव [**कायं मलिनं**] शरीरकी मलिनता [**दृष्ट्वा**] देखकर [**भ्रांत्या**] भ्रमसे [**मलिनं**]

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्तादिवस्त्रदृष्टांतेन व्यक्तीकरोति चतुष्कलेन,—

रत्तें वत्थें जेम बुहु, देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहिं रत्तिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ ३०९ ॥
जिण्णिं वत्थें जेम बुहु, देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहिं जिण्णिं णाणिं तहं, अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ ३१० ॥
वत्थु पणट्ठइं जेमु बुहु, देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठें देहिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥ ३११ ॥
भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय, देहहं मण्णइ णाणि ।
देहुवि भिण्णउ णाणि तहं, अप्पहं मण्णइ जाणि ॥ ३१२ ॥

रक्ते वस्त्रे यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तं ।
देहे रक्ते ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥ ३०९ ॥
जीर्णे वस्त्रे यथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णं ।
देहे जीर्णे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥ ३१० ॥
वस्त्रे प्रणष्टे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।
नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥ ३११ ॥
भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।
देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीहि ॥ ३१२ ॥

यथा कोपि व्यवहारज्ञानी रक्ते वस्त्रे जीर्णे वस्त्रे नष्टेपि स्वकीयवस्त्रे स्वकीयं देहं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे नष्टेपि सति व्यवहारेण देहस्थमपि वीतरागचिदानंदैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयनयेन देहाद्भिन्नं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः । अथ मण्णइ मन्यते । कोसौ । णाणि देहवस्त्रविषये भेदज्ञानी । किं मन्यते । भिण्णउ भिन्नं । किं । वत्थु जि वस्त्रमेव जेम यथा जिय हे जीव ।

मैला [मा मन्यस्व] मत मानें । भावार्थ—यह काय शुद्ध बुद्ध परमात्मपदार्थसे भिन्न है काय मैली है आत्मा निर्मल है ॥ ३०८ ॥

आगे पूर्वकथित भेदविज्ञानकी भावना रक्त पीतादि वस्त्रके दृष्टांतसे चार दोहाओंमें प्रगट करते हैं;—[यथा] जैसे [बुधः] कोई बुद्धिमान् पुरुष [रक्ते वस्त्रे] लाल वस्त्रसे [देहं रक्तं] शरीरको लाल [न मन्यते] नही मानता [तथा] उसीतरह [ज्ञानी] वीतराग निर्विकल्प स्वसवेदन ज्ञानी [देहे रक्ते] शरीरके लाल होनेसे [आत्मानं] आत्माको [रक्तं न मन्यते] लाल नही मानता । [यथा बुधः] जैसे कोई बुद्धिमान् [वस्त्रे जीर्णे] कपड़ेके जीर्ण (पुराने) होनेपर [देहं जीर्णं] शरीरको

कस्माद्भिन्नं मन्यते । देहहं स्वकीयदेहात् । दृष्टांतमाह । मण्णइ मन्यते । कोसौ । णाणि देहात्मनोर्भेदज्ञानी तहं तथा भिन्नं मन्यते । कमपि । देहुवि देहमपि । कस्मात् । अप्पहं निश्चयेन देहविलक्षणाद् व्यवहारेण देहस्थात्सहजशुद्धपरमानंदैकस्वभावान्निजपरमात्मनः जाणि जानीहीति भावार्थः ॥ ३०९ । ३१० । ३११ । ३१२ ॥

अथ दुःखजनकदेहघातकं शत्रुमपि मित्रं जानीहीति दर्शयति;—

इहु तणु जीवड तुज्झ रिउ, दुक्खइं जेण जणेइ ।
सो परु जाणहि मित्तु तुहुं, जो तणु एहु हणेइ ॥ ३१३ ॥

इयं तनुः जीव तव रिपुः दुःखानि येन जनयति ।
तं परं जानीहि मित्रं त्वं यः तनुमिमां हंति ॥ ३१३ ॥

रिउ रिपुर्भवति । का । **इहु तणु** इयं तनुः कर्त्री **जीवड** हे जीव **तुज्झ** तव । कस्मात् । **दुक्खइं जेण जणेइ** येन कारणेन दुक्खानि जनयति **सो परु** तं परजनं **जाणहि**

जीर्ण [**न मन्यते**] नही मानता [**तथा ज्ञानी**] उसीतरह ज्ञानी [**देहे जीर्णे**] शरीरके जीर्ण होनेसे [**आत्मानं जीर्णं न मन्यते**] आत्माको जीर्ण नहीं मानता । [**यथा बुधः**] जैसे कोई बुद्धिमान् [**वस्त्रे प्रणष्टे**] वस्त्रके नाश होनेसे [**देहं नष्टं**] देहका नाश [**न मन्यते**] नही मानता [**तथा ज्ञानी**] उसी तरह ज्ञानी [**देहे नष्टे**] देहका नाश होनेसे [**आत्मानं**] आत्माका [**नष्टं न मन्यते**] नाश नही मानता । [**जीव**] हे जीव [**यथा ज्ञानी**] जैसे ज्ञानी [**देहात् भिन्नं एव**] देहसे भिन्न ही [**वस्त्रं मन्यते**] कपडेको मानता है [**तथा ज्ञानी**] उसीतरह ज्ञानी [**देहमपि**] शरीरको भी [**आत्मनः भिन्नं**] आत्मासे जुदा [**मन्यते**] मानता है ऐसा [**जानीहि**] तुम जानो । **भावार्थ**— जैसे वस्त्र और शरीर मिले हुए भासते हैं परंतु शरीरसे वस्त्र जुदा है उसीतरह आत्मा और शरीर मिले हुए दीखते हैं परंतु जुदे हैं । शरीरकी रक्ततासे, जीर्णतासे और विनाशसे आत्माकी रक्तता, जीर्णता और विनाश नही होता । यह निस्संदेह जानो । यह आत्मा व्यवहारनयकर देहमें स्थित है तौभी सहज शुद्ध परमानंदरूप निज स्वभावकर जुदा ही है देहके सुख दुःख जीवमें नही हैं ॥ ३०९।३१०।३११।३१२ ॥

आगे दुःख उत्पन्न करनेवाला शत्रुरूप यह देह है उसको तू मित्र मत समझ ऐसा कहते हैं;—[**जीव**] हे जीव [**इयं तनुः**] यह शरीर [**तव रिपुः**] तेरा शत्रु है [**येन**] क्योंकि [**दुःखानि**] दुःखोंको [**जनयति**] उत्पन्न करता है [**यः**] जो

---

१ "दुःखका कारण जो देह उसके नाश करनेवाले शत्रुको भी मित्र समझ ऐसा दिखलाते हैं" । यह अर्थ संस्कृतटीकाके अनुसार है ।

जानीहि । किं । **मित्तु** परममित्रं **तुहुं** त्वं कर्ता । यः परः किं करोति । **जो तणु एहु हणेइ** यः कर्ता तनुरियं प्रत्यक्षीभूतं हंतीति । अत्र यदा वैरी देहविनाशं करोति तदा वीतरागचिदानंदैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृतसमरसीभावे स्थित्वा शरीरघातकस्योपरि यथा पांडवैः कौरवकुमारस्योपरि द्वेषो न कृतस्तथान्यतपोधनैरपि न कर्तव्यइत्यभिप्रायः ॥ ३१३ ॥

अथ उदयागते पापकर्मणि स्वस्वभावो न त्याज्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति,-

उदयहं आणिवि कम्मु मइं जं भुंजेवउ होइ ।
तं सइ आविउ खविउ मइं, सो पर लाहु जि कोइ ॥ ३१४ ॥

उदयमानीय कर्म मया यत् भोक्तव्यं भवति ।
तत् स्वयमागतं क्षपितं मया स परं लाभ एव कश्चित् ॥ ३१४ ॥

जं यत् **भुंजेवउ होइ** भोक्तव्यं भवति । किं कृत्वा । **उदयहं आणवि** विशिष्टात्मभावनाबलेनोदयमानीय । किं । **कम्मु** चिरसंचितं कर्म । केन । **मइं** मया **तं** तत् पूर्वोक्तं कर्म **सइ आविउ** दुर्धरपरीषहोपसर्गवशेन स्वयमुदयागतं सत् **खविउ मइं** निजपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागसहजानंदैकसुखरसास्वादद्रवीभूतेन परिणतेन मनसा क्षपितं मया **सो** स परं नियमेन **लाहु जि** लाभ एव **कोइ** कश्चिदपूर्व इति । अत्र केचन महापुरुषाः

[**इमां तनुं**] इस शरीरका [**हंति**] घात करे [**तं**] उसको [**त्वं**] तुम [**परं मित्रं**] परम मित्र [**जानीहि**] जानो । **भावार्थ—**यह शरीर तेरा शत्रु होनेसे दुःख उत्पन्न करता है इससे तू अनुराग मत करै और जो तेरे शरीरकी सेवा करता है उससे भी राग मतकर तथा जो तेरे शरीरका घात करदेवे उसको शत्रु मत जानें । जब कोई तेरे शरीरका विनाश करे तब वीतराग चिदानंद ज्ञानस्वभाव परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो परम समरसीभाव उसमें लीन होकर शरीरके घातकपर द्वेष मतकर । जैसे महा धर्मस्वरूप युधिष्ठिर आदि पाडव पाच भाई उन्होंने दुर्योधनादिपर द्वेष नही किया । उसी तरह सभी साधुओंका यही स्वभाव है कि अपने शरीरका जो घात करे उससे द्वेष नही करते सबके मित्र ही रहते हैं ॥ ३१३ ॥

आगे पूर्वोपार्जित पापके उदयसे दुःख अवस्था आजावे उसमें अपना धीरपना आदि स्वभाव न छोड़े ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं;—[**यत्**] जो [**मया**] मै [**कर्म**] कर्मको [**उदयं आनीय**] उदयमें लाकर [**भोक्तव्यं भवति**] भोगने चाहता था [**तत्**] वह कर्म [**स्वयं आगतं**] आप ही आगया [**मया क्षपितं**] इससे मै शात चित्तसे फल सहनकर क्षय करूं [**स कश्चित्**] यह कोई [**परं लाभः**] महान ही लाभ हुआ । **भावार्थ—**जो महामुनि मुक्तिके अधिकारी हैं वे नहीं उदयमें आये हुए

दुर्धरानुष्ठानं कृत्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च कर्मोदयमानीय तमनुभवंति, अस्माकं पुनः स्वयमेवोदयागतमिति मत्वा संतोषः कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ३१४ ॥

अथ इदानीं परुषवचनं सोढुं नायाति तदा निर्विकल्पात्मतत्त्वभावना कर्तव्येति प्रतिपादयति,—

णिट्ठुरवयणु सुणेवि जिय, जइ मणि सहण ण जाइ ।
तो लहु भावहि बंभु परु, जिं मणु झत्ति विलाइ ॥ ३१५ ॥

निष्ठुरवचनं श्रुत्वा जीव यदि मनसि पोढुं न याति ।
ततो लघु भावय ब्रह्म परं येन मनो झटिति विलीयते ॥ ३१५ ॥

जइ यदि चेत् **सहण ण जाइ** सोढुं न याति । क । **मणि** मनसि **जिय** हे मूढ जीव । किं कृत्वा । **सुणिवि** श्रुत्वा । किं । **णिट्ठुरवयणु** निष्ठुरं हृदयकर्णशूलवचनं **तो** तद्वचनश्रवणानंतरं **लहु** शीघ्रं **भावहि** वीतरागपरमानंदैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय । कं । **बंभु** ब्रह्मशब्दवाच्यनिजदेहस्थपरमात्मानं । कथंभूतं । **परु** परमानंतज्ञानादिगुणाधारत्वात् परमुत्कृष्टं **जिं** येन परमात्मध्यानेन । किं भवति । **मणु झत्ति विलाइ**

कर्मोंको परम आत्मज्ञानकी भावनाके वलसे उदयमें लाकर उसका फल भोगकर शीघ्र निर्जरा करदेते हैं । और जो वे पूर्वकर्म विना उपायके सहज ही वाईस परिपह तथा उपसर्गके वशसे उदयमें आये हैं तो विषाद न करना वहुत लाभ समझना । मनमें यह मानना कि हम तो उदीरणासे इन कर्मोंको उदयमें लाकर क्षय करते परंतु ये सहज ही उदयमें आये यह तो बड़ा ही लाभ है । जैसे कोई वड़ा व्यौपारी अपने ऊपरका कर्ज लोगोंको वुला वुलाके देता है यदि कोई विना वुलाये सहज ही लेने आया हो तो वडा ही लाभ है । उसी तरह कोई महा पुरुष महान दुर्द्धर तपकरके कर्मोंको उदयमें लाके क्षय करते हैं लेकिन वे कर्म अपने स्वयमेव उदयमें आये हैं तो इसके समान दूसरा क्या है ऐसा सतोष धारणकर ज्ञानीजन उदय आये हुए कर्मोंको भोगते हैं परंतु रागद्वेष नही करते ॥ ३१४ ॥

आगे यह कहते हैं कि जो कोई कर्कश (कठोर) वचन कहे और यह न कहसकता हो तो अपने कषायभाव रोकनेकेलिये निर्विकल्प आत्मतत्वकी भावना करनी चाहिये;— [जीव] हे जीव [निष्ठुरवचनं श्रुत्वा] जो कोई अविवेकी किसीको कठोर वचन कहे उसको सुनकर [यदि] जो [न सोढुं याति] न सह सके [ततः] तो कषाय दूर करनेकेलिये [परं ब्रह्म] परमानंदस्वरूप इस देहमें विराजमान परम ब्रह्मका [मनसि] मनमें [लघु] शीघ्र [भावय] ध्यान करो । जो ब्रह्म अनंतज्ञानादि

वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानंदैकरूपसुखामृतास्वादेन मनो झटिति शीघ्रं विलयं याति द्रवीभूतं भवतीति भावार्थः ॥ ३१५ ॥

अथ जीवः कर्मवशेन जातिभेदभिन्नो भवतीति निश्चिनोति,—

लोउ विलक्खणु कम्मवसु, इत्थु भवंतरि एइ ।
वुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ, इत्थु जि भवि ण पडेइ ॥ ३१६ ॥

लोकः विलक्षणः कर्मवशः अत्र भवांतरे आयाति ।
आश्चर्यं किं यदि अयं आत्मनि स्थितः अत्रैव भवे न पतति ॥ ३१६ ॥

लोउ इत्यादि । **विलक्खणु** षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणसदृशो न सर्वजीवराशिसदृशात् परमात्मतत्त्वाद्विलक्षणो विसदृशो भवति । केन । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिजातिभेदेन । कोसौ । **लोउ** लोको जनः । कथंभूतःसन् । **कम्मवसु** कर्मरहितशुद्धात्मानुभूतिभावनारहितेन यदुपार्जितं कर्म तस्य कर्मण आधीनः कर्मवशः । इत्थंभूतःसन् किं करोति । **इत्थु भवंतरि एइ** पंचप्रकारभवरहिताद्वीतरागपरमानंदैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विसदृशे अस्मिन् भवांतरे संसारे समायाति **वुज्जु कि** इदं किमाश्चर्यं किंतु नैव **जइ इहु अप्पि ठिउ** यदि चेदयं जीवः स्वशुद्धात्मनि स्थितो भवति तर्हि **इत्थु जि भवि ण पडेइ** अत्रैव भवे न पततीति इदमप्याश्चर्यं न भवतीति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा संसारभयभी-

---

गुणोंका आधार है सर्वोत्कृष्ट है [**येन**] जिसके ध्यान करनेसे [**मनः**] मनका विकार [**झटिति**] शीघ्र ही [**विलीयते**] विलाय जाता है ॥ ३१५ ॥

आगे जीव, कर्मके वशसे भिन्न २ स्वरूप जातिभेदसे होता है ऐसा निश्चय करते हैं;—[**विलक्षणः**] सोलहवानीके सुवर्णकी तरह केवलज्ञानादि गुणकर समान जो परमात्मतत्व उससे भिन्न जो [**लोकः**] ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि जाति भेदरूप जीवराशि वह [**कर्मवशः**] कर्मसे उत्पन्न है अर्थात् जातिभेद कर्मके निमित्तसे हुआ है और वे कर्म आत्मज्ञानकी भावनासे रहित अज्ञानी जीवने उपार्जन किये हैं उन कर्मोंके अधीन जातिभेद है जवतक कर्मोंका उपार्जन है तव तक [**अत्र भवांतरे आयाति**] इस ससारमें अनेक जाति धारण करता है [**अयं यदि**] जो यह जीव [**आत्मनि स्थितः**] आत्मस्वरूपमें लगे तो [**अत्रैव भवे**] इसी भवमें [**न पतति**] नही पड़े भ्रमण नही करै [**किं आश्चर्यं**] इसमें क्या आश्चर्य है कुछ भी नही । भावार्थ—जव-तक आत्मामें चित्त नही लगता तवतक संसारमें भ्रमण करता है अनेकभव धारण करता है लेकिन जव यह आत्मदर्शी हुआ तव कर्मोंको नही उपार्जन करता और भवमें भी नहीं भटकता । इसमें आश्चर्य नही है । ससार शरीर भोगोंसे उदास और जिसको भव-भ्रमणका भय उत्पन्न होगया है ऐसा भव्य जीव उसको मिथ्यात्व अव्रत कषाय प्रमाद

तेन भव्येन भवकारणमिथ्यात्वादिपंचास्रवान् मुक्त्वा द्रव्यभावास्रवरहिते परमात्मभावे स्थित्वा च निरंतरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ ३१६ ॥

अथ परेण दोषग्रहणे कृते कोपो न कर्तव्य इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

अवगुणगहणइं महुतणइं, जइ जीवहं संतोसु ।
तो तहं सुक्खहं हेउ हउं, इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥ ३१७ ॥

अवगुणग्रहणेन मदीयेन यदि जीवानां संतोषः ।
ततः तेषां सुखस्य हेतुरहं इति मत्वा त्यज रोषम् ॥ ३१७ ॥

जइ जीवहं संतोसु यदि चेदज्ञानिजीवानां संतोपो भवति । केन । **अवगुणगहणइं** निर्दोषिपरमात्मनो विलक्षणा ये दोषा अवगुणास्तेषां ग्रहणेन । कथंभूतेन । **महुतणइं** मदीयेन **तो तह सोक्खहं हेउ हउं** यतःकारणान्मदीयदोषग्रहणेन तेषां सुखं जातं ततस्तेषामहं सुखस्य हेतुर्यातः **इउं मण्णिवि चइ रोसु** केचन परोपकारनिरताः परेषां द्रव्यादिकं दत्वा सुखं कुर्वंति मया पुनर्द्रव्यादिकं मुक्त्वापि तेषां सुखं कृतमिति मत्वा रोषं त्यज । अथवा मदीया अनंतज्ञानादिगुणा न गृहीतास्तैः किंतु दोषा एव गृहीता इति मत्वा च कोपं त्यज, अथवा ममैते दोषास्संति सत्यमिदमस्य वचनं तथापि रोषं त्यज, अथवा ममैते दोषा न संति तस्य वचनेन किमहं दोषी जातस्तथापि क्षमितव्यं, अथवा परोक्षे दोषग्रहणं करोति न च प्रत्यक्षे समीचीनोसौ तथापि क्षमितव्यं, अथवा वचनमात्रेणैव दोषग्रहणं

योग इन पांच आस्रवोंको छोड़कर परमात्म तत्त्वमें हमेशा भावना करनी चाहिये । जो इसके आत्मभावना होवे तो भव भ्रमण नहीं होसकता ॥ ३१६ ॥

आगे जो कोई अपने दोष ग्रहण करे तो उसपर क्रोध नही करना क्षमा करना यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं;—[**मदीयेन अवगुणग्रहणेन**] अज्ञानी जीवोंको परके दोष ग्रहण करनेसे हर्ष होता है मेरे दोष ग्रहणकरके [**जीवानां संतोषः**] जिन जीवोंको हर्ष होता है [**ततः**] तो मुझे यही लाभ है कि [**अहं**] मैं [**तेषां सुखस्य हेतुः**] उनको सुखका कारण हुआ [**इति मत्वा**] ऐसा मनमें विचारकर [**रोषं त्यज**] गुस्सा छोडो । **भावार्थ**—ज्ञानी गुस्सा नहीं करते ऐसा विचारते हैं कि जो कोई परका उपकार करनेवाले परजीवोंको द्रव्यादि देकर सुखी करते हैं मैने कुछ द्रव्य नही दिया उपकार नहीं किया मेरे अवगुण ही से सुखी होगये तो इसके समान दूसरी क्या वात है । ऐसा जानकर हे भव्य तू रोष छोड । अथवा ऐसा विचार कि मेरे अनंत ज्ञानादि गुण तो उसने नही लिये दोष लिये वो निस्संक लो । जैसे घरमें कोई चोर आया और उसने रत्न सुवर्णादि नही लिये माटी पत्थर लिये तो लो, तुच्छ

करोति न च शरीरबाधां करोति तथापि क्षमितव्यं, अथवा शरीरबाधामेव करोति न च प्राणविनाशं तथापि क्षमितव्यं, अथवा प्राणविनाशमेव करोति न च भेदाभेदरत्नत्रयभावनाविनाशं चेति मत्वा सर्वतात्पर्येण क्षमा कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ ३१७ ॥

अथ सर्वचिंतां निषेधयति युग्मेन;—

जोइय चिंति म किंपि तुहुं, जइ बीहउ दुक्खस्स।
तिलतुसमित्तुवि सल्लडा, वेयण करइ अवस्स ॥ ३१८ ॥

योगिन् चिंतय मा किमपि त्वं यदि बिभेषि दुःखस्य।
तिलतुषमात्रमपि शल्यं वेदना करोत्यवश्यम् ॥ ३१८ ॥

चिंति म चिंतां मा कार्षीः **किंपि तुहुं** कामपि त्वं **जोइय** हे योगिन्। यदि किं। **जइ बीहउ**, यदि बिभेषि। कस्य। **दुक्खस्स** वीतरागतात्त्विकानंदैकरूपात् पारमार्थिकसुखात्प्रतिपक्षभूतस्य नारकादिदुःखस्य। यतः कारणात् **तिलतुसमित्तुवि सल्लडा** तिलतु-

---

वस्तुके लेनेवालेपर क्या क्रोध करना, ऐसा जान रोष छोड़ना। अथवा ऐसा विचारे कि जो यह दोष कहता है वे सच कहता है तो सत्यवादीसे क्या द्वेष करना। अथवा ये दोष मुझमें नहीं हुआ वह वृथा कहता है ते उसके वृथा कहनेसे क्या मैं दोषी होगया विलकुल नहीं हुआ। ऐसा जानकर क्रोध छोड़ क्षमाभाव करने चाहिये। अथवा यह विचारो कि वह मेरे मुंहके आगे नही कहता लेकिन पीठ पीछे कहता है सो पीठ पीछे तो राजाओंको भी बुरा कहते हैं ऐसा जानकर उससे क्षमा करना कि प्रत्यक्ष तो मेरा मानभंग नहीं करता है परोक्षकी वात क्या है। अथवा कदाचित कोई प्रत्यक्ष मुंह आगे दोष कहे तो तू यह विचार कि वचनमात्रसे मेरे दोष ग्रहण करता है शरीरको तो बाधा नही करता यह गुण है ऐसा जान क्षमा ही कर। अथवा जो कोई शरीरको भी बाधा करे तो तू ऐसा विचार कि मेरे प्राण तो नहीं हरता यह गुण है। जो कभी कोई पापी प्राण ही हर ले तो यह विचार कि ये प्राण तो विनाशीक हैं विनाशीक वस्तुके चले जानेकी क्या वात है। मेरा ज्ञान भाव अविनश्वर है उसको तो कोई हर नहीं सकता इसने तो मेरे बाह्य प्राण हर लिये हैं परंतु भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाका विनाश नहीं किया। ऐसा जानकर सर्वथा क्षमा ही करना चाहिये ॥ ३१७ ॥

आगे सब चिंताओंका निषेध करते हैं,—[योगिन्] हे योगी [त्वं] तू [यदि] जो [दुःखस्य] वीतराग परम आनंदके शत्रु जो नरकादि चार गतियोंके दुःख उनसे [विभेषि] डर गया है तो तू निश्चिंत होकर परलोकका साधन कर, इस लोककी [किमपि मा चिंतय] कुछ भी चिंता मत कर। क्योंकि [तिलतुषमात्रमपि शल्यं]

घमात्रमपि शल्यं वेयण करइ अवस्स वेदनां बाधां करोत्यवश्यं नियमेन । अत्र चिंतारहितात्मसंवित्तेः सकाशाद्विलक्षणा या विषयकषायादिचिंता सा न कर्तव्या । कांडादिशल्यमिव दुःखकारणत्वादिति भावार्थः ॥ ३१८ ॥

किंचः—

मोक्खु म चिंतहि जोइया, मोक्खु ण चिंतिउ होइ ।
जेण णिबद्धउ जीवडउ, मोक्खु करेसइ सोइ ॥ ३१९ ॥

मोक्षं मा चिंतय योगिन् मोक्षो न चिंतितो भवति ।
येन निबद्धो जीवः मोक्षं करिष्यति तदेव ॥ ३१९ ॥

मोक्खु इत्यादि । **मोक्खु म चिंतहि** मोक्षचिंतां मा कार्षीस्त्वं **जोइया** हे योगिन् । यतः कारणात् **मोक्खु ण चिंतिउ होइ** रागादिचिंताजालरहितः केवलज्ञानाद्यनंतगुणव्यक्तिसहितो मोक्षः चिंतितो न भवति । तर्हि कथं भवति । **जेण णिबद्धउ जीवडउ** येन मिथ्यात्वरागादिचिंताजालोपार्जितेन कर्मणा बद्धो जीवः **सोइ** तदेव कर्म शुभाशुभविकल्पसमूहरहिते शुद्धात्मस्वरूपे स्थितानां परमयोगिनां **मोक्खु करेसइ** अनंतज्ञानादिगुणोपलंभरूपं मोक्षं

तिलके मूसे मात्र भी शल्य [**वेदनां**] मनको वेदना [**अवश्यं करोति**] निश्चयसे करती है । **भावार्थ**—चिंता रहित आत्मज्ञानसे उलटे जो विषय कषाय आदि विकल्पजाल उनकी चिंता कुछ भी नहीं करना । वह चिंता दुःखका ही कारण है, जैसे बाण आदिकी तृणप्रमाण भी सलाई महा दुःखका कारण है जब वह शल्य निकले तभी सुख होता है ॥ ३१८ ॥

आगे मोक्षकी भी चिंता नहीं करना ऐसा कहते हैं:—[**योगिन्**] हे योगी अन्य चिंताकी तो बात क्या रही [**मोक्षं मा चिंतय**] मोक्षकी भी चिंता मतकर [**मोक्षः**] क्योंकि मोक्ष [**चिंतितो न भवति**] चिंता करनेसे नहीं होती वांछाके त्यागसे ही होती है रागादि चिंताजालसे रहित केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकी प्रगटता सहित जो मोक्ष है वह चिंताके त्यागसे होती है । यही कहते हैं—[**येन**] जिन मिथ्यात्वरागादि चिंताजालोंसे उपार्जन किये कर्मोंसे [**जीवः**] यह जीव [**निबद्धः**] बंधा हुआ है [**तदेव**] वे कर्म ही [**मोक्षं**] शुभाशुभविकल्पके समूहसे रहित जो शुद्धात्मतत्त्वका स्वरूप उसमें लीन हुए परमयोगियोंको मोक्ष [**करिष्यति**] करेंगे । **भावार्थ**—वह चिंताका त्याग ही तुझको निस्संदेह मोक्ष करेगा । अनंत ज्ञानादि गुणोंकी प्रगटता वह मोक्ष है । यद्यपि विकल्प सहित जो प्रथम अवस्था उसमें विषय कषायादि खोटे ध्यानके निवारण करनेकेलिये और मोक्षमार्गमें परिणाम दृढ करनेकेलिये ज्ञानीजन ऐसी भावना करते हैं कि चतुर्गतिके दुःखोंका क्षय हो, अष्ट कर्मोंका क्षय हो, ज्ञानका लाभ हो, पंचमगतिमें

करिष्यतीति । अत्र यद्यपि सविकल्पावस्थायां विषयकषायाद्यपध्यानवंचनार्थं च मोक्षमार्गो भावनादृढीकरणार्थं च । "दुक्खक्खउ कम्मक्खउ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झम्मि" इत्यादि भावना कर्तव्या तथापि वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिकाले न कर्तव्येति भावार्थः ॥ ३१९ ॥

अथ चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कमंतरस्थलं कथ्यते । तद्यथा,—

परमसमाहिमहासरहिं, जे बुड्डहिं पइसेवि ।
अप्पा थक्कइ विमलु तहं, भवमल जंति वहेवि ॥ ३२० ॥

परमसमाधिमहासरसि ये ब्रुडंति प्रविश्य ।
आत्मा तिष्ठति विमलः तेषां भवमलानि यांति वहित्वा ॥ ३२० ॥

जे बुड्डहिं ये केचन पुरुषा मग्ना भवंति । क्व । **परमसमाहिमहासरहिं** परमसमाधिमहासरोवरे । किंकृत्वा मग्ना भवंति । **पइसेवि** प्रविश्य सर्वात्मप्रदेशैरवगाह्य **अप्पा थक्कइ** चिदानंदैकस्वभावः परमात्मा तिष्ठति । कथंभूतः । **विमलु** द्रव्यकर्मनोकर्ममतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायमलरहितः **तहं** तेषां परमसमाधिरतपुरुषाणां **भवमल जंति** भवरहितात् शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणानि यानि कर्माणि भवमलकारणभूतानि गच्छंति । किं कृत्वा । **वहेवि** शुद्धपरिणामनीरप्रवाहेण प्रहितत्वेनेति भावार्थः ॥ ३२० ॥

अथ,—

सयलवियप्पहं जो विलउ, परमसमाहि भणंति ।
तेण सुहासुहभावडा, मुणि सयलवि मिल्लंति ॥ ३२१ ॥

गमन हो समाधि मरण हो और जिनराजके गुणोंकी सपत्ति मुझको हो । यह भावना चौथे पांचवें छट्ठे गुणस्थानमें करने योग्य है तौ भी ऊपरके गुणस्थानोंमें वीतरागनिर्विकल्पसमाधिके समय नही होती ॥ ३१९ ॥

आगे चौवीस दोहाओंके स्थलमें परमसमाधिके व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहासूत्र कहते हैं;—[ये] जो कोई महान पुरुष [परमसमाधिमहासरसि] परमसमाधिरूप सरोवरमे [प्रविश्य] घुसकर [ब्रुडंति] मग्न होते हैं उनके सब प्रदेश समाधिरसमें भीग जाते हैं [आत्मा तिष्ठति] उन्हीके चिदानंद अखंड स्वभाव आत्माका ध्यान स्थिर होता है । जो कि आत्मा [विमलः] द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे रहित महानिर्मल है [तेषां] जो योगी परमसमाधिमें रत हैं उन्ही पुरुषोंके [भवमलानि] शुद्धात्मद्रव्यसे विपरीत अशुद्धभावके कारण जो कर्म हैं वे सब [वहित्वा यांति] शुद्धात्मपरिणामरूप जो जलका प्रवाह उससे वहजाते हैं । भावार्थ—जहा जलका प्रवाह आवे वहा मल कैसे रह सकता है कभी नही रहता ॥ ३२० ॥

सकलविकल्पानां यं विलयं परमसमाधिं भणंति ।
तेन शुभाशुभभावान् मुनयः सकलानपि मुंचंति ॥ ३२१ ॥

भणंति कथयंति । के ते । वीतरागसर्वज्ञाः । कं भणंति । **परमसमाहि** वीतरागपरमसामायिकरूपं परमसमाधिकं **जो विलउ** यं विलयं विनाशं । केषां । **सयलवियप्पहं** निर्विकल्पात्परमात्मस्वरूपात्प्रतिकूलानां समस्तविकल्पानां **तेण** तेन कारणेन **मिल्लंति** मुंचंति । के कर्तारः । **मुणि** परमाराध्यध्यानरतास्तपोधनाः । कान् मुंचंति । **सुहासुहभावडा** शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितान् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतान् शुभाशुभभावान् परिणामान् । कतिसंख्योपेतान् । **सयलवि** समस्तानपि ॥ अयं भावार्थः । समस्तपरद्रव्याशारहितान् स्वशुद्धात्मस्वभावाद्विपरीता याशापीहलोकपरलोकाशा यावत्तिष्ठति मनसि तावद्दुःखी जीव इति ज्ञात्वा सर्वपरद्रव्याशारहितशुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति । तथा चोक्तं । "आसापिसायगहिओ जीवो पावेइ दारुणं दुक्खं । आसा जाहं णियत्ता ताहं णियत्ताइ सयलदुक्खाइं" ॥ ३२१ ॥

अथ;—

घोरु करंतुवि तवचरणु, सयलवि सत्थ मुणंतु ।
परमसमाहिविवज्जियउ, णवि देखइ सिउ संतु ॥ ३२२ ॥

घोरं कुर्वाणोपि तपश्चरणं सकलान्यपि शास्त्राणि मन्वानः ।
परमसमाधिविवर्जितः नैव पश्यति शिवं शांतम् ॥ ३२२ ॥

आगे परमसमाधिका लक्षण कहते हैं;—[**यत्**] जो [**सकलविकल्पानां**] निर्विकल्पपरमात्मस्वरूपसे विपरीत रागादि समस्त विकल्पोंका [**विलयं**] नाश होना उसको [**परमसमाधिं भणंति**] परमसमाधि कहते हैं [**तेन**] इस परमसमाधिसे [**मुनयः**] मुनिराज [**सकलानपि**] सभी [**शुभाशुभविकल्पान्**] शुभअशुभ भावोंको [**मुंचंति**] छोड देते हैं । **भावार्थ**—परमआराध्य जो आत्मस्वरूप उसके ध्यानमें लीन जो तपोधन वे शुभअशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित जो शुद्धात्मद्रव्य उससे विपरीत जो अच्छे बुरे भाव उन सबको छोड़देते हैं, समस्त परद्रव्यकी आशासे रहित जो निज शुद्धात्म स्वभाव उससे विपरीत जो इस लोक परलोककी आशा, वह जब तक मनमें स्थित है तब तक यह जीव दुःखी है । ऐसा जानकर सब परद्रव्यकी आशासे रहित जो शुद्धात्मद्रव्य उसकी भावना करनी चाहिये । ऐसा ही कथन अन्य जगह भी है—आशारूप पिशाचसे घिरा हुआ यह जीव महान भयंकर दुःख पाता है जिन मुनियोंने आशा छोड़ी उन्होंने सब दुःख दूर किये क्योंकि दुःखका मूल आशा ही है ॥ ३२१ ॥

करंतुवि कुर्वाणोपि । किं । **तवचरणु** समस्तपरद्रव्येच्छावर्जितं तपश्चरणं । कथंभूतं । **घोरु** घोरं दुर्धरं वृक्षमूलातापनादिरूपं । न केवलं तपश्चरणं कुर्वन् । **सयलवि सत्थ मुणंतु** शास्त्रजनितविकल्पतात्पर्यरहितात् परमात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतानि सर्वशास्त्राण्यपि जानन् । इत्थंभूतोपि सन् **परमसमाहिविवज्जियउ** यदि चेद्रागादिविकल्परहितपरमसमाधिविवर्जितो भवति तर्हि **णवि देखइ सिउ** न पश्यति । कं । शिवं शिवशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं स्वदेहस्थमपि च परमात्मानं । कथंभूतं । **संतु** रागद्वेषमोहरहितत्वेन शांतं परमोपशमरूपमिति । इदमत्र तात्पर्यं । यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परंपरया मोक्षसाधकं भवति, नोचेत् पुण्यबंधकारणं तमेवेति । तथाचोक्तं । निर्विकल्पसमाधिरहिताः संतः आत्मरूपं न पश्यंति । "आनंदं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितं । ध्यानहीना न पश्यंति जात्यंधा इव भास्करम्" ॥ ३२२ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जो परमसमाधिके विना शुद्ध आत्माको नहीं देख सकता;— **[घोरं तपश्चरणं कुर्वाणोपि]** जो मुनि महा दुर्धर तपश्चरण करता हुआ भी और **[सकलानि शास्त्राणि]** सब शास्त्रोंको **[मन्वानः अपि]** जानता हुआ भी **[परमसमाधिविवर्जितः]** जो परमसमाधिसे रहित है वह **[शांतं शिवं]** शांतरूप शुद्धात्माको **[नैव पश्यति]** नही देख सकता । **भावार्थ**—तप उसे कहते हैं कि जिसमें किसी वस्तुकी इच्छा न हो । सो इच्छाका अभाव तो हुआ नहीं परंतु कायक्लेश करता है; शीतकालमें नदीके तीर, ग्रीष्मकालमें पर्वतके शिखरपर और वर्षाकालमें वृक्षकी मूलमें महान दुर्धर तप करता है । केवल तप ही नहीं करता शास्त्र भी पढता है । सकल शास्त्रोंके प्रबंधसे रहित जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप उससे रहित हुआ सीखता है शास्त्रोंका रहस्य जानता है परंतु परमसमाधिसे रहित है अर्थात् रागादि विकल्पसे रहित समाधि जिसके प्रगट न हुई तो वह परमसमाधिके विना तप करता हुआ और श्रुत पढता हुआ भी निर्मल ज्ञान दर्शनरूप तथा इस देहमें विराजमान ऐसे निजपरमात्माको नही देख सकता । जो आत्मस्वरूप रागद्वेषमोह रहित परमशांत है । परमसमाधिके विना तप और श्रुतसे भी शुद्धात्माको नही देख सकता । जो निज शुद्धात्माको उपादेय जानकर ज्ञानका साधक तप करता है और ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय जो जैनशास्त्र उनको पढता है तो परंपरा मोक्षका साधक है । और जो आत्माके श्रद्धान विना कायक्लेशरूप तप ही करे तथा शब्दरूप ही श्रुत पढे तो मोक्षका कारण नही है पुण्यबंधके कारण होते हैं । ऐसा ही परमानंद स्तोत्रमें कहा है कि जो निर्विकल्प समाधिरहित जीव हैं वे आत्मस्वरूपको नही देखसकते । ब्रह्मका रूप आनंद है वह ब्रह्म निज देहमें मौजूद है

अथ;—

विसयकसायवि णिद्दलिवि, जे ण समाहि करंति ।
ते परमप्पहं जोइया, ण वि आराहय होंति ॥ ३२३ ॥

विषयकषायानपि निर्मूल्य ये न समाधिं कुर्वंति ।
ते परमात्मनः योगिन् नैव आराधका भवंति ॥ ३२३ ॥

जे ये केचन **ण करंति** न कुर्वन्ति । कं । **समाहि** त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिं । किं-कृत्वा पूर्वं । **णिद्दलिवि** निर्मूल्य । कानपि **विसयकसायवि** निर्विषयकषायात् शुद्धात्मतत्त्वान् प्रतिपक्षभूतान् विषयकषायानपि **ते णवि आराहय होंति** ते नैवाराधका भवंति **जोइय** हे योगिन् । कस्याराधका न भवंति । **परमप्पहं** निर्दोषिपरमात्मन इति । तथाहि । विषयकषायनिवृत्तिरूपं शुद्धात्मानुभूतिस्वभावं वैराग्यं शुद्धात्मोपलब्धिरूपं तत्तत्त्वविज्ञानं वाह्याभ्यंतरपरिग्रहपरित्यागरूपं नैर्ग्रंथ्यं निश्चितात्मानुभूतिरूपा वशचित्तता वीतरागनिर्विकल्पसमाधिवहिरंगसहकारिभूतं जितपरीषहत्वं चेति पंचैतान् ध्यानहेतून् ज्ञात्वा भावयित्वा च ध्यानं कर्तव्यमिति भावार्थः । तथा चोक्तं । "वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रंथ्यं वशचित्तता । जितपरीषहत्वं च पंचैते ध्यानहेतवः" ॥ ३२३ ॥

परंतु ध्यानसे रहित जीव ब्रह्मको नहीं देखसकते, जैसे जन्मका अंधा सूर्यको नहीं देख सकता है ॥ ३२२ ॥

आगे विषयकषायोंका निषेध करते हैं;—[**ये**] जो [**विषयकषायानपि**] समाधिको धारणकर विषयकषायोंको [**निर्मूल्य**] मूलसे उखाडकर [**समाधिं**] तीन गुप्तिरूप परमसमाधिको [**न कुर्वंति**] नही धारण करते [**ते**] वे [**योगिन्**] हे योगी [**परमात्माराधकाः**] परमात्माके आराधक [**नैव भवंति**] नही हैं । **भावार्थ**—ये विषय कषाय शुद्धात्म तत्त्वके शत्रु हैं जो इनका नाश न करे वह स्वरूपका आराधक कैसा । स्वरूपको वही आराधता है जिसके विषयकषायका प्रसंग न हो सव दोषोंसे रहित जो निज परमात्मा उसकी आराधनाके घातक विषयकषायके सिवाय दूसरा कोई भी नही है । विषयकषायकी निवृत्तिरूप शुद्धात्माकी अनुभूति वह वैराग्यसे ही देखी जाती है । इसलिये ध्यानका मुख्य कारण वैराग्य है । जव वैराग्य हो तव तत्त्वज्ञान निर्मल हो, सो वैराग्य और तत्त्वज्ञान ये दोनों परस्परमें मित्र हैं । ये ही ध्यानके कारण हैं और वाह्याभ्यंतर परिग्रहके त्यागरूप निर्ग्रंथपना वह ध्यानका कारण है । निश्चित आत्मानुभूति ही है स्वरूप जिसका ऐसा जो मनका वश होना वह वीतरागनिर्विकल्पसमाधिका सहकारी है और वाईस परीषहोंका जीतना वह भी ध्यानका कारण है । ये पांच ध्यानके कारण जानकर ध्यान करना चाहिये । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि ससार शरीरभोगोंसे

अथ;—

परमसमाहि धरेवि मुणि, जे परबंभु ण जंति ।
ते भवदुक्खइं बहुविहइं, कालु अणंतु सहंति ॥ ३२४ ॥

परमसमाधिं धृत्वापि मुनयः ये परब्रह्म न यांति ।
ते भवदुःखानि बहुविधानि कालं अनंतं सहंते ॥ ३२४ ॥

जे ये केचन मुणि मुनयः ण जंति न गच्छंति । कं कर्मतापन्नं । परबंभु परमब्रह्म परमशब्दवाच्यं निजदेहस्थं केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वभावं परमात्मस्वरूपं । किं कृत्वा पूर्वं । **परमसमाहि धरेवि** वीतरागतात्त्विकचिदानंदैकानुभूतिरूपं परमसमाधिं धृत्वा ते पूर्वोक्तशुद्धात्मभावनारहिताः पुरुषाः **सहंति** सहंते । कानि कर्मतापन्नानि । **भवदुक्खइं** वीतरागपरमाह्लादरूपात् पारमार्थिकसुखात्प्रतिपक्षभूतानि नरनारकादिभवदुःखानि । कतिसंख्योपेतानि । **बहुविहइं** शारीरमानसादिभेदेन बहुविधानि । कियंतं कालं । **कालु अणंतु** अनंतकालपर्यंतमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निजशुद्धात्मनि स्थित्वा रागद्वेषादिसमस्तविभावत्यागेन भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ ३२४ ॥

अथ,—

जासु सुहासुहभावडा, णवि सयलवि तुट्टंति ।
परमसमाहि ण तासु मणि, केवुलि एमु भणति ॥ ३२५ ॥

विरक्तता, तत्त्वविज्ञान, सकलपरिग्रहका त्याग, मनका वश करना और बाईस परीषहका जीतना—ये पांच आत्मध्यानके कारण हैं ॥ ३२३ ॥

आगे परमसमाधिकी महिमा कहते हैं—[ये मुनयः] जो कोई मुनि [परमसमाधिं] परमसमाधिको [धृत्वापि] धारण करके भी [परब्रह्म] निज देहमें ठहरे हुए केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप निज आत्माको [न यांति] नहीं जानते हैं [ते] वे शुद्धात्मभावनासे रहित पुरुष [बहुविधानि] अनेक प्रकारके [भवदुःखानि] नारकादि भवदुःख आधि व्याधिरूप [अनंतं कालं] अनंत काल तक [सहंते] भोगते हैं । **भावार्थ**—मनके दुःखको आधि कहते हैं और तनसंबंधी दुःखोंको व्याधि कहते हैं, इन नानाप्रकारके दुःखोंको अज्ञानी जीव भोगता है । ये दुःख वीतराग परम आह्लादरूप जो पारमार्थिक सुख उससे विमुख हैं । यह जीव अनंतकाल तक निज स्वरूपके ज्ञान विना चारों गतियोंके नानाप्रकारके दुःख भोग रहा है । ऐसा व्याख्यान जानकर निज शुद्धात्मसें स्थिर होके रागद्वेषादि समस्त विभावोंका त्यागकर निज स्वरूपकी ही भावना करनी चाहिये ॥ ३२४ ॥

यावत् शुभाशुभभावाः नैव सकला अपि त्रुट्यंति ।
परमसमाधिर्न तावत् मनसि केवलिन एवं भणंति ॥ ३२५ ॥

जामु इत्यादि । **जामु** यावत्कालं **णवि तुट्टंति** नैव नश्यंति । के कर्तारः । **सुहासुहभावडा** शुभाशुभविकल्पजालरहितात् परमात्मद्रव्याद्विपरीताः शुभाशुभभावाः परिणामाः । कतिसंख्योपेता अपि । **सयलवि** समस्ता अपि **तामु ण** तावत्कालं न । कोसौ । **परमसमाहि** शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः शुद्धोपयोगलक्षणः परमसमाधिः । क्व । **मणि** रागादिविकल्परहितत्वेन शुद्धचेतसि **केवुलि एमु भणंति** केवलिनो वीतरागसर्वज्ञा एवं कथयंतीति भावार्थः ॥ ३२५ ॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिप्रतिपादकसूत्रषट्केन प्रथममंतरस्थलं गतं ।

तदनंतरमर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरित्येकोर्थः तस्य चतुर्विधनामाभिधेयस्यार्हत्पदस्य प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तद्यथा;—

सयलवियप्पहं तुट्टाहं, सिवपयमग्गि वसंतु ।
कम्मचउक्कइ विलउ गइ, अप्पा हुइ अरहंतु ॥ ३२६ ॥

सकलविकल्पानां त्रुट्यतां शिवपदमार्गे वसन् ।
कर्मचतुष्के विलयं गते आत्मा भवति अर्हन् ॥ ३२६ ॥

हुइ भवति । कोसौ । **अप्पा** आत्मा । कथंभूतो भवति । **अरहंतु** अरिर्मोहनीयं कर्म तस्य हननात् रजसी ज्ञानदृगावरणे तयोरपि हननात् रहस्यशब्देनांतरायस्तदभावाच्च देवेंद्रादिविनिर्मितामतिशयवतीं पूजामर्हतीत्यर्हन् । कस्मिन् सति । **कम्मचउक्कइ विलउ गइ**

आगे यह कहते हैं कि जबतक इस जीवके शुभाशुभभाव सब दूर न हों तबतक परम समाधि नहीं होसकती;—[**यावत्**] जब तक [**सकला अपि**] समस्त [**शुभाशुभभावाः**] सकल विकल्पजालसे रहित जो परमात्मा उससे विपरीत शुभाशुभ परिणाम [**नैव त्रुट्यंति**] दूर न हों नही मिटें [**तावत्**] तबतक [**मनसि**] रागादिविकल्परहित शुद्ध चित्तमें [**परमसमाधिः न**] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है ऐसी परमसमाधि इस जीवके नहीं होसकती [**एवं**] ऐसा [**केवलिनः**] केवली भगवान [**भणंति**] कहते है । **भावार्थ**—शुभाशुभ विकल्प जब मिटे तभी परमसमाधि होवे ऐसी जिनेश्वरदेवकी आज्ञा है ॥ ३२५ ॥ इस प्रकार चौवीस दोहाओंके महास्थलमें परमसमाधिके कथनरूप छह दोहाओंका अंतरस्थल गया ।

आगे तीन दोहाओंमें अरहंतपदका व्याख्यान करते हैं, अरहंत पद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो या केवलज्ञानकी उत्पत्ति कहो—ये चारों अर्थ एकको ही सूचित करते हैं अर्थात् चारों शब्दोंका अर्थ एक है;—[**कर्मचतुष्के विलयं गते**]

घातिकर्मचतुष्के विलयं गते सति । किं कुर्वन् सन् पूर्वं । **सिवपयमग्गि वसंतु** शिवशब्द-वाच्यं यन्मोक्षपदं तस्य योसौ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयैकलक्षणो मार्गस्तस्मिन् वसन् सन् । केषां सतां । **सयलवियप्पहं तुट्टाहं** समस्तविकल्पानां नष्टानां समस्तरागादिविक-ल्पविनाशादनंतरं भवतीति भावार्थः ॥ ३२६ ॥

अथ;—

केवलणाणिं अणवरउ, लोयालोउ मुणंतु ।
णियमें परमाणंदमउ, अप्पा हुइ अरहंतु ॥ ३२७ ॥

केवलज्ञानेनानवरतं लोकालोकं जानन् ।
नियमेन परमानंदमयः आत्मा भवति अर्हन् ॥ ३२७ ॥

हुइ भवति । कोसौ । **अप्पा** आत्मा । कथंभूतो भवति **अरहंतु** पूर्वोक्तलक्षणो अर्हन् । किं कुर्वन् । **लोयालोउ मुणंतु** क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन कालत्रयविषयं लोकालोकं वस्तु वस्तुस्वरूपेण युगपत् जानन् सन् । केन । **केवलणाणें** लोकालोकप्रकाशकसकलविम-लकेवलज्ञानेन । कथं । **अणवरउ** निरंतरं । किंविशिष्टो भवति भगवान् । **परमाणंदमउ** वीतरागपरमसमरसीभावलक्षणतात्त्विकपरमानंदमयः । केन । **णियमें** निश्चयेनात्र संदेहो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ३२७ ॥

ज्ञानावरणी दर्शनावरणी मोहनी और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके नाश होनेसे [**आत्मा**] यह जीव [**अर्हन् भवति**] अर्हंत होता है अर्थात् जब घातियाकर्म विलय हो जाते हैं तब अरहंतपद पाता है देवेंद्रादिकर पूजाके योग्य हो वह अरहंत है क्योंकि पूजायोग्यको ही अर्हंत कहते हैं । पहले तो महामुनि हुआ [**शिवपदमार्गे वसन्**] मोक्षपदके मार्गरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमें ठहरता हुआ [**सकलविकल्पानां**] समस्त रागादिविकल्पोंका [**त्रुट्यतां**] नाश करता है अर्थात् जब समस्तरागादि विकल्पोंका नाश हो जावे तब निर्विकल्प ध्यानके प्रसादसे केवलज्ञान होता है । केवलज्ञानीका नाम अर्हंत है चाहे उसे जीवन्मुक्त कहो । जब अरहंत हुआ तब भाव मोक्ष हुई पीछे चार अघातियाओंको नाशकर सिद्ध हो जाता है । सिद्धको विदेहमोक्ष कहते हैं । यही मोक्ष होनेका उपाय है ॥ ३२६ ॥

अब केवलज्ञानकी ही महिमा कहते हैं;—[**केवलज्ञानेन**] केवल ज्ञानसे [**लोका-लोकं**] लोक अलोकको [**अनवरतं**] निरंतर [**जानन्**] जानता हुआ [**नियमेन**] निश्चयसे [**परमानंदमयः**] परम आनंदमई [**आत्मा**] यह आत्मा ही रत्नत्रयके प्रसा-दसे [**अर्हन्**] अरहंत [**भवति**] होता है । भावार्थ—समस्त लोकालोकको एक ही

अथ;—

जो जिणु केवलणाणमउ, परमाणंदसहाउ ।
सो परमप्पउ परमपउ, सो जिय अप्पसहाउ ॥ ३२८ ॥

यः जिनः केवलज्ञानमयः परमानंदस्वभावः ।
सः परमात्मा परमपरः स जीव आत्मस्वभावः ॥ ३२८ ॥

जो इत्यादि । **जो** यः **जिणु** अनेकभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः । कथंभूतः । **केवलणाणमउ** केवलज्ञानाविनाभूतानंतगुणमयः । पुनरपि कथंभूतः । **परमाणंदसहाउ** इंद्रियविषयातीतः स्वात्मोत्थः रागादिविकल्परहितः परमानंदस्वभावः **सो परमप्पउ** स पूर्वोक्तोऽर्हन्नेव परमात्मा **परमपरु** प्रकृष्टानंतज्ञानादिगुणरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः संसारिभ्यः पर उत्कृष्टः पर इत्युच्यते परमश्चासौ परश्च परमपरः **सो** स पूर्वोक्तो वीतरागः सर्वज्ञः **जिय** हे जीव **अप्पसहाउ** आत्मस्वभाव इति । अत्र योसौ पूर्वोक्तभणितो भगवान् स एव संसारावस्थायां निश्चयेन शक्तिरूपेण जिन इत्युच्यते । केवलज्ञानावस्थायां व्यक्तिरूपेण च । तथैव च परमब्रह्मादिशब्दवाच्यः स एव तदग्रः

समयमें केवल ज्ञानसे जानता हुआ अरहंत कहलाता है । जिसका ज्ञान जाननेके क्रमसे रहित है । एक ही समयमें समस्तलोकालोकको प्रत्यक्ष जानता है आगे पीछे नहीं जानता । सब क्षेत्र सब काल सब भावको निरंतर प्रत्यक्ष जानता है । जो केवली भगवान परम आनंदमई है । वीतराग परम समरसी भावरूप जो परम आनंद अतींद्रिय अविनाशी सुख वही जिसका लक्षण है । निश्चयसे ज्ञानानंद स्वरूप है इसमें संदेह नही है ॥ ३२७ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान ही आत्माका निजस्वभाव है और केवलीको ही परमात्मा कहते हैं;—[**यः जिनः**] जो अनंत ससाररूपी वनके भ्रमणके कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी वैरी उनका जीतनेवाला वह [**केवलज्ञानमयः**] केवलज्ञानादि अनंत गुणमई है [**परमानंदस्वभावः**] और इंद्रियविषयसे रहित आत्मीकरागादि विकल्पोंसे रहित परमानंद ही जिसका स्वभाव है ऐसा जिनेश्वर केवलज्ञानमई अरहंत देव [**सः**] वही [**परमात्मा**] उत्कृष्ट अनंत ज्ञानादि गुणरूपलक्ष्मीवाला आत्मा परमात्मा है । उसीको वीतराग सर्वज्ञ कहते हैं [**जीव**] हे जीव वही [**परमपरः**] संसारियोंसे उत्कृष्ट है ऐसा जो भगवान वह तो व्यक्तिरूप है और [**स आत्मस्वभावः**] वह आत्माका ही स्वभाव है । **भावार्थ**—संसार अवस्थामें निश्चयनयकर शक्तिरूप विराजमान है इसलिये संसारीको शक्तिरूप जिन कहते हैं और केवलीको व्यक्तिरूप कहते हैं । द्रव्यार्थिक नयकर जैसा भगवान है वैसे ही सब जीव हैं इस तरह निश्चयनयकर जीवको परब्रह्म कहो परमशिव कहो जितने भगवानके नाम हैं उतनेही निश्चयनयकर विचारो तो

स्वयमेव कथयति । निश्चयनयेन सर्वे जीवा जिनस्वरूपाः जिनोपि सर्वजीवस्वरूप इति भावार्थः । तथा चोक्तं । "जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ । सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ" ॥ ३२८ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये अर्हदवस्थाकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण द्वितीयमंतरस्थलं गतं ।

अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशशब्दस्यार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यंतं व्याख्यानं करोति तद्यथा;—

सयलहं कम्महं दोसहं वि, जो जिणुदेउ विभिण्णु ।
सो परमप्पपयासु तुहुं, जोइय णियमें मण्णु ॥ ३२९ ॥

सकलेभ्यः कर्मभ्यः दोषेभ्यः अपि यो जिनदेवः विभिन्नः ।
तं परमात्मप्रकाशं त्वं योगिन् नियमेन मन्यस्व ॥ ३२९ ॥

सो तं **परमप्पपयासु** परमात्मप्रकाशसंज्ञं **तुहुं** त्वं कर्ता **मण्णु** मन्यस्व जानीहि **जोइय** हे योगिन् **णियमें** निश्चयेन । स कः । **जो जिणदेउ** यो जिनदेवः । किंविशिष्टः । **विभिण्णु** विशेषेण भिन्नः । केभ्यः । **सयलहं कम्महं** रागादिरहितचिदानंदैकस्वभावपरमात्मनो यानि भिन्नानि सर्वकर्माणि तेभ्यः । न केवलं कर्मभ्यो भिन्नः । **दोसहंवि** टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य परमात्मनो येऽनंतज्ञानसुखादिगुणास्तत्प्रच्छादका ये दोषास्तेभ्योपि भिन्न इत्यभिप्रायः ॥ ३२९ ॥

सब जीवोंके है सभी जीव जिनसमान है और जिनराज भी जीवोंके समान हैं ऐसा जानना । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है । जो सम्यग्दृष्टि जीवोंको जिनवर जानें और जिनवरको जीव जानें जो जीवोंकी जाति है वही जिनवरकी जाति है और जो जिनवरकी जाति है वही जीवोंकी जाति है ऐसें महामुनि द्रव्यार्थिकनयकर जीव और जिनवरमें जातिभेद नहीं मानते वे मोक्ष पाते है ॥ ३२८ ॥ इसप्रकार चौवीस दोहाओंके महास्थलमें अरहंतदेवके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहाओंमें दूसरा अंतरस्थल कहा ।

आगे परमात्माप्रकाश शब्दके अर्थके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहते हैं;—

[**सकलेभ्यः कर्मभ्यः**] ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंसे [**दोषेभ्यः अपि**] और सब क्षुधादि अठारह दोषोंसे [**विभिन्नः**] रहित [**यः जिनदेवः**] जो जिनेश्वरदेव है [**तं**] उसको [**योगिन् त्वं**] हे योगी तू [**परमात्मप्रकाशं**] परमात्माप्रकाश [**नियमेन**] निश्चयसे [**मन्यस्व**] मान । अर्थात् जो निर्दोष जिनेंद्रदेव है वही परमात्माप्रकाश है । **भावार्थ**— रागादि रहित चिदानंद स्वभाव परमात्मासे भिन्न जो सब कर्म वे ही ससारके मूल है । जगतके जीव तो कर्मोंकर सहित हैं और भगवान जिनराज इनसे मुक्त है और सब दोषोंसे रहित है । वे दोष सब ससारी जीवोंके लगरहे हैं, ज्ञायकस्वभाव आत्माके अनंत

अथ;—

केवलदंसणु णाणु सुहु, वीरिउ जो जि अणंतु ।
सो जिणदेउवि परममुणि, परमपयासु मुणंतु ॥ ३३० ॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यः य एव अनंतं ।
स जिनदेवोपि परममुनिः परमप्रकाशं मन्यमानः ॥ ३३० ॥

सो जिणदेउवि स जिनदेवोपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति । **परममुणि** परम उत्कृष्टो मुनिः प्रत्यक्षज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । **मुणंतु** मन्यमानो जानन् सन् । कं । **परमपयासु** परममुत्कृष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशस्तं परमप्रकाशं । स कः । **केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि** केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं य एव । कथंभूतं तत् केवलज्ञानादिचतुष्टयं । **अणंतु** युगपदनंतद्रव्यक्षेत्रकालभावपरिच्छेदकत्वादविनश्वरत्वाच्चानंतमिति भावार्थः ॥ ३३० ॥

अथ;—

जो परमप्पउ परमपउ, हरि हर बंभुवि वुद्धु ।
परमपयासु भणंति मुणि, सो जिणदेउ विसुद्धु ॥ ३३१ ॥

यः परमात्मा परमपदः हरिः हरः ब्रह्मापि बुद्धः ।
परमप्रकाशं भणंति मुनयः स जिनदेवो विशुद्धः ॥ ३३१ ॥

भणंति कथयंति । के ते । **मुणि** मुनयः प्रत्यक्षज्ञानिनः । कथंभूतं भणंति । **परमपयासु**

ज्ञान सुखादि गुणोंके आच्छादक है । उन दोषोंसे रहित जो सर्वज्ञ वही परमात्मप्रकाश है योगीश्वरोंके मनमें ऐसा ही निश्चय है । श्रीगुरु शिष्यसे कहते है कि हे योगिन् तू निश्चयसे ऐसा ही मान यही सत्पुरुषोंका अभिप्राय है ॥ ३२९ ॥

फिर भी इसी कथनको दृढ करते हैं;—[**केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यः**] केवल दर्शन केवल ज्ञान अनंतसुख अनंतवीर्य [**यदेव अनंतं**] ये अनंतचतुष्टय जिसके हों [**स जिनदेवः**] वही जिनदेव है [**परममुनिः**] वही परममुनि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी है । क्या करता संता । [**परमप्रकाशं मन्यमानः**] उत्कृष्ट लोकालोकका प्रकाशक जो केवल ज्ञान वही जिसके परमप्रकाश है उससे सकल द्रव्य क्षेत्र काल भव भावको जानता हुआ परमप्रकाशक है । ये केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय एक ही समयमें अनंतद्रव्य अनंतक्षेत्र अनंतकाल और अनंतभावोको जानते हैं इसलिये अनंत हैं अविनश्वर हैं इनका अंत नहीं है ऐसा जानना ॥ ३३० ॥

आगे जिनदेवके ही अनेक नाम हैं ऐसा निश्चय करते हैं;—[**यः**] जिस [**परमात्मा**] परमात्माको [**मुनयः**] मुनि [**परमपदः**] परमपद [**हरिः हरः ब्रह्मा अपि**]

परमप्रकाशः । यः कथंभूतः । **जो परमप्पउ** यः परमात्मा । पुनरपि कथंभूतः । **परमपउ** परमानंतज्ञानादिगुणाधारत्वेन परमपदस्वभावः । पुनरपि किंविशिष्टः । **हरि** हरिसंज्ञः **हरु** महेश्वराभिधानः **बंभुवि** परमब्रह्माभिधानोपि **बुद्धु** बुद्धः सुगतसंज्ञः **सो जिणदेउ** स एव पूर्वोक्तः परमात्मा जिनदेवः । किंविशिष्टः । **विसुद्धु** समस्तरागादिदोषपरिहारेण शुद्ध इति । अत्र य एव परमात्मप्रकाशसंज्ञो निर्दोषिपरमात्मा व्याख्यातः स एव परमात्मा, स एव परमपदः, स एव विष्णुसंज्ञः, स एवेश्वराभिधानः, स एव ब्रह्मशब्दवाच्यः स एव सुगतशब्दाभिधेयः, स एव जिनेश्वरः, स एव विशुद्ध इत्याद्यष्टाधिकसहस्रनामाभिधेयो भवति । नानारुचीनां जनानां तु कस्यापि केनापि विवक्षितेन नाम्नाराध्यः स्यादिति भावार्थः । तथा चोक्तं । "नामाष्टकसहस्रेण युक्तं मोक्षपुरेश्वर"मित्यादि ॥ ३३१ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशशब्दार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण तृतीयमंतरस्थलं गतम् ।

तदनंतरं सिद्धस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यंतं व्याख्यानं करोति तद्यथा;—

झाणिं कम्मक्खउ करिवि, मुक्कउ होइ अणंतु ।
जिणवरदेवइं सो जि जिय, पभणिउ सिद्धु महंतु ॥ ३३२ ॥

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनंतः ।
जिनवरदेवेन स एव जीव प्रभणितः सिद्धो महान् ॥ ३३२ ॥

हरि महादेव ब्रह्मा [**बुद्धः परमप्रकाशः भणंति**] बुद्ध और परमप्रकाश नामसे कहते हैं [**सः**] वह [**विशुद्धः जिनदेवः**] रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही है उसीके ये सब नाम हैं । **भावार्थ**—प्रत्यक्षज्ञानी उसे परमानंद ज्ञानादिगुणोंका आधार होनेसे परमपद कहते हैं, । वही विष्णु है वही महादेव है उसीका नाम पर ब्रह्म है, सबका ज्ञायक होनेसे बुद्ध है, सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा अनेक नामोंसे गाया जाता है । समस्त रागादिक दोषके न होनेसे निर्मल है ऐसा जो अरहंत देव वही परमात्मप्रकाश है । निर्दोष परमात्माका व्याख्यान करनेसे वही परमात्मा परमपद, वही विष्णु, वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही शिव, वही सुगत, वही जिनेश्वर और वो ही विशुद्ध—इत्यादि एक हजार आठ नामोंसे गाया जाता है । नानारुचिके धारक ये संसारी जीव वे नानाप्रकारके नामोंसे जिनराजको आराधते हैं । ये नाम जिनराजके सिवाय दूसरेके नहीं हैं । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें भी कहा है– एक हजार आठ नामों सहित वह मोक्षपुरका स्वामी उसकी आराधना सब करते हैं । उसके अनंत नाम और अनंतरूप है । वास्तवमें नामसे रहित रूपसे रहित ऐसे भगवान देवको हे प्राणियों तुम आराधो ॥ ३३१ ॥

इसप्रकार चौवीस दोहाओंके महास्थलमें परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थकी मुख्यतासे तीन दोहापर्यंत तीसरा अंतरस्थल कहा ।

पभणिउ प्रभणितः कथितः । केन कर्तृभूतेन । **जिणवरदेवइं** जिनवरदेवेन । कोसौ भणितः । **सिद्धु** सिद्धः । कथंभूतः । **महंतु** महापुरुषाराधितत्वात् केवलज्ञानादिमहागुणाधारत्वाच्च महान् । क एव । **सो जि** स एव । स कः । योसौ **मुक्कउ होइ** ज्ञानावरणादिभिः कर्मभिर्मुक्तो रहितः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणसहितश्च **जिय** हे जीव । कथंभूतः । **अणंतु** न विद्यतेंतो विनाशो यस्य स भवत्यनंतः । किं कृत्वा पूर्वं मुक्तो भवति । **कम्मक्खउ करिवि** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावादात्मद्रव्याद्विलक्षणं यदार्तरौद्रध्यानद्वयं तेनोपार्जितं यत्कर्म तस्य क्षयः कर्मक्षयस्तं कर्मक्षयं कृत्वा । केन । **झाणिं** रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानलक्षणेन ध्यानेनेति तात्पर्यम् ॥ ३३२ ॥

अथ;—

अण्णुवि बंधुवि तिहुयणहं, सासयसुक्खसहाउ ।
तित्थु जि सयलुवि कालु जिय, णिवसइ लद्धसहाउ ॥ ३३३ ॥

अन्यदपि बंधुरपि त्रिभुवनस्य शाश्वतसुखस्वभावः ।
तत्रैव सकलमपि कालं जीव निवसति लब्धस्वभावः ॥ ३३३ ॥

आगे सिद्धस्वरूपके कथनकी मुख्यतासे तीनदोहापर्यंत व्याख्यान करते हैं;—[**ध्यानेन**] शुक्लध्यानसे [**कर्मक्षयं**] कर्मोंका क्षय [**कृत्वा**] करके [**मुक्तः भवति**] जो मुक्त होता है [**अनंतः**] और अविनाशी है [**जीव**] हे जीव [**स एव**] वो ही [**जिनवरदेवेन**] जिनवरदेवने [**महान् सिद्धः प्रभणितः**] सबसे महान् सिद्ध भगवान कहा है । **भावार्थ**—अरहंत परमेष्ठी सकल सिद्धांतोंके प्रकाशक हैं वे सिद्ध परमात्माको सिद्ध परमेष्ठी कहते है जिसे सब संत पुरुष आराधते है । केवलज्ञानादि महान अनंतगुणोंके धारण करनेसे वह महान अर्थात् सबमें बड़ा है । जो सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मोंसे रहित है और सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित है । क्षायक सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध—इन आठ गुणोंसे मंडित है और जिसका अंत नहीं ऐसा निरंजनदेव विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे विपरीत जो आर्त रौद्र खोटे ध्यान उनसे उत्पन्न हुए जो शुभ अशुभकर्म उनका स्वसंवेदनज्ञानरूप शुक्लध्यानसे क्षय करके अक्षय पद पा लिया है । कैसा है शुक्लध्यान? रागादि समस्तविकल्पोंसे रहित परम निराकुलतारूप है । यही ध्यान मोक्षका मूल है इसीसे अनंत सिद्ध हुए और होंगे ॥ ३३२ ॥

आगे फिर भी सिद्धोंकी महिमा कहते है;—[**अन्यदपि**] फिर वे सिद्धभगवान [**त्रिभुवनस्य**] तीन लोकके प्राणियोंके [**बंधुरपि**] हित करने वाले है [**शाश्वतसुखस्वभावः**] और जिनका स्वभाव अविनाशी सुख है और [**तत्रैव**] उसी सिद्ध क्षेत्रमें

अण्णुवि इत्यादि । अण्णुवि अन्यदपि पुनरपि स पूर्वोक्तः सिद्धः । कथंभूतः । वंधुवि वंधुरेव । कस्य । तिहुयणहं त्रिभुवनस्थभव्यजनस्य । पुनरपि किं विशिष्टः । सासयसुक्खसहाउ. रागादिरहिताव्यावाधशास्वतसुखस्वभावः । एवं गुणविशिष्टः सन् किं करोति स भगवान् । तित्थु जि तत्रैव मोक्षपदे णिवसइ निवसति । कथंभूतः सन् । लद्धसहाउ लब्धशुद्धात्मस्वभावः । कियत्कालं निवसति । सयलुवि समस्तमप्यनंतानंतकालपर्यंतं जिय हे जीवेति । अत्रानेन समस्तकालग्रहणेन किमुक्तं भवति । ये केचन वदंति मुक्तानां पुनरपि संसारे पतनं भवति तन्मतं निरस्तमिति भावार्थः ॥ ३३३ ॥

अथ;—

जम्मणमरणविवज्जियउ, चउगइदुक्खविमुक्कु ।
केवलदंसणणाणमउ, णंदइ तित्थु जि मुक्कु ॥ ३३४ ॥

जन्ममरणविवर्जितः चतुर्गतिदुःखविमुक्तः ।
केवलदर्शनज्ञानमयः नंदति तत्रैव मुक्तः ॥ ३३४ ॥

पुनरपि कथंभूतः स भगवान् । जम्मणमरणविवज्जियउ जन्ममरणविवर्जितः । पुनरपि किंविशिष्टः । चउगइदुक्ख विमुक्कु सहजशुद्धपरमानंदैकस्वभावं यदात्मसुखं तस्माद्विपरीतं यच्चतुर्गतिदुःखं तेन विमुक्तो रहितः । पुनरपि किंस्वरूपः । केवलदंसणणाणमउ क्रमकरण-

---

[लब्धस्वभावः] निजस्वभावको पाकर [जीव] हे जीव [सकलमपि कालं] सदा काल [निवसति] निवास करते है फिर चतुर्गतिमें नहीं आवेंगे । भावार्थ—सिद्ध परमेष्ठी तीनलोकके नाथ है और जिनका भव्य जीव ध्यान करके भवसागरके पार होते है इसलिये भव्योंके बंधु है हितकारी है । जिनका रागादि रहित अव्यावाध अविनाशी सुख स्वभाव है । ऐसे अनंत गुणरूप वे भगवान उस मोक्षपदमें सदा काल विराजते है । जिन्होंने शुद्ध आत्मस्वभाव पा लिया है । अनंत काल वीत गये और अनंतकाल आवेंगे परंतु वे प्रभु सदा काल सिद्ध क्षेत्रमें वस रहे है । समस्त काल रहते है इसके कहनेका प्रयोजन यह है कि जो कोई ऐसा कहते है कि मुक्त जीवोंका भी ससारमें पतन होता है सो उनका कहना खंडित किया गया ॥ ३३३ ॥

आगे फिर भी सिद्धोंका ही वर्णन करते हैं;—[जन्ममरणविवर्जितः] वे भगवान सिद्धपरमेष्ठी जन्म और मरणकर रहित है [चतुर्गतिदुःखविमुक्तः] चारों गतियोंके दुःखोंसे रहित हैं [केवलदर्शनज्ञानमयः] और केवलदर्शनकेवलज्ञानमई है ऐसे [मुक्तः] कर्म रहित हुए [तत्रैव] अनंतकालतक उसी सिद्ध क्षेत्रमें [नंदति] अपने स्वभावमें आनंदरूप विराजते है । भावार्थ—सहज शुद्ध परमानंद एक अखंड स्वभावरूप जो आत्मसुख उससे विपरीत जो चतुर्गतिके दुःख उनसे रहित हैं जन्ममरणरूप-

व्यवधानरहितत्वेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थानां प्रकाशककेवलदर्शनज्ञानाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः । एवं गुणविशिष्टः सन् किंकरोति । णंदइ स्वकीयस्वाभाविकानंतज्ञानादिगुणैः सह नंदति वृद्धिं गच्छति । क । तित्थु जि तत्रैव मोक्षपदे । पुनरपि किं विशिष्टः सन् । मुक्कु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मनिर्मुक्तो रहितः अव्याबाधाद्यनंतगुणैः सहितश्चेति भावार्थः ॥ ३३४ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण चतुर्थमंतरस्थलं गतं ।

अथानंतरं परमात्मप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् सूत्रपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तथाहि;—

जे परमप्पपयासु मुणि, भावि भावहिं सत्थु ।
मोहु जिणेविणु सयलु जिय, ते वुज्झहिं परमत्थु ॥ ३३५ ॥

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयंति शास्त्रं ।
मोहं जित्वा सकलं जीव ते वुध्यंति परमार्थम् ॥ ३३५ ॥

भावहिं भावयंति ध्यायंति । के । **मुणि** मुनयः **जे** ये केचन । किं भावयंति । **सत्थु** शास्त्रं । कथंभूतं शास्त्रं । **परमप्पपयासु** परमात्मस्वभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाशसंज्ञं । केन भावयंति । **भावि** समस्तरागाद्यपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्वा पूर्वं । **जिणेविणु** जित्वा । कं । **मोहु** निर्मोहपरमात्मतत्त्वाद्विलक्षणं मोहं । कतिसंख्योपेतं । **सयलु** समस्तं

रोगोंसे रहित है अविनश्वरपुरमें सदा काल रहते है । जिनका ज्ञान संसारी जीवोंकी तरह विचाररूप नही है कि किसीको पहले जानें किसीको पीछे जानें उनका केवलज्ञान और केवलदर्शन एक ही समयमें सब द्रव्य सब क्षेत्र सब काल और सब भावोंको जानता है । लोकालोक प्रकाशी आत्मा निज भाव अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंतसुख और अनंत वीर्य मई है । ऐसे अनंत गुणोंके सागर भगवान् सिद्ध परमेष्ठी स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावरूप चतुष्टयमें निवास करते हुए सदा आनंदरूप लोकके शिखरपर विराजरहे हैं जिसका कभी अंत नही उसी सिद्धपदमें सदा काल विराजते है केवलज्ञान दर्शनकर घट २ में व्यापक है । सकल कर्मोपाधिरहित महा निरुपाधि निराबाधपना आदिदे अनंतगुणों सहित मोक्षमें आनंद विलास करते हैं ॥ ३३४ ॥ इस तरह चौवीस दोहावाले महास्थलमें सिद्ध परमेष्ठीके व्याख्यानकी मुख्यताकर तीनदोहाओंमें चौथा अंतरस्थल कहा ।

आगे तीन दोहाओंमें परमात्मप्रकाशकी भावनामें लीन पुरुषोंके फलको दिखाते हुए व्याख्यान करते है;—[**ये मुनयः**] जो मुनि [**भावेन**] भावोंसे [**परमात्मप्रकाशं शास्त्रं**] इस परमात्मप्रकाश नामा शास्त्रका [**भावयंति**] चितवन करते हैं हमेशा इसीका

निरवशेषं जिय हे जीवेति ते त एवं गुणविशिष्टास्तपोधनाः बुज्झहिं बुध्यंति। कं। परमत्थु परमार्थशब्दवाच्यं चिदानंदैकस्वभावं परमात्मानमिति भावार्थः ॥ ३३५ ॥

अथ;—

अण्णु जि भत्तिए जे मुणहिं, इहु परमप्पपयासु।
लोयालोयपयासयरु पावहिं तेवि पयासु ॥ ३३६ ॥

अन्यदपि भक्त्या ये मन्यंते इमं परमात्मप्रकाशं।
लोकालोकप्रकाशकं प्राप्नुवंति तेपि प्रकाशम् ॥ ३३६ ॥

अण्णु जि इत्यादि। अण्णु जि अन्यदपि विशेषफलं कथ्यते भत्तिए जे मुणहिं भक्त्या ये मन्यंते जानंते। कं। परमप्पपयासु इमं प्रत्यक्षीभूतं परमात्मप्रकाशग्रंथमर्थतस्तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यं परमात्मतत्त्वं पावहिं प्राप्नुवंति तेवि तेपि। कं। पयासु प्रकाशशब्दवाच्यं केवलज्ञानं तदाधारपरमात्मानं वा। कथंभूतं परमात्मप्रकाशं। लोयालोयपयासयरु अनंतगुणपर्यायसहितत्रिकालविषयलोकालोकप्रकाशकमिति तात्पर्यं ॥ ३३६ ॥

अभ्यास करते हैं [जीव] हे जीव [ते] वे [सकलं मोहं] समस्त मोहको [जित्वा] जीतकर [परमार्थं बुध्यंति] परमतत्त्वको जानते हैं। भावार्थ—जो कोई सब परिग्रहके त्यागी साधु परमात्मस्वभावका प्रकाशक इस परमात्मप्रकाश नामा ग्रंथको समस्त रागादि खोटे ध्यान रहित जो शुद्धभाव उससे निरंतर विचारते हैं वे निर्मोह परमात्मतत्त्वसे विपरीत जो मोह नामा कर्म उसकी समस्त प्रकृतियोंको मूलसे उखाड देते हैं मिथ्यात्वरागादिकोंको जीतकर निर्मोह निराकुल चिदानंद स्वभाव जो परमात्मा उसको अच्छीतरह जानते हैं ॥ ३३५ ॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके अभ्यासका फल कहते हैं,—[अन्यदपि] और भी फल कहते हैं [ये] जो कोई भव्य जीव [भक्त्या] भक्तिसे [इमं परमात्मप्रकाशं] इस परमात्माप्रकाश शास्त्रको [मन्यंते] पढें सुनें इसका अर्थ जानें [तेपि] वे भी [लोकालोकप्रकाशकं] लोकालोकको प्रकाशनेवाले [प्रकाशं] केवलज्ञान तथा उसके आधारभूत परमात्मतत्त्वको शीघ्र ही पासकेंगे। अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मतत्त्वका भी है और इस ग्रंथका भी है सो परमात्मप्रकाशग्रंथके पढनेवाले दोनों हीको पावेंगे। प्रकाश ऐसा केवलज्ञानका नाम है उसका आधार जो शुद्ध परमात्मा अनंत गुणपर्याय सहित तीनकालका जाननेवाला लोकालोकका प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य उसे तुरंत ही पावेंगे ॥ ३३६ ॥

अथ;—

जे परमप्पपयासयहं, अणुदिणु णाउ लयंति ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहं, तिहुयणणाह हवंति ॥ ३३७ ॥

ये परमात्मप्रकाशस्य अनुदिनं नाम गृह्णंति ।
त्रुट्यति मोहः झटिति तेषां त्रिभुवननाथा भवंति ॥ ३३७ ॥

लयंति गृह्णंति **जे** ये विवेकिनः **णाउ** नाम । कस्य । **परमप्पपयासयहं** व्यवहारेण परमात्मप्रकाशाभिधानग्रंथस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूपस्य परमात्मपदार्थस्य । कथं । **अणुदिणु** अनवरतं । तेषां किं फलं भवति । **तुट्टइ** नश्यति । कोसौ । **मोहु** निर्मोहात्मद्रव्याद्विलक्षणो मोहः **तडत्ति** झटिति **तहं** तेषां । न केवलं मोहो नश्यति । **तिहुयणणाह हवंति** तेन पूर्वोक्तेन निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वभावनाफलेन पूर्वं देवेंद्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषं लब्ध्वा पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा च केवलज्ञानमुत्पाद्य त्रिभुवननाथा भवंतीति भावार्थः ॥ ३३७ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशभावनाफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण पंचमस्थलं गतं ।

अथ परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यो योसौ परमात्मा तदाराधकपुरुषलक्षणज्ञापनार्थं सूत्रत्रयेण व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

जे भवदुक्खहं बीहिया, पउ इच्छहिं णिव्वाणु ।
इह परमप्पपयासयहं, ते पर जोग्ग वियाणु ॥ ३३८ ॥

ये भवदुःखेभ्यः भीताः पदं इच्छंति निर्वाणम् ।
अस्य परमात्मप्रकाशकस्य ते परं योग्या विजानीहि ॥ ३३८ ॥

ते पर त एव **जोग्ग वियाणु** योग्या भवंतीति विजानीहि । कस्य । **इह परमप्पपयास-**

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके पढनेका फल कहते हैं;—[**ये**] जो कोई भव्यजीव [**परमात्मप्रकाशस्य**] व्यवहारनयसे परमात्माके प्रकाश करनेवाले इस ग्रंथका तथा निश्चयनयसे केवलज्ञानादि अनंत गुण सहित परमात्मपदार्थका [**अनुदिनं**] हमेशा [**नाम गृह्णंति**] नाम लेते हैं सदा उसीका स्मरण करते हैं [**तेषां**] उनका [**मोहः**] निर्मोह आत्मद्रव्यसे विलक्षण जो मोह नामा कर्म [**झटिति त्रुट्यति**] शीघ्र ही टूट जाता है और वे [**त्रिभुवननाथा भवंति**] शुद्धात्मतत्त्वकी भावनाके फलसे पूर्व देवेंद्र चक्रवर्त्यादिकी महान विभूति पाकर चक्रवर्तिपदको छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञानको उत्पन्न कराके तीन भुवनके नाथ होते हैं, यह सारांश है ॥ ३३७ ॥ इस प्रकार चौवीस दोहाओंके महास्थलमें परमात्मप्रकाशकी भावनाके फलके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहाओंमें पांचवां अंतर स्थल कहा ।

यहं व्यवहारेणास्य परमात्मप्रकाशाभिधानग्रंथस्य परमार्थेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य निर्दोषिपरमात्मनः । ते के । जे बीहिया ये भीताः । केषां । भवदुक्खहं रागादिविकल्परहितपरमाह्लादरूपशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखविलक्षणानां नारकादिभवदुःखानां । पुनरपि किं कुर्वंति । जे इच्छहिं ये इच्छंति । कि । पउ पदं स्थानं । कथंभूतं । णिव्वाणु निर्वृतिगतपरमात्माधारभूतं निर्वाणशब्दवाच्यं मुक्तिस्थानमित्यभिप्रायः ॥ ३३८ ॥

अथ,—

जे परमप्पहं भत्तियर, विसयण जे विरमंति ।
ते परमप्पपयासयहं, मुणिवर जोग्ग हवंति ॥ ३३९ ॥

ये परमात्मनो भक्तिपराः विषयेभ्यः ये विरमंति ।
ते परमात्मप्रकाशकस्य मुनिवरा योग्या भवंति ॥ ३३९ ॥

हवंति भवंति **जोग्ग** योग्याः । के ते । **मुणिवर** मुनिप्रधानाः । के । ते ते पूर्वोक्ताः । कस्य योग्या भवंति । **परमप्पपयासयहं** व्यवहारेण परमात्मप्रकाशसंज्ञग्रंथस्य परमार्थेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वभावस्य । कथंभूता ये । **जे परमप्पहं भत्तियर** ये परमात्मनो भक्तिपराः । पुनरपि किं कुर्वंति ये । **विसयण जे विरमंति** निर्विषयपरमात्म-

---

आगे परमात्मप्रकाश शब्दसे कहा गया जो प्रकाशरूप शुद्ध परमात्मा उसकी आराधनाके करनेवाले महा पुरुषोंके लक्षण जाननेके लिये तीन दोहाओंमें व्याख्यान करते है;—[**ते परं**] वे ही महापुरुष [**अस्य परमात्मप्रकाशकस्य**] इस परमात्मप्रकाशग्रंथके अभ्यास करनेके [**योग्याः विजानीहि**] योग्य जानो [**ये**] जो [**भवदुःखेभ्यः**] चतुर्गतिरूप ससारके दुःखोंसे [**भीताः**] डर गये है और [**निर्वाणं पदं**] मोक्षपदको [**इच्छंति**] चाहते है। **भावार्थ**—व्यवहारनयकर परमात्मप्रकाश नामा ग्रंथकी और निश्चयनयकर निर्दोषपरमात्मतत्त्वकी भावनाके योग्य वे ही है जो रागादि विकल्प रहित परम आनंदरूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए अतींद्रिय अविनश्वर सुखसे विपरीत जो नारकादि संसारके दुःख उनसे डर गये है जिनको चतुर्गतिके भ्रमणका डर है और जो सिद्धपरमेष्ठीका निवास मोक्षपदको चाहते है ॥ ३३८ ॥

आगे फिर भी उन्ही पुरुषोंकी महिमा कहते हैं;—[**ये**] जो [**परमात्मनः भक्तिपराः**] परमात्माकी भक्ति करनेवाले [**ये**] जो मुनि [**विषयेभ्यः विरमंति**] विषयकषायोंमें नही रमते हैं [**ते मुनिवराः**] वे ही मुनीश्वर [**परमात्मप्रकाशस्य योग्याः**] परमात्मप्रकाशके अभ्यासके योग्य [**भवंति**] हैं। **भावार्थ**—व्यवहारनयकर परमात्मप्रकाश नामका ग्रंथ और निश्चयनयकर निजशुद्धात्मस्वरूप परमात्मा उसकी भक्तिमें जो

तत्त्वानुभूतिसमुत्पन्नातींद्रियपरमानंदसुखरसास्वादतृप्ताः संतः सुलभान्मनोहरानपि विषयान्न रमंत इत्यभिप्रायः ॥ ३३९ ॥

अथ;—

णाणवियक्खणु, सुद्धमणु, जो जणु एहउ कोइ ।
सो परमप्पपयासयहं, जोग्गु भणंति जि जोइ ॥ ३४० ॥

ज्ञानविचक्षणः शुद्धमना यो जन ईदृशः कश्चिदपि ।
तं परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं भणंति ये योगिनः ॥ ३४० ॥

भणंति कथयंति **जि जोइ** ये परमयोगिनः । कं भणंति । **जोग्गु** योग्यं । कस्य । **परमप्पपयासयहं** व्यवहारनयेन परमात्मप्रकाशाभिधानशास्त्रस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य । कं पुरुषं योग्यं भणंति । **सो** तं । तं कं । **जो जणु एहउ कोइ** यो जनः इत्थंभूतः कश्चित् । कथंभूतः । **णाणवियक्खणु** स्वसंवेदनज्ञानविचक्षणः । पुनरपि कथंभूतः । **सुद्धमणु** परमात्मानुभूतिविलक्षणरागद्वेषमोहस्वरूपसमस्तविकल्पजालपरिहारेण शुद्धात्मा इत्यभिप्रायः ॥ ३४० ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमाराधकपुरुषलक्षणकथनरूपेण सूत्रत्रयेण षष्ठमंतरस्थलं गतम् ।

तत्पर हैं वे विषय रहित जो परमात्मतत्त्वकी अनुभूति उससे उपार्जन किया जो अतीद्रिय परमानंदसुख उसके रसके आस्वादसे तृप्त हुए विषयोंमें नही रमते हैं । जिनको मनोहर विषय आकर प्राप्त हुए हैं तौभी वे उनमें नहीं रमते ॥ ३३९ ॥

आगे फिर भी यही कथन करते हैं;—[**यः जनः**] जो प्राणी [**ज्ञानविचक्षणः**] स्वसंवेदनज्ञानकर विचक्षण (बुद्धिमान) है और [**शुद्धमनाः**] जिसका मन परमात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो रागद्वेषमोहरूप समस्त विकल्पजाल उनके त्यागसे शुद्ध है [**कश्चिदपि ईदृशः**] ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो [**तं**] उसे [**ये योगिनः**] जो योगीश्वर हैं वे [**परमात्मप्रकाशस्य योग्यं**] परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य [**भणंति**] कहते हैं । **भावार्थ**—व्यवहारनयकर यह परमात्मप्रकाश नामा द्रव्यसूत्र और निश्चयनयकर शुद्धात्मस्वभाव सूत्र उसके आराधनेको वे ही पुरुष योग्य हैं जो कि आत्मज्ञानके प्रभावसे महा प्रवीण हैं और जिनके मिथ्यात्व राग द्वेषादिमलकर रहित शुद्ध भाव है । ऐसे पुरुषोंके सिवाय दूसरा कोई भी परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य नही है ॥ ३४० ॥ इस प्रकार चौवीस दोहाओंके महास्थलमें आराधक पुरुषके लक्षण तीन दोहाओंमें कह छठा अंतरस्थल समाप्त हुआ ।

अथ शास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं तदनंतरमौद्धत्यपरिहारेण च सूत्रद्वयपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तद्यथा,—

लक्खणछंदविवज्जियउ, एहु परमप्पपयासु ।
कुणइ सुहाविं भावियउ, चउगइदुक्खविणासु ॥ ३४१ ॥

लक्षणछंदोविवर्जितः अयं परमात्मप्रकाशः ।
करोति सुभावेन भावितः चतुर्गतिदुःखविनाशं ॥ ३४१ ॥

लक्खण इत्यादि । **लक्खणछंदविवज्जियउ** लक्षणछंदोविवर्जितोऽयं । अयं कः । **इहु परमप्पपयासु** एष परमात्मप्रकाशः । एवंगुणविशिष्टोऽयं किं करोति । **कुणइ** करोति । कं । **चउगइदुक्खविणासु** चतुर्गतिदुःखविनाशं । कथंभूतः सन् । **भावियउ** भावितः । केन । **सहावइं** शुद्धस्वभावेनेति । तथाहि । यद्यप्ययं परमात्मप्रकाशग्रंथः शास्त्रक्रमव्यवहारेण दोहकछंदसा प्राकृतलक्षणेन च युक्तः तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यशुद्धात्मस्वरूपापेक्षया लक्षणछंदोविवर्जितः । एवंभूतः सन्नयं किं करोति । शुद्धभावनया भावितःसन् शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्परहितपरमानंदैकलक्षणसुखविपरीतानां चतुर्गतिदुःखानां विनाशं करोतीति भावार्थः ॥ ३४१ ॥

अथ श्रीयोगींद्रदेव औद्धत्यं परिहरति,—

इत्थु ण लेव्वउ पंडियहिं, गुणदोसुवि पुणरुत्तु ।
भट्टपभायरकारणइं, मइ पुणु पुणुवि पउत्तु ॥ ३४२ ॥

आगे शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा और उद्धतपनेके त्यागकी मुख्यताकर दो दोहे इसतरह तीनदोहाओंमें व्याख्यान करते हैं;—[**अयं परमात्मप्रकाशः**] यह परमात्माप्रकाश [**सुभावेन भावितः**] शुद्ध भावोंकर भाया हुआ [**चतुर्गतिदुःखविनाशं**] चारों गतीके दुःखोंका विनाश [**करोति**] करता है । जो परमात्मप्रकाश [**लक्षणछंदोविवर्जितः**] यद्यपि व्यवहारनयकर प्राकृतरूप दोहा छंदोंकर सहित है और अनेक लक्षणोंकर सहित है तौभी निश्चयनयकर परमात्मप्रकाश जो शुद्धात्मस्वरूप वह लक्षण और छंदोकर रहित है । **भावार्थ**—शुभलक्षण और प्रबंध ये दोनो परमात्मामें नही है । परमात्मा शुभाशुभलक्षणोंकर रहित है और जिसके कोई प्रबंध नही अनंतरूप है उपयोगलक्षणमई परमानंदलक्षणस्वरूप है सो भावोंसे उसको आराधो, वही चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करने वाला है ॥ शुद्ध परमात्मा तो व्यवहार लक्षण और श्रुतरूप छंदोसे रहित है इनसे भिन्न निजलक्षणमई है और यह परमात्मप्रकाशनामा अध्यात्म ग्रंथ यद्यपि दोहकछंदरूप है और प्राकृतलक्षणरूप है परंतु इसमें स्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यता है छंद अलंकारादिकी मुख्यता नही है ॥ ३४१ ॥

अत्र न ग्राह्यः पंडितैः गुणो दोषोपि पुनरुक्तः ।
भट्टप्रभाकरकारणेन मया पुनः पुनरपि प्रोक्तम् ॥ ३४२ ॥

इत्थु इत्यादि । इत्थु अत्र ग्रंथे **ण लेवउ** न ग्राह्यः । कैः । **पंडियहिं** पंडितैर्विवेकिभिः । कोसौ । **गुण दोसुवि** गुणो दोषोपि । कथंभूतः । **पुणुरुत्तु** पुनरुक्तः । कस्मान्न ग्राह्यः । यतः **मइ पुणु पुणुवि पउत्तु** मया पुनः पुनः प्रोक्तं । किं तत् । वीतरागपरमात्मतत्त्वं । किमर्थं । **भट्टपहायरकारणइं** प्रभाकरभट्टनिमित्तेनेति । अत्र भावनाग्रंथे समाधिशतकादिवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति इति । तदपि कस्मादिति चेत् । अर्थ पुनः पुनश्चिंतनलक्षणमिति वचनादिति मत्वा प्रभाकरभट्टव्याजेन समस्तजनानां सुखबोधार्थं बहिरंतःपरमात्मभेदेन तु त्रिविधात्मतत्त्वं बहुधाप्युक्तमिति भावार्थः ॥ ३४२ ॥

अथ;—

जं मइ किंपिवि जंपियउ, जुत्ताजुत्तुवि इत्थु ।
तं वरणाणि खमंतु महु, जे बुज्झहिं परमत्थु ॥ ३४३ ॥

यत् मया किमपि जल्पितं युक्तायुक्तमपि अत्र ।
तत् वरज्ञानिनः क्षाम्यंतु मम ये बुध्यंते परमार्थम् ॥ ३४३ ॥

जं इत्यादि । **जं मइ किंपिवि जंपियउ** यन्मया किमपि जल्पितं । किं जल्पितं । **जुत्ताजुत्तुवि** शब्दविषये अर्थविषये वा युक्तायुक्तमपि **इत्थु** अत्र परमात्मप्रकाशाभिधानग्रंथे **खमंतु** क्षमां कुर्वंतु । किं तत् । पूर्वोक्तदूषणं । के । **वरणाणि** वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन-

---

आगे श्री योगींद्रदेव उद्धतपनेका त्याग दिखलाते हैं;—[**अत्र**] श्री योगींद्रदेव कहते हैं अहो भव्यजीव हो इस ग्रंथमें [**पुनरुक्तः**] पुनरुक्तका [**गुणो दोषोपि**] दोष भी [**पंडितैः**] आप पंडितजन [**न ग्राह्यः**] ग्रहण नहीं करें और कविकलाका गुण भी न लें क्योंकि [**मया**] मैंने [**भट्टप्रभाकरकारणेन**] प्रभाकर भट्टके संबोधनेकेलिये [**पुनः पुनरपि प्रोक्तं**] वीतरागपरमानंदरूप परमात्म तत्त्वका कथन वार वार किया है । **भावार्थ**—इस शुद्धात्मभावनाके ग्रंथमें पुनरुक्तका दोष नहीं लगता । **समाधितंत्र** ग्रंथकी तरह इस ग्रंथमें भी बार २ शुद्धस्वरूपका ही कथन किया है वारंवार उसी अर्थका चिंतवन है ऐसा जानकर इसका रहस्य (अभिप्राय) वार २ चिंतवना । प्रभाकर भट्टकी मुख्यताकर समस्त जीवोंको सुखसे प्रतिबोध होनेकेलिये इस ग्रंथमें वार वार बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माका कथन किया है ऐसा जानना ॥ ३४२ ॥

आगे श्रीयोगींद्राचार्य ज्ञानी जनोंसे प्रार्थना करते हैं कि मैंने जो किसी जगह छंद अलंकारादिमें युक्त अयुक्त कहा हो तो उसे पंडितजन परमार्थके जानने वाले मुझपर क्षमा करें;—[**अत्र**] इस ग्रंथमें [**यत्**] जो [**मया**] मैंने [**किमपि**] कुछ भी

ज्ञानयुक्ता विशिष्टज्ञानिनः । कस्य । महु मम योगींद्रदेवाभिधानस्य । कथंभूता ये ज्ञानिनः । जे बुज्झहिं ये केचन बुध्यंते जानंति । कं । परमत्थु रागादिदोषरहितमनंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यसहितं च परमार्थशब्दवाच्यं शुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥ ३४३ ॥ इति सूत्रत्रयेण सप्तममंतरस्थलं गतं । एवं सप्तभिरंतरस्थलैश्चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितं महास्थलं समाप्तम् ।

अथैकवृत्तेन प्रोत्साहनार्थं पुनरपि फलं दर्शयति,—

जं तत्तं णाणरूवं परममुणिगणा णिच्च झायंति चित्ते
जं तत्तं देहचत्तं णिवसइ भुवणे सव्वदेहीण देहे ।
जं तत्तं दिव्वदेहं तिहुवणगुरुगं सिज्झए संतजीवे
तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णियमणे पावए सो हि सिद्धिं ॥ ३४४ ॥

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुनिगणा नित्यं ध्यायंति चित्ते
यत् तत्त्वंदेहत्यक्तं निवसति भुवने सर्वदेहिनां देहे ।
यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शातजीवे
तत् तत्त्वं यस्य शुद्ध स्फुरति निजमनसि प्राप्नोति स हि सिद्धिम् ॥ ३४४ ॥

पावए सो प्राप्नोति स हि स्फुटं । कं । **सिद्धिं** मुक्ति । यस्य किं । **जस्स णियमणे फुरइ** यस्य निजमनसि स्फुरति प्रतिभाति । किं कर्मतापन्नं । **तं तत्तं** तत्तत्त्वं । कथंभूतं ।

[**युक्तायुक्तमपि जल्पितं**] युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा होवे तो [**तत्**] उसे [**ये वरज्ञानिनः**] जो महान ज्ञानके धारक [**परमार्थं**] परम अर्थको [**बुध्यंते**] जानते है वे पंडित जन [**मम क्षाम्यंतु**] मेरे ऊपर क्षमा करें । **भावार्थ**—मेरी छद्मस्थकी बुद्धि है जो कदाचित् मैने शब्दमें अर्थमें तथा छंद अलंकारमें अयुक्त कहा हो वह मेरा दोष क्षमा करो । सुधार लो । जो विवेकी परमअर्थको अच्छी तरह जानते है वे मुझपर कृपा करो मेरा दोष न लो । यह प्रार्थना योगींद्राचार्यने महामुनियोंसे की । जो महामुनि अपने शुद्धस्वरूपको अच्छी तरह अपनेमें जानते हैं । जो निजस्वरूप रागादि दोष रहित अनंत दर्शन अनंत सुख अनंत वीर्यकर सहित है ऐसे अपने स्वरूपको अपनेमें ही देखते है, जानते है और अनुभवते है वे ही इस ग्रंथके सुननेके योग्य है और सुधारनेके योग्य है ॥ ३४३ ॥ इस प्रकार तीन दोहाओंमें सातवा अंतरस्थल कहा । इस तरह चौवीस दोहाओंका महास्थल पूर्ण हुआ ।

आगे एक स्रग्धरा नामके छंदमें फिर भी इस ग्रंथके पढनेका फल कहते है;—[**तत्**] वह [**तत्त्वं**] निज आत्मतत्त्व [**यस्य निजमनसि**] जिसके मनमे [**स्फुरति**] प्रकाशमान हो जाता है [**स हि**] वो ही साधु [**सिद्धिं प्राप्नोति**] सिद्धिको पाता है । कैसा

सुद्धं रागादिरहितं । पुनरपि कथंभूतं यत् । जं तत्तं णाणरूवं यदात्मतत्त्वं ज्ञानरूपं । पुनरपि किं विशिष्टं यत् । णिच्च झायंति नित्यं ध्यायंति । क । चित्ते मनसि । के ध्यायंति । परममुणिगणा परममुनिसमूहाः । पुनरपि किं विशिष्टं यत् । जं तत्तं देहचत्तं यत्परमात्मतत्त्वं देहत्यक्तं देहाच्छिन्नं । पुनरपि कथंभूतं यत् । णिवसइ निवसति । क । भुवणे सव्वदेहीण देहे त्रिभुवने सर्वदेहिनां संसारिणां देहे । पुनरपि कीदृशं यत् । जं तत्तं दिव्वदेहं यत् शुद्धात्मतत्त्वं दिव्यदेहं दिव्यं केवलज्ञानादिशरीरं । शरीरमिति कोर्थः । स्वरूपं । पुनश्च कीदृशं यत् । तिहुयणगुरुगं अव्याबाधानंतसुखादिगुणेन त्रिभुवनादपि गुरुं पूज्यमिति त्रिभुवनगुरुकं । पुनरपि कि रूपं यत् । सिज्झए सिद्ध्यति निष्पन्नं याति । क । संतजीवे ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथविकल्पजालरहितत्वेन परमोपशांतजीवस्वरूपे इत्यभिप्रायः ॥ ३४४ ॥

अथ ग्रंथस्यावसाने मंगलार्थमाशीर्वादरूपेण नमस्कारं करोति;—

परमपयगयाणं भासओ दिव्वकाओ
मणसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्वजोओ ।
विसयसुहरयाणं दुल्लहो जो हु लोए
जयउ सिवसरूवो केवलो कोवि बोहो ॥ ३४५ ॥

परमपदगतानां भासको दिव्यकायः
मनसि मुनिवराणां मोक्षदो दिव्ययोगः ।
विषयसुखरतानां दुर्लभो यो हि लोके
जयतु शिवस्वरूपः केवलः कोपि बोधः ॥ ३४५ ॥

है वह तत्त्व ? जो कि [शुद्धं] रागादि मलरहित है [ज्ञानरूपं] और ज्ञानरूप है जिसको [परममुनिगणाः] परममुनीश्वर [नित्यं] सदा [चित्ते ध्यायंति] अपने चित्तमें ध्याते है [यत् तत्त्वं] जो तत्त्व [भुवने] इस लोकमें [सर्वदेहिनां देहे] सब प्राणियोंके शरीरमें [निवसति] मौजूद है [देहत्यक्तं] और आप देहसे रहित है [यत् तत्त्वं] जो तत्त्व [दिव्यदेहं] केवलज्ञान और आनंदरूप अनुपम देहको धारण करता है [त्रिभुवनगुरुकं] तीनभुवनमें श्रेष्ठ है [शांतजीवे सिध्यति] जिसको आराधकर शांतपरिणामी संतपुरुष सिद्धपद पाते है । भावार्थ—ऐसा वह चैतन्यतत्त्व जिसके चित्तमें प्रगट हुआ है वही साधु सिद्धिको पाता है । अव्याबाध अनंतसुख आदि गुणोंकर वह तत्त्व तीनलोकका गुरु है सत पुरुषोके ही हृदयमें वह तत्त्व सिद्ध होता है । कैसे हैं संत ? जो अपनी बड़ाई, अपनी प्रतिष्ठा और लाभादि समस्त मनोरथ विकल्प जालोंसे रहित है । जिन्होंने अपना स्वरूप परमशातभावरूप पा लिया है ॥ ३४४ ॥

जयउ सर्वोत्कर्षेण वृद्धिं गच्छतु । कोसौ । दिव्वकाओ परमौदारिकशरीराभिधान-दिव्यकायस्तदाधारो भगवान् । कथंभूतः । भासओ दिवाकरसहस्रादप्यधिकतेजस्त्वाद्भासकः प्रकाशकः । केषां कायः । परमपयगयाणं परमानंतज्ञानादिगुणास्पदं यदर्हत्पदं तत्र गतानां । न केवलं दिव्यकायो जयतु । दिव्वजोओ द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानो वीतरागो निर्विकल्पसमाधिरूपो दिव्ययोगः । कथंभूतः । मोक्खदो मोक्षप्रदायकः । क्व जयतु । मणसि मनसि । केषां । मुणिवराणं मुनिपुंगवानां । न केवलं योगो जयतु । केवलो कोवि बोहो केवलज्ञानाभिधानः कोप्यपूर्वो बोधः । कथंभूतः । सिवसरूवो शिवशब्दवाच्यं यदनंतसुखं तत्स्वरूपः । पुनरपि कथंभूतः । दुल्लहो जो हु लोए दुर्लभो दुष्प्राप्यः यः स्फुटं । क्व । लोके । केषां दुर्लभः । विसयसुहरयाणं विषयसुखातीतपरमात्मभावनोत्पन्न-परमानंदैकरूपसुखास्वादरहितत्वेन पंचेंद्रियविषयासक्तानामिति भावार्थः ॥ ३४५ ॥

इति 'परु जाणंतुवि परममुणि परसंसग्गु चयंति' इत्याद्येकाशीतिसूत्रपर्यंतं सामान्यभेद-भावना, तदनंतरं 'परमसमाहि महासरहि' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यंतं महास्थलं, तदनंतरं वृत्तद्वयं चेति सर्वसमुदायेन सप्ताधिकसूत्रशतेन द्वितीयमहाधिकारे चूलिकागतेति ॥ एवमत्र परमात्मप्रकाशाभिधानग्रंथे' प्रथमतस्तावत् 'जे जाया झाणग्गियए, इत्यादि त्रयो-विंशत्यधिकसूत्रशतेन प्रक्षेपकत्रयसहितेन प्रथममहाधिकारो गतः । तदनंतरं चतुर्दशाधिक-शतद्वयेन प्रक्षेपकपंचकसहितेन द्वितीयोपि महाधिकारो गतः । एवं पंचाधिकचत्वारिंशत्स-

---

आगे ग्रंथके अंतमंगलकेलिये आशीर्वादरूप नमस्कार करते है,—[दिव्यकायः] जिसका ज्ञान आनंदरूप शरीर है अथवा [परमपदगतानां भासकः] अरहंतपदको प्राप्त हुए जीवोंका प्रकाशमान परमौदारिक शरीर है ऐसा परमात्म तत्त्व [जयतु] सर्वोत्कर्षपनेसे वृद्धिको प्राप्त होवे। जो परमौदारिक शरीर ऐसा है कि जिसका तेज हजारों सूर्योंसे अधिक है अर्थात् सकल प्रकाशी है । जो परमपदको प्राप्त हुए केवली हैं उनको तो साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है [मुनिवराणां] और जो महामुनि हैं उनके [मनसि] मनमें [दिव्ययोगः] द्वितीयशुक्लध्यानरूप वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप भास रहा है । [मोक्षदः] और मोक्षका देनेवाला है । [केवलः कोपि बोधः] जिसका केवल ज्ञान स्वभाव है ऐसी अपूर्व ज्ञानज्योति [शिवस्वरूपः] सदा कल्याणरूप है । [लोके] लोकमें [विषयसुखरतानां] शिवस्वरूप अनंत परमात्माकी भावनासे उत्पन्न जो परमानंद अतीन्द्रियसुख उससे विपरीत जो पांच इंद्रियोंके विषय उनमें जो आसक्त हैं उनको [यः हि] जो परमात्मतत्त्व [दुर्लभः] महा दुर्लभ है । भावार्थ—इस लोकमें विषयी जीव जिसको नही पासकते ऐसा वह परमात्मतत्त्व जयवंत होवे ॥ ३४५ ॥

हितशतत्रयप्रमित श्रीयोगींद्रदेवविरचित दोहकसूत्राणां विवरणभूता **परमात्मप्रकाशवृत्तिः** समाप्ता ॥

इसप्रकार इस **परमात्मप्रकाश**नामा ग्रंथमें पहले 'जे जाया झाणग्गीए' इत्यादि एकसौ तेवीस दोहा तीन प्रक्षेपकों सहित ऐसे १२६ दोहाओंमें पहला अधिकार समाप्त हुआ । एकसौ चौदह दोहा तथा ५ प्रक्षेपक सहित दूसरा महाधिकार कहा । और 'परु जाण-तुंवि' इत्यादि एकसौ सात दोहाओंमें तीसरा महाधिकार कहा । प्रक्षेपक और अंतके दो छंद उन सहित तीनसौ पैतालीस ३४५ दोहाओंमें परमात्मप्रकाशका व्याख्यान **ब्रह्मदेवकृत टीका सहित** समाप्त हुआ ।



---

१ संस्कृत टीकामें दूसरे अधिकारकी चूलिका कही गई है ।

टीकाकारस्यांतिमकथनं ।

अत्र ग्रंथे प्रचुरेण पदानां संधिर्न कृतः, वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं । किंच परिभाषासूत्रं पदयोः संधिर्विवक्षितो न समासांतरं तयोस्तेन कारणेन लिंगवचनक्रियाकारकसंधिसमासविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यं विद्वद्भिरिति ।

इदं परमात्मप्रकाशवृत्तेर्व्याख्यानं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं भव्यजनैः । सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं उदासीनोऽहं, निजनिरंजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभ-

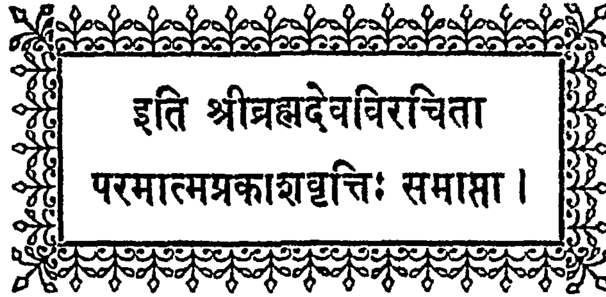
---

टीकाकारका अंतिमकथन ।

इस ग्रंथमें बहुधा पदोंकी संधि नही की और वचन भी जुदे २ सुखसे समझनेकेलिये रक्खे गये हैं, समझनेकेलिये कठिन संस्कृत नही रक्खी इसलिये यहां लिंग वचन क्रिया कारक संधि समास विशेष्य विशेषणके दोष न लेना । जो पंडितजन विशेषज्ञ हैं वे ऐसा समझें कि यह ग्रंथ बालबुद्धियोंके समझानेकेलिये सुगम किया है । इस परमात्मप्रकाशकी टीकाका व्याख्यान जानकर भव्यजीवोंको ऐसा विचार करना चाहिये कि मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव निर्विकल्प हूं, उदासीन हूं, निजानंद निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयमई निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न वीतरागसहजानंदरूप आनंदानुभूतिमात्र जो स्वसवेदनज्ञान उससे गम्य हूं, अन्य उपायोंसे गम्य नही हूं । निर्विकल्प निजानंद ज्ञानकर ही मेरी प्राप्ति है पूर्ण हूं । राग द्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ पांच इंद्रियोंके विषय व्यापार मन वचन काय द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म ख्याति पूजा लाभ देखे सुने और अनुभवे भोगोंकी वाछारूप निदानबंध, माया मिथ्या ये तीन शल्य इत्यादि विभाव परिणामोंसे रहित सब प्रपंचोंसे रहित मै हूं । तीन लोक तीनकालमें मन वचन कायकर कृत कारित अनुमोदनाकर शुद्ध निश्चयनयसे मै आत्माराम ऐसा हूं । तथा सभी जीव ऐसे है । ऐसी हमेशा भावना करनी चाहिये । अब टीकाकारके अंतके श्लोकका अर्थ कहते हैं:—युधिष्ठिरराजाको आदि लेकर पाच भाई पाडव और श्री रामचंद्र तथा अन्य भी विवेकी राजा हैं उनसे अत्यंत भक्तिकर यह जिनशासन पूजनीक है जिसको सुर नाग भी पूजते हैं ऐसा श्री जिन भाषित शासन

पंचेंद्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहं, जगत्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेपि जीवाः, इति निरंतरं भावना कर्तव्येति ॥ ग्रंथसंख्या ४००० ।

पंडवरामहिं णरवरहिं, पुज्जिउ भत्तिभरेण ।[1]
सिरिसासणु जिणभासियउ, णंदउ सुक्खसएहिं ॥ १ ॥


इति श्रीब्रह्मदेवविरचिता
परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता ।

सुखोंके सैकड़ाओंकर वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ यह परमात्मप्रकाश ग्रंथका व्याख्यान प्रभाकर भट्टके संबोधनेकेलिये श्रीयोगींद्रदेवने किया उसपर श्री ब्रह्मदेवने संस्कृतटीका की । श्री योगींद्रदेवने प्रभाकरभट्टके समझानेकेलिये तीनसौ तेतालीस दोहा किये उसपर श्री ब्रह्मदेवने संस्कृतटीका पांच हजार चार प्रमाण की । उसपर दौलतरामने भाषावचनिकाके श्लोक अडसठिसौ नव्वै संख्याप्रमाण किये ।

इसप्रकार श्री योगींद्राचार्य विरचित परमात्मप्रकाशकी
पं० दौलतराम कृत भाषाटीका समाप्त हुई.



---

१ पाण्डवरामैः नरवरैः पूजितः भक्तिभरेण । श्रीशासनं जिनभाषितं नंदतु सुखशतैः ॥ १ ॥

अथ परमात्मप्रकाशस्य विषयानुक्रमणिका ।



